आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की साहित्य साधना

२

सम्पादक:
डॉ. मारुति नन्दन पाठक

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की साहित्य साधना : 2

© : श्रीमती छाया देवी

प्रकाशक :
राम-कृष्ण धाम
रामपुर जयपाल, पत्रालय—बोचहाँ-843103
मुजफ्फरपुर (बिहार)

मुख्य वितरक :
प्रीति मंदिर प्रकाशन
शाहदरा, दिल्ली

प्रथम संस्करण : 1995

मूल्य : तीन सौ

मुद्रक :
कीर्तिमान मुद्रणालय
भिखनपुरा, मुजफ्फरपुर-843146

संस्कृति, साहित्य

एवं

कला के उपासक

श्री संजीव कुमार गुप्त

को

सप्रेम !

डॉ० मारुति नन्दन पाठक
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

प्रस्तावना

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री :
बीसवीं शताब्दी के
एक समर्थ रचनाकार

—डॉ० मारुतिनन्दन पाठक

इस बीसवीं शताब्दी में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का नाम हिन्दी साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर है जो कभी भी मलिन होने वाला नहीं है। जिसका महत्त्व, सांस्कृतिक स्वरूप तथा ललित रूप भी कभी धूमिल होनेवाला या खोनेवाला नहीं है। यह एक विरल तथा केन्द्रस्थानीय योग है कि शास्त्री जी का वही स्थान, वैसा ही ऐतिहासिक महत्त्व तथा अवदान संस्कृत में भी है। क्रम भी अनुक्रम की स्वाभाविक दृष्टि से ठीक है—पहले संस्कृत, पश्चात् हिन्दी, फिर समानान्तर। निष्कर्ष यह कि मूल में समझ और प्रतिभा थी। किन्तु यहाँ संस्कृत के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहूँगा क्योंकि अन्यत्र सामान्य जरूरत भर कहा है। प्रसंगतः यहाँ हिन्दी की ही बात करनी है।

शास्त्री जी का हिन्दी में आगमन तब हुआ था जब छायावाद अपनी आखिरी ऊँचाई पर पहुँच चुका था जहाँ से ढलान की ओर बढ़ना उसकी एक स्वाभाविक प्रक्रिया-सी थी। आलोचकों ने उसे दुहराहट, यथार्थ की भूमि से हट जाना, अति काल्पनिकता, पलायन आदि शब्दों से परिभाषित करने का प्रयास किया है। वैसे छायावाद अपने में एक क्रान्ति था और ऐसी क्रान्ति था जो अपनी गुणवत्ता के साथ बहुत छोटी अवधि में साहित्य को बहुत लम्बी दूरी तय कराने में समर्थ हुआ। भावों की सूक्ष्मता और भाषा के परिष्कार में उसने काफी ऊँचाई प्राप्त कर ली थी। वस्तुतः काव्यभाषा को एक विशिष्ट ऊँचाई प्रदान करने में उसका योगदान अन्यतम है। उस काल में आने वाले कवियों ने उससे जुड़कर ही अपने लेखन का आरम्भ किया किन्तु उससे भिन्न मार्ग का और अपनी अलग पहचान का प्रयास भी जारी रखा।

शास्त्री जी ने उसकी गुणवत्ता अधिकृत कर ली थी; किन्तु निषेधात्मक वृत्तियों को इन्कार करने के प्रति सजगता भी बरती। इसी कारण उनकी कविताओं में आरम्भ से ही पलायन, यथार्थ का तिरस्कार, अतिकाल्पनिकता आदि वृत्तियाँ नहीं आईं। शास्त्री जी की कविता के लिए यह महत्त्वपूर्ण और गौरवपूर्ण तथ्य है कि उनकी कविताएँ पलायन से मुक्त हैं। इतना ही कहना काफी नहीं है बल्कि ध्यातव्य यह है कि उनमें नएपन की खोज की तीव्र प्रवृत्ति थी जिसकी झलक आरम्भिक कृतियों—रूप-अरूप, तीर-तरंग की कविताओं में भी विषय, दृष्टि, अभिव्यक्ति आदि कोणों से साफ देखी जा सकती है।

वे कविताएँ अपने समय की बहुत ताजा कविताएँ हैं और उनकी ताजगी आज भी महसूस की जा सकती है। गीतों के इतिहास में उनका एक अध्याय सुरक्षित है। शास्त्री जी को कवि-रूप में पूर्णतः और समग्रतः स्थापित कराने में वे गीत पर्याप्त भी थे; समर्थ भी। हुआ भी ऐसा ही। किन्तु विकास का दूसरा दौर इससे भी प्रौढ़, ऊँचा और स्वर्णिम है।

शिप्रा, अवन्तिका और मेघगीत की कविताएँ भाव, बिचार, चिन्तन तथा शिल्प की उस ऊँचाई पर पहुँच जाती हैं जहाँ कविकर्म का दायित्व और चिन्ता समग्रता में प्रकट होती है। यहाँ केवल कवि-कर्म का दायित्व, चिन्ता, प्रौढ़ शिल्प की तराश, सफल अभिव्यक्ति की विविधरूपता ही नहीं है अपितु सुदीर्घ भारतीय संस्कृति के प्रवाह की ऊर्जा, दीर्घकालीन भारतीय कविता की प्रवहमान परम्परा का तेजोदीप्त ललित रूप और सौन्दर्य का नूतन आस्वाद भी है। शास्त्री जी ने छायावाद का संभार ग्रहण करते हुए भी अपने लिए एक अलग राह बनाई थी जिसकी झलक विषय, शिल्प और अभिव्यक्ति-- तीनों में मिलती है; और इसके भी पर्याप्त तथ्य और आधार मिलते हैं कि वह अपने पूर्ववर्ती छायावादियों और समकालीनों से भिन्न पहचान बनाते हैं। किन्तु यहाँ सामान्यतः पाठकों और आलोचकों को एक कठिनाई है। उस काल की सबसे विकसित काव्यभाषा छायावाद की थी। शास्त्री जी में उस भाषा का प्रभाव अधिक है, शब्दावली की मात्रा भी ज्यादा है, इसलिए उन्हें सीधे छायावाद से जोड़ देने में आसानी होती है। किन्तु उन्होंने शुरू से ही अपने अलग मुहावरे या डिक्शन गढ़े हैं, यह ध्यान देने पर पता चलता है। बाद में डिपार्चर के बहुत से उपादान और तथ्य उपलब्ध हैं। शास्त्री जी में भिन्न चिन्ता भी दिखाई पड़ती है जो सीधे जीवन और जीवनमूल्यों से जुड़ी है।

भारतीय संस्कृति का सबसे जीवन्त रूप शास्त्री जी में है। भारत की अजस्र सांस्कृतिक धारा के वह अन्यतम कवि हैं और कहना न होगा, वह इसके प्रतिनिधि कवि भी हैं। यही कारण है कि उनका ध्यान शाश्वत मानवमूल्यों पर अधिक है, सामयिक परिस्थितियों पर कम। सामयिक परिस्थितियां उतनी ही उभरती हैं जितनी उन मूल्यों के विघटन दिखलाने या उन्हें यथास्थान अवस्थित रखने में आवश्यक

हैं। संस्कृति का प्रश्न अपने में बड़ा महत्त्वपूर्ण और गहन है क्योंकि यह एक ऐसी निरन्तर प्रवहमान अन्तर्धारा है जो मूल से लेकर विकास की शाखाओं तक को सिक्त करती रहती है, आप्यायित भी करती है जिससे व्यक्ति को कहीं होने और आत्मीय होने का अनजाने एहसास होता रहता है। वाह्य रूपाकृतियां अनेकों हो सकती हैं, भिन्न-भिन्न हो सकती हैं; किन्तु भीतर की ऊष्मा एक होती है। संस्कृति में जड़ता का कोई स्थान नहीं होता, वह तो एक विकृति होती है, ठहराव के कारण जमा कचरा होता है जो प्रवाहशून्यता का लक्षण है। वास्तविक सांस्कृतिक चेतना मनुष्य को ऊपर उठाती है और कविकर्म को गहराई में उतारती है तथा व्यापक भी बनाती है। इसके बोध और इसकी विरासत से सम्पन्न कवि की चिन्ता समग्रता की होती है और अभिव्यक्ति के लिए उसके पास अपार उपादान होते हैं। शास्त्री जी की कविता के लिए कोई व्यापक धारा और कोई एक अकेली पहचान बतानी हो तो वह सांस्कृतिक धारा ही होगी। यह पहचान अपने में सर्वथा विशिष्ट है और ऊँची भी है।

सांस्कृतिक धारा से आप्यायित व्यक्ति रूढ़िवादी या किसी एक डाल में आबद्ध और किसी ठहरी हुई जिन्दगी का हिमायती नहीं होता। संस्कृति की धारा समय के साथ चलती है और समय को पार भी करती है। कोई कवि चाहे भी, तब भी समय के दबाव से नहीं बच सकता। शास्त्री जी की ऐसी कोई प्रतिबद्धता भी नहीं थी; जो दिखता है वह स्वभावगत था। इसलिए मूल धारा में अपनी जगह रहते हुए शास्त्री जी की कविताओं में कई प्रवृत्तियाँ मिलती हैं; छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, रहस्यवाद जैसी प्रवृत्तियों का अच्छा आधार मिल जाता है, किन्तु किसी एक के रूप में अभिहित करना या बाँधकर देखना औचित्यपूर्ण नहीं है क्योंकि किसी की भी आंशिक व्याप्ति है और कोई मूल या समग्रता का प्रतिनिधित्व नहीं करता। फिर वह सब उसी रूप में नहीं आया जैसा उन वादों का सिद्धान्त मान्य हुआ। वह तो रचना की खूबसूरती थी जो सृजन के क्रम में सहज ही कई प्रवृत्तियाँ प्रविष्ट हो गईं। उन्होंने सिद्धान्त के तहत कविताएँ लिखी भी नहीं, कविता से सिद्धान्त का बनना या उसका लागू होना अलग बात है। प्रत्येक दशा में शास्त्री जी की कविता भारतीय काव्यधारा से जुड़ी रही है, उसीका विकास होता रहा है।

वैसे तो शास्त्री जी कोमल प्रकृति के कवि हैं किन्तु वह गहन रूप से जीवन, संस्कृति और उसके मूल्यों की खातिर जूझते हैं, विराम तब तक नहीं लेते जब तक अभिव्यक्ति अपना काम पूरा नहीं कर लेती। इसके लिए साँचे जितने भी बदलने पड़ें, कोई बात नहीं।

'गाथा' को देखकर यह कहना कठिन है कि यह किसी गीतकार की रचना है और खासकर तब जबकि वह गीत के पहले दौर की विशेष भावस्थिति से गुजर रहा है। सामन्ती वृत्ति के छद्म में मूल्यों का जैसा ध्वंस संभावित था, वैसा ही हुआ; आदमी की विवशता क्या-क्या सहने को बाध्य करती है, इसके स्वरूप और इसकी पीड़ा की समर्थ अभिव्यक्ति भावोच्छवास और लालित्य से संभव नहीं थी। साँचा बदला, भाषा बदली, शैली बदली, कविता का तेवर बदला, डिक्शन भी बदला। 'गाथा' व्यङ्ग्य की मिशाल तो बनी ही, एक बड़ा और समर्थ प्रगतिवादी रचना के रूप में भी आई। नाम देने के लिए यह नाम अच्छा है, पर वस्तुतः कवि की सांस्कृतिक चिन्ता ने ही यह रास्ता बदला था। ऐसे और भी बदले रास्ते बीच-बीच में मिलते हैं।

गाथा और अवन्तिका के बीच के काल में ही शास्त्री जी ने मौन रूप से एक बहुत बड़ा काम किया था कि एक महाकाव्य—'राधा' की रचना की जिसमें कविता के वृहत्तर आयाम को रूप ग्रहण करने का पूरा अवसर मिला। जातीय सस्कृति और दर्शन के आधार पर जीवन को तौलने का ऐसा प्रयास जहाँ भाव और चिन्तन के द्वन्द्व को एक पृथक आधार प्रदान किया गया जिसमें इतिहास और वर्तमान एक बिन्दु पर सामञ्जस्य के साथ मिलते हैं। यही महाकवि का कौशल है। कवि की चिन्ता कई स्तरों पर है पर मुख्य विवेच्य भावगत एवं विचारगत पहलू हैं। 'राधा' वस्तुत: जीवन को पहचानने की अन्तर्यात्रा है। इसमें मन की क्रिया और प्रतिक्रिया ही प्रधान हैं और इसका पूरा फलक मनोवैज्ञानिक है। 'राधा' शास्त्री जी की अपनी सृष्टि है, पूर्व कथानक का आधार नगण्य है, सृष्ट कथानक कथ्य की अभिव्यक्ति के निमित्त है। राधा के माध्यम से शास्त्री जी के कवि-रूप की पहचान में पूरी मदद मिलती है। शास्त्री जी के कवि-रूप का जो मूल या सबसे प्रभावी तत्त्व – गीतितत्त्व है, वही राधा की सृष्टि और शिल्पों में भी प्रभावी रहा है। राधा को स्पष्ट

करने के लिए विभिन्न कोणों से विशद व्याख्या की आवश्यकता है। इतना अवश्य है कि हिन्दी के आधुनिक महाकाव्यों के क्रम में राधा शीर्ष कोटि का अवदान है। राधा न केवल शास्त्री जी को महाकवि और गीति के सर्वथा समर्थ कवि के पद पर आसीन करती है बल्कि मन: क्षेत्र के कई ऐसे प्रच्छन्न परकोटों को खोलती है जिनका विस्तार और जिनकी गहराई देखने लायक है। भाव, विचार और चिन्तन में कवि के प्रवेश की सामर्थ्य तथा शिल्प को संभालने की ताकत का अंदाजा भो इसमें मिल जाता है। संस्कार, संस्कृति और परिवेश के मध्य मन को कैसे उच्चावच मार्ग से अपनी यात्रा तय करनी पड़ती है और किस कौशल से कवि ने यह यात्रा तय की है और करवाई है, यह भी द्रष्टव्य है।

राधा और अवन्तिका के बाद शास्त्री जी की कविता के कई पड़ाव हैं—कृतियाँ भी कई हैं; पाषाणी, तमसा, इरावती-जैसे गीति-नाट्य, उत्पलदल, धूपतरी, श्यामासगीत-जैसे गीत-सकलन महत्त्वपूर्ण हैं। ये गीतिनाट्य कला की दृष्टि से उत्कर्ष पर तो हैं ही, इनमें पात्रो के माध्यम से भावों के ससार और विचारों के द्वन्द्व की पड़ताल की गई है। स्वर्ग से धरती को श्रेष्ठ माना गया है, मनुष्य देवता से ऊँचा हो सकता है। ऊँचा हो सकता है, यह आदर्श है; पर मनुष्य तो मनुष्य है, वह निसर्गगत वृत्तियों और परिवेशगत प्रभावों से परि-चालित होता है। बाहर में सघर्ष दृष्टिगत न भी हो तब भी भीतर चलता रहता है, कभी उसका संकेत व्यवहार में भी मिल जाता है। ऐसे कई प्रकट-अप्रकट मन:क्षेत्र के द्वन्द्वयुक्त और सघर्षपूर्ण भाव-बिन्दु हैं जो शास्त्री जी के गीतिनाट्य की विषयवस्तु हैं। सफलता इस बात में है कि ओपेरा के फॉर्म में इन बारीक बिन्दुओं को ऐसा संतुलित कलात्मक विस्तार दिया गया है कि ध्यातव्य बिन्दु अपने में कहानी बन जाते हैं। निश्चय ही गीतिनाट्य की गीति में भी और नाट्य में भो शास्त्री जी को सफलता मिली है और उन्होंने गीतिनाट्य को समृद्ध भी किया है।

इसके अतिरिक्त और इससे भिन्न शास्त्री जी के विविध प्रकार के गीतों का फैला हुआ संसार है जिनके प्रकार, बोध और अनुभव के धरातल भिन्न-भिन्न हैं, जिनके रंग और खूशबू भी अनेक हैं और जिनके कारण शास्त्री जी के कवि-रूप ने सर्वाधिक ख्याति और

प्रतिष्ठा पाई। कुछ लम्बी कविताएँ हैं जो दूर तक वर्तमान और अतीत का उद्घाटन करती हैं। कुछ व्यङ्ग्य कविताएँ हैं जो विसंगतियों पर गहराई तक चोट करती हैं। और, गजलों का एक लम्बा सिलसिला है जहाँ ज्यादातर हिन्दी की जमीन पर कोमल और तीखे भावों और बोधों को समर्थ अभिव्यक्ति मिली है। गजलों में भी शास्त्री जी को वैसी ही सफलता मिली है जैसी गीतों में मिली हैं।

शास्त्री जी के कवि-रूप का एक और विशिष्ट स्वरूप सामने आता है वह है क्लासिक रूप। यह विशेषता और सामर्थ्य सिर्फ निराला में थी। निराला के बाद यह रूप बेहतर तरीके से शास्त्री जी ने संभाला है। क्लासिक रूप कवि को एक ऐसी ऊँचाई प्रदान करता है जो हर हालत में, कई निषेधों के बावजूद, कवि को बड़े कवि की पंक्ति में स्थान पाने की गुणवत्ता उपलब्ध कराता है क्योंकि यह वह रूप है जहाँ द्रष्टा का तटस्थ भाव प्रबल होता है।

शास्त्री जी की कविता में उदात्त की भूमि प्रशस्त और सबल है। उदात्तता से कविता ऊँची और परिष्कृत तो होती ही है, उसकी ग्राह्यता भी बढ़ती है और ग्रहणकर्ता का परिष्कार भी होता है। शास्त्री जी की कविता में उदात्तता का गुण काफी है।

कुल मिलाकर शास्त्री जी की कविता मूल भारतीय कविता की धारा से जुड़कर चलती है जिसमें विकास के गुणों को जुड़ते रहने से मूल की शक्ति के साथ मार्ग-कुसुम के विविध रंग और खुशबू भी मिलती है। मूल की प्राणवत्ता के कारण शास्त्री जी की कविता निराशा से बचती है। शास्त्री जी की कविता में लालित्य का गुण तो सर्वोपरि है ही, उन्होंने कविता के स्तर को भी हमेशा ऊपर उठाने का प्रयास किया है। गुणों की सघनता और मात्रा का विस्तार—दोनों बातें हैं। संगीत ने उसे रम्य, ग्राह्य और दीर्घजीवी बनाया है। एक कलाकार में इतने सारे उपादनों का एक साथ संयोजित होना अपने आप में महत्त्वपूर्ण है।

शास्त्री जी ने कविता में जितना लिखा है, उससे कतई कम गद्य में नहीं लिखा है। गद्य में भी उन्होंने आरम्भ से ही कविता के समानान्तर लिखा और इसकी भी शुरुआत संस्कृत से होती है। उन्होंने संस्कृत में कविता के साथ आलोचना और कहानियाँ लिखी थीं। वह गद्य संस्कृत-परम्परा का परिपुष्ट और आधुनिक गद्य था। हिन्दी में आने पर, हिन्दी में भी कविता के साथ गद्य लिखना शुरू कर

दिया था और पहले दौर में आलोचना और कहानियाँ ही लिखीं, फिर आगे तो कई विधाओं में गद्य के सशक्त और विकसित रूप आए हैं।

हमारी साहित्य-परम्परा की पुरानी मान्यता है जो आज भी उतना ही सही है कि गद्य कवियों के लिए निकष है। उस काल में गद्य-लेखकों के लिए भी कवि शब्द ही प्रयुक्त होता था। सचमुच निकष है, इस अर्थ में भी कि कविता में कवि थोड़ा बचकर निकल सकता है, अपना पता कुछ छिपा भी सकता है, पाठक एक प्रच्छन्न संभावना के आधार पर कुछ दूर खिंचा चला जा सकता है किन्तु यह गुंजाइश गद्य में नहीं बनती। इसमें ठोस जमीन चाहिए ही, तथ्य का आधार होना ही चाहिए, लेखक बिना परिचय दिए पार नहीं हो सकता।

सफल गद्य की विशेषता होती है कि वह सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों और कितने भी उलझे विचारों की अभिव्यक्ति देने में समर्थ हो। इसमें सम्प्रेषणीयता की खास जरूरत होती है। विश्वसनीयता और आत्मीयता विशेष गुण होते हैं।

शास्त्री जी के समग्र गद्य साहित्य को देखने के उपरान्त कोई भी सहसा यह सोचने के लिए रुक जाता है कि वह कवि बड़े हैं कि गद्यकार। और ताज्जुब नहीं कि कुछ लोग उन्हें गद्यकार के रूप में ही बड़ा मान लें। मानना एकदम से भूल भी नहीं होगा। यह बात उनके गद्य-लेखन की मात्रा की सिर्फ विपुलता के कारण नहीं है, बल्कि विविधता और सामर्थ्य के कारण है। शास्त्री जी का गद्य कितने भी सूक्ष्म भावों, कितने भी उलझे विचारों को अभिव्यक्ति देने की सामर्थ्य से पूर्णतः सम्पन्न है। फिर वह चिन्तन की प्रक्रिया से भी जुड़ता है और उससे गुजरता भी है।

यह स्पष्ट कर देना, पहले ही आवश्यक है कि शास्त्री जी का गद्य एक कवि का गद्य है। कविता के जो गुण होते हैं वे उनके गद्य में भी मिलते हैं और कविता की भाँति ही उनका गद्य एक भिन्न सोपान से अपनी ऊँचाई पर पहुँचता है। परिणामतः वह न केवल संभावना और कल्पना के फैले हुए एक बड़े क्षेत्र का द्वार खोलता है बल्कि उदात्तता की क्लासिक भूमि के आस-पास भी होता है। उसका ताना-बाना बड़े फलक पर फैले होने के बावजूद उस पर सूक्ति-परकता प्रभावी रहती है, इसलिए उनके गद्य में सूक्तियाँ खूब हैं।

सूक्ति फैले तथ्य को सार रुप में समेटती है और उसे सिद्धान्त का दर्जा देती है। वह कभी अर्थान्तरन्यास का काम करती है और कभी स्वतंत्र अपने में एक खूबसूरत बिम्ब बनाती है। उसके द्वारा कथ्य के समर्थन या प्रतिषेध का अपना सौन्दर्य है। एक बात इस सन्दर्भ में अवश्य है कि सूक्तियों का लेखन में जहाँ लाभ है वहाँ एक खतरे की भी संभावना रहती है। लाभ तो स्पष्ट है किन्तु खतरा यह रहता है कि लेखक के प्रयोग-कौशल में थोड़ी भी कमी हुई तो गद्य अनावश्यक रूप से बोझिल और निरथक भारयुक्त हो जाता है तथा कथ्य और कथ्य का स्वाभाविक रूप दब जाता है। इस कला में शास्त्री जो निपुण हैं जो कथ्य पर अतिरिक्त भार पड़ने और उसके रूप के दब जाने से बचा लेते हैं। उनके गद्य को इसका लाभ मिला है। हो सकता है, कहीं खतरा भी उठाना पड़ा हो।

गद्य के तीव्रगामी विकास-काल में गद्य की दो धारा—दो शैली स्पष्ट रूप से विकसित होने लगी थी और विभक्त भी हो गई थी। एक का प्रतिनिधित्व कर रहे थे प्रेमचन्द और दूसरी का प्रसाद। कवियों का झुकाव स्वभावतः प्रसाद की ओर अधिक था। उस समय शास्त्री जी का गद्य प्रेमचन्द की अपेक्षा प्रसाद के ज्यादा करीब है तो ठीक ही है। वस्तुतः उपरि विभाजन स्थूल और सुविधाजनक है। प्रकार बताने का एक तरीका है। आगे चलकर कवियों पर भी यह व्यापक रूप से लागू नहीं होता। अज्ञय और प्रभाकर माचवे ने इस अवधारणा को तोड़ा और उन्होंने बड़े पैमाने पर स्वरूप बदलने में प्रेरित और प्रभावित किया। हकीकत तो यह है कि प्रत्येक लेखक के गद्य का अपना स्वरूप—अपना व्यक्तित्व होता है। उसे यह लेखक के व्यक्तित्व से ही प्राप्त होता है। शास्त्री जी के गद्य का आरम्भ बताने के लिए वैसा कहा था किन्तु समग्रता में शास्त्री जी के गद्य का स्वरूप और व्यक्तित्व पृथक् है, उनका अपना है और इस कारण ही पहचान अलग बनती है।

शास्त्री जी का गद्य विविधधर्मी है और विविधरूपात्मक भी है किन्तु उसके आन्तरिक स्वरूप और अन्तर्धारा में एक ऐसा तत्व है जो यह बता देता है कि ये सभी एक ही स्रोत से विभिन्न मौसमों में प्रवाहित हुए हैं। उसका स्तर और शील एक जैसा बना रहता है। रूपों, आकृतियां और प्रस्तुति के भेद से मूल में खण्डित करने वाला

कोई भेद नहीं बनता। यह चीज गद्य के अपने स्वरूप के साथ लेखक के व्यक्तित्व की पहचान में भी मददगार होती है। शास्त्री जी का गद्य उनके व्यक्तित्व की व्यापक पहचान तैयार करता है जिसमें उसका विस्तार भी है और सीमा भी।

शास्त्री जी का गद्य हिन्दी गद्य-साहित्य के लिए एक ऐसा अवदान है जो अपनी अलग बुनावट और क्लासिक स्तर के कारण दूर से भी पहचाना जा सकता है किन्तु उसमें विशेष यह है कि वह अपने भीतर कई तरह की खूशबू को समेटे हुए है। जैसे फूलोंवाली कई घाटियों से गुजरकर आती हुई हवा में अनेकों फूलों की खूशबू एक ही साथ होती है जो अपनी एक अलग और खास किस्म बनाती हैं, जो कहीं और कभी ही उपलब्ध होती है; ऐसा ही गद्य है शास्त्री जी का। इसका एक कारण उनका कई भाषाओं के साहित्यों का गहन अध्ययन हो सकता है किन्तु वह कारण पर्याप्त नहीं है। जब तक लेखक की चेतना और ग्रहणशीलता पूरी तरह विकसित नहीं होती और शब्द की अर्थशक्ति तथा शब्द की संवेदना के साथ तदाकारता की सामर्थ्य अर्जित नहीं कर लेती तब तक अध्ययन से कुछ नहीं होता। यह वस्तुतः लेखक की चेतना और संवेदना होती है जो शब्द के साथ जुड़ती है और उसे अपनी गहनता तथा सामर्थ्य के अनुरूप शक्ति प्रदान करती है। केवल अध्ययन अलंकरण तो जुटा सकता है लेकिन शब्द को संवेदना से नहीं जोड़ सकता; कृत्रिम चमक तो पैदा कर सकता है लेकिन उसमें कोई आभा नहीं होती जिसे आँखें देखना चाहें, हृदय में उतारने की बात बहुत दूर की है। वैसा लेखन पाठकों के किसी काम का नहीं होता। शास्त्रीजी ने शब्दों को संवेदना के साथ जोड़ा है और उन्हें सघन चेतना के वहन करने के योग्य भी बनाया है। यहाँ लेखक की चेतना का विस्तार, सम्यक् विकास, सामर्थ्य और कलात्मक संतुलन ही कारण है। यही कारण है कि शास्त्री जी किसी छोटी बात को भी कितनी भी ऊँचाई, कितनी भी दिव्यता तक ले जा सकते हैं और ऐसी छोटी-छोटी बातों को पूरी रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं जिनपर सामान्यतः किसी का ध्यान भी नहीं जाता। यह उनके गद्य की एक विशेषता भी है।

शास्त्री जी के गद्य का एक पहलू है अनुरणन और प्रवाह का। उनका गद्य संगीत की गति की भाँति चलता है, कभी खयाल, कभी

टुकड़ा, किन्तु उसका आभास हमेशा देता है। इसे गद्य को भी सुर में होना कहते हैं। शब्द-प्रयोगों में एक झंकार की प्रतीति होती है जो कर्णप्रिय होती है। कहीं लम्बा विस्तार होता है, कहीं लघु रूप होता है; किन्तु प्रभाव समान रुप से उत्पन्न करता है। इसी वजह से उनके गद्य में अनुप्रास खूब होता है। वह अनुप्रास जुटाते नहीं हैं, जुट जाता है। जुटाते तो अनावश्यक भी आ जाता, नहीं जुटाते हैं इसलिए सुन्दरता की खातिर आवश्यक ही आता है। जहाँ यह नहीं होता वहाँ प्रयुक्त शब्द की बनावट और उसकी अन्य ध्वनियाँ काम करती हैं। यह अनुरणन केवल शब्द में ही नहीं, अर्थ में भी है। अर्थ के अनुरणन की सीमा बहुत विस्तृत है। और इन दोनों की खातिर शास्त्री जी के गद्य में संस्कृत की निर्भरता समाप्त हो गई है। इसलिए हिन्दी की प्रकृति के अनुसार जितनी दूर तक जिन सहयोगी और समीपी भाषाओं के शब्द अपनी खूबसूरती और अर्थवत्ता के साथ ग्राह्य हो सकते हैं, वे उनके गद्य में गृहीत हैं। उनके गद्य में सस्कृत शब्द तो अपनी पूरी सौन्दर्य-छटा के साथ होते ही हैं, उर्दू, अरबी, फारसी, अंग्रेजी और डायलेक्ट के भी शब्द निस्संकोच आते हैं। वे वहाँ शब्दमात्र नहीं होते, बल्कि अर्थ की गरिमा और सौन्दर्य लिए होते हैं। इससे अनुरणन के दोनों काम होते चलते हैं। इसमें संगीत से सधे और सौन्दर्य से आप्यायित शास्त्री जी के मन को कर्णप्रियता और सुन्दरता दोनों अभीप्सित हैं।

उनके गद्य में अनवच्छिन्न प्रवाह है। जैसे वह अजस्र स्रोतवाला झरना हो जो कभी निःस्व होने का संकेत नहीं देता; और उसका जल आगे चलकर विभिन्न आकार-प्रकार की क्यारियों में निर्बाध बह रहा हो। प्रकार की भिन्नता की वजह से वेग की प्रतीति भिन्न-भिन्न होती है किन्तु प्रवाह की निरन्तरता सभी में समान, और उन्हें देखने का अलग-अलग अनुभव। इसीसे उनके गद्य की कई कोटियाँ बनती हैं और विभिन्न विधाओं के गद्य को डिमार्केट भी किया जा सकता है। विधाओं के पार्थक्य के पूर्व गुणवत्ता की चर्चा थोड़ी और कर लेनी चाहिए।

उनके गद्य की गुणवत्ता में काव्यात्मकता प्रधान है इसलिए वहाँ अलंकरण की अच्छी गुंजाइश है। कहा जा सकता है, शास्त्री जी का गद्य पूरी तरह कलात्मक गद्य है। कविता के मिजाज को एक-

बारगी किनारे कर देना और लालित्य की मिठास से मुँह मोड़ लेना शास्त्री जी-जैसे गद्यकार के लिए संभव नहीं था, आवश्यकता भी नहीं थी। सस्कृत की परम्परा में गद्य को भी काव्य माना जाता है और गद्यकार को भी कवि कहा जाता है। पद्य और गद्य तो अभिव्यक्ति के दो अलग-अलग माध्यम हैं, अभिव्यक्ति देनेवाला कवि एक है। फिर भी गद्य को निकष माना गया जिसपर कम ही कवि खरे उतरते हैं। संस्कृत में किसी-न-किसी रूप में बहुतों ने गद्य लिखा किन्तु वास्तविक गद्यकार अथवा गद्य पर निर्भर रहने वाले गद्यकार कम हुए, हो सकता है कम टिक ही पाए। जो टिके, सदा के लिए प्रतिमान बन गए। सुबन्धु, दण्डी और बाण वैसे ही गद्यकार हैं। काव्यशास्त्रियों में मम्मट और पण्डितराज जगन्नाथ का भी वैसा ही स्थान है। इन्हें उतारा नहीं जा सकता और यह उचित भी नहीं होता और बहुत काम का भी नहीं होता; किन्तु उनके मिजाज, पद्धति और शक्ति का अंदाजा लगाया जा सकता है। इनके समन्वित रूप का एहसास करना हो तो शास्त्री जी का सस्कृत गद्य द्रष्टव्य है। एक भाषा के लेखन होने के कारण देखने और अनुभव करने में आसानी है। हिन्दी की प्रकृति भिन्न है, इसमें हू-ब-हू वैसा नहीं हो सकता। किन्तु उस स्वरूप और सामर्थ्य का आभास जरूर मिल सकता है। शास्त्री जी के गद्य के एक बड़ हिस्से में इसका एहसास होता है, और कुछ लोगों का ऐसा खयाल है कि हिन्दी में वैसा गद्य लिखना संभव न था किन्तु शास्त्री जी ने सभव कर दिया।

शास्त्री जी के गद्य का वाक्य बिना चरमराए किसी सीमा तक लम्बा हो सकता है और कभी दो-दो शब्दों का भी, प्रयाग के लिए तो एक शब्द का भी। कहीं समास की लम्बाई नापने लायक होती हैं तो कहीं समास का स्पर्श तक नहीं। कहीं संस्कृत का आचार्य उतर आता है—तत्सम का बाहुल्य, तो कही सस्कृत से ताल्लुक तक नहीं मालूम पड़ता। कहीं संस्कृत की ओर झुका हुआ तो कहीं उर्दू की ओर झुका, और कहीं मध्यमार्गी। कहीं विशेषणों और अलकारों का विन्यास तो कहीं मुहावरों की होड़। कहीं कोई विचारक गभीर विचार करता हुआ तो कहीं कोई कोमल प्रकृति का कवि सपन बुनता हुआ। इस तरह जहाँ जो रूप है वह अपना गरिमा, सौन्दर्य और सार्थकता के साथ है। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात है निरीक्षक की शक्ति और अभिव्यक्ति की सामर्थ्य।

शास्त्री जी के गद्य का एक प्रकार और है। पाठकों का एक बड़ा वर्ग उसी गद्य को अधिक पसन्द करता है। उस प्रकार का गद्य उनकी रचना के बीच-बीच में आता रहता है। वैसा गद्य शास्त्री जी तभी लिखते है जब वह सभी बन्धनों से पार होते हैं और तब शायद अपने को भी भूले होते हैं। उस समय के गद्य की रवानी कुछ और होती है; विन्यास सहज होता है, स्वरूप भी सहज होता है और वह सहजता साधना के बाद आई सहजता का आभास देती है। प्रकृति का चित्र खींचना हो या पात्र का, परिवेश दिखलाना हो या व्यक्ति की धड़कन पहचानना हो, बिलकुल चित्र जैसा—एक लैन्डस्केप बन जाता है। उसमें चोट कम होती है, आत्मीयता ज्यादा होती है; अपेक्षाकृत यह गद्य मुझे भी ज्यादा पसन्द है। इस गद्य पर से छाया और आवरण उठे होते हैं। रचना के साथ आत्मीय सम्बन्ध की संभावना रहती है।

दुनिया के प्रायः सभी विकसित साहित्य का गद्य स्वरूप, विकास और प्रकार के कई अनुभवों के दौर से गुजर चुका है। उसे पता हो चुका है कि कब, किस रूप में, कैसा सम्बन्ध पाठकों से बनता है। इस समय दुनिया में गद्य का एक बहुत बड़ा प्रबुद्ध पाठक-वर्ग है जाहिर है इसमें लेखक और समीक्षक भी शामिल हैं, जो यह विचार करता रहता है और यह उसके मन की हकीकी तमन्ना भी है कि लेखक जैसा बोलता है वैसा लिखता है कि नहीं। क्या बोलने और लिखने का गद्य अलग-अलग होता है? स्वाभाविकता और कृत्रिमता का भी प्रश्न है। पक्ष दोनों हैं, पर आत्मिक झुकाव किस ओर है? हो सकता है, कुछ बदले सौन्दर्य-बोध के कारण इस विचार को बल मिला है, किन्तु कारण संवाद-सूत्र और हार्दिकता में ही ढूँढ़ना चाहिए। कौन-सा गद्य करीब होता है मन के? इसके विवेचन-परीक्षण का यहाँ अवसर नहीं, आवश्यकता भी नहीं है। सन्दर्भतः इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि शास्त्री जी की गद्य-रचनाओं में वैसे गद्य की अच्छी मात्रा है, कि जैसा वह बोलते हैं वैसा ही लिखा है। निश्चय ही उसका मिजाज, उसका प्रवाह और उसका सौन्दर्य अलग किस्म का है, और निश्चय ही वह अधिक ग्राह्य है तथा पाठकों को ज्यादा अभिभूत भी करता है।

शास्त्री जी की गद्य-विधाओं में मुख्यतः कहानी, आलोचना, उपन्यास और आत्मकथा-संस्मरण हैं, कुछ नाटक और ललित लेख भी हैं।

शास्त्री जी ने पचास के करीब कहानियाँ लिखी हैं। ज्यादातर कहानियों का रचनाकाल १९४० के आस-पास है। उस समय 'कानन' और 'अपर्णा' नाम से दो कहानी-संकलन छपे थे। इन कहानियों के पात्र भाव-जगत् से उभरते हैं पर उसी में विसर्जित नहीं हो जाते, बल्कि जीवन के अनुभवों और सामाजिक संघर्षों के करीब आते हैं। इन कहानियों में भाव-क्षेत्र का उद्घाटन तो मिलता ही है, जीवन-मूल्यों का टकराव, सामाजिक विसंगतियों और विद्रूपताओं पर व्यङ्ग्य भी मौजूद है। व्यङ्ग्य शास्त्री की की रचनाओं में आरम्भिक काल से ही प्रवेश पा गया था जो हमेशा किसी-न-किसी रूप में, रूप बदलकर भी उपस्थित मिलता है। ये कहानियाँ आदर्श का दस्तावेज बनकर नहीं रह गईं क्योंकि इनकी मूल प्रेरणा वे विसंगतियाँ और वे पीड़ाएँ हैं जो वैयक्तिक और सामाजिक यथार्थ की जमीन पर किसी अनावश्यक दबाव और पाखण्डपूर्ण व्यवहार से पैदा होती हैं। यहाँ कहानियों की समीक्षा नहीं की जा रही है, कहना सिर्फ यही है कि शास्त्री जी का आरम्भिक रचनात्मक गद्य-लेखन आदर्श और यथार्थ के द्वन्द्व को झेलने लगा था और यह प्रयास कर रहा था कि उसके दबाव को भी झेल ले।

उपन्यास—'एक किरण : सौ झाइयाँ' आख्यायिका-परम्परा की है इसलिए उसका गद्य उसी परम्परा का स्वरूप ग्रहण किए हुए है। यह एक प्रयोग है इस रूप में कि उस परम्परा से विकसित होकर हिन्दी में आया गद्य कैसा होता। 'दो तिनकों का घोंसला' की समस्या आधुनिक युग और समाज के भीतर की है इसलिए गद्य का तेवर भी बदला है। 'कालिदास' में एक महाकवि ने भारत के सबसे प्रसिद्ध दूसरे महाकवि कालिदास के जीवन और रचना को पहचानने का प्रयास किया है। समय का अन्तराल दो हजार वर्षों के बावजूद कथा की बुनावट और गैप को भरने में कौशल है। इसमें शास्त्री जी का अपना स्वरूप भी अच्छी तरह उपस्थित हुआ है। इसका गद्य कालिदास पर औपन्यासिक रचना होने के कारण संस्कृत परिनिष्ठित है। यह देखा जा सकता है कि ऐसे गद्य का सौन्दर्य कितने फैलाव को

घेर सकता है। कहना न होगा, अपने प्रकार के गद्य में कालिदास का गद्य उत्कर्ष पर है अपनी पूरी क्षमताओं के साथ।

शास्त्री जी का आलोचक रूप भी प्रबल है। प्राच्य साहित्य, साहित्य दर्शन, चिन्ताधारा, त्रयी, ख्यात पुस्तकें हैं। जब वह शास्त्रीय विषय पर लिखते हैं तो प्रतिपादन, प्रयोग, प्रस्तुति—सभी दृष्टियों से आचार्य कोटि का गद्य होता है। कृति और कृतिकार की आलोचना में उनका भावक रूप होता है और प्रतिवाद में शास्त्रार्थी रूप। उनकी आलोचना के गद्य में भी रचनात्मकता मौजूद रहती है। वह स्तरीय आलोचक की हैसियत रखते हैं।

उनके गद्य में आत्मकथा और संस्मरण का एक बड़ा हिस्सा है। यह गद्य कुछ दूसरी किस्म का है और उसमें भी कई किस्में हैं, जो अपेक्षाकृत मुक्त, खूब मुहावरेदार और तीव्र प्रवाह से पूर्ण है जिसमें उपयुक्त शब्द को कहीं से भी आने की छूट है। डिक्शन भी अपनी तरह के खूब गढ़े गए हैं जो लेखक की विशेष कला है और जिसकी अर्थशक्ति तथा सौन्दर्य पर पाठक को कभी रुक जाना पड़ता है। विवेचन में खुद की हो या किसी और की, बारीक पहचान देने का सफल प्रयास रहता है। उन्होंने इस माध्यम से आलोचना की एक प्रकार की पद्धति विकसित कर ली है जिसमें आनुषंगिक रूप से बहुत कुछ आ जाता है। विनोदवृत्ति बनी रहती है जो एक बड़ा गुण है। इस विधा की पुस्तकें हैं—स्मृति के वातायन, नाट्यसम्राट् पृथ्वीराज कपूर, हंसबलाका, कर्मक्षेत्रे-मरुक्षेत्रे, अष्टपदी और एक असाहित्यिक की डायरी।

शास्त्री जी के गद्य में गद्य का ललित रूप व्यापक रूप में मिलता है। वह ललित गद्य के बड़े लेखक हैं। यह लक्ष्य-रूप में नहीं है, साधन रूप में है। उनके गद्य में रचनात्मकता और लालित्य दो बड़े गुण हैं जो उनके गद्य का एक प्रकार तो बनाते ही हैं, उन्हें भी एक अलग आसन पर आसीन करते हैं।

एक अच्छा कवि अच्छा गद्य भी लिख सकता है, ऐसी बात नहीं। बहुत कम अच्छे कवि अच्छा गद्य लिख पाते हैं। शास्त्री जी को दोनों में समान गति प्राप्त है। यह एक विरल संयोग है कि शास्त्री जी एक बड़े कवि होने के साथ-साथ एक बड़े गद्यकार भी हैं।

अनुक्रम

1. शास्त्रीजी के काव्य की विकास-यात्रा पहला पड़ाव
—डा० मारुति नन्दन पाठक 9—24

2. हिन्दी कविता का तीसरा धरातल
(संदर्भ : आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री)
—डा० गोपेश्वर सिंह 25—46

3. उत्तर-छायावाद और आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री
—डा० नन्दकिशोर नन्दन 47—152

(i) उत्तर छायावाद और आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री 49—68

(ii) प्रगतिशीलता के मानवीय आयाम 69—86

(iii) गाथा : एक नयी रचना—विधा का जन्म 87—103

(iv) हिन्दी महाकाव्य का शिखर : राधा 104—111

(v) आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की गीतिकला 112—124

(vi) हंसबलाका : हिन्दी गद्य का उत्कर्ष 125—139

(vii) मानवीय यथार्थ का कथा-संसार 140—147

(viii) पीढ़ियों के संस्कारक कवि की भूमिका 148—152

4. 'राधा' में पाश्चात्य अलंकार—डा० रामगोपाल पाण्डेय 153—163

5. राधा का तात्विक अनुशीलन—डा० पतञ्जलि मिश्र 164—246

6. कर्मक्षेत्रे-मरुक्षेत्रे जीवन और सृजन संघर्ष की
एक मार्मिक गाथा—डा० रवीन्द्र उपाध्याय 247—260

7. कर्मक्षेत्रे-मरुक्षेत्रे आचार्य का एक अमूल्य अवदान
—सुश्री शरद सिंह 261—268

8. अष्टपदी : एक दृष्टि—सुश्री वर्षा सिंह 269—278

9. 'एक असाहित्यिक की डायरी' आत्माभिव्यक्ति की
परिधि में—डा० तारकेश्वर सिंह 279—286

10. धूपतरी : एक मूल्यांकन—रश्मि रेखा 287—296

11. आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की काव्य-साधना
—डा० वंशीधर लाल 297—304

12. महाकवि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की काव्य-साधना
—डा० व्रजमोहन पाण्डेय 'नलिन' 305—334

13. आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की काव्य दृष्टि
—डा० रामनरेश मिश्र 'हंस' 335—356

14. वंदी मंदिरम् के कवि की राष्ट्रीयता—डा० सुरेश पाठक 357—364

15. बाँसों का झुरमुट—श्री चन्द्रदेव प्र० सिंह 365—373

16. निराला के पत्र बनाम डा० रामविलास शर्मा
—डा० महेश्वर सिंह 375—391

17. गाथा परिशीलन—प्रो० बिहारी लाल मिश्र 393—420

18. तीर-तरंग : एक अध्ययन—बिहारी लाल मिश्र 421—440

19. संस्मरणालोचन : हिन्दी की एक नयी विधा
— डॉ० व्रजकिशोर प्रसाद 441—474

अंग्रेजी

20. Life's Flame —Prof. K. C. S. 475

21. Acharaya Jankivallabh Shastri
Molody of India's Soul
Prabhat Chandra Mishra 477—483

22. Tradition and the Text of Poetry of
Acharaya Jankivallabh Shastri
—Prof. Ashok Kumar Jha 485—518

23. Among dogs and cats —By Philips 519—528

24. Living Legend —Dr. Amitabh Jha 529—536

परिशिष्ठ

1. साहित्य जगत के एक पुरुषार्थ :
आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री—मुकेश कुमार 3—8
2. कवि जानकीवल्लभ शास्त्री का गद्यकार
—मृत्युंजय मिश्र 'करुणेश' 9—14
3. आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री—डॉ० निशान्तकेतु 15—18
4. आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री : एक प्रज्ञा-पुंज
—श्री सूर्यदेव पाठक 'पराग' 19—26
5. आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री : एक संस्मरण
—डॉ० जफर हमीदी 27—30
6. आदमी को भी मयस्सर नहीं इन्सां होना
—श्रीमती मनोरमा नन्दन 31—33
7. अथक-श्रम कर अथक कहना शेष है
—डॉ० राम प्रवेश सिंह 34—46
8 कवि मनीषी के लिए—रश्मि रेखा 47
9. शास्त्रीजी एक मुकम्मल काव्ययुग हैं—डॉ० पद्माशा 48—51
10. आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री : एक संस्मरण
—डॉ० मंजर एजाज 52—60
11. अवन्तिका : एक विवेचन—डॉ० मिथिलेश कुमारी मिश्र 61—69
12. श्यामा संगीत : एक दृष्टि—डॉ० परमानन्द मिश्र 77—81
13. अनुज है मेरा वसन्त—डॉ० रेवती रमण 77—81
14. हिन्दी साहित्य का एक ज्योतिर्मय कवि
आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री—उदय शंकर सिंह उदय 82—89
15. अष्टपदी की मनुआँ : संवेदना की धात्री
—डॉ० राम प्रवेश सिंह 90—104

●

शास्त्रीजी के काव्य की विकास-यात्रा
पहला पड़ाव

डा० मारुतिनन्दन पाठक

शास्त्रीजी के काव्य की विकास-यात्रा

पहला पड़ाव

□ डा० मारुतिनन्दन पाठक

शास्त्रीजी की काव्य-यात्रा संस्कृत से शुरू होती है, इसलिए उसकी विकास-यात्रा की चर्चा भी वहीं से शुरू होनी चाहिए। यों तो जिसे कविता का अक्षरारंभ कहते हैं, 1929 से ही आरंभ हो चुका था, 1930 से 1932 के बीच अनेक संस्कृत कविताएं 'संस्कृतम्', 'सुप्रभातम्' और 'सूर्योदय:' में तथा कुछ हिन्दी कविताएं 'शिक्षा' और 'सुकवि' में प्रकाशित हो चुकी थीं। किन्तु वस्तुत: कविता जो कविता की भूमि पर पहुंच चुकी है, जिसकी दिशा निर्धारित हो चुकी है और जिसकी नोटिस ली जानी चाहिए, 1932 से शुरू होती है। यद्यपि 1935 तक संस्कृत के अतिरिक्त कुछ कविताएं हिन्दी में भी अवश्य लिखीं किन्तु वह अभ्यासमात्र ही था, वास्तव में हिन्दी में आरंभ 1935 से हुआ। और संस्कृत में 1935 तक तो जमकर लिखा, उसके बाद भी लिखा 1941 तक, फिर क्रमश: कम, क्योंकि हिन्दी की ओर मुड़ते चले गये, वैसे संस्कृत में लिखने की प्रवृत्ति और शक्ति में कभी कमी नहीं आयी, आज भी नहीं। शास्त्रीजी पहले संस्कृत के कवि हैं और संस्कृत में भी उनकी पर्याप्त रचनाएं हैं और ऐसी हैं जिनमें हिन्दी के तमाम रूपों—प्रवृत्तिगत हों या शिल्पगत, का मूल रूप ढ़ूंढ़ा जा सकता है जो काफी विकसित अवस्था में भी है। शास्त्रीजी की हिन्दी कविता के अध्येताओं को उनकी संस्कृत कविताओं को देखे बिना उसकी प्राणशक्ति का पता नहीं मिल सकता है और यह बात सिर्फ कविता के साथ ही नहीं है बल्कि उनके गद्य-आलोचना और कथा-साहित्य के साथ भी है।

संस्कृत में शास्त्रीजी तीन और नामों से लिखते थे या अपने नाम के साथ उपनाम के रूप से जोड़ा करते थे—श्रीहृदयेश, श्रीनिधि और ललितललाम। उस काल की रचनाओं में ये नाम मिल सकते हैं। ललितललाम तो बहुत बाद तक चला था और अंत में शास्त्री शेष रह गया। पहली बार जब आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी से मुलाकात हुई थी तो वह श्रीजानकीवल्लभललितललाम

शास्त्री जैसे कलेवर का नाम सुनकर अपना ठहाका रोक नहीं पाये थे जिसका चित्रण स्वयं शास्त्रीजी ने 'हंस बलाका' में किया है।

संस्कृत काव्य-परंपरा की जमीन बहुत पुख्ता है। उसमें इधर या उधर हटकर कुछ करना अपने में बड़ा कठिन काम है। फिर ऐसा वही कर सकता है जिसमें पर्याप्त प्रतिभा हो। संस्कृत में उसकी 'अपनी भूमि और व्यंजना-शक्ति को बरकरार रखकर ही नया कुछ किया जा सकता है। किन्तु इसके लिए कवि में अतिरिक्त शक्ति की अपेक्षा होती है, थोड़ी-सी कमी होने पर कविता संभल नहीं सकती है। शास्त्रीजी की सोच थी कुछ नया करने की, शिल्प में भी, वस्तु में भी। ऐसा इसलिए नहीं था कि पुरानी शैली को मांज-कर उसमें नयी चमक नहीं दे सकते थे बल्कि ऐसा इसलिए था कि उसमें युग और समय तथा अद्यतन आधुनिकता भी प्रतिभासित हो सके जो सर्वथा नयी भूमि तैयार करने पर ही संभव हो सकता था। यदि वह पुरानी शैली को ही अख्तियार करते तो भी कम चमत्कार पैदा नहीं करते और किसी समर्थ कवि से पीछे भी प्रतीत नहीं होते। दो उदाहरण देता हूं :

कलक्वणनकच्छपीरणनदत्तकर्णादरा —
दरोन्नतमुखी कलाकलितगीतिकागायने।
विभाकरविभानिभाकृतिमणिस्फुरच्छाटिका
प्रभाभिनववाटिका जयति सा जगन्नाटिका ॥
विलोचनविघूर्णाद्विपुलविश्वसञ्चालिका
विवेकनयनप्रतालललितसत्कलालालिका।
स्फुरत्वनिशमेव मेमृदुलमालतोमालिका
त्रिलोकपरिचालिका मनसि वेधसो बालिका ॥

(काकली, पृ० 48)

या

कुसुमास्तरणनिषण्णां सततविषण्णांविभाव्य राधान्ताम्,
अनुगोविंदमधीरं धीरस्मितमाह गोपिका काचित्।

× × ×

कमलदलायतनयनं शतरुचिवयनं विलोक्य गोविन्दम्
रतिपतिवसत्यसोढां ललितनवोढामुवाच काचिदपि।

(काकली, पृ० 16-17)

उपर्युक्त श्लोकों में शैली और वस्तु दोनों पुरातन और पारंपरिक है। कवि की शक्ति के कारण योजना में नयेपन का थोड़ा आभास अवश्य है। किंतु उनकी संस्कृत रचनाओं में ऐसे उदाहरण गिने-चुने ही मिलते हैं, शेष में तो नवीनता की होड़-सी दिखाई देती है। भाषा पर असाधारण अधिकार होने के कारण व्यंजना और नाद की दृष्टि से समर्थ और अनुरूप शब्दों की पर्याप्तता अनायास आ जाती है और अनुप्रास कवि के भीतर के लालित्य का परिचायक है। किन्तु इन सबके बाद जो नवीनता का बोध है और अत में भाव-भूमि पर सिर्फ कविता बच जाती है, यही सबसे बड़ी विशेषता है। इस भावस्थिति में कवि द्वंद्वरहित है इसलिए प्रवाह में तीव्रता और यात्रा भी नये पथ की है:

निनादय नवीनामये, वाणि ! वीणाम्।
मृदुं गाय गीतिं ललित-नीति-लीनाम्।
मधुरमञ्जरीपिञ्जरीभूतमालाः, वसन्ते लसन्तीह सरसा रसालाः,
(काकली पृ० 1)

संस्कृत का यह तरुण कवि आरंभ में अनुभव करता है कि वह एक शुभ्र और नूतन किरण है, तुरत की विकसित कमलिनी का प्रियतम है।

मञ्जुलमरालसुकुमारसारतानिदानमेकोऽस्मि शुभ्ररश्मिः,
वृन्दितमिलिन्दवन्दितसुगन्धितारविन्देन्दिरामन्दिरस्मि !
त्वरितविकसित सरोजिनी-धव,
अहमस्मि ललितकिरणो नवः।
(काकली, पृ० 3)

फिर भाषा भाव की नयी जमीन पकड़ लेती है जो अपनी भाषा की याद दिलाती है।

कोकिलकललापेङ्गितनृत्यन्मञ्जुमञ्जरी पुञ्जम,
गुञ्जच्चञ्चुरचञ्चचरीक-संचय-सञ्चारितकुञ्जम्।
× × ×
बालकुरङ्गापाङ्गतरङ्गायासितशम्पाकम्पा,
सीदति पुण्ये वृन्दारण्ये सा, क्रियतामनुकम्पा।
(काकली, पृ० 16-17)

भाषा की सादगी और सहजता भी कम नहीं है जो आधुनिक कविता के करीब पहुँचा देती है :

मधुरं मधुरम्

रूपं सौन्दर्यं, लावण्यं ते मधुरं मधुरम् ।
प्रिये, पश्य, वरवचनविरचनाज्जित मधुमकरन्दम् ।
पतति तेऽधरे पीयूषं सततं मन्दं मन्दम्
अयि वितरदमरतां पिवते !

(काकली, पृ० 14)

अब कविता पूरी तरह अपनी स्वतंत्र जमीन पर आ गयी थी जहां आधुनिकता के आने की पूरी छूट थी। शास्त्रीजी का कवि-व्यक्तित्व पारम्परिक मार्ग को छोड़कर नयी राह पर चलने को समर्थ हो चुका था, नये भाव-बिम्ब को स्वतंत्रतापूर्वक ग्रहण करने में और उसकी अभिव्यक्ति में सक्षम हो चुका था। बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में, संस्कृत कविता की सुदीर्घ परम्परा में, यह स्वर सर्वथा नया था जो एक ओर तो संस्कृत को नया तेवर दे रहा था तो दूसरी ओर उस नयेपन को परम्परा की उदात्तता की सुरभि से आप्यायित कर रहा था जहां वेदना भी क्लासिक की ऊँचाई पर अभिव्यक्ति पाती है। लय और संगीत इसके साथ-साथ चलते हैं जो बिम्ब परिवेश और भाव को अभिव्यक्ति, संप्रेषण तथा प्रभाव के स्तर पर और गहरा बनाने में सफल सहायक है।

वृन्दावने वादिता वंशी !
गता तदानीन्दूरतरमहम्प्रावृषीव सखि, हंसी !

(काकली, पृ० 21)

और

अधुना नयनयो र्न हि वारि !
गीतमद्य न निर्गमिष्यति भुवनमोहनकारि !
दीपितैका दीपिकापि तु कलुषिते सदने न,
दर्शयेत् कथमपि पतंगः प्रेम कियदविकारि !
अधुना नयनयोर्नहि वारि !
लुब्धकेन न जालमास्तीर्णं विटपि-शिखरेषु,

किन्तु कलयेद् विहगवृन्दं सघन-गगन-विहारि !
अधुना नयनयोर्नहि वारि !

शास्त्रीजी ने संस्कृत में जितने और जितने प्रकार के गीत लिखे, 'काकली' में उसके दशांश से अधिक संकलित नहीं हो पाये। शेष उस काल की संस्कृत-पत्रिकाओं में बिखरे पड़े हैं जिन्हें ढूंढ़ पाना भी एक मुश्किल काम है। 'काकली' की कविता इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि कवि में कविता की शक्ति का पर्याप्त विकास हो चुका था और वह कविता के विविध रूपों में प्रयोग के लिए सक्षम था। यही गीत-कविता और गीति-कविता आगे चलकर हिन्दी में भी विकसित होती है। यद्यपि हिन्दी कविता हिन्दी की धारा से जुड़ती है किन्तु यह मूल भूमि वहां भी नहीं छूटती।

शास्त्रीजी का दूसरा कविता-संग्रह 'लीलापद्मम्' है जो अभी तक पुस्तकाकार नहीं छप सका है किन्तु उसकी अधिकांश कविताएं पत्र-पत्रिकाओं में छप चुकी हैं, कुछ का उल्लेख उन्होंने अपनी पुस्तकों की भूमिकाओं में किया है। यह लगभग तीन सौ मुक्तकों का संकलन है और इसमें 'राधालास्यम्' 'कृष्णलास्यम्' जैसे कई उपखण्ड हैं। शास्त्रीजी की कवि-चेतना का लगाव राधा से आरम्भ से ही रहा है जिसकी परिणति हिन्दी के राधा महाकाव्य में हुई है। 'लीलापद्मम्' की रचना 1938 से 1941 के बीच हुई थी। राधा अनेक रूपों में कवि-मानस में उतर चुकी थी। वह राधा जो कृष्ण की स्मृति में रात-भर डूबी रहती है वही सुबह कवि को साक्षात् सरस्वती के रूप में दिखायी पड़ती है।

आश्लिष्यांगैस्समग्रं श्रियममलदलत्पद्मकोषे निषण्णा
पादप्रान्ते समन्तान्मुखरमधुकरैर्वन्दिभिर्नन्द्यमाना
सौरभ्याधारधीरानिलचलमुकुलस्रग्धरा सुप्रभाते
वाग्देवीवापरा सा हरिमुखसुषमाराधिका राधिकेयम्।

(लीलापद्मम्)

राधा का एक नया रूप उभरता है जो अनेक बिम्बों के माध्यम से प्रकट है और वहां कविता में चित्र और संगीत एक साथ गुंथ गये हैं। यह राधा लास्यरत है और शास्त्रीजी इसे पूरे परिवेश के साथ उपस्थित करते हैं जहां

प्रकृति भी अपने उद्दाम रूप में उपस्थित है और लास्य के उपकरण भी अपने प्रभाव के साथ हैं :

ज्योत्स्नास्नाते निशीथे किसलयशयिते मर्मरे स्निग्धसान्द्रे
चान्द्रम्पीयूषमाचामति चटुलचलच्चञ्चुचञ्चच्चकोरे
वेल्लत्कल्लोलमालाकलकलकलिते यामुने श्यामकूले
मन्दं-मन्दं कदम्बं स्पृशति मधुमये माधवीये समीरे
किंकिंकि किंकिणीनां कण-कण-रणनं कङ्कणद्वन्द्वबन्धि
श्रावं श्रावं विरावं चलचरणमिलन्मञ्जुमञ्जीरजातम्
लीलाशीलालिलोलत्करतलकलितोत्तालतालं सहास्यं
लास्यं श्रीराधिकायास्तिरयतु दुरितं मानसं मानवानाम् ।

राधा का एक और रूप :

राधागांधारराग द्युतिनुतिभिरहो यन्महो नाध्यगच्छ—
न्नावापद्धा प्रवातैर्बहलपरिमलैः क्षालनादच्छलक्ष्मीम्
कालिन्द्याः कृष्णतृष्णं तटनिकटतमस्तोमसंक्रान्तकायं
विच्छायं स्वार्थसार्थंविमलयतु मनस्तज्जलं कज्जलं मे ।

(लीलापद्‌मम्)

राधा को अब कोई भय नहीं रह गया है, किसी जंगली जीव-जन्तु का भी नहीं। वह तो अब आधी रात तक जंगल में हरि के साथ क्रीड़ा करती है। हरि की व्यंजना चमत्कार पैदा करने वाली है :

सत्त्वान्तराव् भयं स्यात् तस्याः कस्मादकस्मादपि ?
क्रीडति राधाऽरण्ये हरिणा सार्द्धं निशार्द्ध पर्यन्तम् ।

(लीलापद्‌मम्)

'लीलापद्‌मम्' के मुक्तकों में राधा अनेक रूपों में चित्रित हुई हैं जिनमें परम्परा की छाया के बावजूद अधिकतर रूप नये हैं। परम्परा इसलिए कि राधा का रूप पहले से स्थिर है, उसके भीतर से ही नया कुछ गढ़ा जा सकता

प्रकृति भी अपने उद्दाम रूप में उपस्थित है और लास्य के उपकरण भी अपने प्रभाव के साथ हैं :

ज्योत्स्नास्नाते निशीथे किसलयशयिते मर्मरे स्निग्धसान्द्रे
चान्द्रम्पीयूषमाचामति चटुलचलच्चञ्चुचञ्चच्चकोरे
वेल्लत्कल्लोलमालाकलकलकलिते यामुने श्यामकूले
मन्दं-मन्दं कदम्बं स्पृशति मधुमये माधवीये समीरे
किंकिंकि किंकिणीनां कण-कण-रणनं कङ्कणद्वन्द्वबन्धि
श्रावं श्रावं विरावं चलचरणमिलन्मञ्जुमञ्जीरजातम्
लीलाशीलालिलोलत्करतलकलितोत्तालतालं सहास्यं
लास्यं श्रीराधिकायास्तिरयतु दुरितं मानसं मानवानाम् ।

राधा का एक और रूप :

राधागांधाररागद्रुतिनुतिभिरहो यन्महो नाध्यगच्छ—
न्नावापद्वा प्रवातैर्बहलपरिमलैः क्षालनादच्छलक्ष्मीम्
कालिन्द्याः कृष्णतृष्णं तटनिकटतमस्तोमसंक्रान्तकायं
विच्छायं स्वार्थसार्थविमलयतु मनस्तज्जलं कज्जलं मे ।

(लीलापद्मम्)

राधा को अब कोई भय नहीं रह गया है, किसी जंगली जीव-जन्तु का भी नहीं। वह तो अब आधी रात तक जंगल में हरि के साथ क्रीड़ा करती है। हरि की व्यंजना चमत्कार पैदा करने वाली है :

सत्त्वान्तराद् भयं स्यात् तस्याः कस्मादकस्मादपि ?
क्रीडति राधाऽरण्ये हरिणा सार्द्धं निशार्द्धपर्यन्तम् ।

(लीलापद्मम्)

'लीलापद्मम्' के मुक्तकों में राधा अनेक रूपों में चित्रित हुई हैं जिनमें परम्परा की छाया के बावजूद अधिकतर रूप नये हैं। परम्परा इसलिए कि राधा का रूप पहले से स्थिर है, उसके भीतर से ही नया कुछ गढ़ा जा सकता

है जो कवि की शक्ति पर निर्भर करता है। 'लीलापद्मम्' में कृष्ण के भी कई नये रूप उभरते हैं। कविताएँ प्रौढ़ हैं और आकर्षित भी करती हैं।

शास्त्रीजी ने 1936 में राष्ट्रीय भाव-धारा से जुड़ा एक खण्डकाव्य लिखा 'बन्दीमन्दिरम्', यह भी पुस्तक के रूप में नहीं छप सका, उस युग की पत्रिकाओं में ही पड़ा है। यह 'मेघदूत' के छन्द मन्दाक्रान्ता में लिखा गया है और इसमें श्लोक भी 'मेघदूत' के इतने (115) ही हैं। इसका आरम्भ भी 'मेघदूत' की तरह 'कश्चित्' से हुआ है। किन्तु इसकी अन्तर्वस्तु और अन्तर्भावधारा उससे सर्वथा भिन्न है इसकी शैली यद्यपि मेघदूत की किन्तु भावनाएं, कल्पनाएं और अनुभूतियां एकदम अलग और नयी हैं। यह वस्तुत: बहिर्मुखी प्रवृत्ति की रचना है जिसमें देश की तत्कालीन स्थिति और राजनीतिक परिस्थिति उभरकर आती है। विद्रूपता और पाखण्ड पर पर्याप्त व्यंग्य किया गया है किन्तु भाव की जमीन एकदम से छूट नहीं गयी है। एक किशोर पूरे उत्साह के साथ स्वतंत्रता-आन्दोलन में लगा हुआ है एक दिन वह जेल में बन्द कर दिया जाता है। सजा कुछ लम्बी मिलती है। उसके परिवार में और कोई नहीं है, सिर्फ उसकी एक छोटी बहन है जो अभी बच्ची ही है! वह बराबर स्वतंत्रता आन्दोलन और देश की स्थिति के बारे में सोचा करता है। फिर अपनी बहन के बारे में सोचता रहता है कि वह अब बड़ी हो गयी होगी, उसे इसके बिना कष्ट झेलना पड़ा होगा, जब जेल से छूटेगा तो सबसे पहले योग्य वर ढूंढ़कर उसके हाथ पीले करेगा। सजा पूरी होती है और एक दिन वह जेल से छूटता भी है, किन्तु जब गांव आता है तब बहन नहीं मिलती है, पता चलता है कि वह किसी के साथ जा चुकी है। देश और समाज कीस्थिति में भी उसकी कल्पना के अनुकूल कुछ नहीं हुआ है, विद्रूपता ही अधिक है। 'बन्दीमन्दिरम्' का आरम्भ इस प्रकार है :

कश्चिद् देशोद्धरणधृतधीः स्वाधिकाराय मत्तः
तारुण्यस्य स्फुरण समये न्यस्तभोगाभिलाषः
शीर्षोन्नत्यै विनतनयनो मुक्तये बद्धदेहः
कारागारे सुचिरवसतिं स्वेच्छया स्वीचकार।

व्यंग का स्वर क्रमशः तीव्र होता है :

दुग्धे दघ्नि त्वरित-कलिते चापि हैयंगवीने
मुग्धः कृष्णश्चटुल-चरणश्चारयामास धेनूः
वृन्दाटव्यामिह नवगतान् साम्प्रतं पौरवृद्धाः
गोहिंसार्थं रचितभवनावृत्तिमार्गे वदन्ति ।

× × ×

नग्नानेतान्ननु तनुतनून् बालकान् लोकमाना
पीतामेतां त्वमपि जरठे शाटिकामद्य वस्से
नैव स्तन्य न च फलमलं कामयन्तेऽङ्कमेते
जाने पश्चाद्विहितवदने तत्त्वतो मृत्तिकाऽसि ।

× × ×

क्षुत्क्षामाणां श्रवणकुहरे क्रन्दनं मानवानां
कारं कारं किमसि कृपणे रत्नगर्भा भवन्ती
किं पार्श्वस्थैः परिचित जलैः सप्तभिस्सागरैस्तै-
र्लज्जासिन्धौ कुजननि मतं मज्जनं पूर्णतस्ते ।

(बन्दीमन्दिरम्)

जिस प्रकार शास्त्रीजी की हिन्दी कविताओं में 'गाथा' का स्वर, प्रवृत्ति, धरातल सब कुछ भिन्न है उसी प्रकार उनकी संस्कृत कविताओं में 'बन्दी-मन्दिरम्' का सब कुछ अलग है। 'बन्दी मन्दिरम् की इसी प्रवृत्ति का विकास 'गाथा' में देखा जा सकता है। व्यंग्य की प्रवृत्ति शास्त्रीजी की कविताओं में 'बन्दीमन्दिरम्' से भी पहले से रही है। 'काकली' में 'षड्दोषाः' इसका प्रमाण है। इस व्यंग्य-वृत्ति का विकास वैशाखी में देखा जा सकता है। व्यंग्य के साथ विनोद भी शास्त्रीजी की कविता का एक विशेष गुण आरम्भ से रहा है जो प्रगीत-महाकाव्य 'राधा' में भी नहीं छूटा। वहां तो एक 'विनोद-पर्व' ही है। संस्कृत से एक उदाहरण देता हूं, व्यंग्य-विनोद का योग कविता में जान डाल देता है। जो पहले तो स्त्री के हाव-भाव से युक्त

मीठे वचन सुनकर सोने का मृग पकड़ने गया, फिर अकारण उसे अन्त:पुर से ही नहीं, नगर से भी बाहर निकाल दिया, और जब यज्ञ करने लगा तो यज्ञ के लिए उसी की सोने की प्रतिमा बनवायी, उस मर्यादा पुरुषोत्तम राम की स्त्रैणता का वर्णन न करें, यही अच्छा है !

प्राग्यस्या वचनेन चारुरचनेनाघानि हैमो मृगः,
तामन्त:पुरतो न किन्तु पुरतो निष्का स्य निष्कारण्य्
निर्मायाप्रतिमां तदीयप्रतिमां यज्ञे यशश्चिन्वतो
मर्यादापुरुषोत्तमस्य पुरुषैर्मा स्त्रैणता वर्ण्यताम् ।

एक और दूसरे प्रकार का :

राजमहिष्या वदनं सदने राजर्षभोऽचुम्बत्,
कविपुगवश्च महिषीवर्णननिपुणो बहिस्तृप्तः ।

विनोद-भाव 'मुनीनामपि मन:' में भी दिखायी पड़ता है, और उसमें समस्यापूर्ति की तात्कालिक विशेषता भर ही नहीं है बल्कि गम्भीर कविता के लक्षण भी हैं क्योंकि परिवेश भी पूरी तरह प्रकट हुआ है और चित्र भी पूरा बना है, व्यंजना भी दूर तक फैलती है। शास्त्रीजी के अध्ययन काल में ही, 1935 में, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पं० मदनमोहन मालवीय और आनन्द शंकर बापू भाई ध्रुव की उपस्थिति में एक अखिल भारतीय संस्कृत-कवि-सम्मेलन आयोजित हुआ था। उसमें भारत के हर हिस्से के संस्कृत कवियों ने भाग लिया था। उसमें 'मुनीनामपि मन:' एक समस्या-पूर्ति रखी गयी थी। इसके निर्णायक थे महामहोपाध्याय पं० बालकृष्ण मिश्र, महामहोपाध्याय पं० हरिहर कृपालु द्विवेदी और श्रीमती यमुना शास्त्री। शास्त्रीजी ने छहों ऋतुओं और नवों रसों का सन्दर्भ देकर कुल सोलह श्लोक लिखे। प्रत्येक श्लोक का अन्तिम पद 'मुनीनामपि मन:' है। फिर जो उन्होंने संगीत से सधे अपने स्वर में उसे सम्मेलन में उपस्थित किया तो तालियों की गड़गड़ाहट थमती नहीं थी। उन्हें प्रथम पुरस्कार मिला। स्वर्णपदक भी मिला। उनकी तत्काल ख्याति में इस कविता का बहुत योगदान है। जब आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रथम

बार मिले थे तो उन्होंने यही कविता सुनाने का आग्रह किया था। दो-तीन श्लोक दे रहा हूँ, अनुवाद भी शास्त्रीजी का है :

वसन्त :

नुदन्मल्लीवल्लीं कुसुमितवने वाति पवनो
ध्वनन् धीरं-धीरं पिबति मकरन्दं मधुकरः
रसालं कालेऽस्मिन् विकलयति पुंस्कोकिलकुलं
मधुर्मन्दं मन्दं मदयति मुनीनामपि मनः।

(फूले फूलवन में मल्लिका की बेलें हिलाती-झुलाती हुई हवा बह रही है। हौले-हौले गुंजार करता हुआ भौंरा फूल-मधु पी रहा है। वसन्त आया नहीं कि कोयल की बोली बदली, अब वह हूक उठाने वाली कूक बन गयी है और रसाल (रसिक; आम का पेड़) को बड़ी बेदर्दी से व्याकुल किये दे रही है। अरे, इन पेड़-पौधों की कौन कहे, वसन्त तो धीरे-धीरे स्थिरप्रज्ञ मुनियों के मन को भी मतवाला बना देता है।)

वर्षा :

किरन्नुर्व्यां धारां विमलतरवारामविरतं
वितन्वन्तन्यंतङ्गीतनुमनसि मोदान्मनसिजम्।
न गोभिर्गोविन्दो घन इह तडिद्भिः खलु यथा
सखं, खे खेलन् सन् खलयति मुनीनामपि मनः।

(क्या कहना इस बादल-दल का! धरती पर उज्ज्वल जलधार बरसाता है; छीजती हुई छोहरियों के छोटे-से मन में जाने क्या कुछ भारी-भरकम भर देता है। गउओं से घिरे हुए बाल-गोपाल की छटा न्यारी है। मगर यह तो जब आकाश चढ़कर बिजलियों से खुल खेलता है तब ऐरे-गैरों की क्या बात, मुनि-महात्माओं का मन भी कैसा-कैसा तो करने लगता है।)

हेमन्त :

निशा हैमी ज्यौत्स्नी तव भवति हेमन्त सुखिने,
परम्पीतां पीताम्बर - विरहविप्रोषितरुचम्।

न किम्पासि व्यस्तामगतिमनुकम्पान्तनियतिं,
हिमोत्पातो वातो ज्वलयति मुनीनामपि मनः ।

(ओ रे हेमन्त, सिर्फ संयोगियों के लिए ही तेरी रात सोने-चांदी की हुआ करती है; किन्तु जो पहले ही पीताम्बर के वियोग में पियराई हुई हैं, कहीं चैन नहीं पाती, जिन्हें कोई रास्ता नहीं सुझायी देता, तेरी कृपा ही जिनकी नियति है, तू उन्हें क्यों नहीं बचाता ? यह बर्फीली घाटियों की सैर कर आयी हुई हवा तो मुनियों के बुझे मन को भी धधकानेवाली है ।)

(हस बलाका : 386-87)

शास्त्रीजी ने संस्कृत में अनेक प्रकार की कविताएं लिखीं और अनेक भाव-भूमियों पर लिखीं । कुछ में परम्परा का विकास है और कुछ में सर्वथा नया योगदान है । उन्होंने अनेक नयी कल्पनाएं, नयी उद्भावनाएं और नयी अनुभूतियां दी हैं । शिल्प में भी कई नये प्रयोग किये हैं । छन्दों की दृष्टि से भी नये प्रयोग किये और संगीत का तो पर्याप्त उपयोग किया है । भाव को उन्मिषित करने वाली कविताएं भी हैं और युग के यथार्थ की भूमि पर अधिष्ठित कविताएं भी हैं । कविताओं में कवि की विदग्धता हर जगह मौजूद है और माधुर्य अन्य गुणों की अपेक्षा सबसे अधिक है । केवल कोमल-कान्त पदावली और माधुर्य के आधार पर शास्त्रीजी को आधुनिक जयदेव कहना पर्याप्त नहीं है । यह विरुद-कथन उनके एक हिस्से को प्रकाशित करता है, उनकी समग्रता को नहीं ।

उनकी कविता एक भाव-बिन्दु पर नहीं रुकी है बल्कि विस्तीर्ण फलक पर उतरी है; और जहां एक भाव-बिन्दु पर ठहरती है, सघनता कम नहीं है चाहे 'राधालास्यम्', 'कृष्णलास्यम्' के मुक्तक हों या 'काकली' के सैकड़ों सांचे में ढले (संकलित-असंकलित) गीत हों या 'बन्दीमन्दिरम्' की कविताएँ हों। शब्दों के खेल में खेल कहीं भी समाप्त नहीं हुआ है जबकि संस्कृत पण्डितों (हिन्दी के कुछ विद्वानों का भी) का एक वर्ग इस चमत्कार से हमेशा आक्रान्त रहा है, उसके लिए भी शास्त्रीजी की कविताओं में पर्याप्त अवसर मिल

जायेगा। वैसे खालिस खेल कम है। वस्तुतः शास्त्रीजी ने संस्कृत काव्य परम्परा में कुछजोड़ा है, सिर्फ पुरातन को दुहराकर कवि होने का शौक नहीं पूरा किया है। उनकी कविताओं को देखकर ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि संस्कृत-कविता की धारा जो कालिदास, भवभूति, जयदेव श्री हर्ष से होती हुई आगे बढ़ती है, वह रास्ते में समाप्त नहीं हो जाती, बल्कि बीसवीं शताब्दी तक पहुँचती है और इसका शास्त्रीजी सबसे बड़ा प्रमाण हैं। यदि वह केवल संस्कृत में ही लिखते होते तो हिन्दी में उन्होंने जो कुछ लिखा है, संस्कृत में उससे कत्तई कम अवदान न होता। फिर भी उन्होंने संस्कृत में 1930 से 1941 तक और छिटपुट आगे भी जितना लिखा है उतना भी एक कवि के लिए कम नहीं है। किन्तु दुर्भाग्य तो यह है कि रचनाएँ पुस्तकाकार उपलब्ध नहीं हैं। संस्कृत की पुरानी पत्रिकाओं में सारी रचनाएँ खोज पाना संभव नहीं है, और यह भी संभव नहीं है, बल्कि हकीकत है कि सारी रचनाएँ पत्रिकाओं में आयी ही नहीं। ऐसी स्थिति में यह कैसे संभव है, कि बीसवीं शताब्दी के इस समर्थ संस्कृत-कवि का पूरा मूल्यांकन किया जाये, और यदि 1935 में छपी एक छोटी-सी 'काकली' पर पूर्णविराम लगा दिया जाये तो यह कवि के प्रति अन्याय होगा।

मैंने सर्वभाषा कवि-सम्मेलन, दिल्ली रेडियो के प्रसारण से शास्त्रीजी की एक संस्कृत गजल नोट की थी। उस गजल को देखकर यह साफ मालूम पड़ता है कि शास्त्रीजी ने इसके पूर्व भी संस्कृत में गजलें लिखी थीं अन्यथा गजल का मिजाज जितना नाजुक होता है, संस्कृत की जमीन पर इस स्तर में नहीं संभल पाती। इसमें उर्दू के बहर का पूरा खयाल रखा गया है और हर पंक्ति के चारों टुकड़ों में समान रूप से मिठास बरकरार है और कर्णप्रियता भी कम नहीं हुई है। भीतरी बनावट में शेरियत और तगज्जल कहीं फीका नहीं पड़ा है। मतलब कि गजलियत पूरी तरह मौजूद है। बात सिर्फ इतनी ही नहीं है कि उसे मैखाने से सीधे निकाल लिया गया है बल्कि उसके मिजाज का खयाल रखते हुए वह संस्कृत की शुभ्र भूमि पर खड़ी की गयी है जहां अब पहले की गन्ध भी नहीं आती। संस्कृत की हो गयी है। फिर

संस्कृत और भारतीय परम्परा की उपलब्धियों में जो श्रेष्ठ है उसे गूंथ दिया गया है। भारत का रूप प्रकट हो गया है। उनकी पहचान बताने के लिए यह गजल भी कम नहीं है। यह कहीं छपे रूप में देखने को नहीं मिली, इसलिए दे रहा हूँ :

निःस्वं निरात्मः विश्वमिदं पाति भारतम्
मैत्रीस्पृशा दृशाऽस्ति जितारातिं भारतम् !
आधाय धवलधारमुरसि तारहारवत्
गंगातरंगमंगशिवं भाति भारतम् !
पुष्पं न यद् विकासमितं गन्धवत् भुवि
तस्मै स्पृहां प्रदर्श्य नभो माति भारतम् !
दूर्वाऽपि चन्दनायते काशोऽपि कुशसमः
उच्चावच्चं परीक्ष्य पुरो याति भारतम् !
विज्ञानमान दृप्तमतृप्तं सृतं जगत्
जीवातुमखिलतर्पणं प्रददाति भारतम् !
अग्रेसरं मनोनिधाय न्यस्यते पदम्
जागर्ति जनः, प्रेक्षते, प्रीणाति भारतम्।

शास्त्रीजी ने संस्कृत-गद्य में भी लिखा है। उनके गद्य की विशेषता है कि संस्कृत के तीनों महान गद्यकारों—सुबन्धु, दण्डी और बाण की गुणवत्ता को समेटते हुए अपनी अर्जित विशेषता को भी उसमें जोड़ दिया है जिससे वह उस परम्परा से जुड़कर भी अपनी शताब्दी के नये प्रतिमान के रूप में उपस्थित होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह गद्य पं० अम्बिकादत्त व्यास के गद्य से सर्वथा भिन्न है। बाण के गद्य में लम्बे वाक्य हैं किन्तु शास्त्री जी के गद्य में लम्बे वाक्य के अतिरिक्त लम्बे समस्त पद भी हो सकते हैं और बड़ी सफाई के साथ छोटे वाक्यों का प्रयोग है। उसमें अनुप्रास की अनुगूंज के साथ माधुर्य कहीं साथ नहीं छोड़ता और उसका लय के साथ प्रवाह है। संप्रेषण में कहीं उलझन नहीं होती। यह स्पष्ट पता चल

जाता है कि संस्कृत गद्य के विकास का यह एक नया रूप है जो अपनी पहचान बनाने में समर्थ है। प्रयोग और शैली की दृष्टि से भी अलग पहचान बनती है। किन्तु यह दुर्भाग्य यहां भी साथ है कि शास्त्रीजी का गद्य पुस्तकाकार अब तक प्रकाशित नहीं हुआ है।

शास्त्रीजी का गद्य दो रूपों में है, एक कथा-साहित्य के रूप में और दूसरा आलोचना के रूप में। कथा-साहित्य में 'सा', प्रोषितपतिका', 'स्वयंसिद्धा' आदि कहानियां आती हैं जिनमें लेखक ने अपने युग की नयी टेकनिक का प्रयोग किया है और समस्या भी नयी है। यह संस्कृत कथा-साहित्य के लिए, मात्रा में कम होने पर भी, नयी प्राप्ति अवश्य है। शास्त्रीजी ने गद्य-काव्य के रूप में भी कुछ लिखा है जो पुस्तक में आने के सुयोग से वंचित है।

संस्कृत में आलोचना की, शास्त्रीजी की एक पुस्तक है—'प्राच्यसाहित्यम्। इसका दूसरा नाम है—'श्रव्यकाव्यस्य क्रमिकोविकाश:'। यह 1938 में लिखी गयी थी। संभवत: यह काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में शास्त्राचार्य के लिए प्रस्तुत किया गया शोध-प्रबन्ध है। इसमें ऋग्वेद से लेकर निराला तक के काव्य-विकास की समीक्षा है। संस्कृत-समीक्षा में नवीन शैली और दृष्टि (समीक्षा में यह एक महत्वपूर्ण कड़ी हो सकती है) का प्रयोग किया गया है, फिर संस्कृत में कुछ-एक हिन्दी कवियों पर भी लिखा गया है। उसमें निराला की कई कविताओं का संस्कृत में उसी भंगिमा के साथ अनुवाद भी है। यह पुस्तक भी अप्रकाशित ही पड़ी है।

संस्कृत विभाग
मगध-विश्वविद्यालय
बोधगया (गया)

हिन्दी कविता का तीसरा धरातल

(संदर्भ : आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री)

डॉ० गोपेश्वर सिंह

हिन्दी कविता का तीसरा धरातल

(संदर्भ : आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री)

—डॉ० गोपेश्वर सिंह

हिन्दी कविता के संदर्भ में प्राय: यह मान लिया गया है कि छायावाद की प्रतिक्रिया में प्रगतिवाद आया और प्रगतिवाद के प्रतिक्रियास्वरुप प्रयोगवाद। हिन्दी कविता के विकास का रास्ता छायावाद के बाद या तो प्रगतिवाद से होकर जाता है या प्रयोगवाद से, यही इन दोनों वादों के आचार्यों ने स्थापित करने की कोशिश की। अपने-अपने वादों को स्थापित करने के क्रम में वे एक दूसरे को खारिज करते रहे। दोनों ने एक-दूसरे को विदेश का नकलची घोषित किया। एक-दूसरे पर थूका-थूकी की इस प्रवृत्ति ने ऐसा रूप धारण किया कि एक शिविर दूसरे को अस्पृश्य घोषित कर उसकी चर्चा मात्र से परहेज रखने लगा, ताकि अपनी कुलीन पवित्रता बरकरार रहे। कविता तक पहुँचने के दो ही रास्ते बन गये। कोई तीसरी राह भी है, इससे न प्रगतिवादी क्रांति-नायकों को मतलब था, और न प्रयोगवादी राहों के अन्वेषी मनीषियों को।

छायावादी कुहेलिका से कविता को बाहर निकालने के अभियान में कवियों की जो नयी जमात सबसे पहले सामने आयी, उसमें 'नेपाली', 'बच्चन' 'दिनकर', आरसी प्रसाद सिंह, नरेन्द्र शर्मा, 'अंचल', 'सुमन', आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री आदि प्रमुख थे। छायावादी प्रवृत्ति के विपरीत अपनी सरल-सहज भाषा, लोक-चिन्ता, उन्मुक्त एवं मांसल प्रेम-वर्णन, मस्ती और फक्कड़पन के कारण ये कवि खूब पढ़े और सुने गये। बेजोड़ लोकप्रियता भी इन्होंने हासिल की, लेकिन गम्भीरता पूर्वक इनका मूल्यांकन न हुआ। इनकी थोड़ी-बहुत भूमिका छायावादी धुंध को साफ करने में ही मानी गयी। हिन्दी कविता के विकास में इन कवियों का भी कोई योगदान है, ऐसा कोई मुखर और गंभीर संकेत आलोचना की ओर से नहीं दिखायी पड़ा। प्रगतिवादी और प्रयोगवादी शिविर के आचार्यों ने इन कवियों को उसी तरह फुटकल खाते का कवि मान लिया, जिस तरह आचार्य

शुक्ल ने अमीर खुसरो और विद्यापति जैसे महत्वपूर्ण कवियों को मान लिया था। ऐसा करने के मूल में आचार्य की विवशता थी। विवशता काल-विभाजन के निमित्त बने प्रवृत्तिगत ढाँचे की थी। इतिहास के काल-विभाजन का कील-काँटा दुरुस्त रखने के लिए समर्थ कवियों को फुटकल खाते में और वीरगाथात्मक प्रवृत्ति के कुछ कमजोर और संदिग्ध कवियों को उस काल की मुख्य धारा में रखने से आचार्य न हिचके। कुछ ऐसा ही सलूक प्रगतिवादी और प्रयोगवादी आचार्यों ने उत्तर छायावादकालीन इन कवियों के साथ किया। बहरहाल समस्या यहाँ भी काल की मुख्यधारा को अपनी-अपनी प्रवृत्तियों के रंग में रँग देने की थी।

चूँकि बच्चन और दिनकर, प्रगतिवाद के अस्तित्व में आने के पहले, सरल-सहज मधुवर्षी और उद्‌बोधनात्मक राष्ट्रीय कविताओं के कारण अपनी अलग पहचान बना चुके थे नरेन्द्र और 'सुमन' अपना मूल स्वर छोड़कर कुछ देर के लिए प्रगतिवादी आंदोलन में शामिल हो गये थे, इसलिए ये गाहे-बगाहे चर्चा में आते रहे। लेकिन 'रूप-अरूप' (1938) संग्रह के साथ जब आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री प्रकाश में आये तो उस समय प्रगतिवादी खेमे के खूँटे अपनी नीतियों-घोषणाओं के साथ गड़ चुके थे और प्रयोगवादी राहों के अन्वेषी सूत्र-संधान में प्रवृत्त हो रहे थे। साथ ही यह काव्य-स्वर ऐसा था, जिसकी जड़ें जितनी शास्त्र में थीं, उतनी ही लोक में; जितनी प्रगति में थी, उतनी ही प्रयोग में। निश्चय ही प्रगति और प्रयोग का यह ठेठ देशी अंदाज आयातित और पारिभाषिक प्रयोग से भिन्न था। जब कविता से छंद, तुक, लय, संगीत, ध्वनि-बिम्ब आदि की विदाई हो रही थी, इनका सचेत आग्रह लेकर आये इस कवि के मूल स्वर को पहचानने में धैर्य और वक्त की जरूरत थी, जो किसी के पास नहीं था। दोनों शिविर प्रमाण-पत्र प्राप्त अपने-अपने कवियों को शिखरासीन करने और दूसरे को धराशायी करने के अभियान में निकल पड़े थे।

'रूप-अरूप' की कविताएँ जहाँ छायावादी रूढ़ियों से मुक्त हैं, वहीं अपने समय की सामान्य भावधारा-सहजता-सादगी, मस्ती और फक्कड़पन-के साथ तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक विसंगतियों को रेखांकित करनेवाली भी हैं। राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम में आये नये उफान, अपने सार्थक हस्तक्षेप से देश की फिजाँ में दीवानगी भर देनेवाले क्रांतिकारियों की शहादत की प्रतिध्वनि इनमें सुनी जा सकती है—

> धू-धू कर जल रही चिताएँ साधों की अरमानों की,
> यह उजाड़ बस्ती है कुछ मस्तानों की, दीवानों की,

मिटीं न मिट चुकने पर भी, जिनकी ऊँची-ऊँची लपटें
और अभी तो शेष बहुत हैं आहुतियाँ प्रिय-प्राणों की।
(1937)

उन्हीं दिनों अपने आस-पास की दुनिया का यथार्थ आचार्य जानकीवल्लभ जी की कविताओं में अनुभवजनित संवेदना के साथ 'विद्रोही और विचारक बनने की अपेक्षा, भाषा और भाव दोनों स्तरों पर सहज रूप में व्यक्त हो रहा था—

मिट्टी के हाथी घोड़े—
माँ देने आती, लड़ पड़ते,
वे लड़के थे थोड़े!

गरीब माँ अपने उन बच्चों को यह रटा-रटाया दर्शन पिलाती कि दुनिया की सारी चीजें मिट्टी की बनी हुई हैं। तभी लड़के जमीन्दार के हाथी-घोड़े देखते और माँ को दिखाते हुए उसे अपनी अभावजनित विवशता पर रोने के लिए विवश कर देते—

घोड़े दौड़े सरपट हरपट
हाथी चले कान कर फटफट
लड़के लड़ के बोले : 'अम्मा,
देखो हाथी घोड़े।'
पानी रोक बंद आँखों में—
वह थी गर्दन मोड़े। (1938)

उसी वर्ष गया अंचल के बँधुआ मजदूरों का हाल बताती आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की दूसरी कविता प्रकाशित हुई—

गई काटने गेहूँ अम्मा,
बाप गया बेगारी में है
खा अफीम घर के कोने मे
बच्चा पड़ा खुमारी में है।

उस इलाके की मजदूर औरतें अपने बच्चों को अफीम चटा कर सुला देती थीं ताकि वे नशे में सोये रहें और वे दिन भर मालिकों के खेतों में काम कर सकें। बाप बेगारी में रहता था। माँ खेत में और बच्चा अफीम के

नशे में घर के कोने मे पड़ा रहता। एक दिन घर के अँधेरे कोने से निकल कर साँप ने बच्चे को डँस लिया और खेतों में फसल काट रही माँ की छाती बच्चे की याद में दरक उठी—

सुबह - सवेरे से ही माँ
शाम की जोहती बाट रही है,
फल पाने का लालच, पर
पौदे की जड़ ही काट रही है।
हँस-हँस हँसिया चला रही थी,
अब क्यों तो कुछ खिन्न हुई है,
बच्चे की सुध की चोटों से
शायद छाती छिन्न हुई है। (1938)

बँधुआ मजदूर के जीवन पर लिखी हिन्दी की शायद यह पहली कविता है। आगे चलकर मुन्शी नाम के एक ग्रामीण बँधुआ मजदूर के जीवन यथार्थ को आचार्य जानकीवल्लभ जी ने अत्यन्त सहज-सरल भाषा तथा मार्मिकता के साथ चित्रित किया—

क्रीत जन मजदूर मुन्शी है हमारा
ठोर, इंधन, सस्य-सम्पत का सहारा।
जेठ की लू फिसलती नंगे बदन से,
फेरता खपरैल रहता मगन मन से,
मुसलधार अपार वर्षा हो घुमड़कर,
रोपता वह धान कीचड़-बीच गड़कर,
ठंढ से सिकुड़ा पहुँचता भोर होते,
अचकचा कर जाग जाते ढोर सोते,
इस तरह हर वक्त 'ड्यूटी' पर डटा है,
बहुत सुनता, बोलता कम, जो रटा है।

(1947)

बँधुआ जीवन की पूरी नियति—'बहुत सुनता, बोलता कम जो रटा है' में ध्वनित है। यथार्थ चित्रण के साथ ही यहाँ बँधुआ मनोविज्ञान की

गहरी पहचान छिपी है ।

कथा-रिपोर्ताज एक विधा के रूप में अपनी पहचान बना चुका है, लेकिन कविता में भी यह प्रयोग संभव है और वह भी छंदयुक्त कविता में, यह चुनौती आचार्य जानकीवल्लभ जी ने 'गाथा' (1944) लिखकर स्वीकार की। 'गाथा' में कवि अपने जीवन की आठ घटनाओं को कविता का रूप देता है। बेहतर शब्द के अभाव में 'गाथा' की कविताओं को 'कविता रिपोर्ताज' कहा जा सकता है। यहाँ बिना किसी प्रयोग का दावा किये कविता की नयी जमीन तोड़ने की एक विनम्र कोशिश है। अनुभवजनित घटना को पत्रकारिता शैली में कविता की मार्मिकता और संवेदना से युक्त कर 'गाथा' की रचनाओं को अद्भुत रचनात्मकता प्रदान की गई है। हमारे समय का सच विद्रूप और वीभत्स रूप में परिणत हो चुका है, सामान्य मनुष्य की बेबसी और तबाही का जो रूप है, इसे काव्य के स्तर पर घटित होते देखना हो तो एकबार 'गाथा' से गुजरना चाहिए। प्रगतिशील और प्रयोगशील कविता का यह ठेठ देशी अंदाज प्रगतिवादी और प्रयोगवादी शिविर के लिए एक चुनौती है, जिनका रचना-काल सन्' 41-42 है।

'हरिहर क्षेत्र का मेला' 'गाथा' की एक ऐसी कविता है जो विशुद्ध पत्रकारिता शैली में लिखी जाकर अपने चित्रण में इतना व्यापक और विश्वसनीय, मानव-नियति की गहरी पड़ताल से युक्त, समय को व्यंग्य की सुई चुभोती जीवन के ऐसे अवसाद की कविता है जो रपटनुमा होते हुए भी अपने फक्कड़ अंदाज में कुछ बड़े प्रश्न खड़े करती है। बिहार के सोनपुर में विश्व प्रसिद्ध मेला लगता है। पौराणिक आख्यानों के मुताबिक यहाँ गज और ग्राह की लड़ाई हुई थी। गज की पुकार पर भगवान उसकी रक्षा में दौड़ आये थे और ग्राह का वध कर गज का उद्धार किया था। यहीं हरि (विष्णु) और हर (शिव) का मंदिर है, इसलिए इसका एक नाम 'हरिहर क्षेत्र' भी है, जिसे आम जन बोली में 'हरिहर छत्तर' कहते हैं। इस 'छत्तर' की चर्चा होश संभालने के समय से कवि ने सुन रखी थी, लेकिन पचीस साल की उम्र होने तक उसे देखने का अवसर न मिला। मेला देखने की उत्कंठा कवि को मुजफ्फरपुर से सोनपुर के लिए रवाना करा देती है। ट्रेन के छोटे से डब्बे में भयंकर भीड़ थी। लोग ठसाठस भरे हुए थे। हाल यह कि जाड़े में भी ऊमस हो रही थी। हर वय और वर्ग के लोग ट्रेन में ठुँसे हुए थे —

सभी सटे-सिमटे, शरीर का टूटा 'गत्तर-गत्तर'।
तो भी खुशी कि बस अब तो आनेवाला ही छत्तर ॥

मेले में विभिन्न तरह के पशु-पक्षी आते हैं, नाटक-नौटंकी और खेल-तमाशे होते हैं। कहीं पतुरिया होती है, तो कहीं 'तोता-मैना', 'सिंहासन बतीसी' आदि के रूप में बिकता हुआ हिन्दी लिट्रेचर। मेले में आये पशुओं की एक बानगी देखिये—

हाथी थे चिग्घाड़ रहे, हिनहिना रहे थे घोड़े,
बब्बर सिंह दहाड़ रहे थे, गरज रहे थे शेर,
रेंक रहे थे गधे सधे-सीधे सबके ढब घेर,
किटकिट करते बन्दर, फोंफियाते भालू के जोड़े
सर्कस कहीं, कहीं भालू-बन्दर के होते नाच,
रहा एक कपि राधेश्यामी रामायण था बाँच,
सुन-सुन बीन भैंस पगुराये, भड़कें बैल 'निगोड़े'
हाथी थे चिग्घाड़ रहे, हिनहिना रहे थे घोड़े।

लेकिन मेले का यह चित्रण उस समय अत्यन्त मार्मिक हो उठता है, जब मेले में आई औरतों पर कवि की दृष्टि पड़ती है। मेले में औरतों का बाहुल्य क्यों? क्या सिर्फ हरिहरनाथ के जल चढ़ावे के निमित्त? इसकी मनोवैज्ञानिक और मार्मिक पड़ताल देखिए—

पर रोनी सूरत हो जाती जब मैं करता याद—
ढोल गँवार शूद्र पशु नारी हैं ताड़न अधिकारी
इनके मोद-प्रमोद के लिए घर आँगन औ 'बारी'
तड़फड़ करते प्राण-पखेरू उड़कर हों आजाद?
मेले या बाजार बीच खुलकर हँसती खिलती हैं,
पुरुषों से भी अधिक नारियाँ तभी यहाँ मिलती हैं,
घर पर जीतीं; किन्तु यहाँ लेतीं जीवन का स्वाद,
धर्म कर्म तो व्याज, राज, क्षण भर होना आजाद।

मेले का विवरण देते हुए कहीं-कहीं तीखे व्यंग्य के भी दर्शन होते हैं—

मानव गिनती की हद पाये, इतने पशु थे आए।

या

नमक मिली मुर्रियाँ वहाँ, क्या यहाँ न नानखटाई?
'शॉ' हाँकेंगे डींग, दिखा जब तक न भिखारी नाई।

'शॉ' से मतलब अंग्रेजी के नाटककार बर्नाड शॉ से है और भिखारी नाई कह कर बिहार के लोक नर्तक तथा बिदेशिया शैली के प्रवर्तक भिखारी ठाकुर की ओर संकेत किया जा रहा है। भिखारी ठाकुर जाति के नाई थे जिन्होंने अपने भोजपुरी नाटकों द्वारा पूर्वी जनपद में अपार लोकप्रियता हासिल की थी। प्रभु देश के विश्वविख्यात नाटककार बर्नाड शॉ के मुकाबले भिखारी ठाकुर को रखकर कवि ने अपनी लोक-चिन्ता का परिचय दिया है। इस पूरी कविता में कवि एक सहृदय कमेंटेटर की भूमिका में है जो प्रभावशाली ढंग से मेले पर कमेंट्री कर रहा है। आगे चलकर भवानी प्रसाद मिश्र ने भी 'सतपुड़ा के जंगल'—जैसी कविताओं में इस तरह के प्रयोग किये।

यों तो बादल हर युग के कवियों की कल्पना में पंख लगाकर उड़ता रहा है, लेकिन कालिदास ने 'मेघ' को 'दूत' बनाकर उसे यथार्थ और कल्पना के इतने रूप दे दिये कि वह विश्व-साहित्य की अनमोल धरोहर बन गया। बाद में निराला ने 'बादल राग' शीर्षक से कुछ कविताएँ लिखकर कालिदास के मेघ को सर्वथा नये अर्थ दिए और बादल को किसान-भावना का प्रतीक बना दिया। कालिदास और निराला आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के न सिर्फ सबसे प्रिय कवि हैं, बल्कि बादल उनका भी एक प्रिय काव्य-विषय है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने 'मेघगीत' नाम से एक पूरी काव्य-पुस्तक लिखी है और कालिदास-निराला ने बादल को जितने रूप दिये थे, इनमें कुछ अपने रंग भरे हैं। बादल एक बार पुनः 'मेघगीत' की कविताओं के जरिये विविध रूपों में हमारे सामने आता है। कहीं 'सावन के पंखों से उड़कर आनेवाली श्यामपरी' है तो कहीं जनता के दुख का प्रतीक बना बादल, जो आँचल के हमेशा गीले बने रहने का कारण है—'गीला ही रहता आँचल, यह बादल के दिन री।' कहीं 'उमड़-घुमड़ घन घेर अम्बर भर छाये री की लोक-लय हैतो कहीं 'मेघ-रन्ध्र में मन्द्र-सान्द्र ध्वनि द्रिम द्रिम द्रिम उन्मद मृदंग की' - जैसा शास्त्रीय स्वर। बादल के बहाने समकालीन राजनीतिक-सामाजिक जीवन में कोरे आश्वासनों की मेघ-छाया के लिए कड़ी फटकार भी है—

ताड़ खड़खड़ाते हैं केवल, चील-गीध ही गाते
द्रवित दाह भी जम जाता धरती तक आते-आते,
कलरव करनेवाले पंछी, पत्तोंवाली डाली,
उन्हें कहाँ ठंडक मिलती है, इन्हें कहाँ हरियाली।

ऊपर - ऊपर पी जाते हैं जो पीनेवाले हैं,
कहते : 'ऐसे ही जीते हैं, जो जीनेवाले हैं।'
इस नृशंस छीना - झपटी पर फट कपटी पर,
उन्मद बादल
मुसलधार शतधार नहीं बरसाता है ?
तो सागर पर उमड़-घुमड़कर गरज-तरजकर,
व्यर्थ गड़गड़ाने, गाने क्या आता है ?
उत्तर रेत में, आक-जवासों - भरे खेत में,
पागल बादल
शून्य गगन में व्यर्थ मगन मँडलाता है !
इतराता इतना सूखे गर्जन - तर्जन पर
झूम - झूमकर निर्जन में क्या गाता है ?
(1950)

कभी 'मेघ भरे अलसाए दिन की दोपहरी' कवि को परेशान करती है तो कभी बादलों से भरी अँधेरी रात का सौन्दर्य कवि के मन को प्रश्नाकुल बना देता है—

नील वसन-से निविड़ तिमिर का मुख पर घूँघट डाले,
झिल्ली-गुंज तमाल-कुंज में खड़ी कौन तुम बाले ?

बरसात की रात झींगुरों की झनकार से भरे तमाल-कुंज बीच घूंघट में लिपटी एक बाला बन जाती है, जिसका सौन्दर्य जुगनुओं के प्रकाश में पहचानना मुश्किल है—

ये भोले जुगनू सुषमा का भेद न खोल सकेंगे,
अनबोले द्रुम तुम से पहली बार न बोल सकेंगे।
वेणु बजाऊँगा सुनने धुन-झंकृत पायल री।
बादल री।

बादल की ही तरह चाँद और चाँदनी भी शास्त्रीजी के प्रिय विषय हैं। हमारे शास्त्रों ने चाँद को मन का प्रतीक माना है —चन्द्रमा मनसो जातः। चाँद और चाँदनी के बहाने कवि ने अपने मन-मानव-मन – की आशा-निराशा को, जीवन के उल्लास को तथा अपनी उदासी को कई-कई रूपों में चित्रित

किया है। कभी ताड़ की आड़ में दिखता-छिपता चांद कवि-मन को गहरी उदासी में डाल देता है—

बादलों में उलझ, बादलों में सुलझ
ताड़ की आड़ से चांद क्या झांकता ?
मैं न हूंगा यहां, कह रहा नभ यही,
मैं न हूंगा कहीं ? भूमि कहती 'नहीं'।
तुम हवा, मैं दवानल वृथा ढांकता।

और कभी चांदनी इतनी सुन्दर लगती है कि कवि-मन आह्लाद से भर जाता है—

नयन - मन - उन्मादिनी
आज निकली चांदनी !
पास जैसे कुछ नहीं, सब दूर, देखो,
मत छुओ, छवि हो न जाए चूर, देखो !
देखना हो, रूप यह अनमोल देखो,
मूंदकर आंखें, मुंदा दिल खोल देखो !
झूमती, झुकती, थिरकती, कांपती-सी,
पवन बहती प्रतिचरण कुछ भांपती-सी

ऊपर की पंक्तियों में चांदनी और हवा को जिस नाजुक अंदाज में चित्रित किया गया है, वह बेजोड़ है। छूने मात्र से चूर हो जानेवाला चांदनी का यह अनमोल रूप आंखें मूंदकर और मुंदा दिल खोलकर ही देखा जा सकता है। और पवन कैसी है ?– झूमती, भूकती, थिरकती, कांपती-सी'। चांदनी की इस बरखा में लताएं मुग्ध हैं, फूलों का अंचल अपने आप चंचल हो उठता है। डालियां अकारण मुस्कुराने लगती हैं। सारी जड़ वस्तुएं चैतन्य हो उठी हैं– ऐसी मस्ती में माती हुई कि किसी चीज का होश नहीं। चांदनी को पीकर फूलों का हाल यह कि उनकी पहचान गायब हो गई है। सिर्फ गंध से ही वे पहचान में आते हैं। पूरा का पूरा यह लोक एक ऐसे-ज्योति-प्लावन में बदल चुका है, जहां उल्लास है, लास है और प्यास है। और सबसे बड़ी बात यह कि दु:ख-दर्द से भरी यह दुनिया अत्यन्त प्यारी हो उठी है—

फूल की पहचान सरस सुवास केवल,
आज मुख दिखता नहीं, विश्वास केवल !
स्थिर नहीं कोई कि नृत्य कि लास केवल,
तृप्ति होती ही नहीं, है प्यास केवल !
टकटकी बँधती, जिधर है दृष्टि जाती,
आज सब दिन से अधिक है सृष्टि भाती !
किस तरह इससे भला मुँह मोड़ जाऊँ ?
अब कहाँ ऐसे भुवन को छोड़ जाऊँ ?

लेकिन यह चाँदनी किसी ऐय्यास को उन्मत्त बनानेवाली चाँदनी नहीं, बल्कि दिन भर काम करके थके-चुके व्यक्ति का मन उन्मत्त करने वाली है। चाँदनी का यह दूसरा रूप :—

दोपहर भर चिलचिलाती धूप में तप कर।
झुलसकर,
अथक श्रम कर थक गया हूँ,
इसलिए यह चाँदनी उन्मादिनी लगती मुझे है !
काम दिन का मैं सुबह से शाम तक सब
कर चुका पूरा, लगा जी,
इसलिए राका शरद की भा रही,
मन - प्राण को भरमा रही,
है छा रही अस्तित्व पर मेरे,
मुझे घेरे,
कि मैं हूँ मुक्त, मैं स्वच्छन्द इस बेला
अकेला तट-निकट बैठा
अवनि - अम्बर रजत-पट पर निरखता
निष्कपट मन से, मगन होकर ! (1947)

दिन भर साथियों-सहकर्मियों के साथ सामूहिक श्रम में रत यह मनुष्य 'व्यष्टि' और अपने विश्लेषण (पार्थक्य) को लघु-कण की तरह 'समष्टि-समुद्र' में 'संश्लिष्ट' बनाता रहा; ताकि सामाजिक सबलता पा' एक सुदृढ़

सामाजिक इकाई बन सके; ताकि 'कोरी बौद्धिक कल्पना' जीवन की सहज हार्दिक अनुभूति' बन सके। इस छोटे पर महान कार्य में दिन भर लगे रहने वाले व्यक्ति के लिए यह चाँदनी 'ज्योत्स्ना का जयोत्सव' लगती है जो तलवार की तीक्ष्ण धार को कुंद कर रही है और निश्चल प्यार सी मन में गड़ गयी है—

कि कोरी कल्पना वौद्धिक
बने अनुभूति जीवन की सहज हार्दिक !
इसी से इस घड़ी ज्योत्स्ना जयोत्सव-मूर्ति-सी नव,
पूर्ति-सी भव की दरारों की,
कगारों पर खड़ी अन्विति-सदृश
तलवार की खर धार कुंठित कर रही,
साकार निश्चल प्यार-सी मन में गड़ी है !

सौन्दर्य-वर्णन, वियोग वर्णन और न जाने किन-किन रूपों में चाँदनी का उपयोग खूब हुआ है। लेकिन एक श्रमजीवी की दृष्टि से चाँदनी को देखने की यह कोशिश एक अनूठी आभा प्राप्त कर लेती है।

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री उत्तर छायावादकालीन कविता में ऐसे नाम हैं, जिन्होंने व्यक्ति के 'निजीपन' और 'अकेलेपन' तथा उसकी 'पीड़ा' और 'उदासी' को कई-कई रूपों में चित्रित किया है। छायावादी काव्य में निराला ने 'मैं' शैली अपनाई, पंत ने आगे बढ़कर बालिका को 'अपनी मनोरम मित्र' घोषित किया। लेकिन व्यक्ति की निजी पीड़ा जिस खुलेपन के साथ इस काल में व्यक्त हुई वह अपूर्व थी। 'बच्चन' ने 'निशा-निमंत्रण' में और शास्त्रीजी ने अपने गीतों में व्यक्ति की निजता को काव्य-उत्कर्ष प्रदान किया। चूंकि 'निशा-निमंत्रण' इस प्रवृत्ति के एक संग्रह के रूप में प्रकाशित हुआ, इसलिए पाठकों-आलोचकों का ध्यान उधर पहले गया। लेकिन इसी दौर में शास्त्रीजी ने अपने दर्जनों गीतों में आधुनिक मनुष्य की निजता को जिस रूप में वाणी दी, उस पर आलोचकों की निगाह न पड़ी। किसी की याद में जीवन की सुनसान राह में खड़े व्यक्ति का एक चित्र प्रस्तुत है—

हूँ खड़ा सूनी डगर में।
आत्म विस्मृत हो रहा हूँ,
बस तुझे ही याद कर मैं।

वत्स-उत्सुक धेनुओं का सुन रहा सकरुण रंभाना,
देखता हूँ गृहि-जनों का तीव्र-पद गृह लौट जाना,
लग रहा कितना अकेला आज अपनी ही नजर में
हूँ खड़ा सूनी डगर में।

कहीं-कहीं तो युग की भावधारा दो कवियों से एक जैसी रचना लिखा रही है। 'निशा निमंत्रण' में यदि बच्चन ने लिखा कि 'रात आधी हो गई है' तो आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री उन्हीं दिनों व्यक्ति के एकाकीपन को जिस निजी स्पर्श से आवाज दे रहे थे, उसकी एक बानगी काफी है—

आधी रात हो गई, देखो!
मैं ही केवल एक अभागा,
जो अब तक हूँ बैठा जागा,
वही नहीं, सारी की सारी—
दुनिया कभी सो गई, देखो! (1942)

उदासी मनुष्य जीवन का एक अनिवार्य पहलू है। उदासी का सम्बन्ध एकाकीपन से है। इस उदासी को लेकर आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने बहुतेरी कविताएं लिखी हैं। फिराक गोरखपुरी ने बडी सहजता और सादगी से इस उदासी को चित्रित किया है। प्रसंग रात का है—

गजल का साज उठाओ, बड़ी उदास है रात।

इसी सादगी और सहजता से एक उदास दिन का चित्र—

कैसी उदासी छा रही!
फूले चमन से रूठ कर,
बैठी विजन में ठूँठ पर,
है एक बुलबुल गा रही!

बुलबुल के गाने के बावजूद उदासी। जैसे उसका गाना उदासी को और गहरा कर रहा हो। बुलबुल का कनट्रास्ट है ठूँठ पेड़ जिसपर बैठी वह गा रही है। इस अद्भुत कनट्रास्ट ने थोड़ में उदासी के आलम को व्यापक फलक पर प्रभावशाली रूप में चित्रित कर दिया है। ऐसी ही उदासी के दिनों में किसी की सुध आती है। प्रकृति अपने तमाम उपादानों के साथ सौन्दर्यमयी हो उठी है। एक उषाकाल का चित्र देखने लायक है जो प्राकृतिक

सौन्दर्य और उसके बीच ठिठुरे पतझड़ के साथ किसी की याद में कवि को गहराई से उदास कर जाता है :—

भोर - भोर गौरैयों की उतरी खेतों में रोर,
चह-चह चहल-पहल चकचौंधी यहाँ-वहाँ चहुँ ओर
किरनें भी हो गई शबनमी घास-पात को छेड़,
बीच खेत में बनी झिलमिली हरियाली की मेड़।
ऐसे में तेरी सुध बिहँसी, हँसी फँसी मझधार।
आते - आते ठिठुर गया - सा ठहरा है पतझार !!

व्यक्ति के इस निजीपन को आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने अपनी प्रेम कविताओं में और गहरे स्वर पर चिह्नित किया है। प्रेम की गहरी अनुभूति से भरा कवि राधा या मीरा की तरह अचानक चौंक उठता है—

कितने बाँसुरी बजाई ?
जनम - जनम की पहचानी—
वह तान कहाँ से आई ?
अंग - अंग फूले कदम्ब सम
साँस - झकोरे झूले,
सूखी आँखों में यमुना की
लोल लहर लहराई। (1942)

औचक सुनाई पड़ती बाँसुरी की यह आवाज अन्तर्मन के सात पर्दों के भीतर तक कम्पन पैदा कर देती है। और तब स्थिति यह कि स्मृतियों की सुगंध ही जीवन का आधार बन जाती हैं—

आज इस नीरव निशा में
मालती की सुरभि-सी आई तुम्हारी याद !
गुदगुदाती इस हवा-सी
पुलक पंखड़ियाँ जगाती सखि, तुम्हारी याद !! (1950)

प्रेम की यह गहरी पीर 'राधा' नामक महाकाव्य में बड़े फलक पर भिन्न स्वर प्राप्त करती है। 'राधा' (1939-50) आकार की दृष्टि से तो हिन्दी

का सबसे बड़ा महाकाव्य है ही, अपने प्रभाव और संरचना में भी विलक्षण कृति है। लगभग सहस्र पृष्ठों का यह महाकाव्य प्रेम के जिस उदात्त रूप को अपने में समेटे हुए है, वह राधा-कृष्ण सम्बन्धी प्रेम-काव्य की लम्बी परम्परा में बिल्कुल नयी चीज है। राधा और कृष्ण के प्रेम और फिर प्रेम और कर्म के द्वन्द्व को जिस बारीकी से उठाया गया है, उसकी पड़ताल अभी नहीं हुई। राधा प्रेम का प्रतीक है तो कृष्ण कर्म के। राधा जब तमाम तरह के लोकापवादों की झंझा झेलकर कृष्ण की हो जाती है कि अचानक कृष्ण को कर्म क्षेत्र की पुकार सुनाई देती है। कृष्ण के भीतर उठते द्वन्द्व और अन्ततः कर्म क्षेत्र की ओर प्रस्थान का चित्र देखिये—

जाग तुझको कर्मभूमि जगा रही,
लौट नभ से, सुन, बुलाती माँ, मही,
विकल विश्व इधर, उधर उन्मन गगन,
तू कि अपने में कि सपने में मगन ?

× × ×

बाँसुरी का अमृत पीने के लिए,
मैं बताऊँगा कि जीने के लिए—
गरल पान हमें प्रथम करना उचित,
प्राण के प्रतिमान-हित मरना उचित !
शंख फूँकूँगा जगाने के लिए,
कर्म में जीवन लगाने के लिए !

× × ×

राधिका जैसे कि डोर पतंग की,
सगिनी बहुरंग पवन - तरंग की,
गुँथ गुणी के हाथ रहना जानती,
अनमनी भी साथ रहना जानती !

× × ×

 आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की

राधिका जैसे मकर की चाँदनी,
भोर का भ्रम भर रही उन्मादिनी।
पर अभी निस्तब्ध आधी रात है,
मुग्ध पंथी, चल, सुदूर प्रभात है !

इस तरह प्रेम और कर्म के गहरे द्वन्द्व को लेकर चलनेवाले इस महाकाव्य में जीवन की जिस विराटता के दर्शन होते हैं, वह इस लघु मानव-युग के लिए एक बड़ी चुनौती है। जब सब कुछ 'क्षणवाद' और 'लघु मानव' के दायरे में लिखा जा रहा था, तब व्यापक फलक पर जीवन की विराटता का काव्य लिखना आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री जैसे शास्त्र और लोक के गहरे अध्येता के लिए ही सम्भव था। राधा प्रसंग धर्मवीर भारती की 'कनुप्रिया' के भी केन्द्र में है। अति संक्षिप्तता, गहरी रूमानियत और 'स्वर्णवर्णी जंघाओं' तथा 'साँवरे' जैसी भाषा के कारण एक समय में इसे व्यापक लोकप्रियता भी मिली— 'गुनाहों का देवता' जैसी। असल में 'कनुप्रिया' कविता में 'गुनाहों का देवता' ही है। 'कनुप्रिया' में जिस भाषा का प्रयोग हुआ है, उसके साथ एक विनम्र सवाल खड़ा होता है कि अपने मिथक और पौराणिक पात्रों के साथ यह साहित्यिक सलूक क्या जायज है ?

देश और समाज प्रारम्भ से ही आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के काव्य के प्रेरक तत्त्व रहे हैं। उनके लिए राष्ट्रीयता मात्र राष्ट्रीय उद्‌बोधन नहीं है बल्कि आम जन का सुख-दुःख है। राष्ट्रगान गानेवाले चारणों और व्यंग्य के 'आधुनिक कबीरों' की तुलना में उन्होंने राजनीति और व्यंग्य की कहीं ज्यादा गहरी कविताएँ लिखी हैं। स्वतंत्र भारत में जनता के लिए लिखने-वाले सरकारी कवियों से अपनी तुलना करते हुए आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने कवि की सत्ता सापेक्षता और सत्ता निरपेक्षता का आकलन जिस व्यंग्य प्रधान भाषा में किया है, वह देखने लायक है। 'खामोश आवाज' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ—

गिन-गिन पैर रखे धरती पर;
अलल बछेड़ा बना रहा;

अमचूर हो गया;
उजड़े-बिखरों की पुरनम खामोशी में बेनिशां खो गया,
गद्दारी की नहीं देश से
पर इससे क्या ?
देशभक्ति औ' गद्दारी तो साथ-साथ चल सकती थी।
राजदंड और राजछत्र के संरक्षण में—
उपजा सकता था जनता के खेतों में साहित्य !
भारी-भरकम भाव चाव से कौन चाहता ?
हल्की-फुल्की, चिकनी-चुपड़ी, हुई अनहुई,
अंगारी-रतनारी, अखबारी - कतबारी सारी बातें
मैं परोस दे सकता था प्यारी जनता के आगे !
और नहीं तो, नारे देता गला फाड़ जोशो खरोश के,
और तराने कुर्बानी के गा सकता था रहस-विहँस कर !
नया जमाना, सुना, शहीदों का है !
और शहादत के मानी हैं ऐशो इसरत,
सोहरत औ' आराम,
चैन की वंशी !

देश तबाही से गुजर रहा था। हमारे कुछ कलाकार-राजनेता इस तबाही पर पर्दा डालकर देश का दूसरा नक्शा दुनिया के सामने पेश कर रहे थे—

नक्शे में फस्ल-भरे हरे खेत खींचो,
खून पसीने का क्या, रंगों से सींचो,
देश हमारा न दिखे भूखा या नंगा,
टुसियाये पाकड़ पर बैठकर भूजंगा,
बोल रहा ठाकुरजी, देख रहा दंगा।

राजनीतिक कविताओं की प्रासंगिकता राजनीतिक घटना-क्रम के पुराने पड़ते ही समाप्त हो जाती है। लेकिन आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री हिन्दी कविता में कुछ ऐसे नामों में हैं जिन्होंने गहरे राजनीतिक अर्थों वाली कवि-

ताएँ लिखीं और खूब लिखीं। ये कविताएँ उस तरह की 'लाउड' राजनीतिक कविताएँ नहीं हैं जो कुछ समय के लिए अति 'पोपुलर' होकर अपनी सार्थकता खो देती हैं। आपातकाल के दिनों में लिखी एक कविता उदाहरण के रूप में प्रस्तुत है जो तब के गहरे सन्नाटे को गूँज से भर देना चाहती थी तो नये संदर्भ में सर्वथा भिन्न आयाम ग्रहण करती है। ऐसी कविताओं को संदर्भ के लिए न तो फूटनोट की जरूरत है और न समय-सूचना की। 'और कसो तार' शीर्षक कविता आपातकाल ध्यान में रहे तब भी, न रहे तब भी, बहुआयामी अर्थ-व्यंजना के कारण अपनी प्रासंगिकता बनाये रखने में समर्थ है—

और कसो तार, तारसप्तक में गाऊँ।
ऐसी ठोकर दो मिजराब की अदा से,
गूँज उठे सन्नाटा सुरों की सदा से,
ठंढे साँचों में मैं ज्वाल ढाल पाऊँ।
और कसो तार, तारसप्तक में गाऊँ।

ऐसी कविताएँ जहाँ अपनी प्रतीकात्मकता, गहरी अर्थ-व्यंजना और शास्त्रीय अर्थों में शब्द-साधना के लिए याद रहेंगी, वहीं कविता में संगीत की 'इमेजरी' के लिए काव्य के नये प्रतिमान बनायेंगी। शास्त्रीजी की कविता में संगीत एक अनिवार्य तत्व है। संगीत की 'इमेजरी' और ध्वनि-बिम्बों की रचना आधुनिक हिन्दी कविता में अगर कहीं प्रासंगिक हैं तो आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री निराला के साथ ही याद किये जायेंगे। निराला की कुछ कविताएँ सांगीतिक-बिम्बों से निर्मित हैं और संगीत पर ध्यान जाने पर ही उन कविताओं का पूरा अर्थ हाथ लगता है। शास्त्री जी की कविताओं की भी नींव संगीत है। इस तथ्य को समझे बिना उनकी कविता का अधूरा अर्थ हाथ लगेगा। हिन्दी कविता का यह सौभाग्य है कि निराला के बाद आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के रूप में उसे ऐसा शब्द-साधक मिला जो अपने वैशिष्ट्य में बेजोड़ है। कहीं-कहीं उन्होंने शब्द-ध्वनि के सहारे

अद्भुत सांगीतिक-प्रभाव और काव्य-चित्र खड़ा किया है। 'मेघगीत' की एक कविता की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

ताल-ताल पर उच्छल-उच्छल—
चल जल छलछल टलमल-टलमल
कुलकुल-कुलकुल, कलकल-कलकल,
प्रति पद-गति नति जल-तरंग की!
तड़ित भंगिमा अंग-अंग की!!
मेघ-रन्ध्र में मन्द्र-सान्द्र ध्वनि
द्रिम द्रिम द्रिम उन्मद मृदंग की।

ताज्जुब है कि जिस कवि की पूरी शब्द-साधना देश-समाज-सापेक्ष रही, जो प्रकृति और सौन्दर्य के अलक्षित बिन्दुओं का संधानी रहा, जिसने प्रेम और कर्म के द्वन्द्व को नये रूपों में परिभाषित किया, कुछ आलोचकों ने उसे छायावादी कुहेलिका में ढँककर परिदृश्य से ही गायब करने की कोशिश की। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के ही शब्दों को उधार लेकर कहें तो उन्होंने 'भाव-भाषा के क्षेत्र में जितने भी प्रयोग किए, पेशेवर आलोचना की चिलचिलाती धूप ने सबको छायावाद कर दिया।'

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री हिन्दी कविता के प्रगतिवादी और प्रयोगवादी धरातलों से भिन्न तीसरे धरातल के कवि हैं जो एक साथ प्रगतिशील भी हैं और प्रयोगशील भी। निश्चित रूप से उनका यह काव्य-बोध किसी 'वाद' का आग्रही नहीं है। रामविलास शर्मा के सौजन्य से बाद के समीक्षकों को 'हिन्दी जाति' शब्द हाथ लगा और 'हिन्दी का जातीय कथाकार' एवं 'हिन्दी का जातीय कवि' जैसे विशेषण धड़ल्ले से बँटने लगे, जिसमें प्रेमचन्द, नागार्जुन आदि को रखा गया और अज्ञेय आदि को इस परिधि से बाहर रख कर एक तरह से विजातीय कवि-कथाकार मान लिया गया। डा० शर्मा की यह जातीय-अवधारणा आचार्य शुक्ल के 'लोकमंगल' की तरह संकीर्ण साबित हो रही है। दूसरी ओर आधुनिक भावबोध की ऐसी आँधी उठी कि सब कुछ तथाकथित पश्चिमी आधुनिकता की प्रयोगशाला में जाँचा-परखा

जाने लगा। अब जब कि प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की आँधी थम चुकी है, कुछ देर ठहरकर शास्त्रीजी के काव्य-स्वर को पहचानने की जरूरत है। इस कवि के लिए काव्य-मूल्यांकन के ये दोनों धरातल नाकाफी हैं। किसी कवि की जातीय पहचान के लिए जितना जन-मन की गहराई को देखना जरूरी है, उतना ही यह भी देखना जरूरी है कि उसका काव्य देश के मिथक में कितनी गहरी जड़ें जमाए हुए है।

गीत,कविता, महाकाव्य, गीति-नाट्य, समालोचना, ललित निबन्ध, यात्रा-संस्मरण, कहानी, उपन्यास, जीवनी आदि विधाओं में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने लगभग पचास पुस्तकें लिखी होंगी। प्रायः हर विधा में उन्होंने प्रगति और प्रयोग की पारिभाषिक सीमाओं और अवधारणाओं का अतिक्रमण किया है और साथ ही बहुत कुछ अपनी बनायी हुई परिभाषाओं का भी। रचना-कर्म के सम्बन्ध में रघुवीर सहाय की ये पंक्तियाँ बराबर उद्धृत की जाती हैं—

अपनी एक मूर्ति बनाता और ढहाता हूँ
और आप कहते हैं कि कविता की है।

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री अगर इतना कुछ लिख सके तो इसलिए कि वे निरंतर अपनी एक मूर्ति गढ़ते और दूसरी तोड़ते रहे। ऐसा इसलिए संभव हो सका कि रचनाकार की निरंतर परिवर्तित चेतना की माँग उनके भीतर भी बनी रही। 1941 में लिखी उनकी यह कविता इसी चेतना के तहत लिखी गयी है—

रोज बिगाड़ो, रोज बनाओ।
कुछ मिट्टी ही घट के मानी,
इसके साथ करो मनमानी,
अभिमानी, पर तोड़ न छोड़ो

रोज बिगाड़ो, रोज बनाओ!
सूखी मिट्टी तो बेमानी,

तुम देते निज दृग का पानी
बढ़ता घट का मूल्य, अरे तुम
रोज बिगाड़ो, रोज बनाओ !
क्या अपने को आंका करते,
मिट्टी में क्या झांका करते,
कभी दिख सको जो तुम इसमें
रोज बिगाड़ो, रोज बनाओ।

क्या ऐसे कवि के मूल्यांकन के लिए आलोचना के मान को तोड़ने और नये मान बनाने की जरूरत नहीं है ?

★

द्वारा—राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०,
साइंस कॉलेज के सामने, पटना-800006

उत्तर-छायावाद और आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

डॉ० नन्दकिशोर नन्दन

अनुक्रम

★ उत्तर-छायावाद और आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

★ प्रगतिशीलता के मानवीय आयाम

★ गाथा : एक नयी रचना-विधा का जन्म

★ हिन्दी महाकाव्य का शिखर : राधा

★ आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की गीतिकला

★ हंसबलाका : हिन्दी गद्य का उत्कर्ष

★ मानवीय यथार्थ का कथा-संसार

★ पीढ़ियों के संस्कारक कवि की भूमिका

★

उत्तर-छायावाद और आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

उत्तर-छायावाद के प्रमुख काव्य स्तम्भ आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का विशाल एवं वैविध्यपूर्ण काव्य-संसार, अपनी कलात्मक समृद्धि के कारण परम्परागत काव्य-निकषों तथा काव्य-विवेक का न केवल अतिक्रमण करता है वरन् उनकी अपर्याप्तता तथा निरर्थकता भी सिद्ध करता है। पाँच दशकों से भी अधिक विस्तृत काल खण्डों में फैली उनकी रचनात्मक यात्रा से गहन स्तर पर गुजरते हुए कोई भी सहृय एवं प्रबुद्ध पाठक इस निष्कर्ष पर पहुँच सकता है कि कवि-कर्म के प्रति पूर्णतः समर्पित इस कवि ने काव्यान्दोलनों के तात्कालिक रोर-शोर से दूर और तटस्थ रहकर अपनी रचनाओं के माध्यम से उन्हीं जीवनानुभवों को मूर्तित किया है जो न केवल उसके अथक रूप से संघर्षशील मानवीय व्यक्तित्व के अभिन्न अंग रहे हैं अपितु जिनकी मर्मस्पर्शी अभिव्यंजना अपने काव्यालोक से तिमिराच्छन्न और दिक्भ्रान्त मानव-जाति का पथ-प्रशस्त ही नहीं करती वरन् उसकी चिर-आकांक्षित एक मंगलमय सुखी मानवीय समाज का मनोरम स्वप्न भी साकार करने में प्रभावी भूमिका का निर्वाह करती है। कहना न होगा कि सरलीकरण के इस प्रचारवादी युग में भी कला की दुनिया में प्रवेश के लिए कोई चोर-दरवाजा नहीं है और जो लोग भी वादों-आन्दोलनों और विवादों की राह से इस पवित्र किन्तु जोखम भरे कला-संसार में प्रवेश पा लेते हैं, वे अन्ततः इतिहास के हाशिये पर भी नहीं होते। जानकीवल्लभ शास्त्री का समस्त काव्य अपने अस्तित्व और अस्मिता की रक्षा में सन्नद्ध मनुष्य के अंतहीन संघर्ष का कलापूर्ण मार्मिक बखान है। उसे न तो छायावाद के व्यक्तिवादी चश्मे से जाँचा-परखा जा सकता है और न ही प्रगतिवाद के गर्जन-तर्जन भरे स्वर से उस काव्य के सान्द्र स्वर का सम्यक् मूल्यांकन सम्भव है। कविता में समकालीन जीवन का तापमान देखने के अभ्यस्त आलोचक अक्सर उस युग की अन्तःसंवेदनाओं को कलात्मक स्तर पर अभिव्यंजित करनेवाले कलाकारों और उनकी कृतियों को नजरअन्दाज करते रहे हैं। किसी रचनाकार की समग्र रचनात्मकता का पूर्वाग्रह मुक्त हो आस्वाद लिये बगैर उसके प्रति कोई धारणा बना लेना अपने आप में एक

अन्याय है । यदि कविता जीवन की केवल बहिरंग हलचलों का मुखर विवरण भर नहीं है, जीवन के अन्तरंग स्पन्दनों की मार्मिक प्रतिध्वनि है तो निश्चय ही आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का काव्य हिन्दी ही नहीं भारतीय साहित्य का भी मुकुट मणि है ।

हिन्दी कविता में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का अवतरण सन् 35 में हुआ, जब छायावाद का अवसान हो चुका था लेकिन उसकी धुंध अभी भी काव्याकाश से लुप्त नहीं हुई थी । यही कारण है कि अनेक आलोचक उन्हें छायावादी वृत्त का ही कवि मानते हैं जबकि अपनी आरम्भिक कविताओं में कुछ को छोड़कर वे छायावाद से भिन्न दिशा का संकेत भी देते हैं । क्या यह विस्मयकारी नहीं है कि यह कवि अपने प्रथम काव्य-संग्रह 'रूप-अरूप' के इस गीत में जीने की कला का बखान करते हुए जीवन की दुर्दान्त बाधाओं से जूझते हुए संघर्ष की प्रेरणा ही नहीं देता, जीवन का मर्म भी उद्घाटित करता है । यहाँ कहीं भी छायावादी पलायन और निर्मम यथार्थ से आँखें चुराकर कल्पना लोक में बसने की विकलता नहीं है :

जीना भी एक कला है !
इसे बिना जाने, अनजाने-
जीने कौन चला है ?
फिसलें नहीं, चलें चट्टानों पर,
इतनी मनमानी ?
आँख मूँद तोड़ें गुलाब
कुछ चुभे न, क्या नादानी ?
अजी, शिखर पर जो चढना है तो कुछ संकट झेलो
चुभने दो, दो - चार खार, जीभर गुलाब फिर लेलो
तनिक रुको, क्यों हो हताश ?
दुनिया क्या भला बला है ?
जीना भी एक कला है !

व्यक्तिबादी चेतना के स्थान पर दूसरों की मंगल कामना से उद्वेलित निम्नांकित पंक्तियाँ निश्चय ही छायावादी काव्य-संस्कार की अभिव्यक्ति नहीं हैं :

जितनी साधें हों पूरी ?
तुम रोज बढ़ाते जाते ।

कौन तुम्हारी बात बने
तुम बातें बहुत बनाते !
माना, प्रथम तुम्हीं आए थे—पर इसके क्या मानी ?
उतने तो घट सिर्फ तुम्हारे जितना नद में पानी।
और कई प्यासे, इनका भी
सूखा हुआ गला है !
जीना भी एक कला है !

जब छायावादी कवि कठोर वास्तविकता से घबराकर कल्पित सौन्दर्य लोक में विचरण कर रहा था, तब भी छायावादी संस्कारों से प्रेरित दिखनेवाले इस गीत में भी जानकीवल्लभ के कवि ने जीवन के प्रति अपनी अटूट आस्था और अनुराग को प्रकृति-बिम्बों में उकेर कर रख दिया था :

मेरी शिथिल, मंद गति ही क्यों,
गिरि, बन, सिन्धुधार भी देखो।
पीले पत्तों में वसन्त के
लाल प्रवालों का दल सोता;
काले जड़ पाषाणों में—
रहता ऊज्ज्वल जल का सोता;
आँखों का खारा जल ही क्यों
उर का मधुर प्यार भी देखो।

(रूप-अरूप)

लेकिन कुछ गीत निश्चय ही छायावादी भावभूमि पर आधारित हैं, जो कवि के विकासशील होने का सूचक हैं, क्योंकि वह ''कैसे बन्द रखूँ चल लोचन।'

प्रिय अति सुन्दर हे।" से आरम्भ कर जीवन की व्यापक भाव-भूमियों से गुजरता हुआ कविता को प्रगतिशीलता के मानवीय पथ पर अग्रसर करता है :

दीप जलाए ! खूब सँवारा है मजार को।
दीप सजाए ! खूब लजाया अन्धकार को।
मरने के ही के लिए जिए कीड़े कि मकोड़े,
खूब लगाए इन पर घी के चुपड़े कोड़े।
मिट्टी नहीं हुई ? मत हो; नभ तो आलोकित।
यही कम हुआ, हवा हो गई, अहा सुगन्धित !!

× × ×

खिंचता जाता तेज, तिमिर तनता, क्या फेरा !
कभी सबेरा भी होगा यह धुप्प अँधेरा !!
रहे अँधेरा, ये समाधियाँ दिख जायेंगी—
घास-पात पर शबनम से कुछ लिख जायेंगी
कभी पढ़ेंगे लोग, न सब दिन अपढ़ रहेंगे
चाँपे वेग व्यथा का होंठ कभी फड़केंगे—
"अन्धकार का तना चँदोवा था जन-भू पर
दीप उजलते जलते थे बस ऊपर-ऊपर !
जीवित जले हुए कीड़ों की ये समाधियाँ
दीप जलाना मना, यहाँ उठतीं न आँधियाँ !!"

कवि के तीसरे संग्रह शिप्रा' की 'तिमिर पर्व' शीर्षक यह कविता न केवल पराधीन देश के तिमिराच्छन्न परिदृश्य का चित्र भर प्रस्तुत करती है वरन उस अन्धकार को गहनतर करनेवाली प्रगति विरोधी शक्ति और सोच का भी विरोध करती है, जो जीवित मनुष्य की उपेक्षा कर मृत की प्रतिष्ठा को आलोकित करती है। मानवीय समाज की यह अनिवार्य विशेषता है कि वह अतीतोन्मुखी नहीं होता, वह भविष्योन्मुखी और जीवितों के प्रति चिन्ताकातर होता है। इसी संग्रह में 'अश्वत्थ' 'चाणक्य', 'कर्ण', 'अश्वत्थामा' जैसी कविताओं में कहीं से भी छायावादी सोच और संस्कार की छाया तक नहीं है। इन कविताओं की प्रासंगिकता आज भी असंदिग्ध है। कुछ पंक्तियाँ उदाहरणार्थ द्रष्टव्य हैं—

जूझो भी, क्यों भागे जाते जीवन से ?
तन से न शक्ति मिलती, मिलती है मन से !
जीवन का अर्थ न आत्महनन हो सकता,
रो-रोकर कोई कैसे दुख खो सकता ?
'अश्वत्थ' से

× × ×

जाति पूछी है कभी मृगराज से ?
सत्य की सत्ता कि मूल की व्याज से ?
अग्नि को देखो कि ज्वाला लाल है,
वंश क्या ? जिसका कुपित वह काल है !

जन्म का क्या क्लेश ? कैसा मृत्यु-भय ?
तेज का तो सहज ही होता उदय !
जो तिमिर को वरण करता हो, करे
नव प्रभात प्रकाश से क्यों कर डरे ?—'कर्ण' से

कवि के दूसरे काव्य-संग्रह 'तीर-तरंग' में भी ऐसे गीत हैं, जिनमें छायावादी भावभूमि के दर्शन होते हैं लेकिन कुछ में छायावाद से भिन्न संकेत मिलते हैं।

यदि

"मैं न गगन हूँ, मैं न मही हूँ !
जिसी नाम से मुझे पुकारो
उसी रूप का बना, वही हूँ।"

छायावादी काव्य-चेतना का परिचायक है तो आज के संदर्भ में यह गीत कितना अर्थवान और प्रासंगिक है—

सुखद स्वप्न लख किसी सुदिन का,
चुन-चुन पलछिन - तिनका तिनका,
रहा मूल से दूर, दूर, पर—
डाल - पात तो झगड़ा पंछी।

इन पंक्तियों में व्यंजित जीवन-सत्य कवि की व्यापक मानवीय दृष्टि का परिचायक है। आचार्य जानकीवल्लभ ने कविता को कविता के रूप में ग्रहण किया और उसे कविता के सिंहासन से उतार कर नारों और जुमलों की कलाविहीन बाजारू गलियों में कभी नहीं उतारा। उनकी कविताओं में कोई भी ऐसा जीवनानुभव व्यंजित नहीं हुआ है, जिसका जीवन के किसी गहन-गम्भीर पक्ष से सम्बन्ध न रहा हो। उनकी कविता गम्भीर जीवनानुभूति के ही अनुकूल उसकी मर्मस्पर्शी एवं उदात्त अभिव्यक्ति है। इसलिए उनकी कविताओं का मूल्यांकन आलोचना के सरलीकृत सूत्रों के आधार पर नहीं किया जा सकता, उसके लिए कविता सम्बन्धी एक संतुलित और समग्र दृष्टि अपेक्षित है।

कवि के चौथे संग्रह 'मेघगीत' की कविताओं में पावस के मेघों का विविध रूपों में सजीव चित्रण ही नहीं मिलता, प्रकृति के माध्यम से जीवन जगत की विसंगतियों की जैसी प्रखर और प्रभावी अभिव्यंजना है, वह आधुनिक हिन्दी कविता में निराला के अलावा किसी दूसरे कवि के यहाँ नहीं

है। यहाँ मेघ पंत के मेघों के समान दूसरों की आँखों से देखा हुआ मेघ नहीं है, और न ही वर्णन में उनकी जैसी गतानुगतिकता है। प्रकृति का यह चित्र देखें, जिसमें कवि की सूक्ष्म से सूक्ष्म मन:स्थितियों को पकड़ने और उसे तदनुरूप व्यंजित करने की सृजनात्मक कला के दर्शन होते हैं :

नील -वसन-से निविड़ तिमिर का
मुख पर घूँघट डाले,
झिल्ली - गुँज तमाल - कुँज में
खड़ी कौन तुम, बाले ?
ये भोले जुगनू सुषमा का—
भेद न खोल सकेंगे,
अन बोले द्रुम तुमसे पहली
बार न बोल सकेंगे !

(मेघगीत)

इसी संग्रह की एक कविता 'उतर रेत में' हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कविताओं में एक है जो प्रतीकात्मक व्यंजना की दृष्टि से भी अप्रतिम है। यह कविता उन आलोचकों का मुँह बन्द करने के लिए भी पर्याप्त है, जो यह कहते नहीं थकते कि आचार्य जानकीवल्लभ में संवेदनात्मक विकास परिलक्षित नहीं होता। इस कविता में प्रकृति-बिम्ब भर नहीं है, उसमें व्यवस्था के अन्तर्विरोधों की इतनी सटीक और प्रखर अभिव्यक्ति है कि हिन्दी कविता से सामान्य परिचय रखनेवाले पाठक भी सहसा इन पंक्तियों को उद्धृत करने का लोभसंवरण नहीं करते। ग्रीष्म के प्रचण्ड ताप से झुलसती हुई प्रकृति और पृथ्वी का यह जीवन्त चित्रांकन उसे स्मरणीय कविता बना देता है—

'दीरघ-दाघ निदाघ' उगलता रहा आग ही,
डँसता भूमि मयूख-दन्त रवि शेष नाग ही।
हरित-भरित तरू-गुल्म रह गए उलस-झुलस कर
शुष्क-कण्ठ, आतुर-उर, कातर-स्वर, नारी-नर।
ऐसे में तू एक शिखर से अपर शिखर पर
रोमल, श्यामल मेष-शशक-सा विचर-विचर कर
चरता है ? परिणत गज-सा वह खेल दिखाता।
नटखट बादल,
जो भूखे-प्यासे को नहीं सुहाता है !

किसी गणतंत्र दिवस की पूर्व संध्या पर राष्ट्र के नाम अपने संदेश में राष्ट्रपति सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने कहा था—"हम जिस निर्धन जन से त्याग की अपेक्षा रखते हैं, वे तो राष्ट्र के लिए पहले से ही तिल-तिल कर जलते आ रहे हैं, त्याग की भावना तो ऊपर से शुरू होनी चाहिए, जहाँ जीवन का सारा रस खिंचा चला जाता है।" आचार्य जानकीवल्लभ ने इस निर्मम सत्य को इसी कविता के तीसरे बँध में बहुत पहले ही उद्घाटित किया था :

'ऊपर-ऊपर पी जाते हैं, जो पीने वाले हैं
कहते; ऐसे ही जीते हैं, जो जीनेवाले हैं।'
इस नृशंस छीना-झपटी पर, फट कपटी पर,
उन्मद बादल,

इतना ही नहीं, कवि ने स्वाधीनता से बहुत पहले ही उस निर्मम राजनीतिक विसंगति को पढ़ लिया था, जो समाज के समस्त मानवीय मूल्यों को ध्वस्त कर सत्ता का नंगा ताण्डव कर रही है। आज समाज का पथ-प्रदर्शक वही है, जो स्वयं दिशाहीन और पथ-भ्रष्ट है, आज बड़ा वही माना जाता है, जो जनता के सुख-दुःख से दूर अपनी स्वार्थपरता में आपाद मस्तक डूबा हुआ है। आज भारत ही क्या सम्पूर्ण विश्व में यह क्रूरता कहाँ नहीं घटित हो रही है ?

कुपथ कुपथ रथ दौड़ाता जो, पथ निर्देशक वह है,
लाज लजाती जिसकी कृति से धृति-उपदेशक वह है,
मूर्त दम्भ गढ़ने उठता है, शील-विनय-परिभाषा
मरण रक्त-मुख से देता जन को जीवन की आशा,

सम्भवतः भारतीय समाज-व्यवस्था अथवा राजनीति के कुटिल-कुत्सित चरित्र पर इससे अधिक प्रखर और काव्यात्मक टिप्पणी आधुनिक कविता में अन्यत्र नहीं है। धूमिल ने जरूर ही स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीति पर तीखी टिप्पणियाँ की हैं मगर उनमें काव्यात्मक गहराई का अभाव है।

'अवन्तिका' कवि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का पाँचवाँ काव्य-संग्रह है जिसकी कविताएँ छायावादी भाव-भूमि से सर्वथा पृथक् मिजाज की हैं और अधिकांश कविताओं में कवि का सरोकार तात्कालिक यथार्थ के बजाय गहन मानवीय अनुभवों से है। यहाँ कहना असंगत न होगा कि किसी भी कवि के संग्रह में पाँच-दस से अधिक श्रेष्ठ और प्रतिनिधि कविताएँ प्रायः नहीं होतीं। इन्हीं पाँच-दस श्रेष्ठ कविताओं के आलोक में उस कवि के काव्य-मिजाज का पता चलता है और उस संग्रह को जाँचा-परखा जाता है। 'अवन्तिका' में

'दो चिड़ियाँ' शीर्षक कविता छायावादी संस्कार से भिन्न और कोमल संवेदना से बुनी गई अत्यन्त मसृण कविता है। संध्या के आकाश में दो चिड़ियाँ उड़ती और आपस में चहचहाती हुई जा रही हैं। कवि सोचता है, आखिर ये दोनों किस विषय पर बात कर रही होंगी? शिकारी के जाल से बचने की तरकीबें सोच रही हैं अथवा मनुष्य के अपने अर्जित ज्ञान-विज्ञान पर हुए भीषण अहंकार को माप रही हैं? उन चिड़ियों की मनःस्थितियों का आप भी तो कुछ अनुमान करें :

दो चिड़ियाँ हैं उड़ी जा रही सान्ध्य गगन में
अस्फुट स्वर से प्रकट कर रहीं जो स्फुट मन में।
अव्याहत, निश्चिन्त, शान्त अपनी दिनचर्या
किंवा आगामिनी यामिनी की प्रिय चर्चा।
या कि वधिक के फंदे से बचने का कौशल
अथवा सोच-विचार रहीं,—आएगा कब कल?
कौन कहे, मुँह खोल रही, कब बोल रही हैं
मानव का विज्ञान-ज्ञान-मद तोल रही हैं
कोई समझे भी उनकी प्रिय प्राकृत भाषा
लघु मन में कि बड़ी जो कोई अभिलाषा।

× × ×

श्रेष्ठ कविता का एक विशिष्ट गुण यह है कि वह काल का अतिक्रमण करती है और आनेवाले समय के यथार्थ से सीधे जुड़ती ही नहीं, वह उसकी भी मार्मिक व्यंजना होती है। 'अवन्तिका' शीर्षक कविता एक इसी प्रकार की अत्यन्त सशक्त कविता है। संस्कृति और ऐश्वर्य के शिखर पर पहुँचे भारत के भग्नावशेष और पतन के पतझर में भारत के भाग्योदय का वसन्त देखनेवाले कवि की निम्नांकित पंक्तियाँ मूल्यों और आदर्शों से पतित वर्तमान भारत की हिंसकता और क्रूरता के संदर्भ में न केवल सार्थक और सटीक हैं वरन् प्रासंगिक और उद्बोधनकारी भी हैं :

गुदगुदी लगाते नयन छलछला जाते,
बँधने लगतीं हिचकियाँ एक पद गाते,
जीवन घन-संचित वाष्प, मृत्यु की छाया,
जीवन अर्जित अभिशाप, ताप की काया,

सुख और शान्ति तो जैसे कथा-कहानी
पतझर - मर्मर में चिर - वसन्त की रानी !

तनने वाले सीने को छेदा जाता
उठने वाला सिर कट कर भू पर आता
सच कहनेवाले मुँह को सी देते हैं
अब बाज कबूतर के अंडे सेते हैं !

नर - भक्षक ही सांस्कृतिक, धर्मप्रिय प्राणी
पतझर-मर्मर में चिर-वसन्त की रानी !

इस अंधकार में थर्रा रही किरण है,
यह बीन व्याध की, यह बेचैन हिरन है,
धूसर अंचल पर धुन्ध बनाली नीली,
यह घुटन ! पिघल, ढल ओ आत्मा बर्फीली !

अन्तस में उमस, तलफती रहती वाणी,
पतझर-मर्मर में चिर-वसन्त की रानी।

यदि कविता अन्याय और अत्याचार के प्रतिकार में एक कारगर हथियार है तो आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने भी अपनी कविताओं में अन्याय पर टिकी शक्तियों के विरुद्ध शंखनाद किया है। जिस ओज और प्रखरता के कारण कुछ कवियों को क्रान्तिकारी होने का खिताब बांट दिया जाता है, उससे कहीं तेज, ओज और शक्ति इन पंक्तियों में परिलक्षित होती है :

जागो जैसे गरल-बुझे बाणों से बिंधा मृगेन्द्र,
फन फैलाये व्याल-वृन्द लख चंचल चंचु खगेन्द्र।

जागो, आततायियों के सम्मुख ज्यों शतमुख क्रोध,
अवमानित, धूमिल आत्मा में ज्वलित अनल प्रतिशोध।

जागो पतझर के मर्मर में ज्यों पल्लव की लाली,
गुच्छ-गुच्छ तुम पुंज-पुंज हो, ढक लो सघन बनाली।

आँख मूंद धधके प्रकाश में कब तक पड़े रहोगे ?
बड़वानलपायी, सुधा नहीं, क्षार-ज्वार उगलोगे ?

खण्डहर तो दो छोड़, डोलते हैं भूगोल-खगोल !
जागो निद्रा-तन्द्रा के कर बिके हुए बेमोल !

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के काव्य का एक प्रमुख विषय प्रकृति है, जो छायावादी कवियों की प्रकृति से कई अर्थों में भिन्न है। प्रकृति के जीवन में

भी हर एक मौसम अपने-अपने ढंग से आता है और उसका प्रभाव भी अपने विशिष्ट रूप में होता है। प्रकृति के प्रति कवि का यह असीम अनुराग यों तो उसकी अधिकांश कविताओं में कहीं अधिक तो कहीं कम दिखलाई पड़ता है लेकिन प्रकृति की उपस्थिति सर्वत्र अनुभव होती है। अनेक कविताओं में तो जैसे अनुभूतियाँ ही स्वयं प्रकृति के बिम्बों में बोलने लगती हैं। 'हंस-किङ्किणी' संग्रह के इन उदाहरणों में कवि की प्रकृति-रंजित अनुभूतियाँ द्रष्टव्य हैं :

(क) कुङ्कुम-केसर का लहका दिगन्त है !
गंध की अनन्त वेदना वसन्त है !!

(ख) ऋतु सम पर है, असम छेड़ सुर
कवि - उर अगम अपार !
चन्दा ललके, सागर के अन्तर का छलके प्यार !
पल्लव-वसन ललित लतिका में खिलें फूल रतनार !
वन के मन की गहन वेदना सौरभ में साकार !

(ग) पार गगन के तुम गाते हो !
स्वप्न - हँसे स्वर बरसाते हो !!
फिर - फिर भर-भर आती गागर
एक अश्रु कण बनता सागर।
डूब - डूब जाता तट का तन
जीवन पर यों छा जाते हो !

'शिशिर किरण' काव्य-संग्रह में कवि की कुछ विशिष्ट कविताएँ हैं। यह कवि का सातवाँ संग्रह है, जिसमें उसकी गहन अनुभूतियाँ गहनतर होकर अत्यन्त प्रौढ़ अभिव्यंजना शैली में रूपायित हुई हैं। कविता अन्ततः आत्माभिव्यक्ति है। इस निकष पर कवि की प्रत्येक कविता अपनी श्रेष्ठता का स्वयं प्रमाण है। 'रेत पर जो लिख रहा मैं' शीर्षक कविता में कवि का रचनात्मक संघर्ष, उसकी सफलता-असफलता और उससे उत्पन्न आशा-निराशा की मार्मिक अभिव्यक्ति बरबस मन को छू लेती है। निस्सन्देह कवि ने सम्पूर्ण जीवन उसी दर्द की गाथा को शब्दों में पिरोया है, जो उसके समस्त जीवनानुभव का सार है, उसे यह निश्चित विश्वास है कि उसकी यह वेदना गीत बनकर लोगों के मन-प्राणों को निरन्तर झकृत करती रहेगी :

रेत पर जो लिख रहा मैं
धार उसको मेट देगी

फिर किनारे पर खड़ी दुनिया
कहो तो क्या कहेगी !
दर्द यह चुप लिख रहा मैं
गर्द में क्या दिख रहा मैं ?
यह कसक बन गान तेरे प्राण में लुक-छिप रहेगी
मैं सुनूँगा ही नहीं, फिर, दूर-दुनिया क्या कहेगी ?

उत्तर-छायावाद के जिन कवियों की आज जोर-शोर से चर्चा की जा रही है, उनमें आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का काव्य अपने विषय-वैविध्य और विस्तार ही नहीं, शिल्पगत प्रयोगों की दृष्टि से भी सर्वथा पृथक और विशिष्ट है। उन्होंने अपने समकालीन मनुष्य की यातना और संघर्ष को अपने काव्य में कला के स्तर पर मूर्तिमान किया है। लेकिन कोई आलोचक कविताओं से गुजरे बगैर ही फतवा देने के लिए पैदा हुआ हो तो उसे कोई कवि कैसे 'कन्विन्स' कर सकता है। इसी संग्रह की इन पक्तियों में कवि की संवेदना देखें :

छूटने पर नाव जो पहुँचा पुलिन पर
पार जाना है, उसे भी जान लो तुम
राह सीधी छोड़कर पिछड़े हुए की
बावली-सी बेकली को मान लो तुम,
घोर तम में ध्रुव निरखता बढ़ रहा था
और अब तो भोर होता जा रहा है।

राजनीति के चोर-दरवाजे से साहित्याकाश में छा जाने की सीधी राह से तो कई कवि क्या-कुछ नहीं पा गये, कोई कई दशकों तक उस भारत सरकार की कृपा से राज्य सभा का सदस्य और हिन्दी सलाहकार के पद को सुशोभित करता रहा तो कोई पुरस्कारों के साथ हर प्रकार का लाभ प्राप्त करता रहा, जिसके शासन में भारत की तीस करोड़ जनता निर्धनता की सीमा रेखा से नीचे नारकीय जीवन जीने के लिए अभिशप्त रही है। आखिर यह कवि-कर्म का कौन-सा प्रतिमान है ? हम रीतिकाल के दरबारी कवियों की निन्दा-आलोचना करते नहीं थकते कि उन्होंने कविता को आश्रयदाता की इच्छा पर थिरकने के लिए विवश किया लेकिन तत्कालीन प्रधानमंत्री नेहरू के दरबार में सजनेवाले दिनकर और बच्चन के कवि-कर्म के प्रति हमारी आलोचकीय ईमानदारी किस राजनीतिक गुफा में छिप जाती है ? तात्पर्य सिर्फ इतना कि किसी कवि पर कोई निर्णय उसकी रचनाओं के आधार पर उन्हें तटस्थता-पूर्वक पढ़कर दिया जाना चाहिए। यदि मूल्यांकन के केन्द्र में रचना हो तो निस्सन्देह

आचार्य जानकीवल्लभ का काव्य-संसार इन कवियों से कहीं अधिक विराट और कलापूर्ण है। छायावादी काव्य-वृत्त में आनेवाले रामकुमार वर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी और उदय शकर भट्ट का भी काव्य संसार इनकी तुलना में छोटा ही नहीं, सामान्य है। अगले संग्रहों—'सुरसरि', संगम, और उत्पलदल' की कविताओं के अवलोकन से भी यह बात प्रमाणित हो जायेगी।

'सुरसरि' की कविताओं में—भी कवि अपना ही जीवनानुभव व्यक्त करता है। यह उसकी अपनी विशेषता है कि वह वही लिखता है, जो उसके अनुभव के वृत्त में है, आदर्श वाक्य या सूक्तियाँ लिखने की तात्कालिक प्रेरणा उसे कभी नहीं हुई, उसके काव्य में जो भी है, वह उसके व्यापक अनुभव-जगत् से ही छनकर आया है! उसकी अमर बन जानेवाली उक्तियाँ भी अनुभूति से प्रस्फुटित हुई हैं, इसलिए उनमें चमक और स्थायित्व है! किसी भी बड़े कवि के काव्य में आत्मा-परमात्मा के सम्बन्धों की अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। आधुनिक कविता के शिखर पुरुष निराला के काव्य में भी हम जिसे रहस्यभावना कहते हैं, दिखलाई पड़ती है। आचार्य जानकीवल्लभ के इस संग्रह में भी एक अत्यन्त श्रेष्ठ गीत है—'प्यास तुम्हारी कंठ-कंठ में'' यह गीत अनुभूति और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से हिन्दी की एक अन्यतम उपलब्धि है। उदाहरणार्थ निम्नांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

प्यास तुम्हारी कण्ठ-कण्ठ में
रूप तुम्हारा नयन-नयन में!
अभिव्यक्ति जीवन है जिसकी
मरण उसी सत्ता की सिकुड़न,
पावस जिसका श्याम वर्ण है
शरद उसीका उज्ज्वल दर्पण!
—जाने कैसे दृष्टि उलझती,
स्पष्ट सृष्टि के ताने-बाने,
चित्र-पटी की रेख देख पड़ती
विचित्र वर-तन्तु-वयन में।

इसी संग्रह की प्रसिद्ध रचनाएँ हैं—'गागर भरने की बेला', 'जैसे-तैसे दिन तो बीता' और 'हैं उमड़ती सुधा-सिन्धु-धारा'।

कवि की कृतियों में 'संगम' कविता-संग्रह उसकी परिवर्तित और विकसित काव्य-दृष्टि का सजीव प्रमाण है। राष्ट्रीय चेतना से ओत-प्रोत 'राष्ट्र का आत्मोदय', 'विजय वैजयन्ती, 'हमारा देश' 'गण-भारती' और 'भारती' जैसी श्रेष्ठ

कविताएँ इस संग्रह की उपलब्धि हैं, तो 'उदय के पथ पर', 'जीवन-रचना', 'ठोस' और 'लौह-युग' आदि प्रखर वैचारिक कविताएँ भी हैं। इस संग्रह की यह एक उल्लेखनीय विशेषता है कि कवि ने राष्ट्रपिता, विश्वकवि, निराला और नेहरू पर भी अपनी काव्य-दृष्टि प्रतिबिम्बित की है। समकालीन जन-जीवन के ताप का अहसास करानेवाली महत्वपूर्ण कविता 'खामोश आवाज' भी इसी संग्रह में है। विभिन्न प्रकार के तेवरों और मिजाज की इन कविताओं से यह स्पष्ट होता है कि कवि किसी भी काव्यान्दोलन के संस्कारों से बंधा हुआ नहीं है। कुछ उदाहरणों के आलोक में इसे सृजनात्मक तथ्य की पड़ताल हो सकती है।

राष्ट्रीय चेतना

(क) विजय-वैजयन्ती भारत की विश्व शिखर पर फहरे !
यह निश्छल, निश्चल, चिर - निर्भय
अन्धकार में नव अरूणोदय
मर्यादा-सी सत्य शान्ति की हेर हिम्र-हिय हहरे !

संगम, पृ० —54

(ख) मंगलमय यह देश हमारा।
हरित-भरित धरती मंगलमय,
मंगलमय नभ, रवि, शशि, तारा !
निज कृतित्व के सब अभिमानी
विश्व-विजय के सब अभियानी
चरण शिखर पर, नयन मूल पर
आत्म-विजय कर सबका प्यारा,
मंगलमय यह देश हमारा।

संगम, पृष्ठ 51, 52

ये पंक्तियाँ एक ऐसे देशभक्त कवि की राष्ट्र चेतना की अभिव्यक्ति है, जिसने देश को उसकी समग्रता में जाना-समझा और प्यार किया है। इसीलिए यहाँ देशभक्ति शब्दों के स्तर पर न रह कर अनुभूति की गहराई बन गई है।

प्रखर वैचारिकता की दृष्टि से मुक्त छन्द में लिखी 'खामोश आवाज' शीर्षक कविता कई ऐसे प्रश्न उठाती है, जिनके उत्तर में ही भारत की भौतिक एवं आत्मिक प्रगति का रहस्य छिपा है। स्वतंत्र भारत की पतनशीलता का अंतहीन सिलसिला तभी थमेगा, जब उच्चतर मूल्यों की प्रेरणा से जीनेवाले व्यक्तियों की जगह बेईमानी, झूठ और छल से देश और जनता का शोषण

करनेवाले अवसरवादी लोगों का प्रभुत्व समाप्त होगा, निम्नांकित पंक्तियों में व्यंजित पीड़ा केवल कवि की निजी पीड़ा नहीं है, वह तो उन असंख्य लोगों की आहत मानवीय चेतना और संवेदना का सहज स्फुरण है, जो इस निर्मम समाज व्यवस्था में आदर्शों की उज्ज्वल मशाल जलाये चल रहे हैं :

कैसे घी के दिए जलाऊँ ?
मैंने गला नहीं घोंटा मासूमों का और
और मरभुखों के टुकड़े भी नहीं चुराए,
लाचारी में भी न उठाया लाभ मत्त प्रभुता का

घूस न खाया कभी चोरबाजारी का,
गिन-गिन पैर रखे धरती पर,
अलल बछेड़ा बना रहा, अमचूर हो गया।
उजड़े-बिखरों की पुरनम खामोशी में बेनिशाँ खो गया।

गद्दारी की नहीं देश से !
पर इससे क्या ?
देशभक्ति और गद्दारी तो साथ-साथ चल सकती थी ?
मैं विदेशियों का होता जासूस,
राजदण्ड 'औ' राजछत्र के संरक्षण में—
उपजा सकता था जनता के खेतों में साहित्य। —संगम, पृष्ठ 19, 20

'संगम' संग्रह की ही 'ठोस' शीर्षक कविता में कवि ने मौलिकता को एक मात्र सत्य मानने वाले इस आधुनिक मनुष्य की विडम्बना को उकेरते हुए भारतीय संस्कृति की मूल-धारा मानवीय चेतना को ही स्थापित किया है :

हाय ठोस ! मैं तेरी पूजा नहीं कर सका,
मृण्मय तट, मैं चित् समुद्र को नहीं तर सका !
जो कुछ है, मिट्टी है, जीना ही जीवन है,
गौतम, थोथी बुद्धि कि तेरा थोथा मन है।
यह वैज्ञानिक सत्य नहीं तू अगर समझता,
कहाँ दुःख ? है क्या अनित्य ? फिर क्या कह सकता !
तेरा झूठा दर्द, सत्य कहता हूँ मीरा,
खाक छानती फिरी महल का खोकर हीरा !
एक दूसरी बात कि तेरा युग था वैसा
जीवन-धन जब नहीं कहा जाता था पैसा। —संगम, पृष्ठ 41

'उत्पल दल' कवि के एक सौ एक गीतों का एक महत्वपूर्ण संग्रह है, जिनमें अनुभूतियों की विविधता के साथ ही गीतों के शिल्प में कवि की प्रयोगशीलता के भी दर्शन होते हैं। संग्रह की भूमिका में आचार्य जानकीवल्लभजी ने न केवल गीतों की अपनी रचना-प्रक्रिया पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया है वरन् गीत-विधा को उसकी समग्रता में समझा-समझाया है। इस दृष्टि से यह भूमिका उन आलोचकों पाठकों के लिए भी आँख खोलू है, जिन्होंने गीत को काव्य-प्रदेश से निर्वासित कर दिया है। उदाहरणार्थ निम्नांकित पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं :—

"गीत तो हृदय के सबसे खुले बोल हैं। भाव के स्रोत अनेक हो सकते हैं, सबके धरातल भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, किन्तु सब अर्थों को स्वर और लय देनेवाला तत्व एक ही होता है। और वह तत्व स्वयं जीवन है।" निस्सन्देह आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने 'उत्पल दल' के गीतों में बहु-आयामी विशाल जीवन के निकटतम अनुभवों को सहज गीतात्मक स्वर प्रदान किए हैं। इन गीतों में, जैसा कि मैंने प्रारम्भ में ही कहा है, जीवन का गर्जन-तर्जन भरा स्वर नहीं है, संवेदना से संवलित अनुभूतियों की सान्द्र स्वर में मार्मिक पुकार है जो अन्तस्तल में निरन्तर प्रतिध्वनित होती रहती है। एक-दो उदाहरणों से ही इस संग्रह की श्रेष्ठता का प्रमाण मिल जायेगा। इस संग्रह से हिन्दी गीत दूसरी बार श्री-समृद्ध हुआ है। इससे पूर्व निराला के गीतों की 'गीतिका' ने हिन्दी गीत को वस्तु और शिल्प—दोनों दृष्टियों से समृद्ध किया था। संग्रह का सातवाँ गीत देखें, जिसमें कवि ने अपनी जीवन-दृष्टि को अनुभूति-तरल, प्रतीकात्मक शैली में व्यंजित किया है :

सांध्य - तारा क्यों निहारा जायेगा ?
और मुझसे मन न मारा जायेगा।

बिकल पीर निकल पड़ी उर चीरकर,
चाहती रुकना नहीं इस तीर पर।

भेद यों मालूम हैं पर पार का
तट से कटता किनारा जायेगा।

चाँदनी छिटके, घिरे तम तोम या
श्वेत - श्याम वितान यह कोई नया ?

लोल लहरों से ठने न बदाबदी,
पवन पर थमकर विचारा जायेगा।

मैं न आत्मा का हनन कर हूँ जिया,
औ' न मैंने अमृत कह कर विष पिया।

प्राण-गान अभी चढ़े भी तो गगन,
फिर गगन भू पर उतारा जायेगा।

—उत्पल दल, पृष्ठ 7

'उत्पल दल' के गीतों का विकास और विस्तार 'धूप-तरी' के गीतों में देखा जा सकता है। इन गीतों का फलक जितना व्यापक है, उनमें अभिव्यंजित अनुभूतियों की गहराई भी उतनी ही अधिक है। जिन आलोचकों को कवि की संवेदना में विकास दिखलाई नहीं पड़ता, उन्हें चश्मा उतार कर 'धूप-तरी' (1986) के गीतों को अवश्य पढ़ना चाहिए। इसी संग्रह में प्रकृति-परक बिम्बधर्मी मार्मिक गीत हैं तो कवि की अपनी मस्ती और तरंग को मुखर करने वाले गीतों के साथ ही समकालीन जीवन के भयद यथार्थ से साक्षात्कार कराने वाले मारक गीत भी हैं। सबसे बड़ी बात यह कि ये गीत गीतिकला की प्रयोगशीलता के भी सुन्दर उदाहरण हैं। कुछ उदाहरणों से ही इस कथन की पुष्टि हो जायेगी। यथा —

(क) धूप-तरी तिरती कुहरी की झील में,
जैसे उजली बदली अम्बर नील में।
पुरवाई आई खेतों की ओर से
गई तरी झकझोर किरन की डोर से
खनक रही - सी नीरवता पतझार की,
महक रही केवलता सूनी डार की
साँस फँसी ठिठुरी धरती की कील में,
धूप-तरी तिरती कुहरी की झील में।

—प्रकृति-चित्र, पृष्ठ 9

(ख) पार नहीं, मझधार नहीं
झकझोर रही पुरवैया,
जैसे कूल - किनारा छूटा
लगी डूबने नैया।
डूब गए जलयान हजारों
कश्ती की क्या हस्ती ?
फिर भी मौजों के सर चढ़कर
हँसती मेरी मस्ती

मैंने अपने हाथों खेई
मेरा था न खिवैया,
पार नहीं, मझधार नहीं,
झकझोर रही पुरवैया।

— कवि की मस्ती, पृष्ठ 15, 16

(ग) टुसिआए पाकड़ पर
बैठ कर भुजंगा
बोल रहा ठाकुर जी
देख रहा दंगा।
नक्शे में फस्ल - भरे
हरे खेत खींचो,
खून - पीसने का बया
रंगों से सींचो,
देश हमारा न दिखे
भूखा या नंगा।

—देश-दशा का चित्र, पृष्ठ 38

'श्यामा-संगीत' (1987) में आचार्य जानकीवल्लभ के भक्त कवि के वे गीत-पुष्प हैं जो उन्होंने देवी माँ के चरणों में अर्पित किए हैं। कवि की भक्ति भावना मध्यकालीन भक्तों से इस अर्थ में भिन्न और विशिष्ट है कि प्रत्येक गीत या पद में कवि की समर्पणशीलता के गहन दार्शनिक पीठिका पर आधारित है। वेदान्त से लेकर सांख्य तक सभी षट् दर्शनों के अप्रतिभ ज्ञाता कवि ने अनुभूति सिंचित इन गीतों में दर्शन को भी काव्य के धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। भक्ति-भावना का यह कविरूप निश्चय ही 'आराधना' और 'अर्चना' के भक्त निराला का ही जैसे पुनर्वतार है—

कल्याणी हो प्रतिभा मेरी
मधुर वर्ण-विन्यास न केवल,
नित्य सत्य बरसे सुन्दर स्वर,
लय, कौशल, अभ्यास न केवल।
दुस्तर तम की छाँव पाँव को
डिगा न दे आलोक-ताप से,
हाथ न काँपे आहुति देते
चित न विरत हो इष्ट-जाप से !

मैंने अपने हाथों खेई
मेरा था न खिवैया,
पार नहीं, मझधार नहीं,
झकझोर रही पुरवैया।
– कवि की मस्ती, पृष्ठ 15, 16

(ग) टुसिआए पाकड़ पर
बैठ कर भुजंगा
बोल रहा ठाकुर जी
देख रहा दंगा।
नक्शे में फस्ल - भरे
हरे खेत खींचो,
खून - पीसने का क्या
रंगों से सींचो,
देश हमारा न दिखे
भूखा या नंगा।
—देश-दशा का चित्र, पृष्ठ 38

'श्यामा-संगीत' (1987) में आचार्य जानकीवल्लभ के भक्त कवि के वे गीत-पुष्प हैं जो उन्होंने देवी माँ के चरणों में अर्पित किए हैं। कवि की भक्ति भावना मध्यकालीन भक्तों से इस अर्थ में भिन्न और विशिष्ट है कि प्रत्येक गीत या पद में कवि की समर्पणशीलता के गहन दार्शनिक पीठिका पर आधारित है। वेदान्त से लेकर सांख्य तक सभी षट् दर्शनों के अप्रतिभ ज्ञाता कवि ने अनुभूति सिंचित इन गीतों में दर्शन को भी काव्य के धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। भक्ति-भावना का यह कविरूप निश्चय ही 'आराधना' और 'अर्चना' के भक्त निराला का ही जैसे पुनर्वतार है—

कल्याणी हो प्रतिभा मेरी
मधुर वर्ण-विन्यास न केवल,
नित्य सत्य बरसे सुन्दर स्वर,
लय, कौशल, अभ्यास न केवल।

दुस्तर तम की छाँव पाँव को
डिगा न दे आलोक-ताप से,
हाथ न काँपे आहुति देते
चित न विरत हो इष्ट-जाप से !

होम कृपण मन, काम्य कामना
खींच समूची साँस न केवल,
कल्याणी हो प्रतिभा मेरी
मधुर वर्ण विन्यास न केवल।

—श्यामा संगीत, पृष्ठ 5

उपर्युक्त कविता-संग्रहों की संक्षिप्त समीक्षा से स्पष्ट है कि उत्तर-छायावाद के इस मर्मापित काव्य-साधक ने न केवल अपनी काव्य-संवेदना का विकासमान विस्तार किया है वरन् अपनी मूल रचना-विधा-गीत के शिल्प को भी सृजनात्मक प्रतिभा की नित नयी प्रयोगशीलता के द्वारा निरन्तर समृद्ध किया है। लेकिन कवि की अप्रतिहत और अप्रतिम काव्य-साधना का मूल्यांकन तब तक अधूरा रहेगा जब तक कि उसकी शिखर काव्य कृति-महाकाव्य 'राधा' पर विचार न किया जाय, जो हिन्दी की न केवल एक विराट महाकाव्य कृति है वरन् राधा-कृष्ण की प्रेम कथा के मिस सम्पूर्ण मानव-जीवन और उसके संघर्ष की उदात्त अभिव्यंजना है।

सात पर्वों में रचित 'राधा' का प्रथम पर्व 'प्रणय' है, जिसमें राधा की प्रेमानुभूति का यह अभिव्यंजन मनोवैज्ञानिकता और मार्मिकता दोनों ही दृष्टियों से अपूर्व है। राधा की आत्माभिव्यक्ति प्रेमिल संवेदनाओं की ऐसी व्यापक और गहन व्यंजना है जिसकी मिसाल किसी काव्य-महाकाव्य में दुर्लभ है। निम्नांकित पंक्तियों में अभिव्यंजित राधा की मनोदशा का यह चित्र खड़ी बोली के किस काव्य में मिलेगा '

अपने सौरभ को लिए-दिए रह जाती,
क्या होता, इस वन में न मत्त ऋतु आती !
अपनी साँसों का भार नहीं जब झिलता,
भर जाती सुरभि बयार, इसे क्या मिलता ?
मन के मुकुलित संकल्प फूलते वन में,
फूला-फूला वन बसने आता मन में !
ऐसी मादकता, वन में फूल उजाले
मन अन्धकार में उजले आँसू ढाले !

× × ×

रह गई रात भर, बँधी नाव मैं खेती,
सुर धनुषी क्षितिज, पुलक के सपने सेती।

निस्सीम नील नीरवता को स्वर देती,
हँसता प्रभात ! फैली री निर्जल रेती।

—राधा, प्रथम पर्व, पृष्ठ 32

जहाँ 'राधा' में कवि ने मानव-जीवन की सर्वाधिक गहन और निकटतम अनुभूति प्रेम की विविध स्थितियों को करूण स्वर प्रदान किया है, वहीं उसके दूसरे पर्व 'पुरुषार्थ' में अपनी काव्य भाषा की प्रखर तेजस्विता का अन्यतम उदाहरण प्रस्तुत किया है। कहना न होगा कि महान कृतियाँ न केवल आत्म कथात्मक होती हैं वरन् उनकी सृजनात्मकता आत्मालाप के संस्पर्श से दीप्त हो उठती है। विश्व-वाङ्मय के महानायक कृष्ण के प्रस्तुत आत्मालाप में मानो समकालीन विश्व की चिन्तनशील संवेदना ही प्रतिध्वनित हो उठी है :

कल्पना के कल्पतरू मरू में विकल !
फूल कर फल कर लुटाकर ही सफल,
युग नया संकल्प लेना चाहता,
आँधियों में तरणि खेना चाहता,
यह नया बनता नये संकल्प से,
पर हमारा युग वितर्क, विकल्प से—
सर्व संशय से कि ओत-प्रोत है,
झिलमिलाती स्थिर तिमिर में जोत है,
द्वन्द्व - अन्तर्द्वन्द्व - युग - पहिचान है
एक शुभ : यह ढूँढ़ता दृढ़ ज्ञान है।
राम का युग था सहज विश्वास का,
युग हमारा अबुझ मन की प्यास का
अडिग-आस्था के सतत् संधान का
अखिल अन्तर के चिरन्तन ध्यान का
कंस का शासन निरंकुश शेष हो
निम्न वर्ग उठे, प्रतिष्ठित देश हो।

सामाजिक न्याय का निरर्थक राजनीतिक नारा देकर शासन करने वालों से कई दशक पूर्व कृष्ण की वाणी में कवि ने जैसे इस शताब्दी के श्रेष्ठतम वैचारिक साधक-संत विवेकानन्द की इसी मानवीय दृष्टि को रूपायित किया है कि "जब तक समाज रूपी वृक्ष की जड़ों को—सदियों से उपेक्षित-शोषित निम्न वर्ग को नहीं सींचा जायेगा, तब तक हम मनुष्यता के लक्ष्य तक नहीं

पहुँच सकते, केवल डालियों को सींचने से कुछ नहीं होगा।" 'राधा' एक ऐसे कवि की वाणी का अमृत-प्रसाद है जो न केवल कवि है वरन् महान चिन्तक भी है। इस कवि ने पतनोन्मुखी समाज में उर्वशी और पुरुरवा के प्रेमालाप (उर्वशी, मैं तुम्हारे रक्त के कण में समाकर प्रार्थना के गीत गाना चाहता हूँ) के जरिये कामाध्यात्म जैसी अलौकिक काम-दृष्टि का प्रचार कर समाज को दिग्भ्रमित करने के बजाय 'राधा' के माध्यम से कवि-कर्म का उज्ज्वल उदाहरण उपस्थित किया है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की काव्य संवेदना के विकास और विस्तार का 'राधा' से बढ़ कर दूसरा और उदाहरण क्या होगा? गर्जन-तर्जन से भरी राजनीतिक प्रगतिशीलता इन पंक्तियों के समक्ष टिक भी नहीं सकती :—

पूर्ण समता-प्राप्त मनुज-समाज हो,
सब स्वतंत्र कि बन्धुता निर्व्याज हो!
धर्म राजस यज्ञ याग अनात्म-सा,
वंश-अनुगत स्वगत सत्ता दुर्दशा।
हैं विषमता को बढ़ाते तत्व जो,
रौंद कर शासन चलाते सत्व जो,
अन्त उनका उचित समुचित रीति से
न्याय नरमाए. वृहस्पति-नीति से।

—राधा पुरुषार्थ पर्व, पृ० 64-65

तात्पर्य यह कि उत्तर छायावाद के अन्य कवियों से सर्वथा भिन्न और विशिष्ट आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के काव्य का मूल्यांकन कुछ आलोचकीय लटकों और जुमलों से सम्भव नहीं है। उनका सम्पूर्ण काव्य समर्पित, व्यापक, गहन और तटस्थ अध्ययन की मांग करता है। वस्तुतः उनके काव्य का मूल्यांकन इस पृष्ठभूमि में होना चाहिए कि छायावाद की समाप्ति और प्रगतिवाद के प्रारम्भ के बीच का काल एक रचनात्मक संक्रमणशीलता का काल है, जब कवियों ने आनेवाली काव्यधारा के लिए जमीन तलाशी ही नहीं, उसे आधारभूमि का रूप प्रदान किया। इन कवियों में आचार्य जानकीवल्लभ का महत्व इसलिए अधिक है कि उन्होंने ही हिन्दी कविता को जीवन की गहन-गम्भीर मानवीय भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित किया है, जहाँ आज की संघर्षशील मानवीय कविता खड़ी है।

★

प्रगतिशीलता के मानवीय आयाम

'कुकुरमुत्ता' के कवि निराला की प्रगतिशीलता मार्क्सवादी ढांचे में भले ही 'फिट' न बैठे मगर उनकी व्यापक लोक-कल्याणकारी दृष्टि उन्हें प्रगतिशीलों का सिरमौर प्रमाणित करती है। तटस्थ होकर विश्लेषण करें तो आध्यात्मिक रंग में रंगे उनके प्रार्थना-गीत भी प्रगतिशील चेतना से दूर नहीं हैं :

मां, अपने आलोक निखारो, नर को नरक-त्रास से बारो।'

अथवा

'धूल-धुसरित जो हुए हैं, उन्हीं के वर वरण कर दो।'

में निजी मुक्ति की जगह समूह की मुक्ति कामना अभिव्यंजित है। ऐसे अघोषित प्रगतिशील कवियों के काव्य के संदर्भ में यह कहना असंगत न होगा कि जो कवि या लेखक अपनी रचनाओं के द्वारा लोक-कल्याण या निर्धन वर्ग के चतुर्दिक विकास के उद्देश्य की पूर्ति में सक्रिय होता है, वह निश्चय ही प्रगतिशील है। चानालूर्स्की ने भी इसी मत का समर्थन किया है — "........ Everything that aids the development and victory of the proletariate is good; everything that harms it is evil." तात्पर्य यह कि आधुनिक हिन्दी कविता में मार्क्सवाद की स्वीकृति और सन् 1936 के प्रगतिशील लेखकों के सम्मेलन के पूर्व कृषक-मजदूर वर्ग और निर्धन जन के संघर्ष और उनके शोषण को व्यंजित करने की परम्परा स्पष्ट दिखलाई पड़ती है और यह काव्य परम्परा कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। प्रथम यह कि इन कविताओं में कृषक एवं मजदूर-वर्ग के संघर्ष का सहज चित्रण हुआ है। उस पर विचारधारात्मक दबाव न होने के कारण यांत्रिकता नहीं है। दूसरी विशेषता यह है कि इन कवियों की रचनाएँ देशभक्ति की भावनाओं से परिपूर्ण हैं और उसी देशभक्ति का एक हिस्सा शोषित पीड़ित जनता के संघर्ष और उसके उन्नयन का सहज स्वर है कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायगा कि प्रगतिशीलता की यह काव्यधारा बहुत पहले से ही प्रवहमान थी। श्री गया प्रसाद शुक्ल स्नेही की इन पंक्तियों में प्रस्तुत शोषण का यह चित्र क्या किसी प्रगतिवादी कवि की कविताओं से कम प्रगतिशील है :

"पतितों को ले गये लोग बेगार पकड़ कर।
जो कुछ बोले, ठीक कर दिया थप्पड़ जड़कर॥
बहुत गये चुपचाप, खाएँ क्या मार अकड़ कर।
हुआ छूटना कठिन, कठिन पंजे में पड़कर॥

सन् 1916 की इस कविता में शोषक वर्ग के पंजों में पड़े निर्धनों के शोषण की यह तस्वीर जितनी यथार्थवादी है, उतनी ही मार्मिक गुप्तजी रचित 'किसान' शीर्षक यह कविता द्रष्टव्य भी है—

जिस खेती से मनुज मात्र अब भी जीते हैं,
उसके कर्त्ता हमीं यहाँ आँसू पीते हैं!

× × ×

साह, महाजन, जमींदार, तीनों ठने।
वात्त, पित्त, कफ, सन्निपात जैसे बने॥
पन्द्रह दूनी तीस साह ने भी किये।
मौके पर ये दिये पुलिस-प्रभु ने लिये॥

आश्चर्य तो यह है कि ये कविताएँ सन् 1916 से 1930 तक के बीच लिखी गई हैं। जयशंकर प्रसाद के 'कानन-कुसुम' (1908 से 1917 तक की कविताओं का संग्रह) में भी कवि ने युवा पीढ़ी का, निर्धन और पीड़ित जन के उद्धार के लिए आह्वान किया है:

जो अछूत का जगन्नाथ हो,
कृषक करो का दृढ़ हल हो,
दुखियों की आँखों का आँसू
और मजूरों का कल हो।

'पथिक' के प्रणेता श्री रामनरेश त्रिपाठी ने भी आर्थिक वैषम्य का यथार्थवादी चित्र उकेरा है:

धधक रही सब ओर भूख की ज्वाला है घर-घर में,
मांस नहीं है, निरी साँस है, शेष अस्थिपंजर में।
अन्न नहीं है, वस्त्र नहीं है, रहने का न ठिकाना,
कोई नहीं किसी का साथी, अपना और बेगाना।

कहना न होगा कि प्रगतिशील होने के लिए कोई आवश्यक नहीं कि कवि या लेखक अपनी रचनाओं में बार-बार समाजवादी विचारों की दुहाई दे ही,

यदि वह शोषण-उत्पीड़न के विरुद्ध चल रहे जन-शक्ति के संघर्ष और उसके विभिन्न पक्षों का चित्रण करता है तो वह निश्चय ही प्रगतिवादी है।

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के काव्य में भी मिलने वाली प्रगतिशील चेतना किसी राजनीतिक विचारधारा या वाद के स्पष्ट प्रभाव का प्रतिफल नहीं है वरन् वह उनके कवि की मानवीयता की सहज-स्वाभाविक अभिव्यंजना है। उनकी ऐसी कविताओं का स्वर स्वर्ग लूटने की चीख-पुकार मचाने-वाले कवियों के समान गर्जन-तर्जन से ओत-प्रोत होने के बजाय मानवीय होने के कारण सान्द्र किन्तु प्रखर है। यहाँ हम उनकी प्रगतिशीलता के मानवीय आयामों की सोदाहरण व्याख्या करते हुए देखेंगे कि किस प्रकार हिन्दी आलोचना के दिग्गजों ने कविताओं से गुजरे बगैर किसी को छायावादी तो किसी को प्रगतिवादी ठहराया है जबकि कविताओं का तटस्थ मूल्यांकन कुछ दूसरा ही पक्ष उजागर करता है।

सन् 1939 में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का प्रथम कविता संग्रह 'रूप औ' अरूप' प्रकाशित हुआ, जिसके दो खण्डों में क्रमशः 1935 से '37 तक और 1938 से '39 तक के 101 गीत सम्मिलित हैं। इनमें लगभग दो दर्जन से अधिक कविताओं में कवि की प्रगतिशील चेतना के स्पष्ट दर्शन होते हैं। बाकी कविताओं में किशोर मन की प्रेमिल भावना के अन्तर्गत आशा-निराशा, सुख-दुःख की अनुभूतियों का मार्मिक वर्णन दिखलाई पड़ता है। लेकिन कई ऐसी कविताएँ हैं जिनमें जीवन के प्रति कवि की आस्था मुखर हुई है। उदाहरण के लिए 'अब यह सब सहना ही होगा' शीर्षक कविता में कवि जीवन-संघर्ष के ताप से छायावादी पलायन के बजाय उससे जूझने का संकल्प व्यक्त करता है :—

अब यह सब सहना ही होगा !
पार उतारे या कि डुबोए;
सुरसरि में बहना ही होगा !
रुकने पर था स्वर्ग मिल रहा,
बढ़ने की मेरी अभिलाषा,
यह न राह पूरी होने की,
मिट सकने की यह न पिपासा !
अंध - कूप हो या प्रकाश - गृह,
इस जग में ही रहना होगा !

—रूप औ' अरूप, पृष्ठ 75

कवि की अजेय जिजीविषा बार-बार व्यक्त होती है और वह अतीत की ओर लौटने की जगह भविष्योन्मुख हो निरन्तर बढ़ने में विश्वास रखता है—

सिन्धु मिलन की चाह न उतनी
मुझको तो बहते जाना है !
दो पुलिनों से बँधकर भी
कितनी स्वतंत्र है जीवन-धारा !
रोक रखेगी मुझको कबतक
पत्थर - चट्टानों की कारा ?
अपनी तुंग - तरंगों ही का
रहता इतना बड़ा भरोसा;
लौट - लौट कर मैं न देखता,
मुझको तो बहते जाना है !

—रूप औ'अरूप, पृष्ठ 44

नदी की प्रतीकात्मकता के माध्यम से व्यक्त यह संकल्प अपनी शक्ति और सामर्थ्य के प्रति कवि के प्रबल विश्वास का ही परिचायक है। लेकिन इन कविताओं के अलावा 'गई काटने गेहूँ अम्मा', 'पड़ा सूखा काठ', मिट्टी के हाथी-घोड़े', 'मत कूक, कोकिल-बाल री', 'जीना भी एक कला है', 'मानव भी देव हुआ करते', 'मेरी ज्वाल लाल', और 'क्यों अधिक आँसुओं पर ममता' शीर्षक कविताएँ कवि की प्रगतिशीलता के अनेक आयाम प्रस्तुत करती हैं। कवि ने 'मत कूक कोकिल-बाल री' की इन पंक्तियों में तरुण भारत की उस क्रान्तिकारी चेतना का आह्वान किया है, जो प्राचीन रूढ़ियों को जलाकर उज्ज्वल भविष्य के निर्माण हेतु प्रतिबद्ध है। यह निर्माण-बेला है, सतत् सक्रियता और संघर्ष का काल है, अभी मधुपों के मधु-गुंजार का समय नहीं आया—

हो न सकती बहुत देरी,
बज चली अब क्रान्ति भेरी !
चुप मधुप, यह मंजु गुंजन
का न मधुमय काल री।
जग गया जग, ज्योति जागृति
कर रही निर्मित नवल सृति,
जायेगा जल एक पल में
श्याम कुंज तमाल री !

'क्या पुरानी बीन में रत,
—कह रहा अब तरुण भारत
रूढ़ि को कर क्षार भारति !
उतर लेकर ज्वाल री !

कवि के अन्तर्मन में क्रान्ति की प्रतीक-ज्वाला निरन्तर अपनी लपटों से उसकी सृजनात्मकता को आलोकित करती रही है। तभी तो 'रूप-अरूप' की ही दूसरी कविता में कवि अपनी लाल ही नहीं, स्वर्णिम ज्वाला पर काली छाया (संशय, मोह और अज्ञान की छाया) नहीं डालने का अनुरोध करता है :—

मेरी ज्वाल लाल, स्वर्णिम,
इस पर काली छाया न करो !
बादल ! तुम मेरे नभ में
घिर-घिर फिर-फिर आया न करो !

आगे की पंक्तियों में कवि स्वतंत्रता की बलि-वेदी पर मर-मिटने वाले दीवानों की मस्ती का वर्णन करते हुए स्पष्ट कहता है :—

धू-धू कर जल रहीं चिताएँ साधों की, अरमानों की,
यह उजाड़ बस्ती है कुछ मस्तानों की, दीवानों की,
मिटीं न मिट चुकने पर भी जिनकी ऊँची-ऊँची लपटें,
और अभी तो शेष सभी हैं आहुतियाँ इन प्राणों की,
हँस-हँसकर जलने वालों पर
आँसू बरसाया न करो !

कवि क्रान्ति का पथ तिमिराच्छन्न करने वाली प्रतिगामी शक्तियों को ललकारता है कि उन्हें सत्य के लिए जल-जलकर मिटने वालों की शक्ति का अन्दाज नहीं है :—

देखी तुमने ज्योति कभी ओ अंधकार लाने वालो
माप सके नभ की असीमता ओ अग-जग छानेवालो
ज्योति जगाते जो जल-जलकर उनकी दृढ़ता जानी है ?
ओ पल भर घिर कर फिर तनिक हवा में उड़ जाने वालो !
मैं मिटने की साध लिए
मुझ पर ममता, माया न करो !

—रूप-अरूप, पृष्ठ 100

कवि की प्रगतिवादी दृष्टि का सुस्पष्ट प्रमाण "गई काटने गेहूँ अम्मा" और 'मिट्टी के हाथी घोड़े' जैसी कविताओं में देखा जा सकता है। 'गई काटने गेहूँ अम्मा' जैसी सर्वहारा वर्ग के जीवन की त्रासदी को मानवीय अनुभव के माध्यम से व्यंजित करने वाली कविताएँ हिन्दी में बहुत नहीं हैं। यह कविता समय के इतने लम्बे अन्तराल के बावजूद हमारी मानवीय सं दना को छूती और हमें अन्दर तक हिला पाती है तो इसका कारण इसका ओढ़ा हुआ जनवादी चेहरा नहीं बल्कि सहज रूप में मानवीय अनुभव की ईमानदार अभिव्यक्ति है। स्वाधीनता के 47 वर्षों बाद भी गाँवों और शहरों में मजदूरी करने वाले निर्धन स्त्री-पुरुष ईश्वर के भरोसे अपने नन्हें बच्चे को छोड़ मजदूरी करने जाने के लिए अभिशप्त हैं। इस कविता में मजदूर बाप बेगारी में पकड़ा गया है और बेचारी माँ गेहूँ काटने गई है। जेठ की तपती लू में सिर पर भारी बोझ लिए पसीने से लथपथ बाप सोचता है कि इस मिहनत के बदले वह घर क्या लेकर लौटेगा? सदियों से ज्ञान से वंचित किये जाने के बावजूद अब वह सोचने-समझने लगा है। उधर उसकी पत्नी गेहूँ काटती हुई संध्या की बेकली से प्रतीक्षा कर रही है कि उसे मजदूरी प्राप्त होगी। प्रसन्नता के साथ हँसिया चलाती वह अचानक उदास हो जाती है। शायद बच्चे की स्मृति उसे विकल बना देती है। समूची कविता से गुजरते हुए कोई भी संवेदनशील पाठक मर्माहत हुए बिना नहीं रह सकता :—

हँस-हँस हँसिया चला रही थी
अब क्यों तो कुछ खिन्न हुई है!
बच्चे की सुध की चोटों से
शायद छाती छिन्न हुई है!!

डँस कर साँप पताल में छिपा
शिशु का रक्त व्योम में फैला;
डूबा सूरज, हुई शाम,
उग गया एक तारा मटमैला।

आँखों में मोती भर पहुँचा
बाप, धूल के हीरे, माता
गाँठ चीर कर दाने
छाती छोड़ क्षीर था छलका जाता।

बाहर हीरे - मोती बिखरे,
भीतर लाल लहू का मूँगा।

उनके सुख में हाथ बटाता,
हा ईश्वर! पर बालक गूंगा।

—रूप - अरूप, पृष्ठ 30

जब कवि की प्रगतिशीलता मानवीय अनुभवों की अभिव्यक्ति में व्यक्त होती है तो उसका प्रभाव नारेबाजी के माध्यम से व्यंजित होनेवाली प्रगतिशील कविताओं की अपेक्षा कहीं अधिक स्थायी और व्यापक होता है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री जी कविताएँ विचारों से नहीं, अनुभव या संवेदना से रचते हैं, जिससे उनमें चिरस्थायी होने के साथ ही हमें विचलित करने की भी अद्भुत क्षमता है। आज की प्रगतिशील कविता का बड़ा हिस्सा अखबारी कतरनों की मानिंद बासी इसीलिए हो जा रहा है कि वे मार्क्सवादी विचारों को ही कविता के रूप में प्रस्तुत करती हैं। काव्य-सृजन के पीछे कोई 'विजन' या लक्ष्य प्रेरक हो सकता है मगर जब विचारधारा उसका अथ से इति तक नियामक बन जाती है तो कविता कविता नहीं रह जाती। इस दृष्टि से प्रगतिशील आन्दोलन की उपलब्धि वे ही रचनाएँ हैं, जिनमें कवियों ने प्रगतिशील दृष्टि की सहज प्रेरणा से सदियों से वंचित जनों के शोषण, दुःख और यातना के साथ पूँजीपति वर्ग की क्रूरता का संवेदना संवलित स्वाभाविक चित्र उकेरा है। कवि आचार्य जानकीवल्लभ ने 'मिट्टी के हाथी घोड़े' शीर्षक कविता में भी उस अनुभव को सामने रख भर दिया है, जो हमारे शोषक समाज की कठोर वास्तविकता है—

मिट्टी के हाथी - घोड़े—

मां देने आती, लड़ पड़ते,
वह लड़के थे थोड़े।
बड़े-बड़े थे उनके बाल,
गोल, गुलगुले, गंदे गाल,

चलते-फिरते, आते-जाते
बाबू के बेटों के—
हँसकर सहने के आदी थे
घूँसे, चप्पत, कोड़े।

—रूप - अरूप, पृष्ठ 34

क्या आज भी गरीबों के बच्चे अमीर बच्चों के हाथी-घोड़े बनने और उनके लात-जूते खाने को अभिशप्त नहीं हैं? जब तक समाज में आर्थिक

विषमता की खाई चौड़ी होती रहेगी, निर्धन वर्ग के बच्चें मिट्टी के हाथी-घोड़े के खिलौनों से खेलने के बजाय धनी वर्ग के बच्चों के लिए खिलौने बनते रहेंगे। इन्हीं कविताओं के रचना-क्रम में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने एक अत्यन्त मार्मिक कविता लिखी थी, जो मानवीय संवेदना और प्रगतिशील चेतना की कलात्मक व्यंजना का अन्यतम उदाहरण है। कविता का शीर्षक है "तेरा बाप है बीमार !" मजदूर स्वयं बीमार है और उसकी जगह उसकी पत्नी खेत में काम करने न जाये तो बीमार पति की दवा-दारू तो क्या एक रोटी भी मय्यसर न हो। बेचारी गर्भवती पत्नी के सामने इसके सिवा कोई चारा नहीं कि वह काम करने जाये। तिस पर विवशता यह कि आखिरी महीना चल रहा है। वह खेतों में काम करने जाती है और कठिन परिश्रम करते समय ही उसके बच्चा हो जाता है ! इतनी छोटी सी कविता में कवि ने अन्दर तक हिला देनेवाले इस मारक अनुभव की ऐसी बेधक व्यंजना प्रस्तुत की है कि पत्थर-हृदय व्यक्ति भी सहज ही द्रवित हो जाता है।

भारतीय समाज की प्रगतिशीलता केवल वाचिक या शाब्दिक रही है, हम सबको सुखी और सबका कल्याण चाहते हैं लेकिन जब कभी यह प्रश्न उठता है, हमारी व्यक्तिवादिता शब्द को कर्म में रूपान्तरित नहीं होने देती, कभी प्रतिभा और योग्यता की आड़ लेकर वंचितों-शोषितों को उनका मानवीय हक नहीं देते तो कभी कुछ दूसरे बहाने लेकर उन्हें संघर्ष से विमुख कर देते हैं। इसीलिए कवि कहता है—सच है कि तुम अपनी प्रतिभा और योग्यता से अव्वल आए थे मगर इसका यह अर्थ नहीं कि सब कुछ पर तुम्हारा ही अधिकार हो, वैसे सदियों से खाते-खाते तुम्हारा पेट इतना बड़ा है कि दूसरों का हक तो क्या देश भी हजम कर जाओ तो कोई आश्चर्य नहीं। कवि मानवीय भावना से अनुप्राणित हो कहता है—केवल तुम्हीं नहीं हो, कुछ दूसरे भी हैं, जो प्यास से व्याकुल हैं —"और कई प्यासे, इनका भी सूखा हुआ गला है।"

'तीर तरंग' की दो कविताएं कवि की प्रगतिशीलता की स्पष्ट अभिव्यक्ति हैं। 'निज युग का सम्मान करें हम' शीर्षक कविता में कवि ने एक ओर जर्जर रूढियों के अवसान की प्रेरक बात कही है जिसे पढ़ते हुए निराला की कविता 'जला दे जीर्ण-शीर्ण प्राचीन' या पंत की 'द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र' की याद आती है तो दूसरी ओर सदियों से भूखे-थके दलित वर्ग की यातना का मार्मिक चित्र भी है, जिनकी तिमिराच्छादित पलकों में प्रातः की स्वर्णिम किरणों के सृजन की व्याकुलता बिम्बित हुई है :

निज युग का सम्मान करें हम !
नित नव वसन बदलती संसृति
परिवर्त्तन ही प्रकृति की प्रकृति
यह प्रत्यक्ष प्रमाण मानकर
अन्ध - रूढ़ि - अवसान करें हम !
वे जो भूखे थके पड़े हैं
खोद कब्र खुद विवश गड़े हैं
उनकी तिमिर - ढँकी पलकों में
किरण-स्वप्न-निर्माण करें हम।

तीर-तरंग, 91

धर्म, जाति, भाषा और विचारों की विषमता से उत्पन्न हिंसक कोलाहल में कवि की एकता की यह भावना कम जनवादी नहीं है—

गूँजे स्वर अवनी-अम्बर भर
आज सम्मिलित गान करें हम !

स्मरणीय है कि यह कविता भी 2 फरवरी सन् 41 की रचना है। दूसरी कविता में कवि समतामूलक जीवन की मार्क्सवादी अवधारणा के अनुरूप ही श्रम के उचित मूल्य को आवश्यक मानते हुए आदर्श मानवीय समाज की कल्पना को मूर्त करने की सहज इच्छा व्यंजित की है। सचमुच यह हिन्दी आलोचकों की पक्षधरता स्पष्ट रही है कि उन्होंने ऐसी प्रगतिशील कविताओं पर भी ध्यान न देकर किशोर मन की प्रेमिल भावनाओं के गीतों के सदर्भ में आचार्य जानकीवल्लभ जी का मूल्यांकन किया है। कवि ने स्वयं अभाव-ग्रस्त जीवन का त्रासद नरक जिया है और पग-पग पर अपमान और उपेक्षा का हलाहल पिया है, तभी तो वह कहने के लिए विकल हो उठा है :

हो न हमारी मरी जिन्दगी !
कर्म, कर्म, फिर कर्म करें;—हो—
भूख-प्यास से भरी जिन्दगी ?
श्रम का उचित मूल्य हम पावें
कुछ विश्राम-समय में गावें,
हम भ्रम से भी नहीं चाहते;
बने स्वर्ग की परी जिन्दगी !

निस्सन्देह भारत की विपन्न और निर्धन जनता की यह चाहना मानवीय ही नहीं, स्वाभाविक भी है। कवि की आदर्श जीवन की यह कामना भी देखें जिसके साकार होने पर सत्य, सुख, शान्ति और प्रेम का शीतल निर्झर निरन्तर प्रवाहित होगा—

द्रोह-कलह-गिरि-हृदय भेद कर
स्वार्थ-सघन वन काट, छेद कर
रहे सत्य, सुख, शान्ति, प्रेम—
झर-झर झरती निर्झरी जिन्दगी।
हो न हमारी मरी जिन्दगी।

(तीर तरंग पृष्ठ 93) रचना काल 29-2-41

जिस कवि के प्रत्येक संग्रह में मानवीय संवेदनों से परिपुष्ट प्रगतिशील कविताएँ हों, उसे खामखाह छायावादी या अध्यात्मवादी कहकर आगे बढ़ जाना निस्सन्देह हमारी आलोचना-प्रणाली की सीमा है। यह कवि का काम नहीं कि वह अपनी कविताएँ लेकर आलोचकों के दरवाजे-दरवाजे जाय और बतलाए कि देखो भाई, मैंने ऐसा भी लिखा है, इसका भी मूल्यांकन करो। यदि साहित्य-कर्म साधना है तो कवि का दायित्व इतना भर है कि वह ईमानदारी के साथ अपने जीवनानुभव को व्यक्त करे। यहाँ यह खेद पूर्वक बताना पड़ रहा है कि हिन्दी में ऐसे भी कवि लेखक हुए हैं, जिन्होंने साहित्य सृजन के साथ-साथ उसके प्रचार-प्रसार के लिए नैतिकता के सभी मान्य-मूल्यों का अतिक्रमण करते हुए सक्रियता दिखलायी है। क्या यह कवि की सीमा है कि वह अपनी कविता पुस्तक पर स्वयं लिखकर किसी बड़े आलोचक के नाम से पत्रिकाओं में नहीं छपवाता और पुरस्कारों के लिए पुरस्कार देनेवाली समितियों तक पहुँच कर पैरवी नहीं करता? तात्पर्य यह कि 'रूप-अरूप' और 'तीर-तरंग' के बाद जानकीवल्लभ जी के तीसरे संग्रह शिप्रा' में भी प्रगतिशीलता है मगर आलोचकों ने उस पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। 'अश्वत्थ' शीर्षक कविता में कवि की व्यापक प्रगतिशील दृष्टि उभरकर सामने आई है। 'अश्वत्थ' के प्रतीकार्थ द्वारा कवि ने बढ़ रही व्यक्तिवादिता और घोर स्वार्थपरता के बीच यह व्यापक मानवीय संदेश दिया है:

"पशुओं को दोगे? हरी पत्तियाँ तोड़ो,
हो श्रान्त पथिक? मत शीतल छाया छोड़ो।"
गाएँ चरती हैं ग्वाल-बाल! तुम आओ,
श्रम-बिन्दु पोंछ टुक वंशी यहाँ बजाओ।"

"इंधन की तुम्हें जरूरत ?"—डालें काटो,
मत रार बढ़ाओ, भाग बराबर बांटो।"

(शिप्रा, पृ० 20)

दरअस्ल "अश्वत्थ" एक सशक्त प्रतीक-कविता है जिसके सृजन के मूल में कवि की व्यापक दृष्टि है, जो मनुष्य को वृक्ष के समान निःस्व हो सबके लिए जीवन समर्पित करने की प्रेरणा देती है :

तरु भी होता है क्या स्वार्थी मानव-सा इससे तुम बरतो देव या कि दानव सा

यह क्या अपना ? इसका सर्वस्व तुम्हारा,
नर बड़ा, स्वार्थ हित घटा, न जीता, हारा !

(शिप्रा, पृष्ठ 2')

कवि-कर्म के संदर्भ में एक उल्लेखनीय कविता राजकवि के प्रति है, जिसमें एक ऐसे राजकवि का चरित्र उजागर हुआ है, जो पराधीन भारत में ब्रिटीशसत्ता का पुजारी था और स्वतंत्र भारत में नेहरू परिवार का स्वामी भक्त।कवि-कर्म की गरिमा के विपरीत राजसता के चारण भी 'युगचारण' का गौरव उसी तरह पाने लगे जिस तरह ब्रिटीश सत्ता के दलाल रायबहादुर भी स्वतंत्र भारत में देशभक्त हो नहीं बने, पद्म विभूषित भी हो उठे। इससे यह नहीं प्रमाणित होता कि कोई ब्रिटीश सत्ता का तरफदार सचमुच देशभक्त हो सकता है। यह महज इस तथ्य का परिचायक है कि ब्रिटीश सता से लेकर कांग्रेसी सत्ता तक—सत्ता का एक चरित्र है, वह चाटुकारों को ही अपना कवि-लेखक मानती है। यह सचमुच हिन्दी काव्य का विरोधाभास है कि राजकवि, जिसका धरती और धरती वासियों से दूर का भी नाता नहीं, जो राजधानी की स्वप्न-नगरी के चाक-चिक्य पर ही मोहित रहा, वही 'मिट्टी की ओर' चलने की बात करता है। आचार्य जानकीवल्लभ जी ने सन् 47 में ऐसे बहुरूपिये कवि के चेहरे से नकाब हटा दिया था :

जो पगडंडी मिट न गई, बन गई राजपथ,
पथिक, तुम्हारी यात्रा का उससे होता अथ।
आओ, साधारण जन तुम्हें नहीं घेरेंगे,
राजघराने अहा न, तुमसे मुँह फेरेंगे।
देखो उनकी आवभगत नत, पूजा-अर्चा,

और रहो करते उनकी जीवन भर चर्चा।

तरसो उनका बहु-विलास उल्लास हास लख,
हरसो मिट्टी छोड़ निष्पलक रख नभ में चख।
बहा-बहा नर-रुधिर बने फिर-फिर जो नरपति
उन पर करो निछावर झर-झर अपनी मति, गति।
और रुधिर की धार बही जिस हत जनता की
वह बह गई, रही न जगह उस पर ममता की।
नींव खोदकर खाक देखना निरी मूर्खता—
जबकि कर रहे सौध-शिखर अम्बर से समता!
पारावार अपार पार करते आओ तुम,
गिरि-नदियों, नालों में मन मत भरमाओ तुम!
एक विहंगम दृष्टि डाल लो नीचे, भू पर,
पर उड़ना तो सम्भव केवल, ऊपर, ऊपर!

(शिप्रा, पृष्ठ 85)

यह पूरी कविता उद्धृत करने का लोभ इसलिए जब्त नहीं कर सका। यह एक अवसरवादी ही नहीं, 'व्यक्तिवादी कवि के प्रति सन् 47 में की गई भविष्यवाणी भी है, जो पैंतरे बदल-बदल कर कभी ब्रिटिश हुकूमत से लाभ पाता रहा तो कभी स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कांग्रेसी शासन का प्रशस्ति गायक बनकर राज्यसभा की सदस्यता से लेकर हिन्दी सलाहकार के सिंहासन तक पहुँचता रहा। विदेशी और देशी शासन के पहिये के नीचे निरन्तर कुचली जानेवाली जनता के दुख दर्दों की याद उसे कभी नहीं रही, वह तो रेशमी नगर में रहकर 'उर्वशी' के जरिये पुरूरवा का रूप धारण कर प्रणय निवेदित करने लगा—

उर्वशी मैं तुम्हारे
रक्त के कण में समाकर
प्रार्थना के गीत गाना चाहता हूँ।

और 'उर्वशी' की सुन्दरता से नजर हटी तो नेहरू परिवार के प्रति चरम भक्ति प्रदर्शित करने के लिए 'लोक देव नेहरु' की रचना की। कभी-कमार 'भारत का रेशमी नगर' जैसी कविता लिखी भी तो इसलिए कि सत्ताधारी आतंकित रहे और उसे वह सब राजकीय सुख सुविधा जीवन पर्यन्त मिलती रहे। 'राजकवि के प्रति' शीर्षक कविता और यशपाल

की प्रसिद्ध कहानी 'मक्रील में चित्रित कवि-चरित्र में अद्‌भुत समानता है यशपाल और आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने अवसरवादियों द्वारा कवि कर्म के गर्हित इस्तेमाल की अच्छी पोल खोली है। कवि न राष्ट्रकवि होता है न राज कवि होता है, कवि सिर्फ कवि होता है—अपने समय के सत्य का तटस्थ द्रष्टा। तटस्थ अर्थात् न वह किसी सत्ताधारी का चारण होता है और न अपने वैयक्तिक आग्रहों का पुजारी, वह मनुष्य मात्र का प्रवक्ता होता है, इसलिए उसे उन्हीं अनुभवों को अपनी रचना में मूर्त्त करना पड़ता है, जो सच्चे हैं और जिनकी अभिव्यक्ति मनुष्यजाति के पक्ष में है। वह अपने इस गुरुतर दायित्व के निर्वाह के क्रम में रचना-कर्म को कलंकित करने वालों को 'एक्सपोज' करना नहीं भूलता। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने राजकवियों की इस बिरादरी पर 'खामोश आवाज' और 'विहंग के प्रति' शीर्षक कविताओं में भी तीखा व्यंग किया है। राष्ट्रकवि के गौरव से मंडित कवि ने ब्रिटीश सरकार द्वारा गठित 'नेशनल वार फ्रन्ट' के कवि के रूप में कार्य किया था और देश की स्वतंत्रता आने को हुई तो वह देश भक्ति के गीत भी गाने लगे। देश और जनता के प्रति समर्पित कवि आचार्य जानकीवल्लभ का यह आक्रोश उन सभी संवेदनशील रचनाकर्मियों का आक्रोश है, जो साहित्य को व्यापार नहीं, जीवन-मूल्यों की अभिव्यक्ति एवं देश और जनता की रक्षा का पवित्र साधन मानते हैं :

गद्दारी की नहीं देश से!
पर इससे क्या?
देशभक्ति और गद्दारी तो साथ-साथ चल सकती थी,
मैं विदेशियों का होता जासूस,
राजदण्ड औ राजछत्र के संरक्षण में—
उपजा सकता था जनता के खेतों में साहित्य

(संगम, पृष्ठ 20)

अपने जीवन-कर्म और रचना-कर्म के बीच गहरी खाई वाले कवि के काव्य की असलियत उजागर करते हुए आचार्य जानकीवल्लभ जी ने लिखा है :

भारी भरकम भाव चाव से कौन चाहता ?
हल्की-फुल्की, चिकनी - चुपड़ी
हुई-अनहुई,
अखबारी, कतवारी बातें सारी—
मैं परोस दे सकता था प्यारी जनता के आगे !
और नहीं तो नारे देता गला-फाड़ जोशो खरोश के !
और तराने कुर्बानी के गा सकता था रहस-विहँस कर !
नया जमाना, सुना शहीदों का है।
और शहादत के मानी हैं ऐशो इशरत;
सोहरत औ' आराम, चैन की वंशी।

(संगम, पृष्ठ 20)

'विहग के प्रति' कविता में कवि ने और भी तीक्ष्ण व्यंग किए हैं। जीवन के यथार्थ से कटा हुआ कवि, जिसे अपने काव्य द्वारा मानव समाज को कुछ देने के बजाय उससे केवल लेना है, वह तो जीवन-संघर्ष के कोलाहल से दूर निर्जन-वन उपवन में ही गायेगा और अपने जानते तरह-तरह की कलाबाजी दिखलाकर (कैसे-कैसे स्वर भरते हो सूनेपन में) अपना कवि-कर्म सार्थक करेगा। ऐसे कवि को तो कुछ ऐसा गाना चाहिए जिससे कुछ असाधारण घटित हो और वह रातोंरात प्रचार के रथ पर चढ़कर सफलता की काव्य लक्ष्य (पद, प्रतिष्ठा और ऐश्वर्य) प्राप्त करले—

कुछ ऐसा गाते, छा जाता घोर अँधेरा,
उठती आँधी, औ उड़ जाता रैन-बसेरा।
लगती होड़ अपंग हवा से हार-जीत की,
मच जाती तब धूम तुम्हारे क्रान्ति-गीत की !
क्रान्ति-गीत की धूम, नाम भी औ प्रसार भी !
मारुत-सुत-सी पंखिल गति, गति का प्रचार भी !
—ऐसा गाते, फुदक-फुदक कर कुछ गा जाते !
तरु तर होते लोग, डाल पर तुम छा जाते !!

(संगम, पृष्ठ 22)

तात्पर्य यह कि राष्ट्रीयता से प्रगतिशीलता तक की अपनी यात्रा में जिन कवियों ने साहित्य द्वारा अपनी वैयक्तिक आकांक्षाओं की पूर्ति ही की, कभी कोई संघर्ष नहीं किया और न ही कभी देश के स्वाधीनता-संग्राम में लाठियाँ खायी या जेल गए, उनके परिप्रेक्ष्य में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का काव्य राष्ट्रीय ही नहीं, प्रगतिशील भी है। सम्पूर्ण प्रगतिशील कविता में उस युग में (47) बंधुआ मजदूर की समस्या पर शायद ही किसी कवि ने कविता लिखी हो, आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने 'मुंशी' शीर्षक कविता में बँधुआ मजदूर की विवशता का मार्मिक चित्र खींचा था। उसकी दयनीयता का यह मार्मिक चित्र अविस्मरणीय है :

क्रीत जन-मजदूर मुंशी है हमारा
ढोर, इन्धन, सस्य-सम्पत् का सहारा

लौह-सा काला, चलित चट्टान सा-तन
और मन उसका कि सावन भाद्र का घन
स्कन्ध तक लहरे चिकुर उद्दाम श्यामल
स्वेद धूल पुआल भरकर भी विमल-तल !

जेठ की लू फिसलती नंगे बदन से
फेरता खपरैल रहता मगन मन से
मुसलधार अपार वर्षा हो घुमड़कर
रोपता वह धान कीचड़-बीच गड़कर

ठंढ से सिकुड़ा पहुँचता भोर होते
अचकचा कर जाग जाते ढोर सोते;
इस तरह हर वक्त 'ड्यूटी' पर डटा है,
क्या सुनाता ? बोलता कम, जो रटा है !

है मगर तकदीर उसकी बहुत खोटी
खा न पाता बिहँस दोनों जून रोटी

(बाललता, पृ० 66)

ऐसी सैकड़ों प्रगतिशील कविताओं के सर्जक आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने अपनी कहानियों में भी अपनी प्रगतिशील दृष्टि का परिचय दिया है। सन् 35 से 45 तक के एक दशक में उन्होंने पचपन कहानियाँ लिखी

थीं। कई कहानियों में उनकी प्रगतिशीलता स्पष्ट रूप में व्यंजित हुई है। 'बागमती के किनारे का नायक रामचन्द्र ब्राह्मण है और अपनी प्रतिष्ठित छवि के बावजूद अविवाहित रहने के दर्द से मुक्त नहीं हो पाता। वह 'संसार की सर्वश्रेष्ठ विद्या, सर्वश्रेष्ठ कला एक मात्र चरित्र' को मानता है। लेकिन जब एक उसका समवयस्क घरघूमन पाण्डेय गरीब बाँभनी कहकर एक चुहिया सी मलाहिन को व्याह लाता है तो रामचन्द्र की यह सोच कहीं न कहीं लेखक के संस्कारों को भी विम्बित करती है क्योंकि वह अंत में एकदम से प्रगतिशील हो उठता है—"आखिर जात देकर शादी करने से तो कवांरा मर जाना ही अच्छा है! व्याह हो तो अपनी जात में, उच्च कुल में, सदाचारिणी से, नहीं तो अनपढ हो या लिखी पढ़ी, भठिहारिनों की कहां कमी है।" (बांसों का झुरमुट पृष्ठ 40) जो व्यक्ति समाज से इसलिए असंतुष्ट है कि उसने उसके सदाचार की सरलता को कोई महत्व नहीं दिया वह जातिवादी रुढियों की संकीर्णता से इस सीमा तक क्यों कर आक्रान्त है, वह इतना अधिक कर्मकाण्डी क्यों बना हुआ है? और अचानक अंत में ऐसा विद्रोह कर बैठता है, जो न तो सहज है और न ही स्वाभाविक। 'बागमती के किनारे' पहुंचा रामचन्द्र बाढ में दहकर आई एक क्वांरी लड़की के शव को देखकर इतना दुखित होता है कि 'घर पहुंचकर ठाकुर जी की, गंगाजल से धुली मूर्तियां पनाले में फेंक दी। ....कंठी तोड़ दी। रामायण और शुकसागर में आग लगा दी।" (बांसों का झरमुट, पृष्ठ 44) वर्णन की अस्वाभाविकता को छोड़ दें तो यह हृदय-परिवर्तन निश्चय ही प्रगतिशील दृष्टि का परिचायक है।

'नेता' शीर्षक अत्यन्त छोटी-सी कहानी में कथाकार ने समाजवाद का राग अलापने वाले तथाकथित प्रगतिशील नेताओं पर तीव्र प्रहार किया है, जो धन्ना-सेठों से मिलकर ऐश-मौज करते हैं। रायबहादुर के भवन-निर्माण में लगे मजदूरों में—एक सुधुआ ईंटे लेकर बांस की सीढ़ियों पर चढ़ने के क्रम में गिर कर मर गया। रिश्ते में उसके भाई को सेठजी ने कुछ दे-दिलाकर और उसकी पत्नी को दस रुपये देकर सब कुछ अपनी तरफ कर लिया। कुछ दिनों बाद सेठ अपनी कार पर एक दावत के बाद अपने दो नेता साथी के साथ गाँव की सैर को निकला तो उसे नाचते हुए कुछ स्त्री-पुरुष मिले, जिनमें सुधुआ की पत्नी और उसका देवर भी था। लेखक यहाँ उस पीले वस्त्रों में सुसज्जित जोड़ी को नाच में शामिल करके यह कहना चाहता है कि निम्न जातियों में विधवाएं अपने देवर आदि से विवाह कर लेती हैं। प्रश्न है कि

समाज की आँखों में धूल झोंककर विधवा के नाम दैहिक अनाचार को बढ़ावा देना उचित है या कि विवाह करके स्वाभाविक जीवन जीना ? लेखक की प्रगतिशीलता अवश्य ही उन नेताओं पर किये गये इस व्यंग्य में व्यंजित हुई है – हमलोग सोच रहे हैं कि इस गाँव से चन्दा वसूला जाय, यहाँ भी एक छोटी-मोटी मीटिंग की जाय। इस समय कई-कई प्रगतिशील पत्र निकल रहे हैं, उनके लिए भी तो मसाले चाहिए, हमारी रोज-रोज की Activity का रेकार्ड रहना चाहिए; हमलोग काँग्रेस जैसी मुर्दा-संस्था के लीडर तो हैं नहीं कि छठे-छमाहे कभी कोई काम कर लिया करें। (बाँसों का झुरमुट, पृष्ठ 55)

'पंडितजी' कहानी ब्राह्मणों के प्रति समाज की—विशेष प्रताड़ित वर्ग की उस अंधी श्रद्धा की अभिव्यक्ति है, जो शोषण का मुख्य कारण है। घनघोर वर्षा, बिजली की कड़क और भयंकर बाढ़ में नाई का लड़का जगमोहन अंधेरी रात में सुरहर नदी तैरकर उस पार तम्बाकू लाने जाता है और सब उस घनघोर वर्षा में उसे छोड़कर चल देते हैं। उसके साथी तपेश्वर को महसूस होता है कि वह डूब गया तो वह पंडित बुद्धिदीन को सूचित करता है। पंडितजी की हृदयहीनता इन शब्दों में फट पड़ती है—"साला डूबा तो डूबा अपनी करनी से, नटखट को आज नहीं तो कल डूबना ही था। उफ, दो पैसे भी मेरे ले डूबा। तुझे बस उसीकी फिक्र है!" यह बात अलग है कि उसी समय जगमोहन ठंढा से काँपता खैनी लिए आ खड़ा होता है। यह कहानी छोटी किन्तु अपने प्रभाव में अत्यन्त प्रखर है। इस संग्रह की एक मार्मिक कहानी 'ईश्वर' है, जिसमें कथाकार ने एक समृद्ध और ब्राह्मण के 9 वर्षीय पुत्र नरेन और भंगी के बेटे – ईश्वर के सहज स्वाभाविक प्रेम के बीच आ खड़ी जातिवादी दीवार का अत्यन्त प्रभावी चित्र खींचा है। यह कहानी मानवीय संवेदना से युक्त होने के कारण अपनी प्रगतिशीलता को बड़े ही कलात्मक रूप में व्यंजित करती है। कथाकार ने वर्णवादी समाज-व्यवस्था की घृणा पर आधारित संकीर्णता का जिस तल्ख तेवर के साथ वर्णन किया है वह निस्सन्देह स्मरणीय है। यहाँ कोई प्रगतिवादी दिखाई पड़ने की ललक या साहित्यिक फैशन का अनुसरण नहीं है। सन् 36 में लिखी गई कहानी का सच सन् 94 में भी नहीं बदला है। मंडल-आयोग की घोषणा ने हमारे समाज के प्रगतिशील चेहरे को बिलकुल बेनकाब कर दिया है। 'ईश्वर' कहानी के ब्राह्मण वैद्य को आलीशान मकान, नौकर-चाकर, बाग-बगीचे सबकुछ हैं मगर कुछ नहीं है तो सिर्फ मानवीयता नहीं है। तभी तो भंगी के बेटे के साथ खेलने—मित्रता करने पर वह अपने पुत्र नरेन

थीं। कई कहानियों में उनकी प्रगतिशीलता स्पष्ट रूप में व्यंजित हुई है। 'बागमती के किनारे का नायक रामचन्द्र ब्राह्मण है और अपनी प्रतिष्ठित छवि के बावजूद अविवाहित रहने के दर्द से मुक्त नहीं हो पाता। वह 'संसार की सर्वश्रेष्ठ विद्या, सर्वश्रेष्ठ कला एक मात्र चरित्र' को मानता है। लेकिन जब एक उसका समवयस्क घरघूमन पाण्डेय गरीब बॉभनी कहकर एक चुहिया सी मलाहिन को व्याह लाता है तो रामचन्द्र की यह सोच कहीं न कहीं लेखक के संस्कारों को भी बिम्बित करती है क्योंकि वह अंत में एकदम से प्रगतिशील हो उठता है—"आखिर जात देकर शादी करने से तो कवाँरा मर जाना ही अच्छा है! व्याह हो तो अपनी जात में, उच्च कुल में, सदाचारिणी से, नहीं तो अनपढ हो या लिखी पढ़ी, भठिहारिनों की कहाँ कमी है।" (बाँसों का झुरमुट पृष्ठ 40) जो व्यक्ति समाज से इसलिए असंतुष्ट है कि उसने उसके सदाचार की सरलता को कोई महत्व नहीं दिया वह जातिवादी रुढियों की संकीर्णता से इस सीमा तक क्यों कर आक्रान्त है, वह इतना अधिक कर्मकाण्डी क्यों बना हुआ है? और अचानक अंत में ऐसा विद्रोह कर बैठता है, जो न तो सहज है और न ही स्वाभाविक। 'बागमती के किनारे' पहुँचा रामचन्द्र बाढ में दहकर आई एक क्वाँरी लड़की के शव को देखकर इतना दुखित होता है कि 'घर पहुँचकर ठाकुर जी की, गंगाजल से घुली मूर्तियाँ पनाले में फेंक दी। ………… कंठी तोड़ दी। रामायण और शुकसागर में आग लगा दी।" (बाँसों का झरमुट, पृष्ठ 44) वर्णन की अस्वाभाविकता को छोड़ दें तो यह हृदय-परिवर्तन निश्चय ही प्रगतिशील दृष्टि का परिचायक है।

'नेता' शीर्षक अत्यन्त छोटी-सी कहानी में कथाकार ने समाजवाद का राग अलापने वाले तथाकथित प्रगतिशील नेताओं पर तीव्र प्रहार किया है, जो धन्ना-सेठों से मिलकर ऐश-मौज करते हैं। रायबहादुर के भवन-निर्माण में लगे मजदूरों में—एक सुधुआ ईंटे लेकर बाँस की सीढ़ियों पर चढ़ने के क्रम में गिर कर मर गया। रिश्ते में उसके भाई को सेठजी ने कुछ दे-दिलाकर और उसकी पत्नी को दस रुपये देकर सब कुछ अपनी तरफ कर लिया। कुछ दिनों बाद सेठ अपनी कार पर एक दावत के बाद अपने दो नेता साथी के साथ गाँव की सैर को निकला तो उसे नाचते हुए कुछ स्त्री-पुरुष मिले, जिनमें सुधुआ की पत्नी और उसका देवर भी था। लेखक यहाँ उस पीले वस्त्रों में सुसज्जित जोड़ी को नाच में शामिल करके यह कहना चाहता है कि निम्न जातियों में विधवाएँ अपने देवर आदि से विवाह कर लेती हैं। प्रश्न है कि

समाज की आँखों में धूल झोंककर विधवा के नाम दैहिक अनाचार को बढ़ावा देना उचित है या कि विवाह करके स्वाभाविक जीवन जीना ? लेखक की प्रगतिशीलता अवश्य ही उन नेताओं पर किये गये इस व्यंग्य में व्यजित हुई है – हमलोग सोच रहे हैं कि इस गाँव से चन्दा वसूला जाय, यहाँ भी एक छोटी-मोटी मीटिंग की जाय। इस समय कई-कई प्रगतिशील पत्र निकल रहे हैं, उनके लिए भी तो मसाले चाहिए, हमारी रोज-रोज की Activity का रेकार्ड रहना चाहिए; हमलोग काँग्रेस जैसी मुर्दा-संस्था के लीडर तो हैं नहीं कि छठे-छमाहे कभी कोई काम कर लिया करें। (बाँसों का झुरमुट, पृष्ठ 55)

'पंडितजी' कहानी ब्राह्मणों के प्रति समाज की—विशेष प्रताड़ित वर्ग की उस अंधी श्रद्धा की अभिव्यक्ति है, जो शोषण का मुख्य कारण है। घनघोर वर्षा, बिजली की कड़क और भयंकर बाढ़ में नाई का लड़का जगमोहन अंधेरी रात में सुरहर नदी तैरकर उस पार तम्बाकू लाने जाता है और सब उस घनघोर वर्षा में उसे छोड़कर चल देते हैं। उसके साथी तपेश्वर को महसूस होता है कि वह डूब गया तो वह पंडित बुद्धिदीन को सूचित करता है। पंडितजी की हृदयहीनता इन शब्दों में फट पड़ती है—"साला डूबा तो डूबा अपनी करनी से, नटखट को आज नहीं तो कल डूबना ही था। उफ, दो पैसे भी मेरे ले डूबा। तुझे बस उसीकी फिक्र है!" यह बात अलग है कि उसी समय जगमोहन ठंढा से काँपता खैनी लिए आ खड़ा होता है। यह कहानी छोटी किन्तु अपने प्रभाव में अत्यन्त प्रखर है। इस संग्रह की एक मार्मिक कहानी 'ईश्वर' है, जिसमें कथाकार ने एक समृद्ध और ब्राह्मण के 9 वर्षीय पुत्र नरेन और भंगी के बेटे – ईश्वर के सहज स्वाभाविक प्रेम के बीच आ खड़ी जातिवादी दीवार का अत्यन्त प्रभावी चित्र खींचा है। यह कहानी मानवीय संवेदना से मुक्त होने के कारण अपनी प्रगतिशीलता को बड़े ही कलात्मक रूप में व्यंजित करती हैं। कथाकार ने वर्णवादी समाज-व्यवस्था की घृणा पर आधारित संकीर्णता का जिस तल्ख तेवर के साथ वर्णन किया है वह निस्सन्देह स्मरणीय है। यहाँ कोई प्रगतिवादी दिखाई पड़ने की ललक या साहित्यिक फैशन का अनुसरण नहीं है। सन् 36 में लिखी गई कहानी का सच सन् 91 में भी नहीं बदला है। मंडल-आयोग की घोषणा ने हमारे समाज के प्रगतिशील चेहरे को बिलकुल बेनकाब कर दिया है। 'ईश्वर' कहानी के ब्राह्मण वैद्य को आलीशान मकान, नौकर-चाकर, बाग-बगीचे सबकुछ हैं मगर कुछ नहीं है तो सिर्फ मानवीयता नहीं है। तभी तो भंगी के बेटे के साथ खेलने—मित्रता करने पर वह अपने पुत्र नरेन

को फटकारते हैं—"भंगी का बेटा ? अबे ईश्वर के बच्चे, तो तुझे यहाँ बुलाया किसने ? मेरे पूजा के कमरे को तूने पाखाना समझ रखा है क्या ? आखिर अन्दर कैसे पिल पड़ा ? और नरेन को छू-छूकर खेलता है तो ? बस सत्यानाश हो गया । तभी मैं इस कमीने स्कूल में नरेन्द्र को भेज नहीं रहा था । जहाँ ब्राह्मण-चमार, भाट-भांड, तेली-तमोली भंगी-मेहतर सब एक ही घाट का पानी पीते हों, सब धन बाईस पसेरी हो, वहाँ और दूसरा होगा भी क्या ?' फिर वह अपने पुत्र नरेन को समझाने के क्रम में यह भी कहते हैं—नरेन, मुझे तुझ पर कितना भरोसा था, पर आह ! तू गांधी की राह चल निकला ? गाज गिरे उस अभागे कोइरी जगलाल महतो[1] पर; जिसने सब कमीने भंगी-मोचियों को 'हरिजन-हरिजन' कहकर सर चढ़ा रखा है । जिनकी छाया छूने पर गया-गंगा करने पर भी पाप धुल नहीं पाता, उन्हें ऊँची कौमों के लड़कों के साथ स्कूल में पढ़वाने लगा नालायक ।' जातिवादी भेद-भाव के विरोध में इतनी तीखी और तीव्रता के साथ लिखनेवाले आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री और प्रगतिशील साहित्य के लिए विख्यात बाबा नागार्जुन तक की मंडल आयोग पर व्यक्त उनकी प्रतिक्रियाओं ने हमारे अधिकांश रचनाकारों की प्रगतिकामी चेतना पर प्रश्न चिह्न खड़ा कर दिया है ।

★

1. आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के गाँव के सर्वस्वत्यागी सरल नेता । वह वर्षों एम० एल० ए० भी रहे ।

'गाथा' : एक नयी रचना-विधा का जन्म

'गाथा' एक ऐसी विलक्षण कृति है, जो हिन्दी में कविता और कहानी दोनों विधाओं की संरचनात्मक प्रकृति का अतिक्रमण ही नहीं करती, वरन् दोनों विधाओं के सम्मिलित प्रयोग से एक नई साहित्य विधा की सृजनात्मक सम्भावना को उजागर करती है। चूँकि यह एक अत्यन्त जोखम भरा और प्रतिभा साध्य कार्य था, मेरी स्मृति में किसी दूसरे कृतिकार ने इस रचनात्मक सम्भावना को मूर्त करने की दिशा में कभी कोई पहल नहीं की। स्पष्टत: जीवन हो या साहित्य, सब बने-बनाये मार्ग पर चलना जानते हैं, पर्वत काट-कर चट्टानों के बीच से नई राह बनाना सबके बल-बूते और हिम्मत की बात भी नहीं होती। साहित्य में ऐसा सर्वथा नूतन और मौलिक सृजनात्मक कार्य करने वाले रचनाकार बिरले होते हैं। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री को उनके अगाध पाण्डित्य एव संस्कृत साहित्य की समृद्ध पृष्ठभूमि के कारण उनमें आधुनिक चेतना न देखने वाले पूर्वाग्रही आलोचकों एवं अध्येताओं के लिए 'गाथा' एक रचनात्मक उत्तर ही नहीं, एक सशक्त चुनौती भी है।

'गाथा' ऐसे आलोचको के लिए भी एक आँख खोलूकृति है, जो शास्त्रीजी को एक ऐसा आत्म-सापेक्ष रचनाकार मान बैठे हैं, जो 'आत्म' के लिए सम्पूर्ण पृथ्वी का परित्याग करने को तैयार हो जाता है। 'गाथा' के कवि को जिसे वे आत्म-सापेक्ष कहने के बहाने व्यक्तिवादी कहना चाहते हैं, उसका सम्पूर्ण साहित्य उसकी विराट् मानवीय दृष्टि का प्रतिफल है। वह पृथ्वी को सुन्दर से सुन्दरतर बनाने के लिए सतत् संघर्षरत कवि है। इसलिए यह कवि व्यक्ति सापेक्ष नहीं, सृष्टि सापेक्ष रचनाकार है।

कहना असंगत न होगा कि किसी कृति की श्रेष्ठता का निकष उसकी तात्कालिक चर्चा-परिचर्चा नहीं वरन् कालातीत जन-व्याप्ति है। श्रेष्ठ रचनाएँ समय का अतिक्रमण कर तात्कालिक कलारुचियों का भी अतिक्रमण करते हुए जन-मानस में अपनी जगह बनाती हैं। सन् 44 में प्रकाशित होने के बाद 'गाथा' का यह तीसरा प्रकाशन इसी साहित्यिक सत्य का प्रमाण-

पुष्ट उदाहरण है। एक रचनाकार की दृष्टि से 'गाथा' के सर्जक की यह उदासीनता निस्सन्देह विस्मय पैदा करती है कि वह अपनी जिन रचनाओं में अन्तर्वस्तु, और शिल्प का सृजनात्मक समतोल प्रस्तुत करता है, उनकी दिशा से पृथक् हो उसी रचना दिशा में फिर-फिर सक्रिय हो उठता है, जो साहित्य की मुख्य धारा से प्रायः अलग होती है। अपनी रचनात्मकता के उदय काल में प्रगतिशीलता एवं राष्ट्रीय चेतना को बिम्बित करने वाली श्रेष्ठ कविताओं के स्रष्टा शास्त्री जी उससे स्वयं अलग होते चले गये जबकि वे ही रचनाएँ उनकी प्रतिभा के सहज उन्मेष की द्योतक थीं। 'बाल-लता' से लेकर 'मेघ गीत' तक की अधिसंख्य कविताएँ मेरे इस मत की साक्षी हैं। यहाँ यह कहा जा सकता है कि महान रचनाकार खुद को दुह।। में विश्वास नहीं करता; उसकी रचनात्मकता समतलता के चौखटे को बार-बार तोड़ती है। लेकिन अपनी प्रतिभा की स्वाभाविक प्रवृत्ति के विपरीत जाने में गलत समझे जाने का खतरा भी हमेशा विद्यमान रहता है गोकि नीरक्षीर विवेकी आलोचक ऐसी आलोचकीय भूल नहीं करता, उसे वह उसकी समग्रता में ही देखता-परखता है। तात्पर्य यह कि 'गाथा आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की वर्ण विषय और उसके ही अनुकूल स्थापत्य के कलात्मक समन्वय एवं संतुलन से युक्त एक महान रचना है, जिसमें कालजयी कृति की सभी विशेषताएँ मौजूद हैं।

'गाथा' में सात कथा-कविताएँ हैं, जो अपने कथ्य और उसके अंकन में एक दूसरे से भिन्न और मौलिक हैं। शास्त्रीजी कवि के रूप में जितने सफल रहे हैं, उससे कम कहानीकार के रूप में नहीं। उनकी कहानियों के कई संग्रह प्रकाशित हैं और कई कहानियाँ विभिन्न विश्वविद्यालयों में कभी पढ़ाई जाती थीं। 'बाँसों की झुरमुट' की कहानियाँ अपने रचनात्मक तेवर में आज की जनवादी कहानियों से कतई अलग नहीं हैं। यह बात दूसरी है कि हिरोयिक मुद्रावाले कुछ कहानीकारों की तरह उनकी कहानियों में वाम-पंथ के अतिक्रान्तिकारी बड़बोलेपन की जगह एक सहज मानवीयता है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि 'गाथा' के रचनाकार को कविता और कहानी दोनों ही विधाओं के शिल्प की आन्तरिक संरचना का गहरा ज्ञान है। यही कारण है कि दोनों विधाओं की एक जगह एकत्र बुनावट में जहाँ उन्हें कोई विशेष असुविधा नहीं हुई होगी, वहाँ यह जोखिम भी सामने रहा होगा कि कहीं यह अभिनव प्रयोग असफल न हो। हिन्दी में अक्सर नये और मौलिक साहित्यिक प्रयोग का बढ़कर स्वागत करने की जगह उसके तिरस्कार और उपेक्षा की संकीर्ण प्रवृत्ति कार्य करती है। यदि ऐसा न होता तो निराला के उन

क्रान्तिकारी प्रयोगों की पहले धज्जियाँ नहीं उड़ायी जातीं जिन्हें आज हिन्दी वाले गौरव-मुकुट की मानिंद अपने सिर पर उठाये फिर रहे हैं। 'गाथा' भी ऐसा ही महान कला-प्रयोग है। कवि ने अपनी इसी पीड़ा को अपनी भूमिका 'वेदना' के इन शब्दों में रूपायित किया है। "—'गाथा' काव्य तथा कथा का मध्यवर्ती प्रयोग है। मेरे मन में इसका आविर्भाव इसी रूप में हुआ था, अतः इस अनायास स्फुरण को वस्तुतः न प्रयास करना चाहिए, न प्रयोग, किन्तु, अनचाहे अथवा मनचाहे काम की सफलता की कसौटी यदि तात्कालिक लाभ ही हो, तो मैं और क्या कह सकता हूं, 'मेरा आज तक का जीवन भी तो हानि उठाकर किया हुआ, एक असफल प्रयोग ही है।" प्रसंगात् कहना चाहूँगा कि जीवन हो या रचना का क्षेत्र, तात्कालिक सफलता हमें वह सब नहीं देती, जो स्थायी होता है। कन्नड़ के संघर्षशील मनीषी लेखक डॉ० शिवराम कारन्त की यह उक्ति स्मरणीय है ''''''पर एक बात सत्य है पराजित को बार-बार कार्य करने का अवसर मिलता है। विजेता के लिए वह कार्य समाप्त होने के बराबर ही है। जब तक हम कार्य में आसक्ति रखते हैं, उसकी आवश्यकता समझते हैं, उसके सौन्दर्य का अनुभव करते हैं, तबतक कार्य ही आनन्द होता है। हार से दुनिया का अनुभव करते हैं, उसमें भी एक प्रकार का आनन्द होता है। व्यक्ति यदि सचेत है तो हार से मिलने-वाला अनुभव व्यर्थ नहीं जाता। भावी जीवन में वह सहायक होता है।"

पगले मन के दस चेहरे (आत्मा का घर) पृष्ठ 7)

शास्त्रीजी ऐसे ही रचनाकार हैं, जो तात्कालिक सफलताओं में विश्वास नहीं करते। यदि यह सच नहीं होता तो वे 78 वें वर्ष में भी कालिदास पर वृहत् उपन्यास और अन्य विधाओं के सृजन-कर्म में प्रवृत्त नहीं होते। उनके ही अनेक समकालीन कवि तात्कालिक सफलताओं (प्रसिद्धि, पद और धन) के बाद मौन हो गये या कुछ विशिष्ट नहीं रच पाए।

तो सात कथा-कविताओं में पहली का शीर्षक है 'दो आँखें'।" यह उस भयद यथार्थ से सीधे साक्षात्कार की मार्मिक कविता-कथा है, जिसकी तीव्रता और सत्यता स्वतन्त्रता के 46 वर्षों बाद भी ज्यों-की-त्यों है। किस तरह अछोर निर्धनता में जीनेवाली भारत की विपन्न स्त्री-जाति पैबन्दों लगी महज एक साड़ी से तन ढँकने के लिए अभिशप्त है और नहाने के लिए उसे निर्वसन होना पड़ता है? और इस निर्मम वास्तविकता का चरमोत्कर्ष तो तब आता है, जब किसी किशोरी की माँ उसे अपने यहाँ ठहरे किसी अपरि-चित के साथ सोने के लिए भेजती है ताकि वह उसे साड़ी दे? यही वह कठोर

सच्चाई है, जिसे कवि ने दो "जोड़ी आँखें" में कविता जैसे कोमल फार्म में कहानी की रुक्ष वास्तविकता व्यजित करनेवाली कला के माध्यम से चित्रित किया है। यह सचमुच विस्मयकारी है कि इसी कठोर सच को हिन्दी के संवेदनशील कवि स्वर्गीय सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ने सन् सत्तर में 'दिनमान' के 'चर्चे और चरखे' स्तम्भ में लिखा था कि किस प्रकार एक ग्राम्य युवती झाड़ी में अपनी साड़ी टांग नंगी नहा रही थी और अचानक उधर से ट्रेन गुजरी तो वह उस पोखर में लाज से धँस गई थी। इसी यथार्थ को मानवीय सवेदनों से गीतों में प्राण भरने वाले गीतिकार रमेश रंजक ने भी सन् 85 में एक कविता के माध्यम से व्यक्त किया था। मेरा अभिप्राय यह है कि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने 'दो आँखें' में जिस विक्षोभकारी जीवनानुभव को पराधीन भारत में चित्रित किया था, वह आज भी सम्पूर्णतया सार्थक और प्रासंगिक है। इसके दो चित्र देखें :—

मार गया पर काठ, पहुँच आँगन में जो कुछ देखा;
तू नंगी थी नहा रही, मुझ पर पड़ते ही दृष्टि—
पड़े सौ घड़े पानी के, ज्यों बची न सूखी सृष्टि !
वह तेरी तस्वीर सिकुड़ कर बनी एक ही रेखा !!
क्षय हो कविता की ! थी मेरी भरी कनक की गागर !
फुफकारें वे ससिल-बिन्दु क्या, फेन उगलते फनधर !
बन्द नहीं, हों अन्ध नयन ले तेरा सुषमा-लेखा !
वह तेरी तस्वीर सिकुड़ कर बनी एक थी रेखा !!

और

देखा हृदय चीरनेवाला चीर वही था हाय,
पैबदों से भरा, धूल पर पड़ा विवश, निरुपाय,

लेकिन कथा-नायक कवि ने जब रात्रि मे माँ को अपनी बेटी से यह कहते हुए सुना कि वह जाकर उनके साथ सोये और उन्हें प्रसन्न करे, वह उसके लिए तन ढँकने को साड़ी ला देंगे तो वह आकाश से मानों धरती पर औंधे मुँह गिर पड़ा। कवि की ये पंक्तियाँ निश्चय ही महानता का उच्च स्वर में पाठ पढ़ाने वाले गर्वोन्नत भारतीय समाज को बिलकुल नंगा कर देती है—

मानवता का अहंकार, हुंकार जले धू-धूकर !
माँ थी सिखा रही बिटिया का फटा वस्त्र छू-छूकर,
"—जा, सो जा उनके सँग, उनका हृदय न दुखने पाए,
ला देंगे साड़ी, तेरा तन किसी तरह ढँक पाए !"

तन की लाज किसी तरह ढँकने के लिए जीवन का सर्वस्व किसी अपरिचित को देने की विवशता से बड़ी और कौन-सी विवशता हो सकती है? और यह विवशता स्वतन्त्र भारत में आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। लेकिन माँ के लाख प्रेरित करने पर वह शरमायी-सकुचायी नायक के पास पहुँची और उसने पैरों की अंगुलियों को ही छूकर जगाया। आज वह बिल्कुल ही बदल चुकी थी। उसके स्पर्श से आज कवि के मन में भी कोई कामोत्तेजना पैदा नहीं हुई और उसने अपने पर्स का सब कुछ उसकी हथेली पर रख दिया। कथा की परिणति भी सहज मार्मिकता में हुई है—

पास पर्स में जो था, तेरे करतल पर रख बोला—
साड़ी अंगिया या जो दिल हो, मंगवा लेना प्रात,
मुझे अभी जाना होगा बीतते - बीतते रात।"
छोड़ दिया सामान वहीं सब, साथ रहा बस चोला,
माँ की बात याद कर 'हँसकर' तुझे लगाया अंक
'रानी' कह न सका, माँ कहती तुझे भिखारिन, रंक,
वज्र-नोक से है अंकित तू, मैंने हृदय टटोला
माँ को सब सामान, प्राण! तुझको दे पाता चोला। पृष्ठ 39

'आँधी' की कथा भी अत्यन्त यथार्थवादी और मर्मस्पर्शी है। कवि का रचनात्मक संयम और संतुलन देखते ही बनता है। आज के प्रगतिशीलों की तरह वह चाहता तो गरीब युवती आँधी के साथ बलात्कार कर उसे अपनी हवस का साधन बनाने वाले बिरजू बाबू की हत्या कराकर क्रान्तिकारी बन सकता था लेकिन उसने कला की शर्त ही नहीं, वास्तविकता और स्वाभाविकता को दृष्टिपथ में रखते हुए दारुण सच्चाइयों का प्रभावी चित्र उकेरा है, जो जगह-जगह अपनी सांद्रता के बावजूद प्रखर हो उठा है। आँधी कवि के सामने स्वयं अपनी व्यथा-कथा जिन शब्दों में कहती है, वे किसी भी संवेदनशील पाठक को मर्माहित करने के लिए पर्याप्त से अधिक हैं:

एक गरीब मलाहिन हूँ, थी गई हुई ससुराल,
सितला मैया की किरपा, है गाँव हुआ बेहाल।
सास-ससुर सब सरग सिधारे 'वे' रहते आसाम;
मैं मैया के पास भाग कर आई हूँ इस ठौर,
सात कोस से चली आ रही, बहुत दूर 'बिजनौर'!
यहीं कहीं बिरजू बाबू के घर करती वह काम।

आगे की पंक्तियों में कवि ने आश्रय विहीन असहाय नारी के जीवन की अछोर विवशता का मार्मिक अंकन करते हुए लिखा है :

> बे-घर-बार मनुज का जीवन। तिस पर भी जो नारी !
> हे प्रभु ! तुमने देखी है कोठे पर उठी अटारी ?

नारी-शरीर से खेलने वाले पुरुष-पशु बिरजू बाबू ने दिन दोपहरी में सोयी आँधी की युवा देह के सौन्दर्य को अपनी भूखी बाँहों में समेटना चाहा तो उनके गाल पर उसकी जोरदार चपत पड़ी और उसने बाहर निकलकर अपनी माँ को भला-बुरा कहा। लेकिन छोटे-छोटे लाभों के लिए अपनी देह बेचनेवाली कबूतरी ने कवि को धमकियाँ दीं कि वह भूल से भी आँधी की तरफ आँखें न उठाए। उसने खुद अपनी आँधी को बिरजू की हवस की आग में झोंक दिया ताकि उसे झमकाने को चौड़े-काले चित्र किनारे की साड़ी मिले और कर्जों से मुक्ति भी। लेकिन गरीबों का शोषण अपना जन्म-सिद्ध अधिकार मानने वाले धनी बिरजू ने कर्जदारों को कबूतरी के घर भेज दिया। जब उनकी वासना की शिकार और शितला माई के कोप में आँधी पड़ गई तो उन्होंने माँ-बेटी दोनों को घर से निकल जाने को विवश कर दिया। कबूतरी का सुखद भ्रम टूटने लगा—

> "बाबू, मानी बात तुम्हारी, जो थी जलती आग,
> सच कहती हूँ, मेरी आँधी बची रही बेदाग,
> पहले पहल तुम्हीं ने उसका धरम ... रामजी जाने,
> सो अब तुम्हीं निकाल रहे, जब निकली उसके माता
> जिसके लिए करी चोरी, सोई है चोर बताता।
> इसी दान के लिए कहा था क्या दामन फैलाने ?"

इन कविता-कथाओं की यह विशेषता दुर्लभ है कि श्रेष्ठ कहानी के समान एक-एक स्थिति और एक-एक मनोदशा का सूक्ष्म और सजीव अंकन जहाँ पाठकों को बाँधे रहता है, वहीं हमारी संवेदना के मूल उत्स को सीधे छूने और हमें आन्दोलित करने वाले प्रसंगों की काव्यात्मक व्यजना अत्यन्त मर्मस्पर्शी हो उठी है। लेकिन इन दोनों के बीच वह मारक यथार्थ सर्जक कवि-कथाकार की रचना-दृष्टि से ओझल नहीं हो पाया है, जो चिर-नवीन ही नहीं, चिर-प्रासंगिक भी है। आत्महत्या के लिए कटिबद्ध आँधी को रोकते हुए कथा-वक्ता कवि ने, जो कुछ कहा, वह नारी के प्रसंग में ऐसी प्रखर आधुनिक दृष्टि है जो सन 44 में कल्पनातीत बात थी। निम्नांकित पंक्तियों में व्यक्त आधुनिकता आप भी देखें :—

रूप मात्र तुम नारि ! नहीं हो, पहचानो अपने को।
धर्म 'हृदयवासी' न बिगड़ता, उसका स्थान न बिगड़े,
तुम क्यों खोओ प्राण, तुम्हारा शाश्वत ज्ञान न बिगड़े,
अंग-प्राप्ति यदि हृदय-प्राप्ति, तब कहो सत्य सपने को।
तुमने अर्पित किया जिसे, स्वेच्छा से तन, मन, प्राण
उससे उनका हो सकता क्या बलपूर्वक आदान ?
शुद्ध स्वर्ण को जाने दो कुन्दन बनने, तपने को,
देह-मात्र तुम नारि। नहीं हो पहचानो अपने को ?

(गाथा, पृष्ठ 53)

अन्ततः आँधी दम तोड़ते हुए, अपनी वेदना इन करुण शब्दों में कहती है—

मारी-मारी फिरी हाय ! मैं इसी के लिए वन-वन ?
इसी के लिए उस बचपन से बदला था यह यौवन ?
इसीलिए बिरजू बाबू ने गन्दा कर डाला तन ?
इसीलिए समवेदना मिली तुमसे हर पल, हर छन ?
नैहर में सुख से होगी, सोचेंगे 'सासुर' के जन
सितला मैया से मरती मैं, यहाँ कहेंगे पुरजन !
सबका मत भरमाकर 'इसवर' हँसता है मन ही मन '

(गाथा, पृष्ठ 54)

निस्सन्देह वही कवि.-लेखक महान है, जिसने मनुष्य की आत्मा में प्रवेश कर उसकी वेदना और व्यथा से सीधे साक्षात्कार किया है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने भी धन और बल द्वारा मनुष्य-जाति पर अत्याचार करनेवाले अमानवीय लोगों और मनुष्य के रूप में खुद को कायम रखने एवं सम्मानपूर्वक जीने की आकांक्षा वाले साधारण लोगों के बीच के संघर्ष को कलात्मक स्तर पर रूपायित किया है।

तीसरी कथा-कविता सुहाग रात' की सृजनात्मक अन्तर्यात्रा से पूर्व यह विचारणीय प्रश्न है कि कला में अश्लीलता कब और कहाँ होती है ? कारण कि 'गाथा' में कई आलोचकों ने अश्लीलता के दर्शन किए हैं और अपनी सनातनी शुद्धता के नष्ट होने के डर से उसे छूने का 'दुस्साहस' तक नहीं किया है। यह भी हिन्दी में ही घटता है कि किसी कृति को पढ़े बगैर या कहूँ कि समझे बगैर उसके बारे में फतवे जारी कर दिये जाते हैं। उग्रजी के

साहित्य पर बाबेला मचाने वाले हर पीढ़ी और हर युग में अपनी रूढ़िवादी और जड़ नैतिकता के चश्मे से साहित्य की कोटि का निर्धारण करते हैं। उन्हे यह ठीक तरह से जान लेना चाहिए कि अश्लीलता दृश्य में नहीं, दृष्टि में होती है। किसी नारी की निर्वसन प्रतिमा तभी अश्लील होगी, और हम में वासना का संचार करेगी, जब उसकी सृष्टि के पीछे कामावेग जगाने की दूषित दृष्टि हो। 'सुहाग रात' में कवि ने भारतीय समाज की उस भयावह रूढ़िवादिता का मर्मस्पर्शी चित्र प्रस्तुत किया है, जिसके अन्तर्गत लड़के-लड़की की जन्म-पत्री मिलाने के बाद विवाह की प्रथा है। लेकिन जन्म-पत्री मिलाने के बाद भी अधिसंख्य विवाह नाटकीय दाम्पत्य का उदाहरण बन जाते हैं। जाति और वर्ण के आधार पर होनेवाले वैवाहिक सम्बन्धों में सहज आत्मीयता का उन्मेष नहीं हो पाता। ऐसी कविताओं में अक्सर कवि उपदेशक बन जाता है, जिससे कविता में कही जानेवाली गम्भीर बात भी निष्प्रभाव हो जाती है लेकिन यहाँ कवि ने जो कुछ कहा है, उसे रचना की कला के भीतर कहा है। राजलक्ष्मी के पिता जन्मपत्री देख-दिखाकर उसकी शादी एक उच्च कुलस्थ समृद्ध कुँवर से कर दी, जिसकी दृष्टि 'सुहाग रात' से पहले ही, साथ चल रही राजलक्ष्मी की मुँहबोली सखी और दासी बिन्दो के यौवन-भरे लावण्य पर टिक जाती है। ट्रेन-यात्रा में ही बिन्दो राजलक्ष्मी के पति कुँवर के शरीर से लगी-लिपटी रही। बिन्दो स्पष्टीकरण में यह स्वीकार करती है —

बाँधा उनने बाहु-पाश में, मैंने चुप्पी साधी;
सच कहती हूँ, क्षमा राजलक्ष्मी, मैं ही अपराधी।

लेकिन राजलक्ष्मी स्वयं अपने हाथों बिन्दो का श्रृंगार कर अपने प्रियतम के पास भेजती है जबकि साधारण संस्कारों में पली-बढ़ी बिन्दो के लिए राजलक्ष्मी बनना इतना सरल नहीं था। लेकिन कुँवर सुहागरात में बिन्दो के नहीं हटने पर उसे चांटा रसीद कर देता है और वह आहत मन बाहर चली जाती है। फिर कुँवर राजलक्ष्मी को प्यार करने लगते हैं और वह भी बेसुध हो जाती है। इस क्रम में दोनों ही नारी चरित्रों में उठने वाले द्वन्द्व का कवि वर्णन करता है, जो कविता में गम्भीर कहानी की तरह व्यंजित है। यह वर्णन इस रचना का प्राण है। लेकिन कवि की सृजनात्मकता का लक्ष्य भारतीय समाज का अभिशाप—जाति-व्यवस्था है—

कितनी लाशों के टीले पर गड़ा जाति का केतु !
और जन्मपत्रिका कि जिसमें राहु, शनैश्चर, केतु।

(और)

अखिल विश्व की बात करें क्या, सम्मुख अपना देश
होते हैं कितने विवाह इस ठौर जन्म पत्री से
राजा चन्द्र मिला करते हैं बहुत न बुध मत्री से
क्यों लक्ष्मी को दिया उसे, जिसमें न मनुजता शेष
जामाता जो आज आपके, महापाप के कूप
वहाँ डूब मरने को आती वैसी वधू अनूप
जो दो बच्चे जन चुकती है शैशव में अक्लेश
जिसके पिता चाहते वेश्या, माता भृत्य-विशेष !

—गाथा, पृ० 66

मानवीय सम्बन्धों की सहजता समाप्त करने वाली जीर्ण-शीर्ण परम्पराओं को एक सच्चा मानवतावादी कवि ही चुनौती दे सकता है। मानवतावाद कोरे शब्दों में किया गया उद्‌घोष भर नहीं है, वह तो रचनाकार की जीवन-शैली का अभिन्न अंग बनकर ही उसकी काव्य-शैली भी बनता है। मुक्तिबोध ने यह अक्षरशः सही लिखा है 'कलाकार का अन्तर्मन विचारों को आत्मानुभूत जीवन संदर्भों से एकाकार करके ग्रहण करता है। अन्तर्मन में उपस्थित वास्तविक जीवन विचारों में प्रवाहित होता है। विचारों की यह प्रवहणशीलता लेखक की सारी संवेदनाओं से मिलकर अन्तर्जीवन का अंश बन जाती है।"

—नये साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र, पृष्ठ 17

'हरिहर क्षेत्र का मेला' 'गाथा' की ही नहीं, हिन्दी की सर्वोत्कृष्ट रचना है। रचना की गुणवत्ता का निकष पाठकों को मानें तो यह रचना निस्सन्देह एक उपलब्धि है। सामान्य पाठक के लिए कैसी रचना महत्वपूर्ण होती है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए विख्यात रूसी आलोचक बोरिस पैंकिन ने लिखा है—"For the general reader a literary work becomes close and dear only when it rouses a response in the soul. A simple response of the spirit.

—Demanding literature, Page 22

'हरिहर क्षेत्र का मेला' शीर्षक कृति में अन्य रचनाओं के समान कोई स्पष्ट कथा नहीं है लेकिन मेले के सम्पूर्ण वातावरण और उसकी मानसिक

स्थितियों का ऐसा सजीव चित्रांकन है कि पाठक सहज ही रम जाता है। मानसिक स्तर पर पिछड़े हुए समाज की जर्जर रूढ़ियों का व्यंग्यात्मक चित्रण इस रचना की एक उल्लेखनीय विशेषता है। चौदह वर्ष की भगवतिया की सास उसे निरन्तर पीड़ित-प्रताड़ित करती कि उसने अभी तक बच्चा पैदा नहीं किया। दोनों ने गंगा मैया से यह मनौती रखी कि उनकी इच्छा पूरी होगी तो वे गगा जी को बकरा भेंट चढ़ायेंगी। सो बच्चा होने पर सास-पतोहू गंगा जी को बकरा भेंट देने आयी हैं। एक जीवन के लिए गंगा जी से मनौती के रूप में दूसरे जीवन की बलि की क्रूर प्रथा कितनी अमानवीय है? यह कोई संवेदनशील मनुष्य ही अनुभव कर सकता है। प्रतिदिन अपनी रसना की तृप्ति के लिए असंख्य जीवों की हिंसा कराने वाले समाज में संवेदनशीलता की बात सर्वथा उपहासास्पद है। और, 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' का लचर तर्क देनेवाले देश में संतान के लिए किसी जीव की बलि देने की हिंसक प्रथा इसलिए चल रही है कि हमारी सारी सोच हमारी एकान्त स्वार्थपरता में सिमटकर रह गई है। संवेदनशील कवि ने भगवतिया के साथ घटित त्रासदी के चित्रण द्वारा हमारी तथाकथित धर्मचेतना की रूढ़िवादिता को नंगा कर दिया है। व्यग्य और करुणा का यह एकीकृत चित्रण हिन्दी में हर किसी की रचनात्मक सामर्थ्य में सम्भव नहीं है:

भगवतिया थी ठिठुर रही, गंगा की धारा शीतल,
पैठ कमर तक जल में बकरे को थी रही डुबोती,
वह न डूबता, सास डांटती—ओ चमार की पोती,
ले, संभाल अपने बच्चे को, करता कलबल, कलबल,
बाईं बांह फँसी बच्चे में, दाईं में बकरा था,
बच्चा रोता, में-में करता बकरा डरा-मरा था,
इधर देखती, उधर देखती, भगवतिया थी विह्वल
बच्चा रोता, बकरी का बच्चा था करता कलबल!

—गाथा, पृ० 86

और हुआ वही, जो नहीं होना था अर्थात् बकरी का बच्चा तो किनारे पर में-में करता रह गया मगर घबराहट में भगवतिया तेज धारा में अपना ही बच्चा फेंक आई—

लेकिन यह क्या? बकरी का बच्चा तो है मेमियाता
औ उसका बच्चा? क्यों हाय, कलेजा मुँह को आता?

गंगा मैया। तू पहचान न पाई असली, नकली ?
अब न कराना होश उसे माँ, भगवतिया है पगली

'हरिहर क्षेत्र का मेला' का प्रत्येक चित्र मानो चित्रकला की श्रेष्ठता का ही शब्दों में रूपांकन है। जिस प्रकार रंगों-रेखाओं को समर्पित विश्वविख्यात चित्रकार वॉन गॉग ने जीवन के विविध आमंगों और मनोदशाओं को अपने चित्रों में सजीव स्तर पर मूर्तित किया है, उसी प्रकार कवि आचार्य जानकी-वल्लभ शास्त्री ने 'गाथा' की इन गाथाओं में भारतीय जन-जीवन की विभिन्न विसंगतियों को कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है।

किसी भी श्रेष्ठ कलाकार की कलात्मक सफलता का एक बड़ा रहस्य उसकी व्यंग्य और विनोद वृत्ति में छिपा होता है। व्यंग्य रचनाकार के हाथ में वह पैना हथियार है जिससे वह जड हो चुके- संवेदन शून्य समाज को चिकोटी काट कर जगाता है। व्यग्य और विनोद की यही उत्कृष्ट कला 'गाथा' की विशिष्ट रचना-'कलियुग के कृष्ण' में परिलक्षित होती है। योगीराज कृष्ण के इस देश में ऐसे लोगों की कमी नहीं जो कृष्ण से केवल यही प्रेरणा लेते हैं कि उन्होंने सोलह हजार पटरानियों से प्रेम किया था, सो उन्हें भी एक नहीं, अनेक नारियों से प्रेम (?) करना चाहिए। यह बात बिलकुल अलग है कि उनके लिए प्रेम का अर्थ महज शरीर की भूख भर है। 'कलियुग के कृष्ण' के कथा नायक भी घर से समृद्ध और परम कोटि के भोगी हैं, जिनके लिए अंग्रेजी शब्द 'सेक्समैनियाक' सटीक है। एक के बाद एक युवतियों से विवाह करने वाले कृष्णचन्द्र की धीरे-धीरे जमीन-जायदाद भी बिक गई और देह भी थक गई लेकिन 'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा' को चरितार्थ करने वाली उनकी लोलुपता का अन्त नहीं था—

जब जब नशा उतरता, कलियुग के थे कृष्ण बिलखते,
दम जाता, पर मजे नहीं होते कम चखते-चखते,
सोचा करते, मौत नहीं क्यों अब जल्दी आ जाती,
तभी अगर कोई दिख जाती भोली-भाली छोरी,
डोरे डाल फाँस ही लेते उसे आह ! 'बलजोरी'

नायक कृष्णचन्द्र की बिटिया सयानी हो गई मगर लोलुपता की यह स्थिति की पड़ोसी इन्द्रदमन बाबू की दो युवा पुत्रियों—सत्यभामा और अभिरामा पर उनकी निगाह टिक गई। इसके लिए उन्होंने अपनी पत्नी को

प्रताड़ित कर माध्यम बनाया। दोनों उनके घर आने-जाने लगीं। लेकिन जाती भाग सत्यभामा पर जमी तबीयत बहली।' और उसका सारा अपराध बेचारी पत्नी पर डालकर वह बर्बरतापूर्वक उसे पीटा करते। अंतत: उनकी कामुकता सत्यभामा की छोटी बहन के यौवन लिए व्यग्र हो उठी। उनकी बेटियों से अभिरामा का झगड़ा हो गया। फिर माँ-बेटी को उससे सुलह करने को विवश किया ताकि अभिरामा रात्रि में आये। एक रात कृष्णचन्द्र उसकी प्रतीक्षा में विकल थे। जब वह नहीं आई तो आँगन में सोयी पत्नी के साथ ही बेटी को भी बेरहमी से पीटा। माँ ने बेटी को पिता के कमरे में भेज दिया जिसे ताले से उसने बन्द कर दिया मगर माँ आँगन के कुएँ में कूदकर डूब मरी। यह दारुण यथार्थ जितना ही कठोर है उसका चित्रण उतना ही मार्मिक है। कृष्णचन्द्र से उनकी पत्नी ने पूछा कि यदि वह श्रीकृष्ण का अनुसरण करते हैं तो उन्होंने उनके समान राक्षसों का वध किया है? वह तो जीवन में एक मक्खी भी न मार सके। व्यंग्य की प्रखरता का स्वाद आप भी लें :—

पत्नी ने पूछा कि आपने मक्खी भी है मारी?
किया कृष्ण ने वध असुरों का जो थे महानृशंस
जरासंघ, शिशुपाल, काल-सा क्रूर कठिन-उर कंस,
इन्द्र-गर्व था खर्व किया होकर गोवर्धन-धारी,
गीता का उपदेश दिया अर्जुन को बीच समर में
जिसे समझने की न शक्ति हो सकती पामर नर में
उन सब बातों की अनुकृति में बुद्धि आपकी हारी!
पौरुष-हीन पुरुष की छाती पर सवार है नारी!!

—गाथा, पृष्ठ 95

'गाथा' के कवि ने उन चरित्रों की अवतारणा नहीं की है, जो केवल जैनेन्द्र जैसे लेखकों की मानसिक उपज होते हैं, जिनका जीवन की वास्तविकता से कोई सरोकार नहीं होता। कृष्णचन्द्र जैसे कामुक चरित्र को प्रस्तुत करने का उद्देश्य काम-कुंठा से मुक्ति की प्रेरणा है, कामुकता को प्रोत्साहित करना नहीं। विख्यात कथाकार-नाटककार मोहन राकेश की यह उक्ति सहज ही स्मरणीय है कि "कहानी यदि घुटन और कुंठा में सार्थकता देखती है, तो वह अस्वस्थ है। परन्तु यदि अस्वस्थता कहानी की

वस्तु में ही है और उसके संकेत से उस अस्वस्थता को लेकर असंतोष और विद्रोह की भावना जागती है, उस अस्वस्थता को हटाने के लिए कुछ करने की इच्छा होती है तो कहानी अस्वस्थ नहीं है।'' कहना न होगा कि 'कलियुग के कृष्ण' की संकेतात्मकता पाठक को सार्थक और रचनात्मक दिशा में ही जाने के लिए प्रेरित करती है।

जैसे-जैसे हम 'गाथा' की एक-एक 'गाथा' से गुजरते हुए आगे बढ़ते हैं, हमारी यह धारणा दृढ़तर होती जाती है कि 'गाथा' में व्यक्त यथार्थ अपनी समकालीनता का ही अतिक्रमण नहीं करता, वह उसमें आये पात्रों का भी अतिक्रमण करता हुआ हमारा अपना यथार्थ बन जाता है। कवि की प्रगतिशीलता का मानवीय आयाम उसे ही झंडाधारी प्रगतिशीलों से पृथक और विशिष्ट पहचान देता है। 'कल्किअवतार' शीर्षक पौराणिकता का आभास भले दे लेकिन उसकी अन्तर्यात्रा में प्रवेश करते ही पाठक उसमें अभिव्यक्त जीवनानुभव की तिक्तता और तीव्रता से आहत होने लगता है। यह रचना अपनी कथा संघटना में इतनी कलात्मक है कि कविता में कथानक की ऐसी महीन बुनावट कम ही देखने को मिलती है। इसमें वर्णित घटना उन दिनों की है जब कवि रायगढ़ में राजकवि के रूप में प्रतिष्ठित था।

एक दिन कवि जिस गेस्ट हाउस में ठहरा था, एक पश्चिमी वेशभूषा में सजी फर्राटे से अंग्रेजी बोलने वाली सुमुखी आई। जब वह उसके साथ हिल-मिल गया तो उसने जो कहानी कवि को बतलायी, वही 'कल्कि-अवतार' की विषयवस्तु है। क्रिश्चियनकन्या और कवि के बीच चलने वाले हास-परिहास में भी किस सहजता के साथ धर्म जैसे गहन विषय पर गम्भीर टिप्पणी हुई है, यह देखने की चीज है—

सरल हास-परिहास, चुहल कलरव, आमोद प्रमोद—
नील पीत अरुणाभ कमल उसका उर सर 'अच्छोद'।
'गया धर्म'—वह हँसी—छू गया अभी आपका हाथ।
"जो आता-जाता वह भी क्या हो सकता है धर्म ?
दुष्कुल से भी स्त्री-रत्नों का संग्रह जिसका मर्म।''

—गाथा, पृष्ठ 111

आर्थिक वैषम्य समाज में कैसे-कैसे अनर्थ कराता है, यह भारत में सर्वत्र देखा जा सकता है। पराधीन भारत हो या स्वाधीन भारत, इस सन्दर्भ में यथार्थ की भयावहता घटने के बजाय बढ़ती ही गई है। कल्कि-देव के दर्शन

कराने वाली पार्टी के साइन-बोर्ड चारो ओर लगाये गये थे और खीमे-तम्बू को बंदनवारों से सजाया गया था। दर्शन का यह कार्यक्रम सिर्फ रात्रि में चलता था और यह दर्शन-पुण्य भी केवल नारियों के लिए था। एक वकील अपनी पत्नी के साथ दर्शनार्थ पहुँचे तो उन्हें रोक दिया गया। वे उत्तेजित हो उठे—'कल्की का दिल देखेंगे चोखे चाकू से छील, कढ़ी आह: देंगे उखाड़ जितने तम्बू तनबाए।' अन्ततः भयभीत कल्कि ने कल्कि-अवतार की अन्तर्कथा उन्हें बतलायी, जिसे सुनकर कोई भी सहज ही दुखित हो सकता है। लोगों की भीड़ और ललकार पर मनोरम व्यक्तित्व वाले कल्कि सिंह-द्वार खुलते ही बाहर आए और 'कल्कि के संग-सग इतनी कामिनियाँ और नारियाँ ही क्यों अन्दर जाएँ,' की शंकाओं का उत्तर दिया—

बहनों के बदले यदि होते इतने बंधु हमारे,
कहीं चाकरी करते होते हम सब बाहर जाकर।
रोने वाला कहाँ कौन था, मरते भी विष खाकर—
जो जीना दूभर होता पूँजीपतियों के मारे !

× × ×

हम जैसों के प्राण-दान से भी 'पन टरत टारे' !
दीन बालिकाएँ मर जातीं कितनी इनके मारे !

अंततः उन्हें धर्म के बहाने धन अर्जन की तरकीब सूझी क्योंकि धर्म की मूल चेतना से दूर इस पाखण्डी देश में धर्म ही उल्लू सीधा करने का एक मात्र रास्ता रह गया है।—कवि ने धर्म के खोखलेपन पर कल्कि-अवतार का स्वांग करने वाले के मुँह से गहरी चोट की है :

अनुचित लाभ उठाने को जन्मांध धनी जनता से
गये कराते धर्म युगों से कुछ पैसों के प्यासे !
ईश्वर और धर्म ! पौ बारह, फिर किसकी परवाह !
बेचा जाता धर्म यहाँ ताँबे के कुछ टुकड़ों पर !
ईश्वर फुसलाये जाते दोने भर 'दही-बड़ों' पर !
पर मंदिर के फाटक पर भूखे मर जाएँ आह;
उन पर दृष्टि पड़े न, धर्म औ ईश्वर की यह चाह !

(गाथा, पृष्ठ 117)

भारतीय समाज के पतन का यह चित्रण भी कवि की लोक कल्याणकारी दृष्टि का ही प्रमाण है क्योंकि वह इस चित्रण द्वारा समाज के अभिशप्त और वंचित लोगों की दारुण वेदना को ही मूर्त्त कर रहा है—

> कल्की का अवतार नहीं, हम तो अवतार कलंकी।
> अति दारुण दुख हमें बनाए हैं बेकार कलंकी !''

निस्संदेह विपन्नता से बड़ा अभिशाप दूसरा नहीं ! और, इस अभिशाप से जूझे बग़ैर न तो कोई व्यक्ति महान होता है न कोई रचनाकार। शास्त्रीजी ने मद्रासी ब्राह्मणी युवती, जो निर्धनता की मार से अकुलाकर क्रिश्चियन हो गई थी, के माध्यम से जिस अथाह दुख को सजीव रूप में चित्रित किया है, वह उनकी महान प्रतिभा और संवेदनशीलता की ही सम्मिलित अभिव्यक्ति है।

गाथा की अंतिम गाथा 'क्लाइमेक्स' भी रचनात्मकता का चरम है। भारतीय समाज की सर्वाधिक उपेक्षिता का नाम विधवा है। अल्प वय में विधवा हुई युवती के लिए पुरुष प्रधान समाज ने सब कुछ ऐसे वर्जित कर रखा है मानो वह मनुष्य नहीं, पत्थर हो। नारी के प्रति लोलुपता भरी सामंती दृष्टि से आज भी पुरुष समाज मुक्त नहीं हुआ है। स्त्री चाहे जिस स्थिति में हो, उसे देखकर लार टपकाने वाले समाज में विधवा भी उसकी लोलुप वासना का शिकार होने से नहीं बच सकी है। 'क्लाइमेक्स' की कथा के वर्णन में कवि-कथाकार ने अपनी जिस चित्रण-कला का परिचय दिया है, वह उसकी भाषा पर गजब की पकड़ का उदाहरण है। दिनकर जैसे कवि को भाषा की जो पारदर्शिता 'उर्वशी' में पहुँचकर प्राप्त हुई, वैसी स्वच्छ, प्रवाह-पूर्ण और वातावरण के साथ पात्रों की मनोदशा को सम्पूर्णतः सजीव रूप में उकेरने वाली चमकदार मोतियों जैसी भाषा लिखने में शास्त्रीजी को सन् 44 में ही महारत हासिल थी। वातावरण का सजीव चित्र देखें—

> हुआ जोश था ठंडा। बैठा गगन मही पर
> बजती थी ढोरों की घंटी टुन-टुन कहीं वहीं पर।
> पीपल का था पेड़ एक, हिलते-डुलते थे पात।
> घनी-घनी अँधियाली वाली भादों की थी रात।

(पृष्ठ 123)

उसी अँधेरी रात में भयभीत कवि डिबिया लिए उजली साड़ी में एक नारी मूर्ति को देखता है तो उसका एक-एक रोंगटा खड़ा हो जाता है। फिर वह कवि को घर ले जाती है और सोने को पलग देती है। जब कवि सो जाता है, उसे नींद आ जाती है, तभी जमीन पर लेटी उस स्त्री की धरती-आकाश हिला देने वाली करूण पुकार सुनकर वह उठ बैठता है। कवि उससे पूछता है कि इस अर्द्धरात्रि में अचानक ऐसी दारूण रूलाई का क्या कारण है? वह कहती है तो जैसे सम्पूर्ण नारी जाति की व्यथा ही बोल उठती हैं—वह रूक-रूककर बोली—

.... मुझसे अब न सहा जाता है।
दुख से पागल होकर रो पड़ती हूँ, समझें इतना
मैं अनाथ, विधवा एकाकिनि, और कहूँ क्या कितना।
पड़ा भँवर में प्राण-कुसुम, मुझसे न गहा जाता है
बीच धार में काट रहा चक्कर, न बहा जाता है।

लेकिन कवि की हथेलियों के कोमल स्पर्श से उसके भीतर की सुषुप्त वासना जगती है और वह उसके अधरों पर चुम्बनों की झड़ी लगा देती हैं, जिसे कवि 'बहन सुलभ उसकी पवित्रता को वेश्यापन में' बदलते देखता है, लेकिन प्रातः जब वह कहती है:

इसे कुसंस्कृत, पतित, भ्रष्ट कर क्या पाओगे, बोलो?
इस अभागिनी के यौवन को रुपयों से मत तोलो।
किन्तु मुझे रक्खा ही अपने घर में दिवस-त्रियामा,
भ्रष्ट, नष्ट कर कहा, अहा, तुम प्यारी सुन्दरि, श्यामा!
"और, एक तुम तरुण अरूण हो, पड़ता जिसे न दीख
कुछ भी मेरे पीत बदन में, धँसी हुई आँखों में,
बिना फूल की, बिना कोंपलों की सूखी शाखों में!
लगती हूँगी कूचे में फवी ज्यों चूसी ईख!
सोच रहे हो, पिचके गालों पर न लालिमा छाती!
उमड़-घुमड़ अम्बर भर छाती यह न घटा घहराती!
किसी षोडशी की सुषमा से जाओगे सब सीख!
यह लो मनीपर्स अपना, ... मैं नहीं माँगती भीख।"

परिस्थितिवश भटके पात्रों के चरित्र की यह उदात्त परिणति हमें दास्तो-वस्की जैसे समर्थ कथाकार की याद दिलाती है जिनके पात्र अपने अपराधी और अमानवीय क्रिया कलापों के बावजूद मानवीय रूप में प्रकट होते हैं।

'गाथा' की सभी कथा-कविताओं से गुजरते हुए यह कोई भी पाठक चाहे वह रसग्राही आलोचक हो या आम आदमी, रचनाकार की अद्वितीय प्रतिभा के प्रकाश से चमत्कृत हुए बगैर नहीं रह सकता कि कविता जैसी कोमल अभिव्यक्ति का माध्यम ग्रहण कर रचनाकार ने जीवन के कठोर और रूक्ष यथार्थ की तीव्रता को कहानियों के सृजन द्वारा मूर्त्त किया है और दोनों ही विधाओं ने अपनी मौलिक विशेषताओं को अक्षुण्ण रखते हुए एकमेक हो एक नयी साहित्य विधा को जन्म दिया है, जिसका नाम निश्चय ही शास्त्रीजी की 'गाथा' है। यह 'गाथा' वह रचना विधा नहीं है, जिसमें गेयता के साथ कथानक का वर्णन होता हो या जातकों में मिलने वाली श्लोकबद्ध कथा हो। 'गाथा' हिन्दी में कविता के माध्यम से जीवन के दारुण यथार्थ का सजीव एवं मर्मस्पर्शी चित्रण करने वाली कहानियों की कला है, जिसके एकमात्र प्रवर्त्तक आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री हैं। एकमात्र इसलिए कि दोनों विधाओं-कविता और कहानी के एकीकृत कलात्मक संयोजन द्वारा एक सर्वथा नई विधा के प्रवर्त्तन का खतरा किसी दूसरे रचनाकार ने आज तक मोल नहीं लिया है।

★

हिन्दी महाकाव्य का शिखर : राधा

कला समय द्वारा शासित नहीं होती। यही कारण है कि महान कृतियाँ समय के सुदीर्घ अन्तराल के बावजूद अपनी सृजनात्मक सुगन्ध सदियों से बिखेरती चली आ रही हैं। कालिदास, शेक्सपीयर, होमर, सूर, कबीर, तुलसी आदि की कृतियाँ आज भी हमें न केवल रस-प्लावित करती हैं वरन् जीवन-यात्रा में व्यवधान-बाधाओं से लड़ते हुए उच्चतर जीवन-मूल्यों की रक्षा के लिए संघर्ष की प्रबल प्रेरणा भी प्रदान करती हैं। छायावाद के प्रमुख स्तम्भ प्रसाद की 'कामायनी' और क्रान्तदर्शी निराला की 'राम की शक्ति-पूजा' जैसी श्रेष्ठ महाकाव्य-रचना के पश्चात आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की 'राधा' हिन्दी का एक ऐसा शिखर महाकाव्य है, जिसमें कवि ने राधा-कृष्ण के पौराणिक मिथक की परम्परागत एवं निर्जीव आवृत्ति न कर उसे सम-कालीन भारतीय जीवन के अनुरूप सर्वथा मानवीय धरातल पर चित्रित किया है। सात पर्वों में रचित इस विशाल महाकाव्य के दूसरे पुरुषार्थ-पर्व में कृष्ण का वह निष्काम कर्ममय उज्ज्वल रूप मुखर हुआ है, जिसका आधार असाधारणता के चाकचिक्यपूर्ण चित्रण द्वारा काव्य-प्रेमियों को पलभर चमत्कृत करने की खोखली प्रेरणा नहीं, वरन कृष्ण की मानवीय संवेदन-शीलता के बीच उनके अजेय पौरुष के सहज-स्वाभाविक रेखांकन द्वारा दिशा हीन, पतनोन्मुख भारतीय समाज को शोषण-उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए अदम्य शक्ति और साहस प्रदान करना है।

कोई भी कृति अपने युग से जुड़कर ही युग-युग के लिए प्रेरणा का अक्षय स्रोत बन पाती है। 'राधा' का यह पुरुषार्थ पर्व जब 44 वर्ष पूर्व लिखा गया था, तब देश गुलाम था और अपनी स्वाधीनता के लिए संघर्ष कर रहा था। स्वाधीन होने पर देश की जिन्दगी में क्या-कुछ घटित होगा, यह कोई क्रान्तदर्शी मनीषी रचनाकार ही देख सकता था। क्रान्तिकारी कथाकार प्रेमचन्द ने स्वाधीन भारत में होने वाले शोषण-दमन की भविष्यवाणी न केवल अपनी टिप्पणियों-लेखों में की थी वरन् कहानियों और उपन्यासों में

भी उसका सजीव चित्र उपस्थित किया था। 'पुराना जमाना', 'नया जमाना' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने लिखा था, "आप स्वराज्य की हाँक लगाइये, सेल्फ गवर्नमेंट की मांग कीजिए, कौंसिलों को विस्तार देने की माँग कीजिये, उपाधियों के लिए हाथ फैलाइये, जनता को इन चीजों से कोई मतलब नहीं है : वह आपकी मांगों में शरीक नहीं है बल्कि अगर उसे कोई अलौकिक शक्ति मुखर बना सके तो वह जोरदार आवाज में शंख बजाकर आपकी मांगों का विरोध करेगी, कोई कारण नहीं है कि वह दूसरे देश के हाकिमों के मुकाबले आपकी हुकूमत को ज्यादा पसन्द करे। जो रैयत अपने आत्याचारी और लालची जमींदारों के मुँह में दबी हुई है, जिन अधिकार-सम्पन्न लोगों के अत्याचार और बेगार से उसका हृदय छलनी हो रहा है, उनको हाकिमों के रूप में देखने की इच्छा उसे नहीं हो सकेगी।" कहना न होगा कि आज का हिन्दुस्तान यही है। 'राधा का यह पर्व पढ़ते हुए यह बार-बार अनुभव होता है कि 'ऊपर-ऊपर पी जाते हैं, जो पीने वाले हैं; कहते, ऐसे ही जीते हैं, जो जीनेवाले हैं'' की क्रूर सच्चाई का बखान करने वाले महाकवि आचार्य जानकीवल्लभ ने 'राधा' में स्वतन्त्रता से बहुत पहले ही इस कागजी आजादी की भयद परिणति को देख लिया था। निम्नलिखित पंक्तियाँ आज के भारतीय जीवन का कितना अधिक यथार्थवादी चित्र प्रस्तुत करती हैं—

अस्थियों की ठठरियाँ दिन काटतीं,
भूख, ठिठुरन, तड़प,—रातें बांटतीं !
भाग्य पर निर्भर घुटन सब सह रहे,
कौन करने कर्म—धर्म उन्हें कहे ?

मचे गड़बड़, घोर अत्याचार हो,
सिसकते जन पर तनी असि-धार हो,
खो चुका हो न्याय पर विश्वास जब
उचित कौन कहे समय, संत्रास जब—
चेतना की जड़ पकड़ बैठा हुआ;
हो रहा सीधा अकड़ ऐंठा हुआ—

तब उठाकर खड़ा करना सार्थ को !
—क्यों न विस्मय मूढ को पुरुषार्थ हो ?

वस्तुत: महान कृतियाँ अपनी सृजनात्मक कला के भीतर एक ऐसा महान मानवीय सन्देश लिये चलती हैं, जो युग-युग से पीड़ित शोषित मानवता का पथ-प्रदीप होता है। जीवन की सम्पूर्ण मानवीय व्यवस्था करने वाली इस अप्रतिम कृति 'राधा' का प्रारम्भ ही प्रेम के सम्बन्ध में इस काव्यात्मक टिप्पणी से होता है :

प्रणय नारी-हृदय का निज धर्म है!
पुरूष के हित उचित केवल कर्म है!
प्यार भावुकता-भरा उद्गार है,
पर यही जीवन? यही संसार है?
प्रेम का पाथेय! क्या उद्देश है?
पथिक, जाना कौन ऐसा देश है?

प्रणय क्या है? क्या यही जीवन का एकमात्र आदर्श है? इस ज्वलन्त प्रश्न से पुरूषार्थ-पर्व का प्रारम्भ करने के पीछे कवि का उद्देश्य नारी के एकान्त-प्रेम और सौन्दर्य के प्रति बेसुध-विमुग्ध युवा समाज को उसके उच्चतर दायित्वों का अनुभव कराना है। कृष्ण के मनोवैज्ञानिक और मानवीय संवेदना से ओत-प्रोत आत्मालाप के द्वारा इस महाप्रश्न का समाधान पाने के प्रयास में सम्पूर्ण मानवीय अस्तित्व को आन्दोलित-आलोड़ित करने वाला अन्तर्द्वन्द्व चित्रित किया गया है। 'राधा' का कृष्ण इतना मानवीय है कि कवि उसके पौराणिक रूप को बिना क्षति पहुँचाये ही उसे हमारे अस्तित्व का अभिन्न अंग बना देता है। वस्तुत: कोई भी सचेत रचनाकार पुराण या इतिहास का पुन: सर्जनमात्र नहीं करता, वह उसके माध्यम से अपने समकालीन विश्व के यथार्थ और उसके मानवीय परिदृश्य को अभिव्यंजित करता है। निश्चय ही 'राधा' के कवि ने भी कृष्ण-राधा की पौराणिकता के बावजूद कृष्ण-काव्य की आधुनिक परम्परा को बिलकुल मौलिक और नये आयाम प्रदान किये हैं। खड़ी बोली का प्रथम महाकाव्य कहलाने वाले 'प्रिय प्रवास' में व्यंजित आधुनिकता बहुत दूर तक समयोचित होते हुए भी स्थूल और आरोपित है क्योंकि वहाँ कृष्ण की कर्मशीलता या राधा की समाज-सेविका के रूप में प्रस्तुति सहज सृजनात्मक स्फुरण के रूप में न होकर रचना के पृथक् एक बाहरी दबाव अथवा घोर आदर्शवादी सोच का परिणाम है। 'द्वापर' और 'कृष्णायन'—जैसी कृतियों में भी कृष्ण-कथा का परम्परागत चित्रण ही मिलता है। प्रश्न है कि क्या कवि पुराण या इतिहास की कथा दुहराने के लिए ही

कविता लिखता है ? आनन्दवर्द्धन ने ऐसी ही जिज्ञासा के उत्तर में लिखा है : "कवि को कथानक मात्र लिखने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह इतिहास से आप सिद्ध रहता है।"[1] कवि ने 'राधा' जैसे विशाल महाकाव्य में 'कृष्णायन' की भाँति स्थूल घटनाओं के चित्रण द्वारा महाकाव्य का कलेवर विशाल न बनाकर पात्रों के मानवीय व्यवहार और संघर्ष के बीच उन्हें अपनी निजता में व्यक्त हो जाने दिया है, अपनी ओर से उन्हें सायास गढ़ने की चेष्टा नहीं की है। 'राधा' के आलोच्य पर्व 'पुरूषार्थ' की भूमिका में कवि ने स्वयं स्वीकार किया है "कवि के भीतर यदि धर्म, दर्शन, समसामयिक समाज, राजनीति, चित्र, संगीत, नहीं-नहीं आन्तरिक संरचना के रूप में इन सभों का संश्लिष्ट समुच्चय होगा तो वह उसकी कविता में आप उफन-छनकर प्रकट होगा, नहीं तो नहीं। ...... 'राधा' मन का काव्य है"। स्पष्टत: 'राधा' परम्परागत अर्थ में महाकाव्य नहीं है कि उसमें महाकाव्य के स्थूल लक्षणों या गुणों की तलाश की जाये। कहना असंगत नहीं कि हिन्दी में महाकाव्य स्थूल काव्य रूप समझ कर लिखे गये स्थूल महाकाव्यों की संख्या कम नहीं, जो काव्य की सृजनात्मक कसौटी पर चढ़ते ही अति सामान्य, काव्य-विहीन हो जाते हैं जैसे बड़े गुब्बारे पिन चुभते ही अपने वास्तविक आकार में आ जाते हैं। कविता सृजनात्मक उत्स और सहज स्फुरण से वंचित तथाकथित अध्यापक-आलोचक भले ही ऐसे महाकाव्यों पर उनका मनोवैज्ञानिक अध्ययन करते-कराते रहें मगर कविता के संसार में ऐसे महाकाव्य कभी जीवित नहीं रहते। इसके विपरीत 'राधा' एक ऐसी महान काव्यकृति है, जो सृजन की आन्तरिक संरचना के बल पर भारतीय काव्य-परम्परा की एक अति उज्ज्वल कड़ी प्रमाणित होती है।

'राधा' में समकालीन महान-जीवन की गहन-जटिल वास्तविकता को व्यंजित करते हुए उससे उबरने की, शोषण-उत्पीड़न से मुक्ति की जन-आकांक्षा के अप्रतिम काव्य-चित्र उकेरे गये हैं। आज एक ओर सभी नैतिक आदर्शों-सिद्धान्तों की बलि चढ़ाकर सत्ता के शीर्ष पर बैठे मदान्ध लोग जन-सेवा की आड़ में जन-शोषण और उत्पीड़न में आपादमस्तक संलग्न हैं तो दूसरी ओर चन्द्रशेखर आजाद, भगत सिंह, और खुदीराम बोस के इसी बलिदानी देश में सम्पूर्ण तरूणाई अपने दायित्व-बोध से कटी हुई फैशन और यौवन के मादक नशे में बेसुध है। ऐसी विषम परिस्थिति में कोई भी महान रचनाकार नानी-दादी की शैली में बन्दरी-कथा का निर्जीव विस्तार करने के बजाय ऐसी उद्बोधनकारी कृति की रचना करना पसन्द करेगा, जो कृष्ण के

समान अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध निस्पृह भाव से लड़ने की संघर्षी प्रेरणा का संचार करे। आइये देखें 'राधा' में कवि का यह युग-चेता रूप किस प्रकार कविता की सहज-सहस्र धाराओं में फूट पड़ा है। वर्तमान का यह चित्र कितना स्वाभाविक बन पड़ा है—

पूर्वजों के नाम के झण्डे गड़े !
पथिक छोटे, राजमार्ग बड़े-बड़े !!
मछलियों - से छटपटाते रेत में—
जनम मुरझे बीज सूखे खेत में !
लोग भोग रहे कि जीवन-यन्त्रणा,
मृत्यु से सत्ता रही कर मंत्रणा !
रक्त में लथपथ चिचोड़े हाड़ चख—
मरभुखे मरते वृकों की दाढ़ लख !

बन्द किसकी मुट्ठियों में लोक-बल ?
डोर सत्ता की संभाल, निकाल हल !
सब दलों को डाल दलदल में, गला—
ढाल अपनी, राष्ट्र का करता भला !

कौन बाँहें काट धन्धा दे रहा ?
पंगु पग को लक्ष्य अन्धा दे रहा ?
राह-द्वेष-भरा विराग सिखा रहा ?
क्षुद्र डबरा सिन्धु-झाग दिखा रहा ?

यह कोई जरूरी नहीं है कि हर प्रतिकामी रचनाकार वैचारिक प्रतिबद्धता को शब्दों के स्तर पर व्यंजित करके ही अपनी प्रगतिशीलता प्रमाणित करे। महाकवि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की 'राधा' का यह पर्व उन आलोचकों के लिए पठनीय कृति है, जो उनकी प्रगतिशील कविताएँ एवं कहानियाँ पढ़े बगैर फतवा दे दिया करते हैं। कृष्ण के माध्यम से कवि ने रूढ़िग्रस्त जर्जर परम्पराओं को बड़े ही प्रभावी स्वर में ललकारा है :

असंगतियाँ वर्ण - आश्रम - दाय की,
सिंह प्रखर - नखर कि आँखें गाय की !

विषमताएँ विश्व की ललकारतीं,
तम - तरंगें तट - निकट सिर मारतीं;
सप्त सागर सामने हुंकारते,
मकर व्याल कराल हैं फुफकारते,
गर्व इनका खर्व कर, भू - नभ हिला,
उठ, कड़क, इनसे तड़ित् - आँखें मिला !

यहाँ कृष्ण उन लोगों के प्रबल हितरक्षक और सेनापति हैं जो सदियों से शोषित-प्रताड़ित होने के साथ ही अपनी भावनाओं को शब्द देने में सर्वथा असमर्थ रहे हैं। कृष्ण ऐसे ही निर्वाक् किन्तु भावना-बहुल विपन्न लोगों के समर्थ प्रवक्ता हैं। तभी तो कृष्ण स्वय को उद्बोधित करते हुए कहते हैं :

तू समर्थन दे निपट असमर्थ को,
शब्द अनबोले, परखना अर्थ को,
ज्वलित आत्मा की न कर अवहेलना,
शलभ, तुझको आग से है खेलना।

इस दृष्टि से आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के कृष्ण की मानवीयता अन्य कवियों द्वारा चित्रित कृष्ण से पृथक् और मौलिक सृष्टि है जिस प्रकार निराला के राम अपनी सघन निराशा में समकालीन मनुष्य की तरह विकल हो कह उठते हैं :

धिक् जीवन को जो पाता ही आया विरोध
धिक् साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध
जानकी ! हाय, उद्धार प्रिया का हो न सका।

'राधा' महाकाव्य के कृष्ण की उक्तियों और कर्मशीलता में मनुष्य की शक्ति और सीमा दोनों समान रूप में व्यंजित हुई हैं। व्रज के गोपी-ग्वालों के साथ उसकी सुषमा भूमि में मनोहारी लीला करनेवाले प्रेममूर्ति कृष्ण का यह संवेदनपूर्ण द्वन्द्व अनायास ही हमारे मन-प्राणों को छू लेता है :

किन्तु मैं कितना विवश, असमर्थ हूँ,
दूसरे के अर्थ हूँ, यों व्यर्थ हूँ।
त्यागना होगा मुझे अत्याज्य को,
बाँटना होगा हृदय,—अविभाज्य जो।

'राधा' की भाषा के सन्दर्भ में यह कहना असंगत न होगा कि महाकाव्य की परम्परागत शैली से पृथक् इस कृति में भाषा का आभिजात्य तोड़ने की साहसिक चेष्टा में अभिव्यक्ति जितनी ही सहज है उतनी ही मसृण और बोधगम्य भी। यही कारण है कि 'राधा' का पुरुषार्थ पर्व प्रेरक सूक्तियों का आगार बन गया है। मनुष्य की अग्रगामी चेतना का जयगान करनेवाली इस कृति में मनुष्य को व्यक्तिवादी स्वार्थ-संकुलता से ऊपर उठने की प्रेरणा देने की अद्भुत शक्ति है। सृजनात्मक ताजगी से परिपूर्ण सूक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

निपटना प्रत्येक चित्र-विचित्र से,
शत्रु तो असहाय, बचना मित्र से !

× × ×

कौन भूखा छाँटता दर्शन भला !
कौन प्यासा बाँटता चिन्तन-कला !

जिस रचना का केन्द्रीय कथ्य जीवनानुभव की उपज नहीं होता, वह चाहे महाकाव्य हो या कोई स्वतंत्र कविता, उसका शिल्प अपने शाब्दिक आडम्बर और कवि की महत्वाकांक्षी घोषणा के बावजूद पाठकों पर इच्छित प्रभाव पैदा करने में सफल नहीं होता। रचना की शैली से सम्बद्ध समस्याओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने वाले प्रख्यात आलोचक श्री जे० मिडेलटन मर्रे ने भी यह स्वीकारा है कि 'स्थायी साहित्य की प्रत्येक कृति भाषा की विजय से अधिक भाषा पर विजय है, जो जीवनदायी संवेदनों का शब्दों में अन्तः-क्षेपण है, वह सृजनात्मक लेखक की ऊर्जा का अन्तिम बिन्दु तक निःशेषण है।' 'राधा' की पंक्ति-पंक्ति इस सृजनात्मक सत्य को प्रमाणित करती है कि कवि ने 'राधा' के सृजन में अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा निःशेष कर दी है। 'राधा' के इस महान कवि के सम्बन्ध में प्रख्यात आलोचक श्री नलिन विलोचन शर्मा ने बहुत पहले 'गाथा' की समीक्षा करते हुए लिखा था : आचार्य जानकी-वल्लभ शास्त्री की लेखनी के स्पर्श से कविता के लिए त्याज्य विषय ही नहीं, कितने ही अभिशप्त शब्द भी उद्धार पा गये हैं। जेम्स ज्वायस, डी० एच० लारेंस और जॉन डॉस पैसस ने इस सम्बन्ध में जो अपने गद्य में किया, वह आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने अपने पद्य में किया है।" स्पष्टतः यह कठिन कार्य महाकाव्य के सामन्ती स्ट्रक्चर को देखते हुए बहुत अधिक सृजनात्मक साहस की माँग करता है, जिसे शास्त्रीजी ने 'राधा' में पूरा कर दिखाया है।

सदियों से तड़पते-तरसते मूक प्राणों की व्यथा - कथा ही 'राधा' की मूल प्रेरणा है—

गढ़ नई संस्कृति कि मिट्टी-धूल की।
विजन में भर गन्ध झरते फूल की॥
रह गए अव्यक्त अविकच आज तक—
भाव जिनके, कब सके तिनके महक ?
देवताओं के लिए जन्मे - मरे,
यज्ञ का सुन वृन्दवाद्य डरे - डरे।

सात पर्वों में विभक्त 'राधा' के इस दूसरे पर्व पुरुषार्थ को पढ़ते हुए हिन्दी के आलोचक और पाठक स्वयं अनुभव करेंगे कि 'राधा' महाकाव्य की भारतीय परम्परा में एक अन्यतम कृति है, जो प्रेम और कर्म के गहन द्वन्द्व में पड़े कृष्ण के माध्यम से मनुष्य के सम्पूर्ण मानवीय रूप की खोज करती है।

★

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की गीतिकला

उत्तर-छायावाद के उन कवियों की मूल रचना-विधा गीत है, जिन्होंने छायावाद के अवसान-काल में अपनी काव्य-यात्रा आरम्भ की थी; उनमें नरेन्द्र शर्मा, बच्चन, नेपाली और आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने मूल रूप से गीतों की ही रचना की है और इन कवियों की गीत-यात्रा आधुनिक हिन्दी गीत का स्वर्ण-काल है। इन गीत-कवियों में भी आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का विशिष्ट महत्व इसलिए है कि उन्होंने ही हिन्दी गीत की उस धारा का अप्रतिहत विकास किया है, जिसके मूल उत्स की खोज हिन्दी के सर्वाधिक प्रयोगधर्मी कवि निराला ने की थी। गीत की उस धारा का भी उल्लेख असंगत न होगा जो नयी कविता के बीच से प्रवाहित होती हुई अपनी समस्त प्रयोगशीलता और आधुनिक जीवनानुभव के बावजूद निराला के ही गीतों से प्रेरित-प्रभावित थी। इस धारा के गीत-कवियों में गिरिजा कुमार माथुर, धर्मवीर भारती, केदारनाथ सिंह, दुष्यन्त कुमार और ठाकुर प्रसाद सिंह के नाम उल्लेखनीय हैं। इन कवियों ने गीत को न केवल आधुनिक भाव-बोध प्रदान किया वरन ताजे अछूते बिम्बों, प्रतीकों और लोकगंधी संगीत से युक्त कर उन्हें नया रूप प्रदान किया, जिसका विकास 'नवगीत' के रूप में रेखांकित किया गया। नवगीत के रूप में गीत-विधा को उपलब्धियों के शिखर तक पहुँचाने वाले गीतकारों में शम्भूनाथ सिंह, वीरेन्द्र मिश्र, रामानाथ अवस्थी, रमेश रंजक, नरेश सक्सेना, नईम, रामावतार त्यागी, देवेन्द्र कुमार, सोम ठाकुर, बाल स्वरूप राही, रवीन्द्र भ्रमर, उमाकान्त मालवीय, महेश्वर तिवारी के नाम निस्सन्देह स्मरणीय हैं। लेकिन यहाँ यह उल्लेख असंगत नहीं कि नवगीत के बाद गीत की सहज धारा को खास तरह की फेंक नारेबाजी से बोझिल कर उसे जनबोधी जैसे नाम देकर अनजाने ही उसकी सदियों पुरानी रागात्मक संवेदनशीलता को समाप्त कर देने के हास्यास्पद प्रयत्न भी हुए हैं। कुछ दूसरे गीत-विरोधियों ने—विशेषकर अज्ञेयजी ने तो इसे मृत विधा तक मान लिया था, लेकिन गीत मनुष्य की निकटतम अनुभूतियों की सर्वाधिक आत्मीय विधा होने के कारण आज भी

अपने सहज स्वाभाविक विकास-पथ पर निरन्तर अग्रसर है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की गीत-कला का मूल्यांकन इसी सृजनात्मक परिदृश्य में करना समीचीन होगा।

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का प्रथम गीत-संग्रह 'रूप-अरूप' है, जिसके शीर्षक से ही स्पष्ट है कि इसमें न केवल अरूप-सत्ता की ही व्यंजना है वरन् रूप अर्थात्— जीवन-जगत की वास्तविक अनुभूतियाँ भी गीतकार हुई हैं। इन गीतों की भाषा छायावादी काव्यभाषा की तुलना में अधिक सुस्पष्ट, पारदर्शी और अर्थ-व्यंजक है, उसमें कहीं भी अस्पष्टता और धुंधलका नहीं है। छायावादी भाव-भूमि के इस गीत की अभिव्यक्ति-शैली कितनी पारदर्शी और व्यंजक है, यह गीत-कला की श्रेष्ठता का स्वयं प्रमाण है :

विश्व तुम्हारी माया ?
ज्योतिर्मय, यह अन्धकार—
छाया कि तुम्हारी छाया ?
जलता नभ पी रवि की हाला
उगल रहे तरु पल्लव - ज्वाला
जग के सजग ताप में निखरी
कनक तुम्हारी काया।
तोड़-तोड़ कर प्रस्तर के स्तर—
झरता जीवन निर्झर झर-झर,
मरण यहाँ पाने को जीवन,
शरण तुम्हारी आया !

यह गीत प्रथम दृष्ट या छायावादी मानसिकता से उपजा गीत लग सकता है लेकिन दोनों बंधों में जिस जीवन और जगत की आस्था से उद्वेलित प्राणवान व्यंजना है, वह जीवन से पलायन कर किसी कल्पित लोक अथवा अलौकिक जीवन का चित्र नहीं है। "मैं स्वर हूँ, तू है शब्दकार।" निश्चय ही छायावादी रहस्यभावना की अभिव्यक्ति है किन्तु इसी 'रूप-अरूप' का यह प्रसिद्ध गीत कवि की संवेदना को छायावादी संवेदना से भिन्न रूप प्रदान करता है :

जीना भी एक कला है!
इसे बिना जाने, अनजाने—
जीने कौन चला है?
फिसलें नहीं, चलें चट्टानों पर,—
इतनी मनमानी!
आँख मूंद तोड़ें गुलाब
कुछ चुभे न, क्या नादानी!
अजी, शिखर पर जो चढना है तो कुछ संकट झेलो,
चुभने दो दो-चार खार, जी भर गुलाब फिर ले लो,
तनिक रुको, क्यों हो हताश?
दुनिया क्या भला बला है?
जीना भी एक कला है!

इन गीतों की रचनाधर्मिता का मूल्यांकन किये बगैर यह फतवा कोई मूढ़ और पूर्वाग्रही आलोचक ही दे सकता है कि आचार्य जानकीवल्लभ छायावादी भाव-भूमि के कवि हैं और उनकी काव्य-संवेदना में कोई परिवर्तन और विकास नहीं हुआ है। प्रारम्भ से ही इनके गीतों में जीवन-संघर्ष का ताप विद्यमान है, इन्होंने जीवन की कठोर वास्तविकता से निरन्तर मुठभेड़ की है, जिसकी अभिव्यंजना 1986 में प्रकाशित गीत-संग्रह 'धूप-तरी 'के गीतों में भी मिलती है। हाँ, यह अवश्य है कि उन्होंने संघर्ष और देशभक्ति के नाम पर "है बँधी तक़दीर जलती डाल से आशियाँ को छोड़ उड़ जाऊ" जैसी कायरता भरी पंक्तियाँ नहीं लिखी हैं अथवा सुनूं क्या सिन्धु मैं गर्जन तुम्हारा, स्वयं युग-धर्म का हूंकार हूँ' से प्रारम्भ कर "बँधी है लेखनी लाचार हूँ मैं' की लाचारी का इजहार किसी गीत में नहीं किया है। इस कवि ने तो सदैव वही लिखा है, जो उसके जीवन-संघर्ष के बीच से प्रस्फुटित हुआ है, जो उसकी आत्मानुभूति रही है। 'धूप-तरी' से कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :

(क) घेर रहा अन्धकार, गगन, सावधान!
बादल-दल मंडलाते, किरण सावधान!!
भाषण-प्रवचन के दिन बीते,
रीते अनुभव मीठे-तीते,

कर्म है कठोर, मृदुल वचन, सावधान !
घेर रहा अन्धकार; गगन, सावधान !!
तिकड़म में हैं 'रिश्ते-नाते,
जाति - धर्म खोल बही खाते—
द्वार-द्वार अड़े खड़े स्वजन, सावधान !'
घेर रहा अन्धकार; गगन सावधान !!

धूप-तरी, पृष्ठ 51

(ख) मधु ऋतु के वे सपन सुहाने
क्यों पतझर-प्राणों में आए !
भटक-भटक वन-वन सन्नाटा
काँटों में बाँसुरी बजाए !
भुस्स उड़ाकर गढ़े भर दिए
उमर मरी दाने-दाने पर
खेत हो कि खलिहान, पसीने ने
न कहाँ आँसू बरसाए !
घिस रिस गए नए उनए घन
धरती परती, सुरसरि रेती
बीते, बुझे दिए चिर-रीते
धुंध, धुएं, कुहरे के जाए !
कील, काँच, किरचों की राहें
आहें भर भटके पाँवों की—
धरती लहूलुहान, म्यान में
धँसी हुई असि जंग छुड़ाए !

धूप-तरी, पृष्ठ 67

आचार्य जानकीवल्लभ के गीतों की अन्तर्वस्तु प्रकृत्या गहन जीवनानुभूति है, जिसका आधार फलक चाहे जितनी दिशाओं में और जितनी दूर तक

विस्तृत हो, उसकी गम्भीरता और गहराई ही उसका प्राण है। अनुभूति की ऐसी एकतान गहनता उत्तर-छायावाद के किसी दूसरे कवि में ढ़ूँढने पर भी नहीं मिलती। गीत में कैसी भी संवेदना क्यों न व्यंजित हुई हो, उसकी आत्मा कवि की निजता के रंग में-रंगकर निखर उठी है। यह विस्मयकारी है कि जिन बिषयों पर दूसरों के लिखे गीतों में एक प्रकार की अर्थगत साधारणता मिलती है, उन्हीं विषयों पर आचार्य जानकीवल्लभ ने ऐसे गीत लिखे हैं, जिनकी गहन अर्थ व्यंजकता और अनुभूतिगम्य गहराई अन्यत्र दुर्लभ है। उनके गीतों के विषय — प्रेम, प्रकृति, देशभक्ति और सामयिक यथार्थ, से लेकर आध्यात्मिक प्रेम अथवा भक्ति भावना तक फैले हुए हैं। इन सभी विषयों पर गीतों की रचना कवि की सहज स्फूर्त-प्रेरणा से हुई है, इसीलिए सायास रचित गीतों की तुलना में ये गीत अधिक नये और मौलिक हैं।

प्रेमानुभूति परक गीत

आचार्य जानकीवल्लभ के गीतों में व्यंजित प्रेमानुभूति का स्वर भी अत्यन्त मसृण, गंभीर और उदात्त है, उसमें कहीं भी —किसी प्रकार की दैहिक मांसलता के दर्शन नहीं होते; कवि ने प्रकृति के सौन्दर्य-सुरभित बिम्बों से ही उसकी सजल-सजीव तस्वीर उतारी है। जब व्यक्ति किसी के प्रेम में डूबता है तो उसका सारा अस्तित्व ही संगीतमय हो जाता है और अपने घोर विपन्न और तिमिराच्छन्न जीवन में भी समृद्धि और प्रकाश-बोध से श्रीसम्पन्न हो उठता है। प्रेम सचमुच मनुष्य की जीवन दिशा ही नहीं, अनुभूति की प्रकृति भी बदल देता है :

> नयन में, प्राण में तुम हो, गगन में, गान में तुम हो,
> निरन्तर है भरा अन्तर कि मैं हूँ या तुम्हीं तुम हो !
> सितारों को बताऊँ क्या पता गमख्वार तारों को ?
> न आहत उर हुआ मेरा, अनाहत सुर तुम्हीं तुम हो !
> घुमड़ते बादलों के बज रहे मादल, जली बिजली
> बिखेरें क्यों न दृग मोती, निखरते गर तुम्हीं तुम हो !

उत्पलदल, पृ० 246

प्रेम समस्त अनुकृतियों में सर्वाधिक कोमल और मंगलकारी अनुभूति का नाम है। प्रेम में मिलन का क्षण जितना ही आनन्द से पूर्ण और आह्लाद-

कारी होता है, वियोग की आशंका मात्र से सम्पूर्ण अस्तित्व काँप उठता है—सभी दिशाओं से मानो दुखों के बादल घिर-घिरकर आने लगते हैं। तब ऐसी स्थिति में मन को धैर्य का पाठ पढ़ाना असम्भव हो जाता है और सहसा आँखें बिना पावस के ही बरसने लगती हैं। प्रेमानुभूति की प्रेरणा से लिखे गये हिन्दी के ढेर सारे गीतों में यह गीत भावानुभूति की मर्मस्पर्शी अभिव्यंजना की दृष्टि से एक अनूठी रचना है :

मैं अपने मन को मना रहा,
तुम रोको अपना नयन - नीर !

हम मिले अचानक थे उस दिन
ज्यों सुमन - सुरभि - सम्मेलन हो

फिर बिछड़ रहे यों आज—
काज ज्यों अग-जग के, सखि, खेल न हो।

कुहरीले पुलिन निहार रहा
साँसों के तार सँवार रहा,
गत - विगत - अनागत की उन पर
धीमे - धीमे झनकार रहा,

तुम सिसक - सिसक कर थक जाओ
समझ पाओ यदि प्रणय - पीर !
मैं अपने मन को मना रहा
तुम रोको अपना नयन - नीर !!

तुम भूल न जाओ कूल - मिलन
मैं अपने गान दिए जाता
जितनी भी दूर रहूँ तुमसे,
शाश्वत आह्वान दिए जाता
ये स्वर्ण - रेख - सम चमकेंगे
घन अन्धकार भरने पर भी

ये प्राण गगन मन भर देंगे
मेरे मुरझा झरने पर भी
मैं समझूँ, मैं उन्नत नगपति
तुम समझो, तुम सागर गम्भीर !
मैं अपने मन को मना रहा
तुम रोको अपना नयन - नीर !

मैं सम्पूर्ण गीत उद्धृत करने का लोभ इसलिए नहीं रोक सका कि प्रेम की विविध मनःस्थितियों का चित्रण करने वाले हिन्दी के कवियों में निराला के बाद सिर्फ आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ही एक मात्र ऐसे कवि हैं, जिन्होंने प्रेम की इस अति सूक्ष्म मनोदशा का इतना सहज किन्तु तल-स्पर्शी चित्र अंकित किया है। इसका कारण यह है कि कवि का प्रेम अस्तित्व के भीतर से वैसे ही प्रस्फुटित हुआ है जैसे बीज धरती की सतह तोड़कर सहज प्रेरणा से अंकुरित होता है। इसी प्रेम ने उसके अन्तस्थल को संवेदना से लबालब भर दिया है :

एक जैसे प्रीत का प्रिय गीत है रे
एक केवल प्रीत, केवल गीत है रे,
दिल भरा जिस ठौर, आँखें भी भरी हैं
क्या वसन्त - बहार, क्या बरसात है
बस समय की बात मेरी बात है।

—धूप-तरी, पृष्ठ 14

प्रकृति के गीत :

प्रकृति छायावादी चेतना का ही नहीं समग्र काव्य चेतना का अभिन्न अंग रही है। प्रकृति के बिना जीवन का प्रत्येक रूप रंगहीन ही क्या, प्राणहीन जड़ और निरर्थ हो जाता है। आचार्य जानकीवल्लभ की प्रकृति अपनी प्राणवान अभिव्यक्ति के कारण छायावादी कवियों से अधिक सजीव और अनुभूतिमय होकर प्रकट हुई है। एक-दो उदाहरणों से ही यह समझा जा सकता है कि प्रकृति के ये गीत किस प्रकार मानवीय अनुभूति की गहराई समेटे हुए भी प्रकृति के सहज सौन्दर्य को रूपायित करते हैं ;

(1) धूप-तरी तिरती कुहरी की झील में
जैसे उजली बदली अम्बर नील में !

पुरवाई आई खेतों की ओर से
गई तरी झककोर किरन की डोर से
खनक रही - सी नीरवता पतझार की
महक रही केवलता सूनी डार की
साँस फँसी ठिठुरी धरती की कील में,
धूप - तरी तिरती कुहरी की झील में !

—धूप-तरी, पृष्ठ 9

अथवा

आते-जाते ठिठुर गया - सा
ठहरा है पतझार;
झलक झरा विह्वल कलियों का
सहमा - सहमा प्यार !
भोर - भोर गौरैयों की—
उतरी खेतों में रोर
चह - चह चहल-पहल चकचौंधी
यहाँ - वहाँ, चहुं - ओर !
किरनें भी हो गईं शबनमी
घास - पात को छेड़
बीच खेत में बनी झिलमिली
हरियाली की मेड़ !

धूप-तरी, पृष्ठ 54

देशभक्ति और सामयिक यथार्थ :

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के गीतों में देशभक्ति की अभिव्यक्ति भी अनुभूति-अभि-सिंचित शब्दों में हुई है, वहाँ कोरा वक्तव्यबाजी नहीं है और न ही उखाड़-पछाड़ वाला गर्जन-तर्जन है; यहाँ तो गीत की कलात्मक शैली में देश के प्रति कवि के आत्मीय और अन्तरंग भावों की हृदय-स्पर्शीव्यंजना के दर्शन होते हैं। 'राष्ट्र का आत्मोदय' शीर्षक गीत में कवि प्रगति अपने देश की

यात्रा का चित्र उकेरते हुए उसकी सांस्कृतिक विजय को भी प्रति ध्वनित किया है :

चरण - चरण हम बढ़ते आए !
धूप - छाँह के संधि - रंध्र से
शिखर - शिखर हम चढ़ते आए !
दैन्य, द्वन्द्व, दुख के दल-दल से
महामोह के कल, बल, छल से,
तमस्तोम से, बादल - दल से
हम रवि - शशि - सम कढ़ते आए !

—संगम, पृष्ठ 47

सामयिक यथार्थ के अन्तर्गत कवि के वे गीत परिगणित होते हैं, जिनमें समकालीन जीवन की वास्तविकता प्रतिबिम्बित हुई है। इस सवेदन शील कवि का मन राष्ट्रीय जीवन को आन्दोलित करने वाली प्रत्येक घटना से आहत और विचलित हुआ है और उसने अपनी सुचिंतित प्रतिक्रिया अपने गीतों में पिरोयी है, जो प्रतिक्रिया भर न रहकर एक मूल्यवान दस्तावेज बन गई है। राष्ट्रपिता गाँधी की मृत्यु पर हिन्दी के अनेक कवियों ने कविताएँ लिखीं, जिनमें से अधिकांश में शोकाकुल मन का अरण्य-रोदन भर है लेकिन इस गीत में कवि ने गाँधीजी के महामानवीय व्यक्तित्व की सांस्कृतिक विशेषताओं को जैसे मूर्त कर दिया है :

भव्य भवन हो, मन्दिर हो, परती धरती हो,
राष्ट्र तुम्हारे आत्मतेज का सदाव्रती हो।
अनासक्ति वैयक्तिक सुख-दुख से हो मन की
समवेदित हो पीड़ा अग-जग के जन-जन की
राष्ट्र तुम्हारा विश्वबन्धुता का प्रतीक हो
राजमार्ग वह न हो, भले वह नई लीक हो
शान्ति-सुधा वसुधा पर बरसाए अन्तर से,
राष्ट्रपिता, हो सुन्दर विश्व तुम्हारे वर से।

संगम, पृष्ठ 66

भक्तिभावना की दृष्टि से 'श्यामा संगीत' भक्ति गीतों का उत्कृष्टतम संग्रह है, जिसका कोई भी गीत किसी भी आधुनिक गीत-कवि के गीतों से बढ़कर है। भक्ति की तन्मयता और तल्लीनता का यह काव्यांकन दुर्लभ है। कहीं से भी कोई भी गीत उठाया जा सकता है। मसलन यही गीत देखें—

तेरे द्वार भोर-भिनसारे
तम का मारा किसे गुहारे?
जन-जन का था हुआ चाहता
निर्जनता रह गया थाहता
अमिय-गरल-बोरा कोरा मन—
गिनता रात-रात भर तारे!
तम का मारा किसे गुहारे

उपर्युक्त विवेचन के द्वारा यह रेखांकित करना मेरा अभिप्रेत था कि आचार्य जानकीवल्लभ के गीतों की भाव-भूमि और संवेदना अत्यधिक विस्तृत और व्यापक है। उनके गीतों की कलात्मक नवीनता और मौलिक प्रयोगों पर विचार किये बिना उनके गीतों की श्रेष्ठता का मूल्यांकन अपूर्ण होगा। इसलिए यहाँ कुछ उदाहरणों के आलोक में उनकी गीतिकला सम्बन्धी प्रयोग-शीलता का विश्लेषण द्रष्टव्य है।

गीत-कला के सम्बन्ध में स्वयं आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने यह स्वीकार किया है "सहजता सरलता नहीं है। सहजता स्वधर्म में अटूट निष्ठा से आती है। सरल लिखने वाले कैसी सपाट, सतही बात लिखते हैं। मैं समझता हूँ, कला में सरलता का कोई अर्थ नहीं, सहजता ही उसका सर्वस्व है।" निस्सन्देह आचार्य जानकीवल्लभ के गीतों की कला का प्राण भी उसकी सहजता है। उन्होंने गीतों के छन्दों से लेकर संगीत और शब्द में भी कोई ऐसा प्रयोग नहीं किया है, जो कहीं से भी आरोपित दिखता हो। ये प्रयोग किसीको सरल के बजाय अधिक संश्लिष्ट दिखें तो इस संश्लिष्टता में भी निहित सहजता के दर्शन उसी व्यक्ति को होंगे, जिसने जीवन को सहज भाव से जिया हो—अपने चारों तरफ आडम्बर और कृत्रिमता का चकमक घेरा न खड़ा किया हो। इसलिए, गीत-सम्बन्धी कितने-कितने आन्दोलन-आलोड़न आये और गये लेकिन उन्होंने हिन्दी को आचार्य जानकीवल्लभ के

फड़क रही थी कोंपल
अंसुओं से ढक के
गुच्छे थे सोए
टहनी से दब, थक के

—धूपत्तरी, पृष्ठ 49

गीत की प्रकृतिगत अनिवार्य विशेषता उसकी संगीतिकता है। प्रायः गीत के संगीत को शब्दों की सतह पर उत्पन्न लय समझने की भूल की जाती है। गीत-सर्जना शब्द और स्वर की ही एकता की साधना नहीं है, इन दोनों को आन्तरिक सूत्र में पिरोकर एकमेक करने वाली संवेदना की लय होती है जिसकी अनुपस्थिति में गीत महज शब्द-संयोजन बन कर रह जाते हैं। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के गीत गीतिकला की इसी संगीतिकता से परिपूर्ण आदर्श गीत हैं, जिन्हें कोई भी गायक भावानुसार रागिनी में ढालकर मुखरित कर सकता है। यह बड़बोलापन नहीं कि हिन्दी भाषा-भाषी राज्य बंगाल की तरह सांस्कृतिक चेतना सम्पन्न होते तो रवीन्द्र-संगीत के समान यहाँ भी निराला-संगीत ही नहीं, आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री-संगीत भी गूँज रहे होते। जीवन के रागात्मक संवेदनों के गायक इस महान गीतकार ने विश्व कवि के समान अपने अनेक गीतों की स्वर-लिपि स्वयं तैयार की है। यहाँ कुछ गीतों का उल्लेख अपेक्षित है, जिनकी रागिनी कवि ने स्वयं ही निश्चित की है और उन्हें अपना मधुर स्वर दिया है। यथा—

तुम कि तनहाइयाँ ढूँढ़ते शून्य की
चाँद-तारे तुम्हारे लिए हैं जले।

—राग : सिन्धु भैरवी

बना घोंसला पिंजड़ा पंछी।

—राग : छायानट

किसने बाँसुरी बजाई ?

—राग : केदार

प्यास तुम्हारी कण्ठ - कण्ठमें·········

—राग : शंकरा

मैं न गगन हूँ, मैं न मही हूँ !

—राग : बहार

इनके गीतों की सांगीतिक चेतना का उल्लेख करते हुए हिन्दी गीतिकाव्य के विशिष्ट आलोचक डॉ० लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी' ने लिखा है—"इनकी गीतियों में संगीत तत्व भरा हुआ है, जो इनके संगीतज्ञ होने का परिचय देता है।"

उपर्युक्त विवेचन-विश्लषण से यह स्वतः प्रमाणित होता है कि गीतिकला अपनी समस्त विशेषताओं के साथ आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के गीतों में चरितार्थ हुई है। गीत जितनी सहजता से हमारे हृदय मे होते हुए हमारे अधरों पर पहुँचकर गूँजते हैं, गीत-सृजन की साधना उतनी सहज कला नहीं है। गीत मूलतः सर्जक व्यक्तित्व का उच्छल - निर्मल अन्तः उद्घाटन है, जिसकी सिद्धि और सफलता कवि की गहन मानवीय दृष्टि और अन्तर्हित संवेदनशीलता पर निर्भर है। इस दृष्टि से गीत-कला की साधना सभी काव्य-विधाओं में अत्यन्त कठिन साधना है। जीवन की किसी एक संवेदना के माध्यम से विश्व-मानव के जीवन-सत्य की अभिव्यंजना गीत को महाकाव्य की उदात्तता ही नहीं, विराट्ता भी प्रदान करती है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के गीत इस कठिन-कला की सिद्धि के सुन्दरतम उदाहरण हैं। यह विस्मयकारी ही नहीं, प्रीतिकर सत्य है कि जिस प्रकार कहानी की कठिन कला को जैसे महान कथाकार चेखब ने सहज रूप में साध लिया था, वैसे ही आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की लेखनी से गीत ऐसे ही फूट पड़ते हैं जैसे मुक्तमन से सहज रूप में चिड़िया चहकती है, फूल खिलते हैं और चट्टान तोड़कर निर्झर फूट निकलते हैं।

★

हंसबलाका : हिन्दी गद्य का उत्कर्ष

कविता हो अथवा गद्य, सर्जक के आत्मानुभव का मानवीय संस्पर्श ही उसे श्रेष्ठता प्रदान करता है। श्रेष्ठ कृतियों का इतिहास इसी सर्जनात्मक सत्य को उदाहृत करता है कि रचना की कालातीत व्याप्ति उसकी अन्तर्हित आत्मपरकता के कारण ही सम्भव होती है। आत्मानुभव के बिना शब्दों की स्थिति हरीतिमा रहित नीरस-निर्जीव वृक्षों के समान होती है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का सम्पूर्ण गद्य-साहित्य उनकी कविता के समान ही उनकी आत्माभिव्यक्ति के कारण न केवल जीवन-रस से ओत-प्रोत है वरन् हिन्दी गद्य में एक विशेष प्रकार के गद्य का उदाहरण है जिसमें कविता न होते हुए भी काव्यात्मक लालित्य का आस्वाद है तो दूसरी ओर जटिलतम मनःस्थितियों और परिवेश का ऐसा जीवन्त चित्रण है कि वह कथा-साहित्य से बढ़कर यथार्थवादी और उत्प्रेरक हो उठा है। आज से लगभग पन्द्रह-बीस वर्ष पूर्व हिन्दी के जिन महान कथाकार जैनेन्द्र कुमार ने उनके गद्य पर उंगली उठायी थी, उन्होंने ही 'हंसबलाका' पढ़ने के बाद इस लेखक से कहा था—"आचार्य जानकीवल्लभ का हंसबलाका' सृजनात्मक गद्य का सुन्दर उदाहरण है। आत्माभिव्यक्ति की यह प्रौढ़ता सचमुच विस्मित कर देती है।" कहना न होगा कि जिन्हें आलोचना, उपन्यास, कहानी, संस्मरण आदि लिखने वाले आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के गद्य की कला का उत्कर्ष देखना हो, उन्हें निस्सन्देह 'हंसबलाका' की अन्तर्यात्रा पर निकलना चाहिए।

'हंसबलाका' परम्परागत अर्थ में आत्मकथा नहीं है, यह एक दृष्टि से उससे बढ़कर एक ऐसी आत्म-रचना है, जिसमें एक महान साहित्यकार के बनने की सम्पूर्ण प्रक्रिया का आत्मिक अंकन है, उसमें समकालीन जीवन-जगत और महान व्यक्तित्वों की ही झाँकी नहीं मिलती वरन् उन सामान्य समझे जाने वाले व्यक्ति भी हैं, जहाँ मानवीयता अधिक प्रगाढ़ और सघन रूप में सुरक्षित है। लेखक ने ऐसे चरित्रों के अन्तर्मन की मानवीय तड़प और वेदना को इतनी निकटता से उलीचकर रख दिया है कि पाठकों की सुसुप्त करुणा असंख्य धाराओं में प्रवहमान हो उठती है। तेरह अध्यायों में

विभाजित इस आत्म-रचना का पहला अध्याय 'बूड़ा वंश कबीर का' है जिसका प्रारम्भ ही हमारी मानवीय कोमलता को छूता ही नहीं वरन् हमें विचलित भी कर देता है "कोई कलेश नहीं कि मैं अपनी लम्बी वंश-परम्परा का, एक पुरुष-सदस्य के रूप में अन्तिम व्यक्ति हूँ—असीम का सीमान्त, अविराम का पूर्ण विराम।" अपने वंश के अन्तिम व्यक्तित्व के रूप में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने अपनी सृजनात्मक कृतियों के हजार-हजार दीपक प्रज्वलित कर उस वंश को इतना अधिक आलोक और आभा से उद्भासित कर दिया है कि उस वंश की समाप्ति अंतहीन अमरता में परिणत हो गई है। इस अंतहीन अमरता का अकेला साक्षी यह 'हंसबलाका' है, जहाँ शैशव के प्रारम्भ से पूर्व ही माँ की ममतामयी मसृण छाया से वंचित पुत्र की वेदना की यह व्यंजना किसी भी महान 'क्लैसिक' कृतित्व की अन्तर्धारा से कम मार्मिक और कलापूर्ण नहीं है—"किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए रचनात्मक बुद्धि से किया जाने वाला प्रयास ही तो कर्म है। उनका अकाल मृत्यु में मुंदनेवाला प्यार जितने दिन भी मेरी आँखों में खिला रहा, पिता के क्रोध से धधकते बचपन में चिरायंध की जगह अमंद सुगन्ध ही बिखेरता रहा। आफत और मुसीबत जिसकी नियति थी; आक्रोश और अपमान जिसका पाथेय; उस किशोर-वय में कुलांच मारने की तेजी और नित-नये हौसले संजोने की ताजगी को रफ्तार देनेवाला माँ का वह चन्दरोजा अपार प्यार ही था, जिसके सौ-सौ किस्से दीदी और दाई वक्त-बेवक्त सुनाया करती थीं।" लेखक का बचपन अभाव, अपमान और यातना का पर्याय था लेकिन उस अभाव का गहन बोध उसे कितनी दूर तक कितना, गहरे तोड़ता होगा—यह इस प्रसंग से स्पष्ट है—"चौथ चन्दे के मौके पर स्कूल के गुरुजी लोग "चौथ-चौथ चन्दा भादो मास' चिल्लाते बच्चों के साथ घर-घर घूम, उनकी सूम-सूम-से माँओं से भी कुछ न कुछ वसूला करते थे। धनी बच्चों की माँओं को देर-देर तक घेर-घेर कर रिझाते-खिझाते। उस वक्त माँओं का उच्छ्वसित निछावर देखते ही बनता। लेकिन वही गुरुजी और बच्चे मेरे घर की तरफ से गुजरनेवाली गली जैसे उड़कर पार कर जाते; मेरे दरवाजे की तरफ जरा नजर उठाकर ताकते भी नहीं। उस घड़ी मेरा कलेजा दो टूक हो जाता : काश मेरी माँ की अदृश्य आँखें यह दृश्य देख सकतीं।" ऐसे कितने ही हृदयस्पर्शी प्रसंग हैं, जिन्हें इस समर्थ कलाकार ने साकार कर दिया है। जन्म से लेकर ग्यारह-बारह वर्षों की जीवन-यात्रा के अनेक उतार-चढ़ावों का सजीव वर्णन करते हुए लेखक आत्मकथा के दूसरे अध्याय 'माँ' के बाद 'पितृदेव' में अपने विख्यात पंडित पिता श्री रामानुग्रह शर्मा के

व्यक्तित्व की विशेषताओं के साथ ही उनके क्रोधी स्वभाव और कठोरता का अभंग होकर अंकन करता है लेकिन यह करुण स्वीकृति भी आत्मानुभव के स्पर्श से मर्म-पुलक हो उठती है "अरे, पिताजी की वह इस्पाती, कठिन-कठोर आकृति पारिजात के पराग-राग से कैसे रंग गई ? लौह-शृंखला-सी झनझन बजती वाणी में वीणा-वेणु का स्वप्न कहाँ से छन आया ? और अब, जब मैं बत्तीसी की बिजलियाँ जला आषाढ़ की गड़गड़ाहट बरसाना चाहता हूँ, बिछड़ते वक्त की भाप-भरी धुंध में से उनकी आकाशी आँखों से ढुलकी गर्म बूँदें क्यों कर झलमल कर उठीं ?" पिता की अनुशासित-चट्टानी कठोरता के नीचे बहने वाले सहज वात्सल्य और ममत्व की इस उद्रेक भरी दो बून्दों का मूल्य और मर्म स्वयं लेखक जैसा अत्यन्त संवेदनशील व्यक्ति ही अनुभव कर सकता है ।

'निष्क्रमण और 'गुरु गोविन्द' दोनों अध्यायों में महाकवि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की जीवन-यात्रा को सृजनात्मक दिशा देने में सहयोगी गुरुओं एवं परिस्थितियों का यह वर्णन न केवल प्रेरणा का अक्षय स्रोत है अपितु यह अपने व्यक्तित्व के सृजनात्मक निर्माण के प्रति समर्पित अभावग्रस्त युवा पीढ़ी के लिए एक मार्ग-दर्शक दस्तावेज है । कहना न होगा कि प्रतिभा की आग चाहे जितनी बड़ी हो पर उसे प्रज्वलित करने के लिए महान गुरु का विद्युत-स्पर्श अनिवार्य होता है । जब बारह-तेरह की उम्र में लेखक घर छोड़कर चौदह कोस की दूरी पर गोविन्द विद्यालय, दधपा पढ़ने गया तो वहाँ विद्यालय के प्रधानाध्यापक पंडित दामोदर मिश्र ने उसके अन्दर यह संकल्प जगाया—"कोटि-कोटि प्रयत्न करके भी तुम बड़े लक्ष्मीवान् नहीं हो सकते, किन्तु ज्ञान की किसी एक शाखा में अलौकिक निपुणता-प्राप्त, अद्वितीय हो सकते हो; अपनी सतत् साधना से समुदाय को अनिर्वचनीय भाव-रस में परिप्लावित कर सकते हो ।" निस्सन्देह गुरु की प्रेरणा का साकार स्वरूप आज के काव्य-शिखर आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री हैं, जिन्होंने एक योग्यतम शिष्य के रूप में ऐश्वर्य-वैभव की सीमित और तात्कालिक उपलब्धियों की राह छोड़ कर सृजनात्मक और विद्वता की वह ऊँचाई प्राप्त की है, जहाँ पहुँचना आज की पीढ़ी के लिए एक दिवा-स्वप्न मात्र है । इस कल्पनातीत लक्ष्य की प्राप्ति इसलिए सम्भव हुई कि प्रारम्भ में ही लेखक ने पोथियों के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करने की निर्जीव निष्प्राण बनाने वाली प्रणाली का परित्याग कर दिया—"जो गले के नीचे नहीं उतरा उसे फू-फू करके फेंक दिया । मेरे कच्चे दिल-दिमाग में किताबी ज्ञान ठूँसने की किसे जल्दी थी ? इतमीनान से सन 1924 में अपर

पास करने का प्रमाण-पत्र मिल गया। सूरज न देखा तो क्या हुआ, मिट्टी का एक दिया तो जल ही गया। गन्दगी निर्गन्ध न रही !" कवि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के जीवन में दो व्यक्तियों का आगमन क्रमश: सूर्य और चन्द्रमा के समान होता है, जो उनके सर्जक व्यक्तित्व को न केवल नये आयाम और दिशा प्रदान करते हैं वरन् उनका सम्पूर्ण जीवन आलोकमय हो उठता है, उसमें एक हिन्दी कविता के सूर्य सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला हैं, जिनके सन्दर्भ में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने लिखा है—"निराला मेरी चिन्ताधारा के विराम बन गए। मन मान गया; रामकृष्ण-विवेकानन्द को पाने योग्य मेरा तप या ताप न था। रामतीर्थ मेरे औघट घाट को तीर्थ नहीं बना सकते थे। हलचल थी जो क्षिप्रता में ठहर गई थी। स्वच्छन्द को छन्द की खोज थी, अहंकार नमस्कार हुआ चाहता था। साँसों से गुंथे-गुंथे से क्षण किसी विश्वास-शिला की रूपहली छाया में विश्राम ढूँढ़ रहे थे। निराला मिले।" निस्सन्देह आचार्य जानकीवल्लभ जी को निराला के रूप में एक ऐसे महान गुरु मिले, जिन्होंने उनकी प्रतिभा के अन्तस्थल में जाकर उनके सृजनात्मक उत्स को छूकर जगाया ही नहीं, उसे सही दिशा भी दी और वे रचनात्मक उपलब्धियों के सोपान चढ़ते हुए इस शिखर तक आ पहुँचे हैं। निराला की अन्तरंग निकटता के कारण शास्त्री जी को उनका पर्याय समझने वालों की कमी नहीं है और सच तो यह भी है कि निराला के समान ही इस रचनाकार ने गद्य-पद्य दोनों में अपने अप्रतिम कला-कौशल का परिचय दिया है। 'हंसबलाका' की गद्य-शैली का उत्कर्ष 'अजन्ता की ओर' शीर्षक खण्ड में देखा जा सकता है गोकि उससे पहले 'मैं गाता हूँ' शीर्षक खण्ड में लेखक ने अपनी सर्वाधिक प्रिय काव्य-विधा गीत में अपनी सृजन यात्रा के विकास के मार्मिक किंचित् साहित्यशास्त्रीय कथा-पड़ावों का उद्घाटन किया है, जो तत्कालीन काव्य-परिदृश्य और रचनाकर्मियों की सृजनशीलता की सुन्दर झलक प्रस्तुत करता है। रायगढ में राजकवि के रूप में लेखक ने यह अनुभव किया कि "साहित्य संगीत से छनकर निकले। किसी भी राग-रागिनी में गीत लिखने के लिए तैयार रहना था।" यह खण्ड उन पाठकों और कवियों के लिए विशेष रूप से पठनीय और प्रेरक है, जो कविता और संगीत को सर्वथा अलग करने की भूल करते हैं - संगीत केवल स्वरों के आरोह-अवरोह में ही नहीं होता, आन्तरिक संगीत भी एक चीज होती है, यदि वह कवि में है तो वह जो भी लिखेगा संगीत से छनकर लिखेगा। उदाहरणार्थ लेखक की यह उक्ति आज भी सार्थक है "सूर और रवीन्द्र की भाँति निराला भी संगीत की लहरें गूंथते थे। जब बहार में 'फिर संवार सितार लो' या दरबारी

कान्हड़ा में : दे, मैं करूँ वरण !" गाते थे, जयदेव से अबतक के कवि-गायकों की परम्परा मुखर हो उठती थी। स्वयं न गाने पर भी महादेवी, प्रभात और वियोगी ने स्वर-ताल-निबद्ध गीत लिखें हैं।"

'अजन्ता की ओर' अजन्ता का यात्रा-वृतान्त नहीं है। यह समूचा खण्ड आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की पारदर्शी और निर्मल गद्य-शैली का नमूना तो है ही, उनके चारू सौन्दर्य—बोध और यायावरी वृत्ति की अन्यतम मिसाल है। प्रकृति के मनोरम सौन्दर्य के बीच रमणियों के सौन्दर्य का साहचर्य किसके प्राणों में रसोद्रेक नहीं करता ? कवि ने सैलानी युवतियों—विशेष कर शालिनी दवे के रूप-रंग का चित्र उकेरते हुए लिखा है "किरन सी पतली, हवा-सी हल्की और पहले प्यार की धड़कन-सी रंगीन। गुच्छ-गुच्छ केश जैसे चितवन की छाँह गुँथी-गुँथी उंगलियाँ जैसे चम्पे की पंखुरियाँ।" यही नहीं, यह चित्र भी तो देखें "शालिनी रंग-बिरंगे फूलों का गुलदस्ता थी। उसके सुनहले काले केश गोधूलि के किरनीले अंधेरे की तरह धूप-से रूप पर छाए हुए थे। टेसू के गुच्छों से-रेशमी फीते शिरीष के फूलों-से कानों के गिर्द चमक रहे थे। चेहरे पर पसीना झलमलाता तो लगता, फूल के गाभों में मकरविन्दु भर आए। अधर पर स्मित-छवि छिटकाती हुई दाँतों की प्रान्त प्रवाल की लाल लड़ी में पोए मोतियों-सी सुलगती।" हंसबलाका' के लेखक की इस सौन्दर्य चेतना को उसके इस बाल-सौन्दर्य बोध का ही विकास मानना चाहिए क्योंकि जब वह आठ-नौ वर्ष का था, तभी पीरू कहार ने एक सजातीय स्त्री को व्याही की तरह रख लिया था, जिसकी अप्रतिम सुन्दरता के कारण वह गाँव की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी थी। एक दिन उसकी मृत्यु की खबर ने बाल मन को—उसकी रूप-पिपासा को किस हद तक आहत किया होगा—यह निम्नांकित स्थल से स्पष्ट है" एक दिन सास-पतोह में कुछ ऐसी बक-झक हुई कि वह कालीदह में डूबकर मर गई। मैं फुस फुसाकर घुटे-घुटे स्वर में बड़बड़ाया : सुन्दरता मर गई। पिताजी के प्रताप और प्रहार से अंजर पंजर ढीला रहता था। तो भी कैसी तीव्र रूप-पिसासा थी मुझमें, और कैसी दलदल भावुकता भी कि उसके डूब मरने का समाचार जब कानों ने सुना, आँखों तले अंधेरा छा गया।"

—हंसबलाका, पृष्ठ 55

'हंसबलाका' एक ऐसी श्रेष्ठ आत्मकथा है,—जिसे आत्मस्थ होकर ही पढ़ा जा सकता है, बिना आत्मस्थ हुए उसके सृजनात्मक रस और सौन्दर्य से अभिभूत होना सम्भव नहीं है, कारण कि यह चित्त की सम्पूर्ण एकाग्रता

की साधना से निष्पन्न कृति है। प्रसाद, निराला, महादेवी, हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे रचनाकारों के अन्तरंग व्यक्तित्वों की झाँकियाँ प्रस्तुत करनेवाले संस्मरणों में उस युग के समकालीन साहित्यिक और सांस्कृतिक मिजाज के भी दर्शन इस कृति में होते हैं। हिन्दी के जिन लेखकों-पाठकों को इन महान विभूतियों के साहचर्य का पावन सुख प्राप्त नहीं हुआ है, उन्हें इन संस्मरणों के जरिये उन तक पहुँचने का रचनात्मक आनंद भी प्राप्त होगा। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने इन महायाज्ञिक व्यक्तित्वों के प्रकाश-पुंजों को सहेजते हुए कहीं भी पूर्वाग्रह का परिचय नहीं दिया है। प्रसाद से लेकर हजारी प्रसाद द्विवेदी के सम्बन्ध में उनका मूल्यांकन उल्लेख्य है। 'प्रसाद जी अकर्मण्य भावुक न थे, उनका कर्म भी तुमुल, कोलाहल कलह न था। भाव और कर्म के सौन्दर्य और भक्ति से उनके शील ने श्रद्धा की सृष्टि की थी। निराला उन्हें 'श्रद्धा देवो वै मनु:' यों ही नहीं कहते थे।"

— प्रसाद की याद पृष्ठ 307

द्विवेदीजी के संदर्भ में लेखक की उक्ति उनके सम्पूर्ण साहित्यकार का सही मूल्यांकन है—'द्विवेदीजी थे तो लगता था, हमारी सदानीरा चिन्ता-धारा सूखी नहीं है, प्रत्युत नई विचारधाराओं के समानान्तर कल-कल निनाद करती हुई प्रवाहित होती रही है। पश्चिमी आकाश की तांबे—जैसी ललाई उसे अपने रंग में नहीं रंग पाती क्योंकि उसका खुद का रंग खाँटी सोने का है। चाहे तो तांबा ही उसे अपना कर अपना मूल्य बढ़ा ले।" (फटा गगन पट कौन सिएगा, पृष्ठ 345)

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने 'हंसबलाका' में जैनेन्द्र और अज्ञेय के साथ अपने सम्बन्धों की स्मृति लिखते हुए इन दोनों के भी सर्जक-व्यक्तित्वों के अनेक आयामों का अन्तरंग उद्घाटन किया है। किसी रचनात्मक व्यक्तित्व की समीपता का अर्थ उसकी दैहिक निकटता अथवा दैनिक दिनचर्या में शामिल नहीं होना है वरन् उसकी जीवन-दृष्टि और मानवीयता से गहन सरोकार है। जैनेन्द्र के सम्बन्ध में यह कथन भी देखें—' जैनेन्द्र जी देते समय पात्रता बिसरा देते हैं; सधी वाणी रूखी-सूखी भी घास पर मोती बिखेरती चली जाती है। वैसा भी धुआं उनके गले में घुटन पैदा नहीं करता। इधर अपने राम के हाथों खुदी फूलों की क्यारियाँ फूलों का कब्रिस्तान बन जाती हैं।" अज्ञेय का संस्मरण जहाँ हिन्दी कविता और कथा-साहित्य में आधुनिकता के अग्रदूत अज्ञेय के व्यक्तित्व का आत्मीय अंकन करता है, वहीं वह अपनी सजल सहजता से हमें द्रवित भी कर देता है। इस

संस्मरण का ही नहीं, इस पुस्तक का अंत भी अत्यन्त मर्मस्पर्शी और व्यंजक है— "मैंने चौंककर देखा, इलाहाबाद आ गया था। उन्होंने (अज्ञेय) झटपट अपना बिस्तर लपेट लिया था, उन्हें दिल्ली के लिए गाड़ी बदलनी थी। मुझे चुपचाप बैठे रहने के लिए कहा और आप तेज कदमों से चलकर भीड़ में खो गए। कुछ देर बाद लौटे तो हँसते हुए मेरे हाथ में पटना तक का एक टिकट थमाया :

आपकी यात्रा सीधी है बैठे-बैठे इसीसे पहुँच जायेंगे।

'शुभास्ते सन्तु पन्थान:।' फिर हौले-हौले खिसकती हुई गाड़ी से अपना सामान उतारते-उतारते बोले—मेरा रास्ता ऐसा आसान नहीं, मुझे प्रतीक्षा करनी होगी।' सचमुच अज्ञेय की रचना– यात्रा भी आसान नहीं थी।

एक असाहित्यिक की डायरी : शब्दों की सीप में मोती

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की एक विशिष्ट कृति है "एक असाहित्यिक की डायरी"। इसमें भी उनके गद्य की अभिव्यंजना शक्ति अपने उत्कर्ष पर है।

'एक असाहित्यिक की डायरी' न केवल छायावादोत्तर हिन्दी कविता के प्रमुख स्तम्भ आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के सशक्त गद्य का नमूना प्रस्तुत करती है बल्कि गीत-काव्य और गीतिकाव्य के अन्तर को भी पहली बार इतनी सूक्ष्मता और व्यापकता के साथ उजागर करती है। मित्रों से वार्तालाप के जरिए साहित्य और जीवन के गूढ प्रश्नों पर गंभीर विवेचन विश्लेषण की यह शैली विश्वकवि रवीन्द्र नाथ टैगोर और मुक्तिबोध ने भी ग्रहण की थी और नयी रचना विधा को जन्म दिया था। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की इस पुस्तक में पांच गद्य रचनाएँ हैं जो अपनी प्रकृति में एक दूसरी से भिन्न और अपूर्व हैं। पहले संस्मरणात्मक लेख में लेखक की निराला से पहली भेंट से लेकर उनके साथ अंतरंग होते उसके संबंधों की सृजनात्मक अभिव्यक्ति है। शास्त्री जी के गद्य के संबंध में प्रख्यात कथाकार जैनेन्द्र जी ने एक बार कहा था कि उनका गद्य सामान्य पाठकों के लिए सहज नहीं है, जिस दिन वह सहज हो उठेगा, उसमें हिन्दी गद्य का अपूर्व सौंदर्य आ जाएगा। निस्संदेह गद्य का वह सहज सौंदर्य और प्रवाह इस पुस्तक के प्रत्येक लेख में दिखलाई पड़ता है। उदाहरण के लिए निराला के प्रथम दर्शन के प्रभाव को रेखांकित करते हुए लेखक ने लिखा है 'निराला का देवदारू-सरीखा व्यक्तित्व भूर्ज-पत्र-

जैसे रुक्ष-धूम्र वस्त्रों में भी मनोज्ञ मालूम देता था, किन्तु उनकी आकाश-सी आयत आंखों का आकुंचन-प्रसारण तो अतीत अदभुत था। काव्य-पाठ के समय मन्द्र सप्तक के कभी धैवत और कभी निषाद तक उनका स्वर उतरता। आखें अर्द्ध निमीलित-सी हो जाती थीं जिनसे छनकर आता हुआ आर्द्र प्रकाश मन की मलिनता हर लेता था और तार सप्तक में अन्तरों का चढ़ाव तो आंखों को योगियों की सी उन्नीत दृष्टि देता था जिसका सामना करना अत्यंत कठिन होता था। दोनों ही स्थितियों में उनके मोतियों से दांतों में जैसे मन्द स्मित की किरण उलझी होती थी। (पृष्ठ संख्या 1) कहना न होगा कि निराला के विराट व्यक्तित्व के प्रभाव का यह शब्दांकन उतना, दुरुह नहीं है, जितना 'हंसबालका' का गद्य।

शास्त्री जी निश्चय ही उस उत्कर्ष पर हैं, जहां लेखक भाषा के अधीन नहीं होता, बल्कि भाषा उसके अधीन होती है, उसके संकेतों पर उसके जीवनानुभवों को अभीष्ट अभिव्यंजना प्रदान करती है। निराला के निकट संपर्क में आने के बाद लेखक का अपना सारा ज्ञान और रचनात्मक दृष्टिकोण जैसे तिरोहित होने लगा और वह स्वयं को भावांतरित अनुभव करने लगा—"निराला के देख लेने पर भावान्तर हो गया है। अब अपनी दृष्टि का विश्वास कुहासे की तरह उड़ता दीख पड़ता है। निराला की उल्वण पदावली, बंकिम वाक्य विन्यास एवं निगूढ़ ध्वनियोंवाली रचनाएं चाहे जैसी समृद्ध हों सामान्य जनों को वह सहसा स्वीकार्य न होंगी। लीक पीटने वाले, पूर्वाग्रह-ग्रस्त अहमन्य आलोचकों को भी नहीं क्योंकि वह देशी-विदेशी सरणियों को ही दुहराते रहने के अभ्यासी होते हैं। समीक्षा को भी नए-नए उन्मेषों की प्रतीक्षा होती है, उन्हें इसकी आंशिक चिंता भी नहीं होती। जैसे प्रत्येक रचनाकार से उसके निजी नए तेवर की अपेक्षा होती है, ठीक उसी प्रकार समीक्षक से भी मौलिक उद्भावनाओं की अपेक्षा रचनाकार को होती है।" (पृष्ठ संख्या 30)

इस पुस्तक का दूसरा लेख सर्वाधिक महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय है क्योंकि लेखक ने इसी में गीत-काव्य और गीतिकाव्य के अन्तर को संभवत. पहली बार इतनी सूक्ष्मता के साथ रेखांकित किया है। लेखक के अनुसार 'किसी एक ही मन: स्थिति, एक ही अनुभूति की सरल या सघन अभिव्यक्ति गीति-काव्य का लक्ष्य होती है। संक्षिप्तता उसकी केन्द्रीय भावना में तीव्रता लाती है। स्पष्ट है कि गीति-काव्य वह काव्य विधा है, जिसमें कवि कम से कम शब्दों में अपने भावावेग को तीव्रतम ही नहीं, सघनतम अभिव्यक्ति प्रदान

करता है। अनावश्यक विस्तार जैसे कहानी के प्रभाव को बिखेर देता है, वैसे ही गीति-काव्य में दुहरावट या अवांछित विस्तार उसके प्रभाव को समाप्त कर देता है। यही कारण है कि एक श्रेष्ठ गीति-कविता महाकाव्य अथवा खण्डकाव्य की अपेक्षा हमें अधिक जल्दी अधिक गहरे प्रभावित ही नहीं, अभिभत भी करती है। खेद का विषय है कि हिन्दी में आज गीतिकाव्य के अंतर्गत ऐसे गीतिकाव्यों की बाढ़ आ गई है जो 'सम्यक अनुभूति की सम्यक अभिव्यक्ति' न होने के कारण सहृदयों को अभिभूत करने में सर्वथा अक्षम है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने निराला के एक प्रसिद्ध गीत—

अस्ताचल रवि, जल छल-छल छवि,
स्तब्ध विश्व, कवि-जीवन उन्मन
मन्द पवन बहती सुधि रह-रह
परिमल की कह कथा पुरातन !

की तुलनात्मक व्याख्या बच्चन के गीत 'दिन जल्दी-जल्दी ढलता है', के साथ कर स्पष्ट कर दिया है कि स्तरीय गीतिकाव्य की रचना इतनी सरल नहीं है। प्रसंगात् यह उल्लेख असंगत न होगा कि गीतिकाव्य की स्तरीयता को 'नवगीत आंदोलन में जुटे यशःप्रार्थी गीतकारों ने समाप्त कर दिया है। कोरे नारों को गीतात्मक तुकबन्दियों में पिरोनेवाले गीतिकारों ने गीति काव्य की सारी शर्तें भुलाकर लिखना शुरू कर दिया :

'बजजा हथौड़ा ठन-ठन,
'अब न रहेगा यह शोषण'

कहना न होगा कि नवगीत से जुड़े उन्हीं गीतिकारों ने गीतिकाव्य को समृद्ध किया है, जो गीतिकाव्य और गीत-काव्य का अंतर भली-भाँति समझते हैं। वीरेन्द्र मिश्र, रमेश रंजक, नईम, माहेश्वर तिवारी और नरेश सक्सेना के गीतों के सामने नवगीत के आंदोलनकारी स्वयं कितने साधारण हैं, यह उनके गीतों से गुजरते हुए कोई भी सहृदय पाठक महसूस कर सकता है : बहरहाल, ऐसे लोगों के लिए ही शास्त्री जी ने यह स्पष्ट लिखा है 'ज्ञान को नाम और कर्म को रूप कहें तो भाव को इन नाम रूपों के ऊपर प्रतिष्ठित करना होगा। प्राणों का संस्पर्श न हो तो क्या शुष्क ज्ञान और क्या यांत्रिक कर्म ! क्या तोतारटंत नाम और अष्टकाव्य रूप।' आगे बढ़ने पर शास्त्री जी की यह महत्वपूर्ण स्थापना भी सामने आती है जहां उन्होंने गीतिकाव्य को इन

शब्दों में परिभाषित करते हुए लिखा है 'गेयता की भांति अनुभूति की सघनता भी हो तो गीत गीतिकाव्य बन जाता है। कोमल भावनाएं गीतिकाव्य की परिधि को यों नियमित करती हैं कि वस्तुवर्णनाएं कवि की आत्मानुभूति से छनने पर अपना खुरदुरापन खो देती हैं।' (पृष्ठ 78) इस लेख की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहां केवल सैद्धांतिक विवेचन ही नहीं, सिद्धांत की कसौटी पर गीतों की व्यावहारिक समीक्षा भी है।

पुस्तक के अंत में दो ललित निबंध 'प्रकाश-पर्व' और 'आऊं मां ?' है, जिनमें कवि की कोमल मानवीय संवेदनाओं की लालित्यपूर्ण अभिव्यंजना द्रष्टव्य है। शास्त्री जी के गद्य की एक विलक्षणता स्थल-स्थल पर मिलने वाली व्यंग्य की तीव्र धार है। आधुनिक सभ्यता में पले लोगों के दूध पर लेखक का यह व्यंग्य देखें-'जो लोग लोकगीतों की लीक पर कलम दौड़ाते हैं, वह भी भावुकता के खिलाफ हैं। कमाल है। भावुकता के अलावा कोमल भावनाओं का अस्तित्व और कौन स्वीकारेगा ? लोकगीतों के शब्द भावुकता में पले हैं, लोकगीतों की धुनें भावना के रसस्रोत से फूटी हैं। अगर वह हमें भावाकुल न करें तो अमीरों के कोड़ों और शिकारियों की बंदूकों को ही वैज्ञानिक वाद्ययंत्र मानना होगा।'

एक स्थल पर शास्त्री जी ने लेनिन की व्यक्तिवादियों के संदर्भ में कही गई उक्ति की भावात्मक आलोचना की है कि 'अब कौन लेनिन से यह पूछने का साहस करेगा कि खाद की सड़ांध का प्रभाव गुलाब पर पड़ता है क्या ? श्मशान में चांदनी उतरती है या नहीं ? उजड़े वन-बाग में कोयल कूकती है या नहीं ? सवाल है कि क्या गुलाब, चाँदनी और कोयल की कूक को मनुष्य की व्यक्तिवादिता के प्रसग में रखना भावात्मक तर्क भर है ?

'एक असाहित्यिक की डायरी' निश्चय ही एक महान गद्यकार के अप्रतिम गद्य का ही नहीं, उसकी समग्र रचना-दृष्टि का अद्भुत शिला-लेख है।

अष्टपदी : आत्मीय स्मृतियों का संगीत :

'अष्टपदी' के संदर्भ में स्वयं लेखक का यह कथन इस कृति की वास्तविक प्रकृति का सही परिचय है "मौजों का पानी कुछ रेत में सूखा, कुछ पानी-पानी होकर रह गया। 'अष्टपदी' उन्हीं मौजों की अगली मेखला है। इसमें मैंने अपने अंधेरे की तपिश चिराग को भी दिखा दी है —चांद को भी। वह

करता है। अनावश्यक विस्तार जैसे कहानी के प्रभाव को बिखेर देता है, वैसे ही गीति-काव्य में दुहरावट या अवांछित विस्तार उसके प्रभाव को समाप्त कर देता है। यही कारण है कि एक श्रेष्ठ गीति-कविता महाकाव्य अथवा खण्डकाव्य की अपेक्षा हमें अधिक जल्दी अधिक गहरे प्रभावित ही नहीं, अभिभूत भी करती है। खेद का विषय है कि हिन्दी में आज गीतिकाव्य के अंतर्गत ऐसे गीतिकाव्यों की बाढ़ आ गई है जो 'सम्यक अनुभूति की सम्यक अभिव्यक्ति' न होने के कारण सहृदयों को अभिभूत करने में सर्वथा अक्षम है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने निराला के एक प्रसिद्ध गीत—

अस्ताचल रवि, जल छल-छल छवि,
स्तब्ध विश्व, कवि-जीवन उन्मन
मन्द पवन बहती सुधि रह-रह
परिमल की कह कथा पुरातन !

की तुलनात्मक व्याख्या बच्चन के गीत 'दिन जल्दी-जल्दी ढलता है', के साथ कर स्पष्ट कर दिया है कि स्तरीय गीतिकाव्य की रचना इतनी सरल नहीं है। प्रसंगात् यह उल्लेख असंगत न होगा कि गीतिकाव्य की स्तरीयता को 'नवगीत आंदोलन में जुटे यशःप्रार्थी गीतकारों ने समाप्त कर दिया है। कोरे नारों को गीतात्मक तुकबन्दियों में पिरोनेवाले गीतिकारों ने गीति काव्य की सारी शर्तें भुलाकर लिखना शुरू कर दिया :

'बजजा हथौड़ा ठन-ठन,
'अब न रहेगा यह शोषण'

कहना न होगा कि नवगीत से जुड़े उन्हीं गीतिकारों ने गीतिकाव्य को समृद्ध किया है, जो गीतिकाव्य और गीत-काव्य का अंतर भली-भाँति समझते हैं। वीरेन्द्र मिश्र, रमेश रंजक, नईम, माहेश्वर तिवारी और नरेश सक्सेना के गीतों के सामने नवगीत के आंदोलनकारी स्वयं कितने साधारण हैं, यह उनके गीतों से गुजरते हुए कोई भी सहृदय पाठक महसूस कर सकता है : बहरहाल, ऐसे लोगों के लिए ही शास्त्री जी ने यह स्पष्ट लिखा है 'ज्ञान को नाम और कर्म को रूप कहें तो भाव को इन नाम रूपों के ऊपर प्रतिष्ठित करना होगा। प्राणों का संस्पर्श न हो तो क्या शुष्क ज्ञान और क्या यांत्रिक कर्म ! क्या तोतारटंत नाम और अष्टकाव्य रूप।' आगे बढ़ने पर शास्त्री जी की यह महत्वपूर्ण स्थापना भी सामने आती है जहां उन्होंने गीतिकाव्य को इन

शब्दों में परिभाषित करते हुए लिखा है 'गेयता की भांति अनुभूति की सघनता भी हो तो गीत गीतिकाव्य बन जाता है। कोमल भावनाएं गीतिकाव्य की परिधि को यों नियमित करती हैं कि वस्तुवर्णनाएं कवि की आत्मानुभूति से छनने पर अपना खुरदुरापन खो देती हैं।' (पृष्ठ 78) इस लेख की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहां केवल सैद्धांतिक विवेचन ही नहीं, सिद्धांत की कसौटी पर गीतों की व्यावहारिक समीक्षा भी है।

पुस्तक के अंत में दो ललित निबंध 'प्रकाश-पर्व' और 'आऊं मां ?' है, जिनमें कवि की कोमल मानवीय संवेदनाओं की लालित्यपूर्ण अभिव्यंजना द्रष्टव्य है। शास्त्री जी के गद्य की एक विलक्षणता स्थल-स्थल पर मिलने वाली व्यंग्य की तीव्र धार है। आधुनिक सभ्यता में पले लोगों के द्वंध पर लेखक का यह व्यंग्य देखें-'जो लोग लोकगीतों की लीक पर कलम दौड़ाते हैं, वह भी भावुकता के खिलाफ हैं। कमाल है। भावुकता के अलावा कोमल भावनाओं का अस्तित्व और कौन स्वीकारेगा ? लोकगीतों के शब्द भावुकता में पले हैं, लोकगीतों की धुनें भावना के रसस्रोत से फूटी हैं। अगर वह हमें भावाकुल न करें तो अमीरों के कोड़ों और शिकारियों की बंदूकों को ही वैज्ञानिक वाद्ययंत्र मानना होगा।'

एक स्थल पर शास्त्री जी ने लेनिन की व्यक्तिवादियों के संदर्भ में कही गई उक्ति की भावात्मक आलोचना की है कि 'अब कौन लेनिन से यह पूछने का साहस करेगा कि खाद की सड़ांध का प्रभाव गुलाब पर पड़ता है क्या ? श्मशान में चांदनी उतरती है या नहीं ? उजड़े वन-बाग में कोयल कूकती है या नहीं ? सवाल है कि क्या गुलाब, चांदनी और कोयल की कूक को मनुष्य की व्यक्तिवादिता के प्रसंग में रखना भावात्मक तर्क भर है ?

'एक असाहित्यिक की डायरी' निश्चय ही एक महान गद्यकार के अप्रतिम गद्य का ही नहीं, उसकी समग्र रचना-दृष्टि का अद्भुत शिला-लेख है।

अष्टपदी : आत्मीय स्मृतियों का संगीत :

'अष्टपदी' के संदर्भ में स्वयं लेखक का यह कथन इस कृति की वास्तविक प्रकृति का सही परिचय है "मौजों का पानी कुछ रेत में सूखा, कुछ पानी-पानी होकर रह गया। 'अष्टपदी' उन्हीं मौजों की अगली मेखला है। इसमें मैंने अपने अंधेरे की तपिश चिराग को भी दिखा दी है —चांद को भी। वह

मेरे जीवन की समीक्षा भी है : जीवन-दर्शन भी।" यह सम्पूर्ण पुस्तक अलग-अलग अध्यायों में बाँटकर लिखा गया संस्मरणों का संकलन नहीं है, यह तो कवि-आलोचक की आत्म-निर्झरणी है, जो स्मृतियों के पट पर पट खोलती हुई सुख-दुख, आशा-आकांक्षा और उथल-पुथल के बीच से साहित्य मर्म ही नहीं जीवन-मर्मों का भी उदघाटन करती चलती है। जीवन की सम्पूण मस्ती के गायक कवि की अन्तर्यात्रा में(—रचना-यात्रा भी तो अन्तर्यात्रा ही है) आने वाले विभिन्न पड़ावों ही नहीं, उन व्यक्तित्वों की भी यहाँ मोहक तस्वीर है, जो इस बीहड़ यात्रा में दिशा-दर्शक तारे के समान चमक-चमक कर पथ आलोकित करते रहे हैं।

'अष्टपदी' है तो केवल आठ ही डग पर जैसे वामन ने तीन डग में तीनों लोकों को नाप लिया था, उसी प्रकार आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने इस ग्रंथ में जैसे हिन्दी गद्य की व्यंजना-शक्ति के निर्मल-अनाविल स्वरूप और सौन्दर्य को अपनी कारयित्री प्रतिभा से नाप कर रख दिया है, देखो यह है हिन्दी का पारदर्शी आबदार स्वच्छ रूप। भाषा क्या जो पाठक को रुकने के लिए—शब्दों की सतह पर ठहरने के लिए विवश कर दे। गद्य की एक कृति से दूसरी कृति तक शास्त्री जी की यह यात्रा जीवनानुभव की ही प्रखरता नहीं, भाषिक प्रौढ़ता की भी मिसाल है—उन्होंने 'भाषा जीवन्त प्रक्रिया है'। (Language is a living process) को अक्षरश: साबित कर दिखाया है।

जब रायगढ़ के राजकवि का पद-त्याग कर आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री मुजफ्फरपुर आए तो उनका बढ़कर स्वागत करने वाले संस्कृति-पुरुष मुजफ्फरपुर के गौरव शिखर बाबू उमाशंकर प्रसाद ही थे। कवि ने उस विराट संस्कृति-पुरुष के विभिन्न पक्षों को स्मरण करते हुए उन दिनों की रचनात्मक स्मृति को जीवन्त रूप में उपस्थित किया है। इस संस्मरण का एक महत्वपूर्ण अंश देवी मन्दिर का निर्माण है ! यह वही देवी मंदिर है जिसकी अष्टधातु की प्रतिमा अद्वितीय मानी जाती है। मुझे भी याद है। जब सन 1965 में 'साकेत संत' महाकाव्य और 'तुलसी-दर्शन' जैसी महत्तम कृतियों के रचनाकार और अप्रतिम विद्वान महापुरुष डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र ने मुझे मुजफ्फरपुर का दर्शनीय स्थल दिखलाने को कहा तो मैं उन्हें इसी देवी-मन्दिर ले गया जहाँ गाँधी टोपी उतारकर उन्होंने घंटे भर पूजा की और निकलते हुए कहा, बन्धु, ऐसी जाग्रत-जीवन्त देवी-प्रतिमा सारे भारत में कहीं नहीं देखी। मैं आभारी हूँ।" उस अद्वितीय प्रतिमा के निर्माण की यह अन्तकथा बाबू उमाशंकर की

समर्पित भक्ति और निष्ठा के साथ ही आचार्य जानकीवल्लभ जी की दार्शनिक विद्वता और अपूर्व कल्पनाशीलता का भी परिचय देती है। इन्हीं दो व्यक्तित्वों के—दो महान प्रतिमाओं के मणि कंचन संयोग की सृष्टि है—यह महान तीर्थ स्थल—मुजफ्फरपुर का देवी मन्दिर। इस महान निर्माण के पीछे कितनी गहन वेदना, कितनी श्रमशीलता, कितना बड़ा त्याग छिपा है, यह 'अष्टपदी' के आरम्भिक संस्मरणों में अंकित है। इस रचना का वैशिष्ट्य यह है कि प्रथम पृष्ठ से प्रारम्भ करते ही आप पहाड़ी झरने की मानिंद स्वयं नहीं रुकेंगे—बढ़ते चले जायेंगे—बीच-बीच में जीवनानुभव से कढ़कर आई फलों के मनोरम गुलदस्तों जैसी उक्तियां सौन्दर्य-बोध से मन-प्राणों को चमत्कृत कर देंगी तो जीवन के कठोर यथार्थ से साक्षात्कार के प्रसंग सुख-दुख से निर्मित जीवन की समग्रता के भी दर्शन करा देंगे। इन उद्धरणों से ही मेरे कथन की परिपुष्टि हो जायेगी—

"शारीरिक सौन्दर्य जहाँ परास्त होता है, वहाँ आत्मा की निर्मलता अष्टसिद्धियों तथा नव निधियों के ऐश्वर्य्य से ऊपर उठकर विजय की दुन्दुभि बजाती है।"

अष्टपदी

"सूर्य का न उदय होता है न अस्त, कहा जाता है—सूर्योदय, सूर्यास्त। सौन्दर्य भी एक ऐसी ही आभ्यान्तर अनुभूति है, जिसे वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। कोई हठात् किसी से नहीं मनवा सकता कि यह सुन्दर है।"

अष्टपदी, पृष्ठ 111

'अष्टपदी' में मणि के समान ऐसी भास्वर उक्तियाँ कृति का सौन्दर्य तो बढ़ा ही देती हैं, उसमें चित्रित प्रसंगों को भी स्मरणीय बना देती हैं। इन संस्मरणों की आत्मीय अन्तरंगता दूसरे लेखकों के संस्मरणों से पृथक् और विशिष्ट है। रचनाकार के व्यक्तित्व के उन मानवीय पक्षों का भी यहाँ साक्षात्कार होता है, जिनसे वे लोग अपरिचित हैं, जो उन्हें दूसरों के जरिये या दूर से जानते हैं। उदाहरण के लिए आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री जी द्विज के प्रति किंचित् अन्यथा भाव रखते थे क्योंकि उन्होंने निराला के सम्बन्ध में एक आपत्तिजनक लेख लिखा था, जिससे उस महामानव महाकवि के व्यक्तित्व के प्रति पूर्वग्रह झलकता था। लेकिन वही द्विज जी जब पूर्णिया में उनके अस्वस्थ होने पर उनकी अकेले देख-भाल करते हैं तो मानवीय भावना से ओत-प्रोत आचार्य जानकीवल्लभ जी के मन का

बिहार के गाँधी' कर्पूरी जी का यह स्मरण निस्सन्देह प्रेरक है। यह संस्मरण आज के मदान्ध बिहारी नेताओं को अवश्य पढ़ना चाहिए पर क्या वे अपने लूट-पाट के गोरखधन्धे से पढ़ने जैसे फालतू काम के लिए समय निकाल पायेंगे ? बहरहाल, कर्पूरीजी के संदर्भ में यह उद्धरण न केवल उनके व्यक्तित्व का सर्वश्रेष्ठ मूल्यांकन है वरन् हिन्दी गद्य की उत्कृष्टता का अन्यतम उदाहरण भी है। ' सामान्य जन की झपट ली गई आजादी की वापसी जिसकी अनथकी यात्रा की दूर-सुदूर झिलमिलाती मंजिल है; जिसने देश-विदेश घूमकर सुदृढ़ इरादे' में अपने सपने रूपान्तरित कर दिए हैं, राष्ट्रीय स्तर पर चूसे जाते छोटों के लिए जिन्होंने बड़ी से बड़ी कुर्बानियाँ दी हैं और स्वार्थी मंदान्धी की दी हुई लच्छेदार गालियों को जिन्होंने कभी न लिया, उनका अपने ही बिहार के प्रति अटूट अनुराग निश्चय ही एक विराट विस्मय का विषय है।

× × ×

कर्पूरीजी मंत्री, मुख्यमंत्री—क्या न हुए; किन्तु न कोई महल खड़ा किया; न रेशम-पशमीना पहना, न कीमती कार खरीदी। ग्लेमर की ओर कभी ध्यान ही न दिया।"

—अष्टपदी, पृष्ठ 196-98

किसी भी कृति को कौन-सी विशेषता मूल्यवान बनाती है, पीढ़ियों के लिए उसे मार्गदर्शक दस्तावेज बना देती है ? क्या उसकी भाषा का चाकचिक्य उसे यह गौरव देता है याकि उसके रचनाकार का अपने निरन्तर संघर्षों से अर्जित-निर्मित आपादमस्तक मानवीय व्यक्तित्व जो रचना के एक-एक शब्द में रूपान्तरित होता चलता है ? इसे जाँचना-परखना हो तो आप इस मारक प्रसंग से अवश्य ही गुजरें। जब बाबू उमाशंकर और आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के अथक प्रयास से देवी की प्रतिमा निर्मित हुई तो उनकी प्राण-प्रतिष्ठा-पूजा हुई और उस अवसर पर आए पुरोहितों के निर्देशानुसार बलि और पूजा का यह अनुष्ठान—विशेषकर बकरे की बलि ने इस मानव-व्यक्तित्व की अन्तरात्मा को क्षत-विक्षत कर दिया—'एक अत्यन्त स्वस्थ-सुन्दर बकरे का रक्ताक्त सिर प्रज्वलित अग्निकुण्ड में डाला गया। उसे देख सर्वभक्षी अग्नि की लपलपाती हुई जीभ भी थोड़ी देर को सिकुड़-सी गई। ज्वाल-मालाएँ धुआँ-धुआँ हो गईं। अक्षत-चन्दन, धूप-दीप नैवेद्य, पुष्प-अगरू आदि गन्ध-द्रव्यों की सुगन्ध से महमह करते वातावरण में

चिरायँध फैल गई। देखते-देखते बकरे की अँसुआई आँखें देवी की सूखी आँखों से अपना अपराध पूछती-पूछती जल-जलकर राख हो गईं। पूजा पूरी हुई। पूजा की पद्धति पुरोहितों के हाथ में थी, पुजापा बाबू साहब के हाथों में। दूसरों की तरह मुझे भी मलमल का एक थान और एक सौ रुपये दिए गए। दीक्षित पुरोधा आँखें तरेरे रह गए। बाबू साहब की निर्विकार और निर्विकल्प प्रसन्नता के लिए मुझे उसे अनिच्छया भी स्वीकार कर लेना पड़ा।

बकरे की धारदार आँखों ने मेरे कुण्ठित मन की जितनी खुदाई की थी, वह वामाचार के सौ-सौ मंत्र ठूँस देने पर भी भरनेवाली न थी। यों मलमल ने उसे भरसक ढक दिया, बजनी सिक्कों ने मलमल को उड़ने न दिया; दबाए रक्खा। गड्ढे भरते कहाँ हैं, ऐसे ही ढक दिए जाते हैं।'

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का काव्य हो या गद्य, एक ईमानदार रचनाकार के मानवीय व्यक्तित्व का ही कलात्मक प्रक्षेपण है। कला अपना जीवन-उत्स कलाकार की अन्तर्हित उस विराट् मानव-चेतना में ढूँढ़ती है, जहाँ से मनुष्य की समस्त क्रियाशीलता—धर्म, राजनीति, विज्ञान, ज्ञान, संस्कृति और कला के क्षेत्र अपनी दिशा और शक्ति प्राप्त करते हैं। उनके समग्र लेखन की मूल प्रेरणा विश्व-कथाकार टॉल्सटाय की निम्नांकित उक्ति है, जो उनकी कविता, उपन्यास, कहानी, गीतिनाट्य, आत्मकथा, आलोचना और संस्मरणों पर अक्षरशः चरितार्थ होती है, "I belive that the most important and useful thing a writer can do is to describe truthfully what he has experienced, what he has deeply considered and felt."

★

मानवीय यथार्थ का कथा-संसार

कहानी यथार्थ का पुनसृंजन मात्र नहीं होती, वह यथार्थ की ऐसी मानवीय सृष्टि है, जिसके द्वारा एक दृष्टिसम्पन्न रचनाकार समकालीन जीवन को पहले से अधिक संवेदना और चेतना समृद्ध करने का प्रयास करता है। वह किसी खास विचारधारा का प्रवक्ता नहीं होता; उसकी पहली और आखिरी शर्त मानवीयता का सहज उद्रेक है. इसलिए कहानी कविता से सर्वथा भिन्न विधा होते हुए भी अपनी प्रभावान्विति में कविता के समान मार्मिक और कोमल होती है। यह बात दुनिया के किसी भी श्रेष्ठ कथाकार की श्रेष्ठ कहानी पर अक्षरश: चरितार्थ होती है। आप चेखब की 'संताप' शीर्षक कहानी लें अथवा प्रेमचंद की 'पूस की रात', दोनों ही अपनी परिणति में मार्मिक ही नहीं, अत्यन्त कोमल प्रभाव छोड़ती हैं। कुछ लोग कहानी की श्रेष्ठता का विश्लेषण उसके द्वारा पैदा की गई वैचारिक सनझनाहट के आधार पर करते हैं, पर वे यह भूल जाते हैं कि कहानी का सरोकार संवेदनाओं से जुड़े मानवीय यथार्थ से होता है न कि कुछ पढ़े-लिखे लोगों की बौद्धिकता अथवा वैचारिकता से। महज विचारों की प्रेरणा से रची कहानियाँ हमारी चेतना को पलभर के लिए उदबुध तो कर सकती हैं लेकिन जीवन-यात्रा में स्मृति का पाथेय या सहचर के समान शक्ति नहीं बन सकतीं। जैनेन्द्र की कहानियों का शिल्प-सम्भार चाहे जितना चमकदार हो मगर उसकी मर्मस्पर्शिता सर्वथा संदिग्ध है।

यह सचमुच विस्मयकारी है कि छायावाद हो अथवा नयी कविता का काल, कवियों ने कहानी के क्षेत्र में भी कुछ ऐसी कहानियाँ दी हैं, जो "कवियों की कसौटी गद्य है' का ही उदाहरण नहीं हैं अपितु मानवीय यथार्थ और सवेदना की प्रखर अभिव्यंजना का भी प्रमाण हैं। प्रसाद और निराला की कहानियाँ मानवीय यथार्थ के कलापूर्ण अभिव्यंजन की दृष्टि से हिन्दी की उपलब्धि हैं। उत्तर-छायावाद में अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा, आचार्य जानकी-वल्लभ शास्त्री की कहानियों से लेकर मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना और श्रीकान्त वर्मा की कहानियों से यह भली-भांति उजागर

हुआ है कि इन कवियों ने मूलतः कहानियाँ लिखनेवाले कहानीकारों से कम बेहतर और असरदार कहानियाँ नहीं लिखी हैं।

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के कथासंग्रह 'बाँसों का झुरमुट' की कहानियाँ भी मानवीय यथार्थ से साक्षात्कार की कहानियाँ हैं, जिनमें कथा-शिल्प का फार्मूलाबद्ध प्रयोग के स्थान पर शिल्पगत स्वच्छन्दता के दर्शन होते हैं। किसी रचना-विधा को वैज्ञानिक अथवा गणितीय नियम-बद्धता का अनुसरण करने वाली शिल्प-संरचना में ढालना उसकी सृजनात्मक सुन्दरता ही नहीं, उसमें आकार लेने वाली मानवीय संवेदना अथवा अनुभव की तीव्रता को प्रभावहीन करना है। इन कहानियों का मूल्यांकन करते हुए उनके रचनाकाल के साथ ही तत्कालीन रचना-परिदृश्य को भी दृष्टिपथ में रखना होगा अन्यथा कहानियों के संदर्भ में हमारा निष्कर्ष तटस्थ नहीं हो पायेगा। कथाकार आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने रचनात्मक स्तर पर यह सिद्ध किया है कि यदि कथाकार की रचना-दृष्टि जीवन के व्यापक अनुभव-संवेदनों से निर्मित और परिपुष्ट हुई है तो भावुकता के बावजूद कहानियाँ कल्पना के इन्द्रधनुषी पंख लगाकर 'स्वर्ग के खण्डहर' या किसी 'नीलम देश' में स्वच्छन्द विचरण करने के बजाय उस जमीन से सीधे जुड़ती हैं जहाँ जीवन की क्रूर सच्चाइयाँ अपनी सम्पूर्ण भयावहता के साथ घटित हो रही हैं। यही कारण है कि वादो-आन्दोलनों के स्वर में भी यथार्थपरक, मानवीय संवेदना को व्यंजित करनेवाली कहानियों की अपनी अलग पहचान हमेशा बरकरार रही है। व्यवस्था द्वारा जीवन को अधिक-से-अधिक यांत्रिक या अमानवीय अथवा मनुष्य की संवेदनशीलता को तोड़ने की गहरी साजिश को बेनकाब करना और हमारी मानवीयता का विस्तार करना ही इन कहानियों का केन्द्रीय स्वर है।

कथाकार आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने सन् 35 से 45 तक छोटी-बड़ी पचपन कहानियाँ लिखी थीं, जिनमें से ग्यारह कहानियों का यह संग्रह 'बाँसो का झुरमुट' इसलिए भी उल्लेखनीय है कि 'मीना', 'ईश्वर', 'बकरे की माँ', 'बरगद के साये में', 'नेता', 'रोदन का राग', 'पैसे की पहचान' और 'पंडितजी' शीर्षक कहानियों में कहानीकार ने अपने समाज के सभी वर्गों की क्रूर वास्तविकता के नीचे छिपी हमारी मानवीय चेतना को छूकर जगा दिया है। 'मीना' शीर्षक कहानी में कथाकार ने एक निर्धन स्त्री और उसकी छोटी बेटी की करुण कथा को बड़ी ही सूक्ष्म संवेदना से बुना है। मुन्नी और उसकी चिड़िया मीना के साथ उसके गहरे लगाव की मूल प्रेरणा

सहज संवेद्य प्रेमानुभूति है। कथाकार आज की भौतिकता में हर क्षण नष्ट हो रही नैतिकता और मानवीयता का दर्द उपस्थित करता है। कहना न होगा कि नैतिकता भी वहीं बची रहती है, जहाँ मनुष्यता के लिए—मानवीय करुणा के लिए थोड़ी भी जगह बची हो। इस कहानी में जगह-जगह सामाजिक असंगतियों पर तीखा प्रहार भी है "कहते थे, दरिद्रता भगवान की देन है। धर्म का सौदागर अमीर होता है, मैं तो धर्म का एक मामूली-सा पुजारी हूँ। धर्म दुःख का ही एक अच्छा-सा नाम है।" यह मुन्नी के अत्यन्त धार्मिक पिता की उक्ति है, जो ईश्वर के प्रति अटूट आस्था के बावजूद जीवनपर्यन्त दरिद्रता की आग में जलते रहे। आखिर धर्म भी ढोंगियों और पाखण्डियों को ही समृद्ध क्यों बनाता है? राजनीति के समान धर्म का इस्तेमाल करनेवाले ही तो फल-फूल रहे हैं। इस कहानी की अन्तरात्मा यह संवेदना है 'घास-पात के सहारे ज्यों-त्यों जिन्दगी बसर करनेवाले पशु-पक्षियों को मनुष्य किस अपराध के कारण मारकर खा जाता है?" उनका कोई अपराध नहीं होता, उनका अपराध यही है कि वे मनुष्य के समान क्रूर और हिंसक नहीं हैं, अपनी स्वाद-वृत्ति की पूर्ति के लिए अपनी लोलुपता की खातिर दूसरों का हक मारना-हत्या करना उन्हें नहीं आता। 'मैना' शीर्षक कहानी मनुष्य कहलाने वाले-जीवों में सर्वश्रेष्ठ—मनुष्य की निर्ममता का मार्मिक चित्र प्रस्तुत करती है। इस संग्रह की ही नहीं, इस युग की श्रेष्ठ कहानियों में प्रखर और धारदार कहानी है—'ईश्वर'। इस कहानी में एक हरिजन लड़के और सवर्ण और समृद्ध वर्ग के लड़के के बीच कोंपल के समान सहज रूप से उगनेवाले नैसर्गिक मानवीय सम्बन्धों की राह में चट्टान के समान खड़ी होनेवाली क्रूर वर्ण व्यवस्था के विद्रूप को चित्रित किया गया है। 'ईश्वर' कहानी में तीन मुख्य पात्र हैं, नरेन, नरेन के पिता और ईश्वर। नरेन के पिता वैद्य, डाक्टर, हकीम सबकुछ हैं और आलीशान मकान, नौकर-चाकर, बाग-बगीचे सबकुछ हैं लेकिन नहीं है तो मानवीय हृदय अथवा वह व्यापक भारतीय दृष्टि, जो कभी पूरे विश्व को—पूरे मानव-समुदाय को एक परिवार मानती थी। जब भीखन भंगी का लड़का ईश्वर उनके बेटे नरेन के साथ स्कूल से उनके घर आता है तो उनके क्रोध की कोई सीमा नहीं रहती—"भंगी का बेटा? अबे ईश्वर के बच्चे, तो तुझे यहाँ बुलाया किसने? मेरे पूजा के कमरे को तूने पाखाना घर समझ रखा है क्या? आखिर अन्दर कैसे पिल पड़ा? और नरेन को छू-छूकर खेलता है तो? बस सत्यानाश हो गया। तभी मैं इन कमीने स्कूल में नरेन्द्र को नहीं भेज रहा था। जहाँ ब्राह्मण-चमार भाट-भाँड़ तेली-तमोली डोम-मेहतर सब एक ही घाट का पानी पीते हों, जहाँ सब धान बाइस पसेरी

हो, वहाँ और होगा भी क्या ?" नरेन्द्र के पिता यही नहीं सह सकते, उन्हें इस बात का भी मलाल है कि उनके घर में कपूत पैदा हो गया है अर्थात् सबको समान भाव से देखना पथ-भ्रष्ट होना-नष्ट होना है—"यह नरेन ही क्या कम पाजी है, अब सब दोस्ती खतम हो चुकी तो भंगी मेहतर का साथ किया है। मैं क्या जानता था कि सोने की खान से लोहा निकलेगा, कबीर का बेटा कमाल पैदा होगा बरखुदार, मुझे तुझ पर कितना भरोसा था पर आह तू तो गाँधी की राह चल निकला।" और अंततः नरेन को ईश्वर से मिलने पर कठोर प्रतिबन्ध लग जाता है और नरेन को उस स्कूल में जाने नहीं दिया जाता, जहाँ ब्राह्मण-चमार सबके बच्चे एक साथ बैठकर एक जैसी शिक्षा प्राप्त करते हैं। नरेन को बुखार हो जाता है, माँ उसके पिता को बतलाती है तो वह और भी नाराज हो उठते है—"अभी 'इसबरवा' या गाँव के किसी दूसरे सुअर के साथ खेलने की छूट दे दूँ तो यह बुखार तुरत उतर जाएगा। पर मैं तो गधा नही हूँ, मुझे ऐसे नालायक बेटे से बिना बेटे का रहना ज्यादा पसन्द है।" सदियों से संचित घृणा की यह पराकाष्ठा है। लेखक ने वर्ण-व्यवस्था की उपज सवर्णों की अछूत समझे जानेवाली जातियों के प्रति घृणा को उलीचकर रख दिया है और संवेदना के धरातल पर संकीर्ण मानसिकता पर आघात किया है। नरेन-ईश्वर के बीच का निश्चल स्नेह-सम्बध ही टूटते हुए हुए मानवीय सम्बन्धों के गहन अंधेरे में प्रकाश है। नरेन जब माँ की इच्छा से ईश्वर के घर जाता है तो वह उसकी थाली में से मक्की की रोटी और नमक लेकर खाने लगता है। ईश्वर की माँ घबरा उठती है। वह दरवाजा बन्द कर उसे पूछ-पूछकर खिलाती हैं ईश्वर उसके घर जाने की बात कहता है तो नरेन सहज स्वर में कहता है—"मेरा कोई कसूर न था। माँफ कर देना।" यह सुनकर ईश्वर की आँखें छलछला जाती है। ईश्वर के घर से लौटने के बाद नरेन का बुखार बढ़ जाता है। वह 'टाइफायड' में बार-बार 'ईश्वर' का नाम लेता है। बेटे की यह हालत देखकर माँ महरी से कहकर ईश्वर को किसी तरह बुलवाती है लेकिन बाहर लौटे वैद्य की आवाज सुनकर वह भाग जाता है। बेहोशी की हालत में नरेन बड़बड़ाता है—माँ मुझे ईश्वर के घर का रास्ता मालूम हो गया है। मुझे वहाँ जाने दो। अब वह यहाँ नही आ सकता। हमेशा-हमेशा के लिए ईश्वर तुम्हारे घर से रुठ गया है।" कहानी का यह मार्मिक अंत सचमुच हमारे मन-प्राणों के तार हिला देता है।

'वैदिकी हिंसा' को हिंसा नहीं मानने वाले इस देश में पशु-हत्या से लेकर मानवों की हत्या इतनी आसान और अधिक हो रही है तो इसमें आश्चर्य

क्या ? रसना की लोलुपता और धन की लोलुपता से उपजी क्रूरता में कोई अन्तर नहीं है। यह देश प्रारम्भ से ही एक स्पष्ट पाखण्ड का शिकार रहा है। उसके पाखण्ड और क्रूरता में धर्म, जाति और भाषा के कारण न तो मात्रागत अन्तर पड़ता है न गुणात्मक फर्क पड़ता है। 'बकरे की माँ' कहानी हमारी तथाकथित धार्मिकता के आवरण में छिपी पाशविकता को उधेड़ कर रख देती है। बाबू जगतकिशोर नारायण सिंह जू जमीन्दार हैं और उनके दरबार में उनकी प्रशस्ति गानेवालों की कमी नहीं होती। उनके दरबार में एक दिन एक मौलवी साहब उनकी तारीफ के पुल बाँधने लगते हैं। घंटों की बातचीत में दिन अधिक निकल आता है तो दीवान साहब उन्हें बन्दूकों के लाइसेन्सों को नया कराने की याद दिलाते हैं तो वह चौक उठते हैं। जमीन्दारसाहब एक-एक बन्दूक का इतिहास-पुराण बतलाते नहीं थकते। तभी मजाक-मजाक में जमीन्दार साहब बन्दूक में शेर मारनेवाला टोटा भरकर उनके सीने पर सटाते हुए कहते हैं—'दाग दूँ बड़े मियाँ ? बड़े मिया की हालत खराब हो जाती है— "हजूर मेरा कुसूर ?" इसी बीच जमीन्दार साहब की गोली का निशाना एक बकरी होती है और देखते-देखते वह जमीन पर तड़पने लगती है। मौलवी साहब प्रसन्न हो उठते हैं—"बल्लाह ! क्या कहने हैं हुजूर के निशाने के ! गोली तो चलाई तनहाई में और छटपटाने लगी वह गुस्ताख ! हें ... हें ... अब अगर हुक्म हो तो मैं जरा गर्दन से छुरी छुआ आऊँ। हूजूर तो जानते ही हैं, हें ... हें काफिर को खुद हलाल किये बगैर मैं उसके गोश्त का हकदार कैसे हूँगा।" जमींदार साहब बंगले पर लौट जाते हैं मगर उनका रसोइया दयासागर 'मिसिर' नाराज और दुखी हो उठता है—"एक तो इस भठयुग में बाँभनों का हक यों ही हर जगह मारा जा रहा है, तिस पर मौलाना जैसे दाल-भात में मूसलचन्दों के मारे और नाकोदम है।" कहानी अत्यन्त हृदय-स्पर्शी है—हमारी संवेदना के जल में हलचल मचा देती है। अंत देखें—"इधर बातों ही बातों में 'तू-तू' की भरमार हो गई और उधर किधर से भी बकरी का बच्चा अपनी माँ को ढूँढता,हुआ लाश के पास आकर बड़े ही मर्म भेदी स्वर में "मैं-मैं' पुकारने लगा।' स्पष्ट है कि हिन्दू हो या मुसलमान दोनों की लोलुपता से उत्पन्न हृदयहीनता एक जैसी है, उसमें मनुष्यता की—संवेदना की गंध तक नहीं अनुभव होती।

'नेता' कहानी राजनीतिक-कर्मियों के पतन का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करती है। प्रगतिशीलता और जन-सेवा का स्वांग रचनेवाले स्वतंत्र भारत के नेताओं के चारित्रिक अन्तर्विरोध की यह तस्वीर और अधिक प्रासंगिक हो उठी है। कहानी का प्रारम्भ भी बहुत प्रभावशाली है। "बादल बरसने वाले न थे।

शायद इसीलिए उनका गर्जन-तर्जन बड़ा भयानक था।" यही चरित्र तो भारतीय नेताओं का भी है, जनता के जीवन के लिए वे केवल गरजते हैं; बरसते नहीं। नेपाली ने भी इसी प्रतीकात्मकता का प्रयोग करते हुए लिखा :

घनश्याम कहाँ जाकर बरसे हर घाट-गगरिया प्यासी है
इस ओर नगर, उस ओर ग्राम, चहुँ ओर नजरिया प्यासी है।

एक बड़ा महल बन रहा था। आकाश में बादल छाये लेकिन हवा से बादल उड़ गए और मजदूर सिर पर ईंटें लेकर ऊँची छतों पर चढ़ने लगे। इन्हीं मजदूरों में एक सधुआ था, वह ईंटें लिए-दिए ऊँची छत से आ गिरा। राय बहादुर दमड़ी साहु सुनकर घबरा उठे पर मजदूरों ने उन्हें धीरज बँधाया। वहीं सधुआ की नवविवाहिता सुर्खी कूट रही थी। उसके गाँव का एक मजदूर था, जिसे राय बहादुर के नौकरों ने कुछ दे-दिलाकर राय बहादुर की तरफ मिला लिया। राय बहादुर के खिलाफ उठने वाली माँग दबा दी गई क्योंकि एक-एक मजदूर को पीने के लिए एक-एक रुपया दिया गया। पन्द्रह-बीस दिनों बाद किसान-मजदूर नेता न केवल राय बहादुर के साथ गाँव की खुली हवा में घूम रहे थे बल्कि रात की दावत के लिए दोनों के बीच बाजी भी लगने की बात आई। राय बहादुर ने गाँव से गुजरते हुए कुछ ग्रामीण स्त्री-पुरुषों को नाचते-गाते देखा और पहचाना। उनमें एक सधुआ की पत्नी थी और उसीसे सट कर खड़ा युवक सधुआ का भाई था। थोड़ी दूर चलने पर एक बूढ़ी औरत रोती हुई दिखाई पड़ी। वह सुधुआ की माँ थी। किसानो-मजदूरों के दोनों नेताओं का ध्यान ग्रामीणों से मिलने वाले चन्दे की सम्भावना पर था। उन्होंने उस बूढ़ी की रुलाई पर टिप्पणी की "नहीं, नहीं, यह ग्राम संगठन के अभाव का फल है। ....हमलोग सोच रहे हैं कि इस गाँव से चन्दा वसूला जाय, यहाँ भी एक छोटी-मोटी मीटिंग की जाय। इस समय कई-कई प्रगतिशील पत्र निकल रहे हैं, उनके लिए भी तो कुछ मसाले चाहिए, हमारी रोज-रोज की एक्टीविटी (Activity) का रेकर्ड रहना चाहिए। हमलोग किसी मुर्दा-संस्था के लीडर तो हैं नहीं कि छठे-छमाहे—कभी कोई काम कर लिया करें।" सन् 35 में लिखी इस कहानी का यथार्थ अपनी सम्पूर्ण भयानकता के साथ हमारे जर्जर जनतंत्र की सच्चाई बन चुका है।

'पंडितजी' शीर्षक कहानी के जरिये कथाकार पंडितों के शोषक चरित्र को बेनकाब करता है। पंडित बुद्धिदीन भूखा रहकर एक-दो दिन जी सकते

हैं मगर तम्बाकू के बिना दो पल भी नहीं जी सकते। नदी में बाढ़ आई है
और बादल बरसने की चेतावनी दे रहे हैं। नदी के उस पार ही बाजार में
तम्बाकू मिल सकता है। वह नदी किनारे छाता लिए बेचैनी में घूम रहे हैं
कि जगमोहना उन्हें दिख जाता है। वह नदी तैर कर किसी का सामान
लेकर आता है। उसका समूचा बदन ठंढ से काँप रहा है पर पंडितजी दो पैसे
देकर तम्बाकू लाने के लिए मजबूर करते हैं—"डर? मेरे आशीर्वाद के
रहते भी डर? ब्राह्मण का कार्य है, बेटा! इसमें आना-कानी करना उचित
नहीं।" ब्राह्मण देवता के डर से बड़ा डर क्या है? आखिरकार बेचारा
जगमोहन तम्बाकू लाने के लिए नदी में तैरने लगता है। तभी आकाश फट
पड़ता है। सबके-सब अपने-अपने घर चले जाते हैं। कुछ ही देर बाद तपेश्वर
पंडित जी को सूचित करता है कि जगमोहन नदी में डूब गया। पंडितजी
उसे गलियाते हैं— 'साला डूबा तो डूबा अपनी करनी से; ऐसे नटखट को
आज-न-कल तो डूबना ही था! उफ, मेरे पैसे भी ले डूबा।"

"यह लीजिए अपने दो पैसे।" तपेश्वर अपनी तरफ से दे देता है।
"लेकिन खबरदार, अगर उस बेचारे को फिर साला कहा। इसी बीच
जगमोहन ठंढ से काँपता तम्बाकू लिए आ खड़ा होता है। पंडितजी की
वाणी बदल जाती है—"सोई कहूँ, ब्राह्मण पंडित का अमोघ आशीर्वाद। यह
आज्ञाकारी बालक कभी डूब भी सकता है।" कथाकार की लेखकीय तटस्थता
इस कहानी में न केवल ब्राह्मणवादी हृदयहीनता पर गहरी चोट करती है
वरन तीव्र व्यंग्य भी कर जाती है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की कथा-
भाषा का प्राण उसमें अन्तर्हित व्यंग्य की तीक्ष्ण व्यंजना है। उनकी भाषा
व्यंग्य के स्तर पर न केवल चिकोटी काटती है बल्कि उसका दंश हमारी
चेतना पर पड़ी स्वार्थपरता की पपड़ी हटाता-चलता है और हमारी दृष्टि का
विस्तार भी करता है।

कथाकार के रूप में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की पहचान एक ऐसे
प्रखर रचनाकार की है, जो मानवीय सम्बन्धों को तोड़नेवाली शक्तियों के
विरुद्ध अपनी मानवीय दृष्टि के द्वारा यथार्थ के विभिन्न पक्षों को उसकी
सम्पूर्णता में रूपायित करता है। 'पैसे की पहचान', 'रोदन का राग' और
'बाँसों का झुरमुट' भी उनकी इसी कथा-कला की सुन्दर मिसाल हैं।
अपवादस्वरूप 'बागमती के किनारे' शीर्षक कहानी का अन्त अतिरंजित है,
जिसकी अनेक आलोचकों ने चर्चा की है। यह भी सही है कि कई बार
वास्तविकता सत्य से भी अधिक चमत्कारी होती है लेकिन कहानी में चित्रित

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की

यथार्थ को विश्वसनीय तो होना ही चाहिए। जीवनपर्यन्त अविवाहित होने की टीस से व्याकुल रामचन्द्र का नदी की लहरों पर तैरती स्त्री के शव से ब्याह रचाना सचमुच अविश्वसनीय प्रतीत होता है। संग्रह की बाकी कहानियाँ प्रत्येक दृष्टि से सफल कहानियाँ हैं क्योंकि कहानी के प्रारम्भ से अन्त तक लेखक उसकी मूल संवेदना की प्रभावी व्यंजना पर केन्द्रित रहता है। कहानी के बने-बनाये चौखटे में 'फिट' बैठनेवाली अधिकांश कहानियाँ एक खास तरह की यांत्रिकता का शिकार ही नहीं होतीं, उनमें जीवनानुभव की सहज स्फुरित अभिव्यक्ति का अभाव होता है। यह विस्मयकारी है कि इतने बड़े विद्वान का पाण्डित्य कहानी की सहजता को कहीं भी बाधित नहीं करता। उसकी भाषा में तत्सम प्रधानता अथवा अलंकरण की अस्वाभाविक प्रवृति भी नहीं है। भाषा वर्ग और पात्र के अनुकूल सहज और स्वाभाविक है। मुहावरों के सटीक प्रयोग ने उसकी अभिव्यंजना को अतिरिक्त धार प्रदान की है। उनकी आलोचना अथवा आत्मकथा की भाषा से पृथक् इन कहानियों की भाषा, भाषा पर उनके समर्थ अधिकार का ही परिचायक नहीं है वरन् भाषा को उन्होंने अपने वश में कर लिया है। भाषा उनके इशारे पर —उनकी अनुभूतियों के अनुरूप आकार ग्रहण करती चलती है।

ये कहानियाँ पुनर्मूल्यांकन की अपेक्षा रखती हैं। इन कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता मानवीय यथार्थ के उन पक्षों का मार्मिक बखान है, जिनकी ओर न तो आज के कथाकारों की दृष्टि जाती है और न ही हम स्वयं भी इन सच्चाइयों से टकराने का साहस करते हैं। जब तक हमारे सुन्दर संसार—पर हमारी मानवीयता पर निरन्तर हमले होते रहेंगे, तब तक ऐसी सच्ची कहानियों की प्रासंगिकता बनी रहेगी।

□

पीढ़ियों के संस्कारक कवि की भूमिका

छायावाद ने जिन मूल्यों और संवेदनों के द्वारा हमारी काव्यचेतना को मानवीय समृद्धि प्रदान की है, उनका सही दिशा में विकास आज की जन-कविता में परिलक्षित होता है। और, जन-कविता के भी कई धरातल हैं। एक धरातल उसकी ठेठ प्रगतिशीलता है, जहाँ कविता संवेदना कम विचार अधिक है; वहाँ 'लाउड' होना गुण माना जाता है। एक दूसरा धरातल वह है, जहाँ कवि अपनी कविता को न तो हथियार बनाता है और न ही झंडा। वह अपने जीवनानुभव की ऊष्मा से ऐसी कविता को जन्म देता है, जो हमारी क्षतिग्रस्त संवेदना को जगाती ही नहीं, उसे समृद्ध कर हमारी अस्मिता की रक्षा के संघर्ष को तीव्रतर करती है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का सम्पूर्ण कवि-कर्म कविता के इसी उज्ज्वल चरित्र से सम्पृक्त है। उनकी रचनाशीलता की केन्द्रीय प्रेरणा इन पंक्तियों में सहज ही उपलब्ध है :

विश्व भर का हो भला,
विश्व भर को प्राप्त हो नव
ज्ञान, नित नव - नव कला !
एक साथ हिलें - मिलें सब
एक डाली पर खिलें सब,
एक 'गत' पर विश्व भर का—
एक स्वर का हो गला !

तात्पर्य यह कि जब कभी कविता को उसकी प्रकृति से बाहर ले जाने के प्रयत्न हुए हैं, कविता अपना सृजनात्मक गौरव खो बैठी है। कविता तात्कालिक जीवन के तापमान से तटस्थ नहीं रह सकती पर वही उसका सर्वस्व नहीं हो सकता। तात्कालिकता का अतिक्रमण करके ही वह दीर्घकालिक जीवन-यात्रा में मानव का सच्चा सहचर बन पाती है। ऐसी कविता के सृजक निराला हों या मुक्तिबोध, शमशेर हों या आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री,

उन्हें काव्य-चर्चा के केन्द्र में बने रहने की चिन्ता नहीं होती। ऐसे समर्पित रचनाकार काव्येतर कारणों से या कहूँ किसी दबाव से कविता नहीं लिखते, वे वही लिखते हैं, जो उनकी प्रकृति और प्रवृति के वृत्त में होता है। उत्तर-छायावाद में ऐसे कई कवि हैं, जिन्होंने अपनी मूल प्रकृति से दूर जाकर काव्य-सृजन किया, जिसके परिणामस्वरूप उनकी कविता चाहे तात्कालिक तौर पर जितनी प्रसिद्ध हुई हो, उसका स्थायित्व सर्वथा संदिग्ध है।

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का काव्य-संसार उनके अपने ही जीवनानुभव का विस्तार है। उसमें किसी वाद या आन्दोलन की निश्चित दिशा खोजनेवाले कठमुल्ले आलोचक संवेदना का विकास न देख पाएँ तो यह उनकी काव्य-रुचि की ही नहीं, काव्य-दृष्टि की भी सीमा है। शमशेर को रूपवादी कहकर खारिज करने की हिमाकत करने वाले आलोचकों को आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का संवेदन-समृद्ध कलापूर्ण काव्य-संसार भी विराट् न दिखे तो आश्चर्य क्या ? सन् '35 में प्रकाशित प्रथम काव्य-संग्रह 'रूप-अरूप' से लेकर 'धूप-तरी' तक कवि की रचना-यात्रा उसके बहुआयामी कवि-व्यक्तित्व के विकास का ही इतिहास है। 'धूप-तरी तिरती कुहरी की झील में' और 'जिन्दगी की कहानी रही अनकही' के गायक कवि के ही कंठ से 'श्यामा संगीत' फूट सकता है :

कल्याणी प्रतिभा हो मेरी
मधुर वर्ण - विन्यास न केवल !
नित्य सत्य बरसे सुन्दर स्वर,
लय कौशल अभ्यास न केवल।

× × ×

तीव्र वासना विपुल ज्ञान की
करती है प्रज्ञा को कलुषित,
देन तर्क की स्वर - कर्कशता
ज्योतिहीन कुछ शब्द-उपल सित।

अनुशंसित नगण्यता मेरी
गन्ध अन्ध विश्वास न केवल
कल्याणी हो प्रतिभा मेरी
मधुर वर्ण - विन्यास न केवल।

—श्यामा संगीत, पृष्ठ 5-6

अपनी केन्द्रीय रचना-विधा-गीत में कई हजार गीतों के सर्जक इस-गायक कवि की सृजनात्मक उपलब्धियों का स्वर्णिम शिखर—'राधा' सात पर्वों में रचित एक ऐसा उदात महाकाव्य है, जो खड़ी बोली की अभिव्यंजना-शक्ति के सम्पूर्ण उत्कर्ष का साक्षी है। 'राधा-कृष्ण' के अमर प्रेम के गायक महाकवि सूर के समान ही संवेदना से सजल-तरल शब्दों में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने प्रेम के उदात्त पक्ष को—उसकी प्रेरक कर्मशीलता को इतनी कला-त्मक शैली में साकार किया है कि जहाँ प्रेम और कर्म के द्वन्द्व की अछोर व्यथा हमारी अन्तरात्मा को झकझोर देती है, वहीं प्रेम-पथ का परित्याग कर जन-मुक्ति के रथ पर आरूढ कृष्ण का शंखनाद हमारी जड़ता को ध्वस्त कर 'उतिष्ठत जाग्रत' की महती प्रेरणा देता है। इसलिए 'राधा' किसी उर्वशी—पुरुरवा के 'कामाध्यात्म' जैसे नये (?) आविष्कार का आख्यानक काव्य भर नहीं है, यह तो मानव-मुक्ति का महत् महाकाव्य है। प्रथम पर्व 'प्रणय' में राधा की इस वेदना और तड़प में प्रेम की सघनता का मर्मस्पर्शी चित्र देखें :

अब उखड़े - उखड़े - से स्तर-स्तर अन्तर के,
मैं तो जीती पल-छिन गिन-गिन, मर-मर के !
प्रिय-मिलन-भीख निष्ठुर जग से मत माँगें,
हूं सावधान, ये प्राण निकल मत भागें !
वह सप्तपदी, वह सात सुरों की भाँवर,
क्वाँरी न रही सिन्दूरी साध, उजागर—
ब्रज हुआ, छा गया क्या उपहास - उजाला
सोलहों कला वाला दिखता था काला !

अनुशंसित ञगण्यता मेरी
गन्ध अन्ध विश्वास न केवल
कल्याणी हो प्रतिभा मेरी
मधुर वर्ण - विन्यास न केवल।

—श्यामा संगीत, पृष्ठ 5-6

अपनी केन्द्रीय रचना-विधा-गीत में कई हजार गीतों के सर्जक इस-गायक कवि की सृजनात्मक उपलब्धियों का स्वर्णिम शिखर—'राधा' सात पर्वों में रचित एक ऐसा उदात महाकाव्य है, जो खड़ी बोली की अभिव्यंजना-शक्ति के सम्पूर्ण उत्कर्ष का साक्षी है। 'राधा-कृष्ण' के अमर प्रेम के गायक महाकवि सूर के समान ही संवेदना से सजल-तरल शब्दों में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने प्रेम के उदात्त पक्ष को—उसकी प्रेरक कर्मशीलता को इतनी कला-त्मक शैली में साकार किया है कि जहाँ प्रेम और कर्म के द्वन्द्व की अछोर व्यथा हमारी अन्तरात्मा को झकझोर देती है, वहीं प्रेम-पथ का परित्याग कर जन-मुक्ति के रथ पर आरूढ कृष्ण का शंखनाद हमारी जड़ता को ध्वस्त कर 'उतिष्ठत जाग्रत' की महती प्रेरणा देता है। इसलिए 'राधा' किसी उर्वशी—पुरुरवा के 'कामाध्यात्म' जैसे नये (?) आविष्कार का आख्यानक काव्य भर नहीं है, यह तो मानव-मुक्ति का महत् महाकाव्य है। प्रथम पर्व 'प्रणय' में राधा की इस वेदना और तड़प में प्रेम की सघनता का मर्मस्पर्शी चित्र देखें :

अब उखड़े - उखड़े - से स्तर-स्तर अन्तर के,
मैं तो जीती पल-छिन गिन-गिन, मर-मर के !
प्रिय-मिलन-भीख निष्ठुर जग से मत माँगें,
हूं सावधान, ये प्राण निकल मत भागें !
वह सप्तपदी, वह सात सुरों की भाँवर,
क्वाँरी न रही सिन्दूरी साध, उजागर—
ब्रज हुआ, छा गया क्या उपहास - उजाला
सोलहों कला वाला दिखता था काला !

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की

कैसे यह लाज समेटूँ, भेंटूँ जग से
लूँ दृष्टि घुमा पलकों के पोंछे मग से !
ओठों में शिथिल हँसी है सोई - सोई,
मत अश्रु - वेश में इसे जगाए कोई !
जो ठहर गई है भीड़ सुलाकर 'पीड़ा',
वह उतरे दृग-तारों से, करे न क्रीड़ा !

—राधा, प्रणय पर्व, पृष्ठ 7

कृष्ण का यह आत्ममंथन वर्त्तमान भारत के दिक् भ्रान्त जन-जीवन को रचनात्मक दिशा और दृष्टि देने में सर्वथा सक्षम है :

कर प्रतिष्ठित प्रेम पर पुरुषार्थ को,
प्रेम ही परमार्थ करता स्वार्थ को !
झनझनाए रक्त धमनी में धमक,
प्रेम की पुरुषार्थ में अपनी चमक !
प्रेरणा का, स्फूर्ति का स्वर-स्रोत हो,
प्रेम की जग में उजागर जोत हो !!
कर्म की आँधी उड़ा ले जायेगी
मैं कहाँ हूँगा, न कुछ कह पायेगी;

× × ×

बाँसुरी का अमृत पीने के लिए
मैं बताऊँगा कि जीने के लिए,
गरल-पान हमें प्रथम करना उचित,
प्राण के प्रतिमान—हित मरना उचित !
शंख फूँकूँगा जगाने के लिए,
कर्म में जीवन लगाने के लिए !

—राधा, पुरुषार्थ पर्व, पृष्ठ 78

'राधा' के कवि की ही कलम से 'गाथा' जैसी सर्वथा नयी सृजनात्मक विधा की रचना भी आलोचकों से पुनर्मूल्यांकन की अपेक्षा रखती है ! हर

कृति और कृतिकार के मूल्यांकन का निकष वही हो, जो आमतौर पर काव्य-निकष के रूप में सर्वमान्य है, यह कोई आवश्यक नहीं। बने-बनाये प्रतिमानों अथवा ढांचों को तोड़ना ही तो मौलिक सृजन की पहचान है। हम क्यों अपने ही बनाये चौखटे में हर कवि को 'फिट इन' होते देखना चाहते हैं? यदि काव्य-रचना के परम्परागत सांचे से बाहर आना काव्येतर हो जाना है, तो हुआ करे, सच्चे कवि बार-बार उसका अतिक्रमण करेंगे और हमें उनके मूल्यांकन के लिए नये प्रतिमानों — नये निकषों की रचना करनी होगी। किसी कवि को उसकी समग्रता में पढ़े बगैर उसे खारिज करने की 'फास्ट फूड' वाली आलोचना-शैली अधिक दिनों तक नहीं चलेगी।

'उत्तर-छायावाद और आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री' उनके साहित्य पर केन्द्रित आलोचना पुस्तक नहीं है; यह उनके विराट और विपुल मानवीय-काव्य-संसार में प्रवेश करने की दिशा में एक विनम्र प्रस्तावना भर है। मुझे विश्वास है, आलोचना के क्षेत्र में व्याप्त गुटबन्दी और पक्षधरता से ऊपर उठकर काम करने वाले आलोचक भी कम नहीं हैं, वे निश्चय ही इस समर्पित महान रचनाकार के साहित्य का वस्तुपरक एवं तटस्थ मूल्यांकन करेंगे, जिससे यह स्पष्ट होगा कि मानवीय संवेदना के विकास और विस्तार में पीढियों के संस्कारक कवि की भूमिका कितनी महत्वपूर्ण है!

× × ×

★

'राधा' में पाश्चात्य अलंकार

□ डॉ० राम गोपाल पाण्डेय

अँगरेजी में अलंकार के लिए 'Figure of Speech' का प्रयोग है। पाश्चात्य अलंकार और पौरस्त्य अलंकार में मूलभूत अंतर अपने वेध्य को लेकर है। पाश्चात्य अलंकार वक्तृत्व में प्रभविष्णुता पैदा करने के लिए उद्भूत हुए हैं जैसा कि उसके नाम से स्पष्ट है। भारतीय अलंकार काव्य की शोभा वृद्धि के लिए हैं। वामन ने तो सौन्दर्य मात्र को अलंकार घोषित कर रखा है—

"सौन्दर्यमलंकारः।"

दण्डी काव्य शोभाकारक धर्मों (गुणों) को अलंकार कहते हैं —

"काव्य शोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षेत।"

का० द०—211

भारतीए काव्य-शास्त्र में अलंकार शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में हुआ है। यहाँ अलंकारों के स्वरूप-निर्धारण, नामकरण, विश्लेषण एवं वर्गीकरण विभ्रमरहित होकर वैज्ञानिकतापूर्ण एवं सूक्ष्मतापूर्ण हुआ है। यह स्थिति पाश्चात्य अलंकारों के साथ नहीं है, फिर भी कुछ पाश्चात्य अलंकार ऐसे हैं, जो भारतीय काव्यशास्त्र में आये ही नहीं। यह कम आश्चर्य की बात नहीं। डॉ० नगेन्द्र ने 'रीतिकाव्य की भूमिका' में 'Metonomy', 'Synecdoche.' प्रभृति अलंकारों को लक्ष्य करते हुए लिखा है—

"संस्कृत में जहाँ अनेक साधारण चमत्कारमूलक अलंकारों की बाल की खाल निकाली गयी है, वहाँ लक्षणामूलक इन महत्त्वपूर्ण अलंकारों का अभाव आश्चर्य की बात है।"

अतः पाश्चात्य अलंकारों की अलग अहमियत है, इससे हम अपनी आँखें नहीं मूँद सकते।

कविवर सुमित्रानन्दन पन्त का विचार है कि लेखन-प्रक्रिया एक 'Unconscious process' है। अतः 'राधा' महाकाव्य में पाश्चात्य अलंकारों

की विन्यास विचित्रता अनौचित्यपूर्ण नहीं महाकवि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की गद्यात्मक रचनाओं की ओर ध्यान ध्रुवीकृत करने पर यह तथ्य सूर्यवत् संस्पष्ट है कि उनकी लेखनी एक साथ संस्कृत, अँगरेजी, उर्दू, बँगला और हिन्दी की सर्वग्राहिणी काव्यात्मक शक्ति से भरपूर है। उनकी यह ज्ञान-शक्ति पाठक को और प्रेरित करती है कि 'राधा' महाकाव्य की रचना-प्रक्रिया में पाश्चात्य अलंकारों का अभिषेक कवि की कथन-भंगिमा को कितना चमत्कारपूर्ण एवं बृहत्तर आयाम प्रदान करता है, इसकी टोह हो।

1. एल्यूजन (Allusion) :—

'Allusion' (संदर्भ) में इतिहास, पुराण, साहित्य प्रभृति से प्रमुख घटना, कथा या पात्र का उल्लेख किया जाता है। 'A dictionary of literary terms' में Allusion' के सम्बन्ध में लिखा है —

"A passing reference in a work of literature to something outside itself. A write may allude to legends, historical facts or personages, to other works of literature or even to anto-biographical details." टी० एस० इलिएट का 'The Wasts' Land Allusion का उत्तम उदाहरण है। 'राधा' महाकाव्य की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं, जिनमें संदर्भ (Allusion) के उदाहरण उपलब्ध हैं—

(क) परशुरामी प्रहर बलराम रोकें
ढले दिन रात के आयाम रोकें।

राधा : निर्वेद पर्व, पृष्ठ—10

(ख) यही मैं राम हूँ, कुब्जा रिझाई !
कभी झड़बेड़ियाँ जूठी न खाई !
कहाँ विटपावली उत्फुल्ल पम्पा,
कहाँ यह बाँटना प्रेमानुकम्पा !
दिखाई पीठ क्या स्मर के समर में,
प्रतिष्ठित पञ्चशर निर्जर अमर में !

राधा : निर्वेद पर्व, पृष्ठ—23

उपर्युक्त उदाहरणों में अभूरि पौराणिक नाम आये हैं, जैसे— परशुराम, बलराम, राम इत्यादि। इनके नाम, व्यक्तित्व का परिचय होते ही ऊर्ध्व उल्लेखित पंक्तियों का अर्थ-गांभीर्य खुल जाता है। अत: 'Allusion' अलंकार है।

2. एनोफोरा (Anophora) :—

'Anophora' में पद या वाक्यांश की पुनरावृत्ति की जाती है। यद्यपि पुनरुक्ति दोष काव्य में माना जाता है, तथापि भावना की तीव्रता रेखांकित करने के लिए आवृत्ति दूषण न होकर भूषण हो जाती है। 'राधा', महाकाव्य में परम अधीत, काव्य-गुण के परम पारखी कवि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने अपने भावावेग में तीव्रता की सृष्टि करने के लिए इस अलंकार 'Anophora' का अकृत्रिम प्रयोग किया है, देखें—

राधिका जैसे मकर की चाँदनी
भोर का भ्रम भर रही; उन्मादिनी;
पर अभी निस्तब्ध आधी रात है,
मुग्ध पंथी, चल; सुदूर प्रभात है!
राधिका जैसे तरल नीहारिका,
झिलमिलाती पार से हो तारिका!
दिशि उदय गिरि की नहीं पर एक क्या?
सर्वतोमुख शुभ्र, तम की टेक क्या?
राधिका जैसे कि बरगद की जटा,
तन गगन में, मन न भूतल से हटा,
सविधि द्विविधा में अचल कल्पान्त तक,
छाँह दे क्लम को दिनान्त, निशान्त तक।

पुरुषार्थ पर्व, पृष्ठ—109-110

उपर्युक्त पंक्तियों में राधा की सान्द्र रहस्यमयता रेखांकित करने के लिए महाकवि शास्त्री ने 'राधिका' शब्द का भूरिशः भोग लगाया है। अतः स्पष्टतः 'Anophora' है।

3. युफेमिज्म (Euphemism) :—

मार्टिन ग्रे ने 'Euphemism' को व्याकृत करते हुए लिखा है—"Unpleasant, embarrasing or frighkening facts or words can be canceded behind a 'euphemism' : a word or phrase that is less blunt, rude or lerryfying. Thus death is dealt with euphemistically; to die is to pass way." भाव कि Euphemism अलंकार में अप्रिय अथवा अशोभन बात को ललित-कलित भाषा में व्यक्त किया जाता है। 'राधा' से उदाहरण लें —

(क) मा क्षमामयी, ऊपर से विरस, रिसाती,
जब आँख नचाती, मैं हँस आँख बचाती

प्रणय पर्व, पृष्ठ—65

राधा अपनी क्षमामयी माँ के कृत्रिम क्रोध का शब्द-चित्र उकेरती हुई कहती है कि जब माँ आँख नचाने लगती है, तब वह कैसे हँसकर कतरा जाती है। अहा, यह कैसे सम्मोहक स्थल पर महाकवि शास्त्री जी ने युफेमिज्म अलंकार का प्रयोग कर भाव-सौन्दर्य में चार चाँद लगा दिये हैं! 'क्रोध' के लिए 'आँख नचाना' मुहावरे का प्रयोग तथा सामना बचाने के लिए आँख बचाना मुहावरे का प्रयोग युफेमिज्म अलंकार का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है।

(ख) साँसों में वंशी गड़ी, पड़ी निस्तल में
असमंजस में हैं प्राण कढ़े किस पल में

प्रणय पर्व, पृष्ठ—73

वंशीधर की वंशी का स्वर-मादन राधा की साँसों में आकर ऐसे गड़ गया है कि उसे निकाला नहीं जा सकता, क्योंकि वंशी गड़ी भी है, तो वहाँ जहाँ कोई तल नहीं, प्राण द्विधाविद्ध हैं। पता नहीं कब निकल जाएँ। राधा आज वंशीधर के स्वर-माधुर्य की अतीत स्मृति में मर्मान्तक पीड़ा झेल रही है। वह सोंचती है कि पता नहीं कब कन्हैया की बाँसुरी जान ले ले। 'प्राण कढ़े' मरण के लिए ललित प्रयोग है, अत: 'Euphemism' है।

4. एपिग्राम (Epigram) :—

'Epigram, के लिए हिन्दी में 'सूक्ति' शब्द समीचीन है। आर० पी० सिंह ने 'How to write correct English में इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है— "Maximum of sense in the minimum of space is Epigram ....only a few words convey a lok of sense and the statement is witty." भाव कि "अरथ अमित आखर थोरे' ही Epigram है। पोप की कविता से एक उदाहरण लें :—

"You beat your pate, and fancy wit will come,
Knock as you please, there is nobody at home!
Sir, I admit your general rule,
That every poet is a fool,
But you yourself may serve to show it,
That every fool is not a poet."

2. एनोफोरा (Anophora) :—

'Anophora' में पद या वाक्यांश की पुनरावृत्ति की जाती है। यद्यपि पुनरुक्ति दोष काव्य में माना जाता है, तथापि भावना की तीव्रता रेखांकित करने के लिए आवृत्ति दूषण न होकर भूषण हो जाती है। 'राधा', महाकाव्य में परम अधीत, काव्य-गुण के परम पारखी कवि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने अपने भावावेग में तीव्रता की सृष्टि करने के लिए इस अलंकार 'Anophora' का अकृत्रिम प्रयोग किया है, देखें—

राधिका जैसे मकर की चाँदनी
भोर का भ्रम भर रही; उन्मादिनी;
पर अभी निस्तब्ध आधी रात है,
मुग्ध पंथी, चल; सुदूर प्रभात है!
राधिका जैसे तरल नीहारिका,
झिलमिलाती पार से हो तारिका!
दिशि उदय गिरि की नहीं पर एक क्या?
सर्वतोमुख शुभ्र, तम की टेक क्या?
राधिका जैसे कि बरगद की जटा,
तन गगन में, मन न भूतल से हटा,
सविधि द्विविधा में अचल कल्पान्त तक,
छाँह दे क्लम को दिनान्त, निशान्त तक।

पुरुषार्थ पर्व, पृष्ठ—109-110

उपर्युक्त पंक्तियों में राधा की सान्द्र रहस्यमयता रेखांकित करने के लिए महाकवि शास्त्री ने 'राधिका' शब्द का भूरिशः भोग लगाया है। अतः स्पष्टतः 'Anophora' है।

3. युफेमिज्म (Euphemism) :—

मार्टिन ग्रे ने 'Euphemism' को व्याकृत करते हुए लिखा है—"Unpleasant, embarrasing or frighkening facts or words can be canceded behind a 'euphemism' : a word or phrase that is less blunt, rude or lerryfying. Thus death is dealt with euphemistically; to die is to pass way." भाव कि Euphemism अलंकार में अप्रिय अथवा अशोभन बात को ललित-कलित भाषा में व्यक्त किया जाता है। 'राधा' से उदाहरण लें —

(क) मा क्षमामयी, ऊपर से विरस, रिसाती,
जब आँख नचाती, मैं हँस आँख बचाती

प्रणय पर्व, पृष्ठ—65

राधा अपनी क्षमामयी माँ के कृत्रिम क्रोध का शब्द-चित्र उकेरती हुई कहती है कि जब माँ आँख नचाने लगती है, तब वह कैसे हँसकर कतरा जाती है। अहा, यह कैसे सम्मोहक स्थल पर महाकवि शास्त्री जी ने युफेमिज्म अलंकार का प्रयोग कर भाव-सौन्दर्य में चार चाँद लगा दिये हैं ! 'क्रोध' के लिए 'आँख नचाना' मुहावरे का प्रयोग तथा सामना बचाने के लिए आँख बचाना मुहावरे का प्रयोग युफेमिज्म अलंकार का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है।

(ख) साँसों में वंशी गड़ी, पड़ी निस्तल में
असमंजस में हैं प्राण कढ़ें किस पल में

प्रणय पर्व, पृष्ठ—73

वंशीधर की वंशी का स्वर-मादन राधा की साँसों में आकर ऐसे गड़ गया है कि उसे निकाला नहीं जा सकता, क्योंकि वंशी गड़ी भी है, तो वहाँ जहाँ कोई तल नहीं, प्राण द्विधाविद्ध हैं। पता नहीं कब निकल जाएँ। राधा आज वंशीधर के स्वर-माधुर्य की अतीत स्मृति में मर्मान्तक पीड़ा झेल रही है। वह सोंचती है कि पता नहीं कब कन्हैया की बाँसुरी जान ले ले। 'प्राण कढ़ें' मरण के लिए ललित प्रयोग है, अत: 'Euphemism' है।

4. एपिग्राम (Epigram) :—

'Epigram, के लिए हिन्दी में 'सूक्ति' शब्द समीचीन है। आर० पी० सिंह ने 'How to write correct English में इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है— "Maximum of sense in the minimum of space is Epigram ....only a few words convey a lok of sense and the statement is witty." भाव कि "अरथ अमित आखर थोरे' ही Epigram है। पोप की कविता से एक उदाहरण लें :—

"You beat your pate, and fancy wit will come,
Knock as you please, there is nobody at home !
Sir, I admit your general rule,
That every poet is a fool,
But you yourself may serve to show it,
That every fool is not a poet."

अँगरेजी साहित्य में सत्रहवीं शताब्दी के बाद 'Epigram' का प्रभूत प्रचलन दृष्टिगोचर होता है। हिन्दी साहित्य में 'रामचरित मानस' Epigram का विशाल भण्डार है। आधुनिक काल में अद्य-पर्यन्त छह महाकाव्य प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं— (1) प्रिय प्रवास (1914 ई०) (2) साकेत (193. ई०), (3) कामायनी (1936 ई०) (4) आर्यावर्त्त (1946 ई०), (5) उर्वशी (1961 ई०) और (6) राधा (1671 ई०)। इन छहों में 'राधा' महाकाव्य का कलेवर बृहत्तम है। इसमें सूक्तियाँ (Epigrams) हीरे के मूल्य और मोती की चमक से सम्पन्न हैं, देखें :—

(i) मन नहीं बँधेगा, तो तन नहीं सधेगा,
निज से न मिले, क्या उसे दूसरा देगा ?

प्रणय पर्व, पृष्ठ — 49

(ii) क्या दोष, इन्हीं से यदि सब सखियाँ मिलती,
विधु एक; किन्तु कितनी कुमुदिनियाँ खिलती !
भर नेह-नीर गम्भीर विकल अन्तर में,—
कितनी सरिताएँ बसीं एक सागर में !
कितनी वल्लरियाँ बँधी एक तरु-उर से
कितनी रागिनियाँ, एक राग के सुर से।

वही, पृष्ठ—78

यहाँ बहुपत्नीत्ववाद का हृदयग्राही काव्यात्मक वर्णन है।

(iii) पा सकता पार नहीं, कोई हो कैसा,
है पारावार अपार प्यार का ऐसा।

वही, पृष्ठ—79

(iv) मन का रथ पथ की कहाँ अपेक्षा करता ?
क्या मन-वन का कुञ्जर अंकुश से डरता ?

वही, पृष्ठ — 112

(v) है सजल भाव को भव से भेदा जाता,
मोती का उर हीरे से छेदा जाता।
कस्तूरी है, तो व्याध धनुष तानेगा,
जो बीन पुकारे, कृष्णसार मानेगा ?

वही, पृष्ठ—116

(vi) नियति सुन्दर की अमंगल है नियत !
उपल-वात निमित्त उत्पल है नियत !!
राहु-केतु नियुक्त रवि-शशि के लिए !
सिर, कबन्ध विमुक्त रवि-शशि के लिए !!

पुरुषार्थ पर्व, पृष्ठ-72

(vii) ज्ञान पर अधिकार सब का
पूर्ण का क्या शेष ।
धर्म का है मर्म भूमा
भूमि सबका देश !

दर्शन पर्व, पृष्ठ-84

(viii) "व्यर्थ चिन्तन, व्यर्थ सोच-विचार
प्यार ही संसार का है सार।"

विनोद पर्व, पृष्ठ-53

(ix) "नहीं उपलब्ध है बहुसंख्य होना,
अमित नक्षत्र, एकल इन्दु सोना।
तिमिर का व्यूह, रवि की रश्मि कोई,
कि ढेरों काठ में छिप वह्नि सोई।"

निर्वेद पर्व, पृष्ठ-86

उपर्युक्त पंक्तियाँ हमारे मन-प्राण पर नावक के तीर की तरह गम्भीर घाव करती हैं। इसके साथ ही हमारी वाणी का अलंकार बनकर काव्य-रचना को काल-सीमा में जीने से मुक्ति भी दिला देती हैं ।

5. हिपेलेज (Hypallage or Trasphered Epithet) :—

हिपेलेज(विशेषण विपर्यय) में किसी विशेषण या गुण के धारक के बदले धारित में उल्लेख किया जाता है। दूसरे शब्दों में जिस वस्तु या व्यक्ति से विशेषण का सम्बन्ध होता है, उसके बजाय किसी अन्य में वह अभिहित होता है, जैसे—

(क) निर्विवेक निपट नहीं तारूण्य
मानवीय व्यथा-कथा भी गुण्य !

राधा : विनोद पर्व, पृष्ठ-3

निपटनिर्विवेक न होना युवा पुरुष का गुण कथन यहाँ अभीष्ट है। लेकिन, इसे ही तारूण्य (जवानी) में घटित किया गया है, अत: विशेषण-विपर्यय है।

(ख) "स्वगत उद्धव ने कहा : न उदन्त
निष्प्रमाण, प्रणय कि ज्ञान अनन्त !
ज्ञान का वाणिज्य : मूल्य कि हेम ?
दे नहीं सकता अकिञ्चन प्रेम।"

राधा : विनोद पर्व, पृष्ठ—82

उपर्युक्त उदाहरण में प्रेमी का विशेषण अकिञ्चन हो सकता है, जिसे प्रेम में विपर्ययट किया गया है, अत: Hypallage है।

6 मेटानमि (Metonomy) :—

मेटानमि एक प्रकार से लक्षणा है। इसमें आधेय के लिए आधार तथा लिंगी के लिए लिंग का प्रयोग होता है। मार्टिन ग्रे ने 'A dictionary of literary terms' में Metonomy को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"Metonomy is a figure of speech : The substitution for the name of a thing of the name of an attribute of it or some thing closely associated with it."

'राधा' से एक उदाहरण अवधेय है :—

"जाग तुझको कर्मभूमि जगा रही,
लौट नभ से, सुन, बुलाती माँ—मही !
विकल विश्व इधर, उधर उन्मन गगन।
तू कि अपने में कि सपने में मगन ?"

पुरूषार्थ पर्व, पृष्ठ—18

कर्मभूमि की जनता के लिए केवल 'कर्मभूमि', विश्व में रहनेवाले व्यक्तियों के लिए केवल 'विश्व', फिर गगनवासी देवताओं के लिए मात्र 'गगन' कहने में Metonomy अलंकार है, क्योंकि आधेय के लिए मात्र आधार का कथन है।

7. ऑनोमैटोपोइया (Onomatopoeia) :—

'Onomatopoeia' का अर्थ 'Oxford Advanced learuer's Dictionary of Current English' में दिया है— formation of words in imitation of sound associated with the thing concerned as

cuckoo for the bird that utters this cry) इसे हिन्दी में नाद-सौन्दर्य कहा जाता है। नाद-सौन्दर्य के बारे में pope का विचार है— The sound should seem an echo to the sense."

'राधा' महाकाव्य ध्वनि-सौन्दर्य का अनुपम कोष है। इसकी पंक्ति-पंक्ति में ध्वनि-संयोजन की सम्मोहकता विराजमान है। कुछ दृष्टान्त द्रष्टव्य हैं—

(क) "पग-डगर बिसर घर पहुँच थहर अरराई,
मिलते ही भनक भभकती आई माई !"

प्रणय पर्व, पृष्ठ—62

(ख) "मैं अटट गँवारिन, उपलों-भरी अँगारी
झकझक करती तम से निखोट, उजियारी !
दे चोकर और पछोरन झट पुचकारा,
सिर चढ़ी हिलाती सींग, झपट झझकारा !
डहडहे अंग पर रंग न चढ़ने देती,
अठवाँसी, नव वय तनिक न बढ़ने देती ?"

वही, पृष्ठ—65

8. ऑक्सीमॉरॉन (Oxymoron) :—

'Oxymoron' को विरोधाभास अलंकार कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें विरोधी पदों का प्रयोग होता है। 'A Dictionary of literary terms' में Oxymoron को व्याख्यायित इन शब्दों में किया गया है—Oxymoron is a figure of speech in which contradictory terms are brought together in what is at first sight an impossible combination." 'राधा' से एक-दो उदाहरण —

(क) मुझे निर्दोष समझा मान निर्गुण
कि हथियाना तुझे सत्ता समर कर
अमृत सुत, नाम मर-मरकर अमर कर
यही सारांश गीता का निकलता।"

निर्वेद पर्व, पृष्ठ—9-10

तीसरी पंक्ति में Oxymoron अलंकार है, क्योंकि अमृत सुत को मरने के लिए कहा है।

(ख) किसे प्यारा न लगता ? ज्वार था वह
लहरियों का जलधि से प्यार था वह
छिपा इस शांति में है खेद कितना ?

निर्वेद पर्व, पृष्ठ—17

मिश्रकेशी देवकी माँ एक दिन श्रीकृष्ण के पास आती हैं। वह उन्हें उदास,उत्क्रान्त देखती हैं। श्रीकृष्ण का डलमल ढब उसे बेढब लगता है। वह उन्हें कटु-मधु सुनाती है। इसी क्रम में देवकी माँ को कन्हैया का बचपन याद आ जाता है। उनका विहग-शावक-सदृश चहकना, वकुल-चम्पक-चमेली-सा महकना, शत्रुओं का उनके पराक्रम से जलकर राख हो जाना तो उन्हें स्मरण आता ही है। साथ-ही-साथ वह प्रश्नात्मक मुद्रा में होकर कहती हैं कि किसे नहीं घिसी-पिटी परम्पराओं से अपने प्राणोपम लाड़ले का बहकना प्रीतिकर लगता ? वास्तव में, वह उसके बाल्य-जीवन का ज्वार था या यों कहें कि समुद्र से लहरियों का प्यार था वह ? आज सर्वत्र शान्ति है कन्हैया के जीवन में, किन्तु इस शांति में कितना खेद, कृष्ण जीवन की कितनी व्यथा, पीड़ा प्रच्छन्न है :—यह तो माता का ही हृदय जानता है। वैसे शान्ति में खेद कहने में विरोध की प्रतीति होती है, अत: Oxymoron अलंकार है।

9. पैथेटिक फैलेसी (Pathetic fallacy) :—

इसमें कवि अपने मनोभावों के अनुरूप विश्व और प्रकृति के साथ समीकरण तलाशता है, तदनुसार तस्वीरें आंकता है। आलोचकों की नजर में यह एक प्रकार का दोष है किन्तु ऐसा दोष जिसे छायावाद काल से आज तक का कवि सहर्ष अपनाता आया है और अपनी कथनभंगिमा में चमत्कार पैदा करता है। 'राधा' महाकाव्य से एक उदाहरण —

दिन रहा है डूब, उपवन शान्त,
मन्द आतप गगन में तप क्लान्त।
नत नयन सन्ध्याखड़ी है पास,
डोलती है गन्ध भर वातास।

विनोद पर्व, पृष्ठ—61

नत नयन होकर सन्ध्या किसी के पास या दूर क्योंकर खड़ी होगी ? कवि अपनी भावना के अनुरूप उसे ऐसा इसलिए देख रहा है, क्योंकि उसे सान्ध्य वेला में जो चुप्पी की सान्द्रता होती है, उसे वर्णित करना है। अत: pathetic fallacy है।

10. परसोनीफिकेशन (Personification) :—

Personification (मानवीकरण) में जड़ पदार्थों पर चेतना का आरोप किया जाता है :— "Personification is a meta phorical language in which things or ideas are treated as if they were human beings, with human attributes and fecelings."

'राधा' महाकाव्य से उदाहरण लें :—

(क) "नित प्रदोष उड़ेल विधु-मधु-कोष
प्रात-वात बिखेर मोती, ओस—
कुसुमतन को है सजाता मुग्ध,
रवि-किरण हँस डालती गो-दुग्ध।"

विनोद पर्व, पृष्ठ—2

(ख) "अमर मर सकते अरुप, अनाम,
पर रहेगा राधिका का नाम !
हँस वसन्त मरा, मरा रो शीत,
किन्तु राधा वह अमर संगीत........
वेणु - रन्ध्रों से कढ़ा भर व्योम,
गया सिहर निसर्ग का प्रतिरोम !
पोंछ काजल जगमगाए दीप
गीत - मोती ने तजी जब सीप !
गया ढार फुहार नभ उर खोल
इन्द्रधनु किसका टँगा जयदोल !
कहीं कोई छाँह जाती काँप
राधिका की गूँजती पदचाप !"

विनोद पर्व, पृष्ठ—95

उपर्युक्त उदाहरणों में रवि-किरण, वसन्त, शीत, दीप, नभ प्रभृति का चेतना-सम्पन्न प्राणी की तरह आचरण करते हुए दिखाया गया है, अतः मानवीकरण (Personefication) अलंकार है।

11. सिनेकडँकी (Synecdoche) :—

सिनेकडँकी का अर्थ है,—उपलक्षक (बोधक), इस अलंकार में सम्पूर्ण के लिए खण्ड अथवा खण्ड के लिए सम्पूर्ण का प्रयोग होता है—

' Synecdoche in which a part is used to describe the whole of something or vice-versa."

'राधा' महाकाव्य से उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(क) "काठ-पत्थर आग देते हैं उगल
है मरुस्थल पिघल हो जाता सजल
कर्म का श्रम स्वेद-कण होता नहीं,
कर्म सिर पर हाथ धर रोता नहीं।"

पूरे प्रसंग में कर्मठ व्यक्ति को रेखांकित किया गया है। कवि का कहना है कि कर्मठ व्यक्ति सिर पर हाथ धर रोता नहीं, अपितु वह अपने अव्यर्थ कर्म-बल से अघटनीय को घटनीय बना देता है। अतः, 'कर्म' कर्मठ व्यक्ति का उपलक्षण है। 'कर्म' के उपलक्षण होने से 'Synecdoche' अलंकार है।

(ख) वसन कौशेय पर सुइयाँ चलाकर
खिलाए फूल जाते सौम्य सुन्दर !

निर्वेद पर्व, पृष्ठ 71

'कौशेय वसन' विरागी पुरुष का उपलक्षण है, अत: Synecdoche है।

इस प्रकार महाकवि जानकीवल्लभ शास्त्री ने 'राधा' महाकाव्य में पाश्चात्य अलंकारों का विदग्धतापूर्ण विनियोग कर हमारी रसना को टटके स्वाद से परिचय कराने के साथ-साथ अपनी कथन भंगिमा के इन्द्रधनुषी विविध रंगों की सहस्र धाराओं में सम्पूर्णतया स्नात कराके हमें धन्य-धन्य कर दिया है।

★

हिन्दी-विभाग
श्री निम्बार्क कृष्ण माधवानन्द
संस्कृत महाविद्यालय, धानामठ
पत्रालय—काब मण्डल—पटना।

राधा का तात्त्विक अनुशीलन

□ डॉ० पतञ्जलि मिश्र

'राधा' आचार्य श्री जानकीवल्लभ शास्त्री की कीर्ति-कन्द-स्वरूपा अनुपम रचना है। इसमें उनके यश का मूल छिपा है। अतः इसे उनके कीर्तिकन्द के रूप में स्वीकारना उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा की अवमानना नहीं है। यह उनकी सर्वातिशायिनी रचना है, जिसमें प्रबन्धात्मकता के बीजों को सर्वतोभावेन पल्लवित-पुष्पित होने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। अतः प्रबन्धात्मकता के प्रति आचार्य कुन्तक की 'प्रबन्धेषु कवीन्द्राणां कीर्तिकन्देषु किं पुनः ?"[1] वाली अवधारणा आचार्यश्री की 'राधा' के प्रति सटीक प्रतीत होती है। लगता है, इसकी रचना के पूर्व तक वामनाचार्य का 'क्रमसिद्धिस्तयोः स्रगुत्तंसवत्' सूत्र इनकी प्रबन्धात्मकता के उन्मेष में प्रतिबन्धक बना रहा और वे अपनी अन्यान्य रचनाओं द्वारा चाहे वे मुक्तक रही हों या गीति-नाट्य या 'श्यामासंगीत'—जैसे संगीतमूलक भक्तिविजृम्भक विभावन सामग्रियों से परिपुष्ठ काव्य विधाएँ ही क्यों न रही हों, किन्तु इनके प्रणयन द्वारा शास्त्री जी ने अपनी वश्यवाक्यता सिद्ध की है। क्योंकि उक्त सूत्र में बताया गया है कि मुक्तक और प्रबन्ध में वही सम्बन्ध है, जो माला और उत्तंस में। माला-संगुम्फन की कला मे दक्ष ही उत्तंसगुम्फन में सिद्धि प्राप्त करता है। अतः मुक्तकप्रणयण में सिद्धहस्त ही प्रबन्ध रचना में प्रवीणता प्राप्त करता है। जिस प्रकार अग्नि का पृथक् परमाणु प्रकाशदान में अपनी अक्षमता सिद्ध करता है तद्वत् मुक्तक भी सम्यक् प्रकाश विकीर्ण नहीं कराता, कवियों को परम यशस्वी नहीं बनाता। अतः आचार्यश्री की सभी रचनाएँ उन्हें महा-कवि-पद के भागी बनाने में समर्थ नहीं हैं, किन्तु 'राधा' का प्रबन्ध-विधान ही उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व के उद्भावन में समर्थ है, क्योंकि मुक्तक एक मनःस्थिति की काव्याभिव्यक्ति है और प्रबन्ध समग्र जीवन-दर्शन की। इसके अतिरिक्त प्रबन्धों में आनन्द-दान के अलावा अन्य महत्वपूर्ण उद्देश्यो का निदर्शन भी होता है, जैसे—पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति का साधनत्व आदि

---

1. वक्रोक्तिजीवितम्, उन्मेष 4, कारिका 26 का अन्तःश्लोक 43, पृष्ठ 541, हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली का संस्करण।

भी उसकी प्रबन्धमूलकता में सन्निविष्ट होता है। यही कारण है कि काव्य की ऐहिक और लोकोत्तर दोनों सिद्धियों का माध्यम होने से प्रबन्धकाव्य काव्यशास्त्रियों की दृष्टि में मूर्धाभिषिक्त और शोभन बनानेवाली विधा के रूप में स्वीकृत है।

'राधा' का उपजीव्य श्रीमद्भागवत है क्योंकि उक्त भगवत्स्वरूपा 'अष्टादशसाहस्त्रीसंहिता' में ही सर्वप्रथम 'रसो वै सः' और 'रस एवं रासः' के प्रमाणभूत अक्षरब्रह्म श्रीकृष्ण का ह्लादिनी, संविद् और संधिनी स्वरूपा श्रीराधा से मिलकर अपनी विश्वरूपता प्रकट करने की बात बतायी गयी है। अतः 'रसोवैसः' और 'रस एव रासः' में एकरूपता की परिणति प्राप्त है क्योंकि भक्तिशास्त्र में पूर्ण श्रीकृष्णतत्त्व के सम्बन्ध में बताया गया है कि —

"सर्वाद्भुतचमत्कार लीलाकल्लोलवारिधिः।
अतुल्यमधुरप्रेम मण्डितप्रियमण्डलः॥
त्रिजगन्मानसाकर्षी मुरलीकलकूजितैः।
असमानोर्ध्वस्वरूपश्रीविस्मापित चराचरः॥
लीला प्रेम्णा प्रियाधिक्यं माधुर्यं वेणुरूपयोः।
इत्यसाधारण प्रोक्तं गोविन्दस्य चतुष्टयम्॥[2]

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण लीलाकल्लोलवारिधि हैं। वे अपने अनुपम मधुर प्रेम (महाभाव) द्वारा प्रियजनों को मंडित करनेवाले हैं। अपनी मुरली की कलध्वनि से त्रैलोक्य को वशवर्ती बनाने में समर्थ हैं तथा अपने अलौकिक रूपमाधुर्य से चराचर को विस्मित करने में अग्रणी भी। अतः लीलामाधुर्य, प्रेममाधुर्य, वेणुमाधुर्य और रूपमाधुर्य के प्रकटन में उनकी असाधारणता जैसे श्रीमद्भागवत में स्थान-स्थान पर परिलक्षित होती है तद्वत् उसके उपजीवक 'राधा' नामक महाकाव्य में भी उसकी शब्दब्रह्ममयी अक्षरता नूतन विग्रह धारण कर प्रादुर्भूत हुई है क्योंकि सच्चिदानन्दसान्द्रांग श्रीकृष्णतत्त्व 'नित्यनूतन' है—

'सदास्वरूपसम्प्राप्तः सर्वज्ञोनित्यनूतनः।
सच्चिदानन्दसान्द्रांगः सर्वसिद्धिनिषेवितः॥[3]

2. भक्तिरसामृतसिन्धु, दक्षिण विभाग, विभावाख्यलहरी-1, का० 41-43, पृष्ठ 239, व्रजगौरव संस्करण, वृन्दावन।

3. वही, का० 38, पृष्ठ 236.

अतः ब्रह्मलीन आचार्यश्री सत्यव्रत शर्मा 'सुजन' जी ने 'राधा' की प्रबन्धात्मकता के प्रति दृष्टि-निक्षेप करते हुए जैसा लिखा है :—

"मैं आचार्य श्री जानकीवल्लभ शास्त्री को हिन्दी का एकमात्र बश्यवाक् कवि मानता हूँ। हिन्दी में ही नहीं, समग्र भारतीय वाङ्मय में 'राधा' अन्वर्थनामा महाकाव्य है। शताब्दियों बाद हिन्दी में शब्दब्रह्म अपनी सहज शक्तिमत्ता प्राप्त कर चरितार्थ हुआ है" वैसा निष्पक्ष भाव से लिखना सभी के बूते की बात नहीं। मान्य आलोचक ने बावन तोले पाव रत्ती सत्य का प्रकटन कर अपनी सूक्ष्मदर्शिता का परिचय सूत्ररूप में दिया है, जो ज्ञानलवदुर्विदग्ध मलिन दृष्टिवाले आलोचकों के लिए अतिशयोक्तिपूर्ण कथन-मात्र का अवबोधन भी करा सकता है, किन्तु वस्तुस्थिति वैसी नहीं है। अतः इस आलेख-प्रणयन का एकमात्र प्रयोजन वैसे सज्जनों के मनमुकुर पर पड़े मलावरण दूरीकरण-रूप सत्कर्म-मात्र है।

कृतविद्य मनीषी शास्त्री जी विचित्र मार्गी कवि हैं। इन्होंने अपने अनुकार्य श्री राधामाधव के मनोमोहक व्यक्तित्वपूर्ण इतिवृत्त को अपनी वैचित्र्यपूर्ण वचोभंगिमा द्वारा प्रबन्धवक्रता का अतिशायी रूप दिया है, जिससे उनकी सहजाशक्ति 'प्राक्तनाद्यतन संस्कार परिपाक प्रौढ़ा प्रतिभा'[4] के निदर्शन में समर्थ हुई है।

प्रबन्धवक्रता को परिभाषित करते हुए राजानक कुन्तक ने दो कारिकाएँ लिखी हैं—

"इतिवृत्तान्यथावृत्त - रससम्पदुपेक्षया।
रसान्तरेण रम्येण यत्र निर्वहणं भवेत्॥
तस्या एव कथामूर्ते रामूलोन्मीलितश्रियः।
विनेयानन्दनिष्पत्तयै सा प्रबन्धस्य वक्रता॥"[5]

अर्थात् पौराणिक कथाओं में उपलब्ध मूलरस की उपेक्षा करके जहाँ किसी अन्य सुन्दर रस से कथा का निर्वहण (समापन) कवि को अभीष्ट रहता है, वहाँ प्रबन्धवक्रता का विषय होता है तथा विनेयों के आनन्ददानार्थ जहाँ अन्य प्रकार से निरूपित रस की उपेक्षा कर अन्य रस की प्रतिष्ठापूर्वक कथा

4. वक्रोक्तिजीवितम् उन्मेष 1, का० 25 की वृत्ति; पृष्ठ 107, वही सं० 1

5. वही, उन्मेष-4, का० 16-17, पृष्ठ 528

की समाप्ति की गयी हो वही प्रबन्धवक्रता उजागर होती है। प्रबन्धवक्रता की अतिशयता प्रकरणवक्रता के चमत्कारी रूप पर अवलम्बित होती है। अतः उक्त प्रसंग को प्रभावशाली ढंग से निरूपित करते हुए वक्रोक्तिजीवितकार ने इन शब्दों में अपना प्रकाशनिक्षेप किया है—

'निरन्तर - रसोद्गार - गर्भ संदर्भ - निर्भरः।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः ॥'[6]

उनके कथन का सार यह है कि रस को अविराम गति से प्रवाहित करनेवाले संदर्भों से परिव्याप्त महाकवियों की वाणी केवल कथामात्र के आश्रयण से ही नहीं जीवित रहती, अपितु उसके साथ-साथ कवि प्रतिभा के योग होने पर ही कथा में चमत्कृति उत्पन्न होती है और वही महाकवियों की कृतियों में चिरकाल तक जीवित रहती है। प्रबन्धवक्रता की परिधि में महाकाव्य का समग्र वास्तुकौशल अन्तर्निहित है। इसका पृष्ठाधार सर्वाधिक व्यापक है। अतः इसे प्रबन्धकल्पना के समग्र सौष्ठव का पर्याय कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं, किन्तु उत्पादयलावण्य नामक प्रकरणवक्रता के अवलम्बन से ही प्रबन्धात्मकता में रमणीयता स्फुरित होती है। विभाव, अनुभाव, संचारी और स्थायीभाव के औचित्य से सुन्दर ऐतिहासिक अथवा कविकल्पित कथा शरीर का निर्माण प्रबन्धों में अपेक्षित है। ऐतिहासिक क्रमानुसार प्राप्त होने पर भी रस के प्रतिकूल स्थिति को छोड़कर बीच में अभीष्ट रसानुकूल नवीन कल्पना द्वारा कथा का नव निर्माण भी प्रबन्धात्मकता में चार चाँद लगाता है। केवल शास्त्रीय विधानों के अनुपालनार्थ ही नहीं, अपितु रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से संधि और संध्यंगों की रचना भी प्रबन्धकाव्यों में अपेक्षित है। यथावसर उद्दीपन तथा प्रशमन और विश्रान्त होते हुए प्रधान रस का अनुसंधान तथा यथाशक्ति रसानुरूप अलंकारों की योजना से प्रबन्धात्मकता चमक उठती है।

श्रीमद्भागवत में सर्वत्र राधा-कृष्ण के युगनद्ध रूप का अनुध्यान हुआ है। अतः श्रीकृष्ण के पुण्यश्लोक, उत्तमश्लोक-आदि नाम शक्ति और शक्त के अभिव्यञ्जन में समर्थ होकर कृष्ण और कृष्णा (राधा), पुण्यश्लोक श्रीकृष्ण और पुण्यश्लोका श्रीराधा तथा उत्तमश्लोक श्रीकृष्ण और उत्तमश्लोका श्रीराधा के अवबोधन में अपना चमत्कार व्यंजित कर रहे हैं। संस्कृत नहीं जाननेवालों की ऐसी धारणा बन गयी है कि श्रीमद्भागवत

6. वही, 4, 4 का अन्तःश्लोक 11, पृष्ठ 495।

में राधा की कहीं वेदव्यास में चर्चा ही नहीं की है इसलिए राधा तो कवि-कल्पित नायिका है। अपने बुद्धिस्थ परामर्श द्वारा शक्ति और शक्त का विवेक जगाकर राधा-माधव की एकनिष्ठता स्वीकारनी है तभी तो श्रीमद्-भागवत और उसके सुमधुर घूँट छककर पी सकेंगे। श्रीमद्भागवत का मूल रस उज्वल श्रृंगार है, जिसके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए श्रीरूपपादाचार्य ने यह कारिका लिखी है—

'श्रृंगाररस सर्वस्वं शिखिपिच्छविभूषणम्।
अंगीकृत नराकार माश्रये भुवनाश्रयम्।।'[6]

जिसके टीकाकार लीलाशुक विश्वनाथ चक्रवर्ती ने अपनी आनन्द-चन्द्रिका' में लिखा है कि 'शिखिपिच्छविभूषणत्वम् गोपांगनारमणस्यासाधरणो धर्मः' अर्थात् मयूरपिच्छ से भूषित होना गोपीवल्लभ श्रीकृष्ण का असाधारण गुण है, क्योंकि वे शृंगाररस के सारतत्त्व हैं। अतः उन्होंने मनुष्य बनना स्वीकारा है, जिसका वशवर्ती तो त्रैलोक्य है, किन्तु आचार्यश्री ने भागवती कथा के जीवानुभूत उज्ज्वल शृंगाररस की जगह मधुर भक्तिरस को प्रतिष्ठा-पित किया है और अपनी प्रकरणवक्रता द्वारा इतिवृत्तात्मकता में उक्तिवैचित्र्य के संधान से माधुर्य का अनुकर्षण किया है जिससे 'राधा' महाकाव्य सहृदय-श्लाघ्य अर्थ के अभिव्यञ्जन में अपनी प्रौढ़ता प्रकट कर रहा है; जो अन्य हिन्दी महाकाव्यों में परिलक्षित नहीं होता।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, आलोच्य काव्यात्मक ग्रन्थ में मधुरभक्तिरस का उत्कर्ष वर्णित है। उक्त भक्तिरस को परिभाषित करते हुए श्रीरूपपादाचार्य ने अपनी निम्नलिखित कारिका लिखी है—

'आत्मोचितैर्विभावाद्यैः पुष्टिं नीता सतां हृदि।
मधुराख्यो भवेद्भक्ति रसोऽसौ मधुरा रतिः।।''[7]

इसमें बताया गया है कि अपने अनुरूप विभावादि द्वारा सद्भक्तों अर्थात् जिन्हें श्रीकृष्णविषयक कान्तारति का स्पर्श प्राप्त हुआ है, उन्हीं सज्जनों के हृदय में मधुरा रति परिपुष्ट होकर मधुरभक्तिरस रूप में आस्वा-दित होती है। इसके विषयालम्बन भगवान् श्रीकृष्ण हैं, क्योंकि वे असमोर्द्ध्व सौन्दर्य और लीलावैदग्धी रूप सम्पदा के आश्रय हैं। इसे ही—

6. उज्ज्वलनीलमणि, का० 19, पृष्ठ 30, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान प्रकाशन दिल्ली।
7. भक्तिरसामृतसिन्धु, पश्चिम विभाग, मधुरभक्तिरसाख्य लहरी 5 का० 1 पृ० 711

असमानोर्ध्व सौन्दर्य लीलावैदग्ध्य सम्पदाम् ।
आश्रयत्वेन मधुरे हरिरालम्बनो मतः ॥'[8]

इस कारिका में अभिव्यक्ति दी गयी है । इसके आश्रयालम्बन व्रजसुन्दरी एवं प्रेयसी-वृन्द चर्चित हैं । प्रेयसियों में वृषभानुनन्दिनी श्रीराधा प्रवरा हैं— 'प्रेयसीषु हरेरासु प्रवरा वार्षभानवी' ऐसा भक्तिशास्त्र का वचन है [9]। उद्दीपन सामग्रियों में सर्वाधिक महत्व श्रीकृष्णमुखोद्गीर्ण मुरलीनादामृत को प्राप्त है—

'कृष्णवक्त्रेन्दुनिष्ठ्यूतं मुरलीनिनदामृतम् ।
उद्दीपनानां सर्वेषां मध्ये प्रवरमीर्यते ॥'[10]

जिसे आचार्यश्री ने अपने प्रबन्ध में बड़ी कुशलता से प्रतिष्ठापित किया है । इसमें कटाक्षदृष्टि तथा मृदु-मन्द मुसकान-आदि अनुभाव बताये गये हैं । सम्भोगान्त में होनेवाले आलस्य तथा प्रियसंग-भंग से होनेवाली उग्रता को छोड़कर अन्य समस्त संचारियों का योग मधुरभक्तिरस में होता है, जिससे परिपुष्ट होकर मधुरारति स्थायिक मधुरभक्तिरस की निष्पत्ति भक्तिप्रवण-चिद्विशिष्ट सहृदयों को सम्भव है ।

'राधा' सात पर्वों में संगुम्फित सहस्राधिक पृष्ठों में व्याप्त हिन्दी के महाकाव्यों की मुकुटमणि है । प्रणय, पुरुषार्थ, दर्शन, विनोद, निर्वेद, प्रभास और उत्सर्ग संज्ञक इसके सात पर्व कवि प्रतिभा की देन हैं ।

प्रणयपर्व का शुभारम्भ—

'नीली री मुरली ! तू ने मुझे पुकारा ?
क्या करूँ कि मेरा तन हारा मन हारा !'

से हुआ है, जिसमें 'नीली री मुरली !' पद से उपादानलक्षणा द्वारा श्रीकृष्ण का अध्याहार हुआ है, जिसकी सुधास्यन्दी मनोहर धुन सुन श्रीराधा ने अपने तन-मन की सुध खो दी है । मुरलीमनोहर की मुरलीध्वनि कामिनियों में सुरतसुख जगाने में पूर्णतः समर्थ है—

'तद्व्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम् ।'

(श्रीमद्भागवत : 10/19/3)

---

8. वही, का० 4, पृष्ठ 712
9. वही, का० 7, पृष्ठ 713
10. उज्ज्वलनीलमणि, उद्दीपन प्रकरण, का० 61, 284, वही संस्करण
11. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध 10, अध्याय 19, श्लोक 3

तभी तो श्रीशुकदेव जी के शब्दों में परात्परब्रह्म श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि जड़-जंगम समस्त भूतों का मन चुरा लेनेवाली कही गयी है और गोपियों ने उसे सुना और सुनकर उसके अन्वाख्यान में तन्मय हो गयीं—

इति वेणुरवं राजन् ! सर्वभूत मनोहरम्।
श्रुत्वा व्रजस्त्रियः सर्वा वर्णयनयोऽभिरेमिरे ।।'[12]

—वही, 10, 11, 6

अतएव तन्मयतावश अन्वाख्यान के प्रसंग में जिन गीतों का स्फोटन हुआ था, वे गीत श्रीमद्भागवती कथा में वर्णित वेणुगीत हैं। 'राधा' की संरचना में इस वेणुगीत की उपजीव्यता तो सर्वतोभावेन स्वीकारनी होगी, क्योंकि प्रणयपर्व से लेकर उत्सर्गपर्व पर्यन्त अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होने वाली कथा की प्रबन्ध शैली इसी को केन्द्रविन्दु मानकर चक्कर लगाती चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुई है।

प्रकृत महाकाव्य में श्रीकृष्ण की राधा विषयक अनुकूलता का आधान ही इसकी प्रबन्धात्मकता का बीज है। उज्ज्वलनीलमणिकार ने लिखा है—

राधायामेव कृष्णस्य सुप्रसिद्धानुकूलता।
तदा लोके कदाप्यस्य नान्यासङ्ग स्मृतिं व्रजेत् ।।[13]

यह भावना राधा के कई स्थानों पर नायकमुखेन अधिरूढ़ता प्राप्त करती जान पड़ती है। सहृदयों के हृदयावर्जनार्थ और स्वमत परिपोषार्थ उसका दिग्दर्शन कराता चलूँ तो अच्छा रहे। अतः उसपर अपना ध्यान केन्द्रित करें—

"चकितचित एक दिन माता यशोदा—
लगीं ज्यों भेद लेने, मर्म खोदा,
'सुना वृषभानु की बेटी अलोनी
नचाती है तुझे, क्या हाय होनी।
न उसके दाँव पर कोई चढ़ा जब
तुझे फुसला लिया पट्टी पढ़ा तब
सुलक्षण तू न होता, वह फँसाती ?
प्रतिष्ठा, कीर्ति धरती में धँसाती ?

12. वही, स्कन्ध 10, अध्याय 11, श्लोक 6

13. उज्ज्वलनीलमणि, नायकभेद प्रकरण, का० 23, पृ० 31

तुझे मैंने न माना या पिता ने ?
पिपासा प्रेम की अपराजिता ने—
जगाई तीव्र कैसी बाल मन में ?
लिपट अम्बर गया नीलाभ तन में !

× × ×

खड़ा कैसा किया अब यह झमेला
लगाया निन्दकों का बन्द मेला,
कि तेरी ओर उँगली सब उठाते
छिपा मुसकान तेरी कीर्ति गाते
सुनाई क्यों नहीं देती बुराई ?
हँसें सौ साथ, रोए एक माई ?

—राधा, निर्वेद पर्व, पृ० 64

उपर्युक्त वचनावली में 'सुलक्षण तू न होता, वह फँसाती ?' इस वक्रोक्ति-गर्भित वाक्य द्वारा माता यशोदा ने श्रीकृष्ण की चारित्रिक शिथिलता की ओर इंगित किया है, जिसके प्रकाशन में 'सुलक्षण' पद विपरीत-लक्षणा द्वारा उनकी 'कुलक्षणता' के अवबोधन में अपनी सामर्थ्य बिखेर रहा है तथा राधा भी यशोदा के व्यंग्यबाण से विंधे बगैर नहीं रही। उसके सम्बन्ध में 'प्रतिष्ठा, कीर्ति धरती में धँसाती ?' यह कटूक्तिपूर्ण अन्वाख्यान उक्त प्रसंग में वर्णित है, जिसमें पठित 'कीर्ति' पद कीर्तिसुता श्रीराधा और उसकी माता कीर्ति दोनों की प्रतिष्ठा (उनकी प्रणयिनी द्वारा स्वैरिणी रूप में प्राप्त होने से) धूल में मिलायी जाने की बात बताकर आगे की पदावलियों में गर्हित ठहरायी जा रही है। अतः माता यशोदा के उक्त आक्षेप भरे प्रश्नों के प्रत्युत्तर में जो श्रीकृष्ण-वचन कढ़ पाये हैं, उनसे उनकी ह्लादिनी श्रीराधा विषयिणी अनुकूलता में कवि प्रतिभाजन्य प्रकरणवक्रता अपना उत्कर्ष व्यञ्जित कर रही है—

"कहा मैंने नहीं, कहना नहीं था,
बचातीं, स्रोत में बहना नहीं था,
नचाए क्या अधूरा और आधा ?
कि मेरी पूर्णता का नाम राधा।"

'संकोचे जो न विधि, कुछ बात बोलूँ,
छिदाई नार थी कल, खीच रो लूँ ?
तुझे यह प्यार का ज्वर कब चढ़ा था ?
अभी कल पेट से माँ के कढ़ा था।'

न पूछा प्रश्न माँ, मारे असुर जब ?
हुई शंका, सुमन बरसे कि सुर जब ?
न ठनका एक पल को मातु, माथा ;
तुम्हारे लाड़ले ने नाग नाथा !
गई राधा रची मेरे लिए है,
न आँधी में लची, मेरे लिए है,
नहीं तो उड़ गई होती कभी की,
महकती तुड़ गई होती कभी की,
जनम से भी बड़ी मुझसे, सयानी,
करम से दीखती है राजरानी,
तुम्हें आस्था तनिक होती नहीं माँ ?
इसी रिस मारतीं, रोतीं नहीं माँ ?"

—वही, पृष्ठ 65

और भी—

अलौकिक शक्ति मुझमें व्यापती है—
सभी ने था कहा, माँ मापती है ?
भरे सन्ताप से, वह मन नहीं मैं,
मुदित नित आप से उन्मन नहीं मैं,
सबों के हाथ में है हाथ मेरा,
सुलभ सबको सदा से साथ मेरा,
न जनपथ की न रथ की विघ्न-बाधा,
जहाँ हूँगा, रहेगी संग राधा।
कठिन इस जन्म की यात्रा हमारी—
समझ कर राधिका है संगचारी
अचानक मिल गई, मिलती रही फिर
रुकी टुक लख अचल पथ पर, बही फिर।
झुकाती सिर नहीं अन्तर्विनीता,
न सुख-दुख गीत गाती, मौन गीता !
धराधर हूँ, कि धाराधर नहीं हूँ।"
स्वर नहीं हूँ कहती, गिरा हूँ,

—वही, पृष्ठ 67

उपर्युक्त 'यशोदा-कृष्ण संवाद,' के संगुम्फन में राधा-कृष्ण का जैसा अलौकिक प्रेम प्रदर्शित हुआ है वैसा अन्यत्र सुदुर्लभ है। अतः ऐसे परिसंवादों से 'राधा' महाकाव्य भरा-पूरा है और नायक-नायिका के पारलौकिक प्रेम की झाँकी प्रस्तुत करने में कवि प्रतिभा की प्रौढ़ता सर्वत्र परिलक्षित होती है।

नायक श्रीकृष्ण द्वारा वेणुनाद से उद्दीप्त बनायी गयी राधा प्रियदर्शन से अपने आप्यायित होने की बात जब कहती नहीं अघाती तब उसके कथन से जो आमुष्मिक-अनुराग किरणें छिटक पायी हैं, उससे कविकृत स्वभावोक्ति पूर्णवक्रता का संचार हो रहा है तथा उससे दोनों की पारस्परिक अनुकूलता की नूतन झाँकी प्रस्तुत हुई है :—

"थे देख रहे, मैं आँखें बन्द किए थी,
सब दीख रहा था, ज्यों चाँदनी पिए थी।
सकुची, ठिठकी, चमकी, कौंधी, मुसकाईं
तारों में कुछ उभरा, आँखें भर आईं।
झिलमिल सन्ध्या, गहरी रजनी, फिर हल्का—
कजरारी पलकों से प्रभात-सा झलका।
फिर क्या अनदेखा रेखांकित हो आया,
मेरा मन - पाखी धुले पख धो आया!
ज्यों स्फटिक फलक पर इन्द्रनील की झाईं
मेरा उर-सर भर अगम गगन-छवि छाई!
इस अमिट चित्र की खिची प्रथम जब रेखा,
कैसी आँखों से उन्हें हाय! था देखा।'

—राधा, प्रणय पर्व / पृ० ४०-४१

उस अलौकिक रूपमाधुरी के पान में राधा का नैसर्गिक अनुराग माञ्जिष्ठ्यराग बनकर पाठकों के समक्ष उमड़ता है, जिसमें वह स्वयं को प्रशान्त भाव से निमज्जित करना ही जीवन की सार्थकता मानती है :—

"यह चिदाकाश की आग परिधि के भीतर—
जलती, आलोक लुटाती तम को पीकर!
मंगल - तारा - सा सारा नभ भर देता—
यह प्रणय हृदय में है यदि घर कर लेता!
इस सागर में मैं ऊब-डूब रह पाती,
अनझरे आँसुओं में सवेग बह पाती,

पाती सार्थकता स्थिर प्रवाह होने की !
निर्वाध नित्य के दुरवगाह होने की !"

— वही, पृष्ठ 44

राधा-माधव का पारस्परिक अनुराग माञ्जिष्ठ्यराग के नाम से प्रसिद्ध है, जिसे सुप्रतिष्ठित करते हुए उज्ज्वलनीलमणिकार ने :—

'अहार्योऽनन्यसापेक्षो यः कान्त्या वर्धते सदा ।
भवेन्माञ्जिष्ठ्यरागोऽसौ राधामाधवयोर्यथा ॥'[14]

यह कारिका लिखी है । उक्त कारिका में वर्णित मूलभावों की सम्यक् प्रतिष्ठा 'राधा' की इन पक्तियों में और स्पष्टता से हुई है—

मैं पंखकटी विहगी, आँधी की कदली,
अधजली पतङ्गी, मरु-तट-उछली मछली,
जीने दे रहा समाज न वृन्दावन का,
मरने न दे रहा अमर मोह मोहन का !
घुटती भीतर, कब सिसक-सिसक हूँ रोती ?
उत्कल उत्सुकता में नीरवता सोती !
यों प्राण न अपने हाथ, साथ कृश काया,
आलोक न बाँधे बँधता, हारी छाया !
दी छिपा आग अब धुआँ छिपालूँ कैसे ?
पी गई जहर, अब लहर सँभालूँ कैसे
कोई बतलाए; मेरा रथ पथहारा !
नीली री मुरली, क्यों कर मुझे पुकारा ?

—वही, पृष्ठ 44-45

किन्तु कविवर शास्त्रीजी की राधा लोकापवाद से डरती है अतः उसने पहले ही कहा है :—

'लोकापवाद घननाद, मोर मेरा मन;
जब इतर त्रस्त होते, वह करता नर्तन ।'

इसलिए वह अपनी व्यग्रता में यह कहती दृष्ट हो रही है—

"है रोर-भरी उठती हिलोर अन्तर में,
झकझोर रहा तन, चोर घुसा इस घर में !
इतनी स्वतन्त्रता होती, मैं चिल्लाती !
ठंढी कालिख में दग्धशिखा दिख जाती !!

14—वही, स्थायिभाव प्रकरण, काव्य 127, पृ० 451 ।

उर चीर रहा है तीर फेंकता व्याधा ?
क्या ज्ञात नहीं, मैं मृगी नहीं, हूँ राधा ?"

वही, पृष्ठ 45

यही कारण है कि वह अपने को एक झरने के सदृश चुपचाप प्रगतिशील बनाना चाहती है, आकाश की तरह अनहदस्वर से परिपूर्ण करना चाहती है। अत: प्रशान्त भाव से आठ-आठ आँसू बहाते हुए हेमन्त-शिशिर की उत्तप्त पीड़ा भोगने में आतुरता दिखला रही है :—

'यह झरना है, जो नीरव झरता रहता,
नि:शब्द गगन अनहदस्वर तरता रहता।
बहता है, मेरे आँसू भी चुप बह लें,
उत्तप्त पीर हेमन्त-शिशिर रह सह लें !'

—वही, पृष्ठ 46

फिर क्या था, दोनों ने प्रणयसागर में डूब-उतराकर अपने को एक दूसरे में खोने का काम किया है और इस एकीकरण में पूरी प्रकृति ही राधा-माधव रूप में एक दूसरे को रूपायित दृष्टिगोचर हुई, जिसके प्रतिपादन में प्रयुक्त कविभाषा का चमत्कारी रूप देखते ही बनता है। अत: कवि की प्रकरणवक्रता के उद्दाम रूप का अवलोकन करें :—

"सौष्ठव-विहीन यह भाव अभाव भरा-सा,
दिप रूप-शिखा में दिखता डरा-डरा-सा !

यह निर्बन्धन आवेग निविड़ हो काँपा,
रञ्जित तरंग ने सुधा-सिन्धु भी मापा !
कर सिक्त नयन अभिषिक्त करेगा मन को ?
यह रस परवश, फिर-फिर निहारता तन को !
यह चर्म - चक्षु क्या मर्मदृष्टि से प्रेरित ?
गोचर-सित-असित, परन्तु अगोचर-चिर-सित !'

× × ×

प्रतिबिम्ब हिला बढ़ चला हाथ फैलाए,
मैं सिमट गई, जाने क्या संकट आए !

आँखें न उठीं तो झुकीं चरण-नख-मणि पर,
देखा सहस्र दल सद्य प्रफुल्ल धरणि पर !

पाती सार्थकता स्थिर प्रवाह होने की !
निर्बाध नित्य के दुरवगाह होने की !"

— वही, पृष्ठ 44

राधा-माधव का पारस्परिक अनुराग माञ्जिष्ठ्यराग के नाम से प्रसिद्ध है, जिसे सुप्रतिष्ठित करते हुए उज्ज्वलनीलमणिकार ने :—

'अहार्योऽनन्यसापेक्षो यः कान्त्या वर्धते सदा ।
भवेन्माञ्जिष्ठ्यरागोऽसौ राधामाधवयोर्यथा ।।[14]

यह कारिका लिखी है । उक्त कारिका में वर्णित मूलभावों की सम्यक् प्रतिष्ठा 'राधा' की इन पक्तियों में और स्पष्टता से हुई है—

मैं पंखकटी विहगी, आँधी की कदली,
अधजली पतङ्गी, मरु-तट-उछली मछली,
जीने दे रहा समाज न वृन्दावन का,
मरने न दे रहा अमर मोह मोहन का !
घुटती भीतर, कब सिसक-सिसक हूँ रोती ?
उत्कल उत्सुकता में नीरवता सोती !
यों प्राण न अपने हाथ, साथ कृश काया,
आलोक न बाँधे बँधता, हारी छाया !
दी छिपा आग अब धुआँ छिपालूँ कैसे ?
पी गई जहर, अब लहर सँभालूँ कैसे
कोई बतलाए; मेरा रथ पथहारा !
नीली री मुरली, क्यों कर मुझे पुकारा ?

—वही, पृष्ठ 44-45

किन्तु कविवर शास्त्रीजी की राधा लोकापवाद से डरती है अतः उसने पहले ही कहा है :—

'लोकापवाद घननाद, मोर मेरा मन;
जब इतर त्रस्त होते, वह करता नर्तन ।'

इसलिए वह अपनी व्यग्रता में यह कहती दृष्ट हो रही है—

"है रोर-भरी उठती हिलोर अन्तर में,
झकझोर रहा तन, चोर घुसा इस घर में !
इतनी स्वतन्त्रता होती, मैं चिल्लाती !
ठंढी कालिख में दग्धशिखा दिख जाती !!

14—वही, स्थायिभाव प्रकरण, काव्य 127, पृ० 451 ।

उर चीर रहा है तीर फेंकता व्याधा ?
क्या ज्ञात नहीं, मैं मृगी नहीं, हूँ राधा ?"

वही, पृष्ठ 45

यही कारण है कि वह अपने को एक झरने के सदृश चुपचाप प्रगतिशील बनाना चाहती है, आकाश की तरह अनहदस्वर से परिपूर्ण करना चाहती है। अत: प्रशान्त भाव से आठ-आठ आँसू बहाते हुए हेमन्त-शिशिर की उत्तप्त पीड़ा भोगने में आतुरता दिखला रही है :—

'यह झरना है, जो नीरव झरता रहता,
नि:शब्द गगन अनहदस्वर तरता रहता।
बहता है, मेरे आँसू भी चुप बह लें,
उत्तप्त पीर हेमन्त-शिशिर रह सह लें !'

—वही, पृष्ठ 46

फिर क्या था, दोनों ने प्रणयसागर में डूब-उतराकर अपने को एक दूसरे में खोने का काम किया है और इस एकीकरण में पूरी प्रकृति ही राधा-माधव रूप में एक दूसरे को रूपायित दृष्टिगोचर हुई, जिसके प्रतिपादन में प्रयुक्त कविभाषा का चमत्कारी रूप देखते ही बनता है। अत: कवि की प्रकरणवक्रता के उद्दाम रूप का अवलोकन करें :—

"सौष्ठव-विहीन यह भाव अभाव भरा-सा,
दिप रूप-शिखा में दिखता डरा-डरा-सा !

यह निर्बन्धन आवेग निविड़ हो काँपा,
रञ्जित तरंग ने सुधा-सिन्धु भी मापा !
कर सिक्त नयन अभिषिक्त करेगा मन को ?
यह रस परवश, फिर-फिर निहारता तन को !
यह चर्म - चक्षु क्या मर्मदृष्टि से प्रेरित ?
गोचर-सित-असित, परन्तु अगोचर-चिर-सित !'

× × ×

प्रतिबिम्ब हिला बढ़ चला हाथ फैलाए,
मैं सिमट गई, जाने क्या संकट आए !

आँखें न उठीं तो झुकीं चरण-नख-मणि पर,
देखा सहस्र दल सद्य प्रफुल्ल धरणि पर !

उड़ता पराग, मकरन्द-बिन्दु हैं झरते,
कुछ स्वर्ण-वर्ण, कुछ केसर के स्वर भरते !

अंकाव असम्भव रंग तरंगों का था,
सुलगाव इन्द्रधनु-जड़े स्फुलिंगों का था !

इस ओर रंग, उस ओर रंग, रंगों में—
कुङ्कुमी तड़ित कौंधी ज्यों जड़ अंगों में !

यह हरित और वह पीत-केतकी-गाभा,
फैली - सी बीचोबीच तरुण अरुणाभा !

रंगों का यह संभार, चमत्कृत अन्तर,
बाहर-भीतर का भेद हुआ छू - मन्तर !

परिवेश हुआ रंगीन, रंगी नभ - छाया,
अपने को देखूँ—कहाँ नहीं थी माया !

क्या असम्पृक्त ? में डूबी औ' उतराई.
तर रंग ज्वार फिर नील नील-तट आई।"

—वही, पृष्ठ ६१-६२

उपर्युक्त प्रकरण के अन्त में पठित 'क्या असम्पृक्त ? मैं डूबी औ उतराई । तर रंग ज्वार फिर नील नील-तट आई।' वाक्यों में कथित क्या मैं असम्पृक्त ? इस वाक्यवक्रता द्वारा परिपुष्ट कविकृत प्रकरण-वक्रता में अतिशयता का आधान हुआ है, जो दोनों की सम्पृक्तता और एक दूसरे के रंग में अनुरक्त होने की झाँकी प्रस्तुत कर रहा है।

श्रीकृष्ण भाव में पगी राधा अपने को बचा नहीं पाती। उसका नैसर्गिक राग माँ की पैनी दृष्टियों से भाँप लिया जाता है और वह तत्क्षण उसके आक्रोश का पात्र बन जाती है। इस प्रकरण में (माँ-बेटी के परिसंवाद में) कविकृत कथोपकथन की सरसता नायिका के भोलेपन की अभिव्यक्ति में अतिशयता दिखला रही है :—

"पग-डगर बिसर घर पहुँच शहर अरराई,
मिलते ही भनक भभकती आई माई !

बोली—अब यह सब होगा काँच-कुँवारी ?
पायल हल्की, बेड़ियाँ पड़ेंगी भारी !

कंगन उतार कर पहन रही हथकड़ियाँ
क्या इसी घड़ी के लिए गिनों थीं घड़ियाँ ?

जोराजोरी खूँटा उखाड़नेवाली—
मानेगी छाँद बथान ? करें रखवाली—

तेरे बाबा ही अब अपरी - छपरी की,
कमची न लची, कुल की कुल धूल भरी की !

× × ×

दी पटक दुधैंड़ी रूठ-रिसा कर माँ ने
मैं डरी, मरी, गिड़गिड़ा लगी गुहराने—

पड़ता भगोड़ के गले भले अलगोड़ा
अड़ियल को चलने देना थोड़ा-थोड़ा !

बाछी ही तो है, जिसे समझती गैया !
इसने कब पहचानी पछवा - पुरवैया !

खेतों में देखी गदराई हरियाली,
चरती न अघाई, कर पाई न जुगाली !

तू पतिआएगी— बेर ढरे चकराई ?
डगमग-डगमग पग, घिसट-घिसट घर आई !

उस दिन वन में माँ, जब कृष्णा ब्याई थी,
हँस हुलस गोद में बछड़े को लाई थी !

मैं लपझप, घूँघर में घुँघची की लत्ती,
थी लाल-लाल रत्ती हरिआईं पत्ती।

तू ने घूरा, बिथुरी लट झट उलटा दी,
श्रम-कण अँगोछ कर पथ की थकन मिटा दी !

कुहनी सीधी की; बछड़े को चुमकारा,
कुछार देख बोली—है कैसा प्यारा !

उस दिन भी तो माँ रात गये आई थी,
किरकिट न हुई थी, आँखों को भाई थी !

बँसवारी में जब आग लगी थी माई,
आँखें दर-दर बरसीं पर बुझा न पाई !

× × ×

दुधमुँही जलमरी 'कजली' घिर कर आगे,
सुनकर चिल्लाहट ग्वाल-बाल सब भागे !

रह गई अकेली, आया अन्धड़ भारी,
नन्दिनी - जयन्ती भागीं बारी - बारी !

मंगला नई ब्याई थी, भाग न पाई,
गिर गई खड्ड में, फिर-फिर करुण रँभाई !

औचट दुख का न दिखा कोई बँटवैया,
मैं थी कढ़ोरती, लोर ढारती गैया !

विधना को मुझसे अकस कभी का होगा,
जलकर कजली ने मेरे आगे भोगा !

मैं अकड़-मकड़ भूली, अकोस अकुताई,
ढड़कौए ने की काँव-काँव, किकिआई !

अंगर-खंगड़ से भरी डगर, ले टेंघुनी,
टिहुकी, टिल्ले पर चढ़ी, किसी ने न सुनी !

जाता न अंगोजा लोर मंगला का था,
गैयों से मेरा जनम - जनम का नाता !

उठते-उठते थलथला थकित ढह जाती,
हड़बड़ा लगाती बल पूरा, रह जाती !

ऐसे में प्रकटे—अरे, नाम क्या उनका ?
व्रज भर में यश फैला है जिनके गुण का ?

फेराफेरी धर सींग, पूँछ टिटकारा,
खड़खड़ा खड्ड में धंस कर उसे उबारा !

धूसर घुँघराले केश, कुसुंभी अम्बर !
सूधेपन पर सोहता न था आडम्बर !

माँ एक गाय को उठा अँगोछा माथा,
किस भाँति नाग कालियदह का था नाथा ?

× × ×

"मैं अटट गँवारिन, उपलों भरी अँगारी,
झकझक करती तम से निखोट उजियारी !

× × ×

कछुई-सी सिमटी रहती हूँ अपने में,
ऐसी अठखेली, बहती हूँ सपने में !

देखा न अछेह उछाह, भरू पर मैं भी,
मुँह चुरा झुराती, सुनूँ, वरूँ वर मैं भी !'

माँ कहती है—सिन्दूर-विन्दु लगने दे,
मर्यादित महिमा सोई है, जगने दे !

आँसुरी - बाँसुरी आप बिसर जाएगी,
यह मन्द दृष्टि हो आप प्रखर जाएगी !

—वही, पृष्ठ 62-65

राधा तो घनश्याम की घनघटा में बिजली की मदमाती कड़क कौंध या वज्र-गर्ज की गरिमा बनने की अभिलाषिणी है। वह उज्ज्वलनीलमणि श्रीकृष्ण की नीलिमा बनकर अपनी कुल महिमा की विमलता सिद्ध करने की उत्कण्ठा संजोये हुए है। अतः उसके ये भाव इन पंक्तियों में उभर सके हैं—

भर समद इरम्मद, वज्र-गर्ज की गरिमा,
मैं बनूँ नीलिमा, बढ़े विमल कुल-महिमा !

—वही, पृष्ठ—55

बस इसी प्रयोजन की सिद्धि में उसने जल-बुझ कर अपनी पूजा पूरी कर ली है, साध्य और साधक की दूरी मिटा ली है। अतः श्रीकृष्ण-भावनामृत में आपादमस्तक डूबी वह अपने को निस्सीम बना चुकी है, क्योंकि वह अपने मन-मन्दिर में प्रियतम के त्रिभंग रूप को प्रतिष्ठापित कर चुकी है; जिसके अनुराग में उसे चराचर का सर्वस्व अनुरञ्जित प्रतीत हो रहा है। अतः वह या तो अपने प्रियतम की दीप्ति से दीपित होना चाहती है या अपने को मिटाकर अपनी पूर्णता को अक्षय बनाना चाहती है। वह संयोगकाल में अपने अनुरागी से पूछना चाहती है कि मैं दृश्य बनूँ या दर्शन ? पर लज्जा उसे मुखर नहीं होने देती और वह निरन्तर कृष्णानुराग तरंग में अपने को बहाती चली गयी। निम्नलिखित पङ्क्तियाँ उपर्युक्त भाव के अभिव्यञ्जन में अपनी सशक्तता सिद्ध कर रही हैं—

"मैं जली-बुझी, पर कर दी पूजा पूरी,
मिट गई मिटाकर आदि-अन्त की दूरी।

× × ×

अन्तस्तल द्रवित हुआ, लोहित लौ ललकी,
धुँधली छाया में जली चेतना झलकी !

× × ×

अपनापन क्या खोया, मैं ने सब खोया,
तन गगन हुआ, ज्योंही मन ने धन गोया !
देता ऋतुओं को रंग त्रिभंग तुम्हारा,
है रूपवान संसार तुम्हीं से सारा !
जीवन प्रकाश पाए या मृत्यु अमरता,
—ऐसी उधेड़बुन बैठा-ढाला करता !
मैं दृश्य बनूँ या दर्शन, यह भी सोचा ?
चाहा पूछूँ, लज्जा ने गला दबोचा !
बस बही, बह चली, बहती गई निरन्तर,
इस शिलाभेद का भेद बताए निर्झर !

—वही, पृष्ठ 85

वह सामाजिक कटुव्यवहारों से इतना ऊब चुकी है कि उसे वन की एकान्तता ही प्रिय लग रही है। वह अपने उदास हृदय और गीले नयनों से उसे क्या समर्पित कर सकती है, किन्तु वनैली कुञ्जों का आभार उसके ऊपर है। अत: वह उन्हें अपने आयुदान देकर भी चेतन बनाये रखना चाहती है। वह अपना सर्वस्व लुटाकर उनकी अलेप केवलता ही लेना चाहती है।

पनघट पर जानेवाली सखियों से श्रीकृष्ण के अटपटे बैन सुनकर राधा नहीं अघाती। सखियों के कहे ये वचन उसके कर्ण-कुहरों में निरन्तर गूँजते रहते हैं—'मधुदूती मुरली सुमधुर वाणी में यह कहा करती है कि राधा श्रीकृष्ण की उररूपी अन्त:पुर की रानी है। हम सब तो उनके गले मढ़ी गयी हैं, राधा तो उनके मन की मणिमाला है। हमने मधुवन की केवल छाया प्राप्त की है, वे श्रीकृष्ण तो शुद्ध ज्ञानस्वरूपी हैं तथा राधा उनकी माया है—

"कहतीं—मुरली मधुदूती सुमधुर वाणी,
राधा 'उनके' उर-अन्तःपुर की रानी !
हम गले पड़े, राधा मन की मणिमाला,
है वही मृगी, हमने डाला मृगछाला !
कहतीं—हमने मधुवन की छानी छाया,
हैं शुद्ध ज्ञान 'वह', राधा उनकी माया !

—वही, पृष्ठ 94

श्रीकृष्ण के रूपमाधुर्य और वेणुमाधुर्य ने राधा में दिव्योन्मादरूप महाभाव का संचार कर दिया है अतः वह मुक्तकण्ठ से दोनों का गुण-गान करती नहीं थकती—

(क) "पहले अदेह था, अब विदेह वैरागी,
जिसकी छवि-मधु पी स्मर ने देह न त्यागी !

× × ×

चितचोर मोर का पंख फहरता ऊपर,
घन चूर्ण कुन्तलों के पीले अम्बर पर !
दाँतों की दमक चमक चपला की शाश्वत,
केतक कपोल पर कुण्डल चम्पक आनत !
जो निरखे अटक-भटक जाए, हो गूँगा,
मुसकान, अधर—कैसा मोती, क्या मूँगा !
जो राधा को पहचान रहा ज्वाला से,
वह पहचानेगा उन्हें तिलक, माला से ?

वही, पृष्ठ 96

(ख) कानों में जिसके पड़ी पुकार न उसकी
प्राणों में जिसके गड़ी पुकार न उसकी
जिसने उस वंशी-स्वर का स्वाद न जाना
उस तीव्र-मधुर मधु का उन्माद न जाना !
वह करे प्रशंसा, या निन्दा,—है राधा—
उच्छल-जल वन्या या सुरसरित अगाधा,
उससे आनन्द-विषाद नहीं होने का,
अवकाश कहाँ रुक कर हँसने, रुकने का !

अवकाश कहाँ, झुककर तलवों के काँटे
लूँ खींच कि जिनसे पथ गये हैं पाटे !

× × ×

कठपुतली-सी जो नाचा करती काया,
जैसा चाहा, वैसा ही उसे नचाया,
वह सूत्रधार का चमत्कार तन-बन्धन,
प्रेरणा-हीन, निस्संवेदन-क्या जीवन ?"

—वही, पृष्ठ 96-97

(ग) "यदि वेणुगीत ने प्रणय-वेदना गोई,
क्या हुआ हृदय को था तेरे ? क्यों रोई ?
इतना रोई, फिर भी क्यों भरा न मानस ?
फट पड़ने की स्थिति क्यों न हुई रस के वश ?
यह ढरकीला अञ्चल, ये चञ्चल अलकें,
कैसे अगाध उर, उन्नत मस्तक झलके !"
अन्तर के कोश भरे जगमग रत्नों से—
तू ने छिपा लिए बाहर के यत्नों से !"

—वही, पृष्ठ 98

(घ) तुमने जब पहले-पहल कँपा कर पलकें—
देखा था, मुख पर फैल गई थीं अलकें,
वह अवगुण्ठन जब हटा अकुण्ठित तम का,
फट गई घटा, चैतन्य-चन्द्रमा चमका !
खुल गए पटल कुल मुँदी हुई स्मृतियों के,
कर पार रुँधे-से अन्तर-स्वर श्रुतियों के !
जब मेरा नाम गया दुहराया वन में
जल उठे सहस्त्रों वर्ष एक ही क्षण में !
—जो मूक प्रतीक्षा में धूमर-धूमिल-से,
नक्षत्र कृत्तिका के झिलमिल-झिलमिल-से
एकत्र हो गए थे सर्वत्र बिखर कर
ज्यों विरस पत्र उड़ते-जुड़ते पतझर भर !

जब मुझे खींच ले गए रास-रस-बोरे,
मन बाँध, मुक्त तन पर थे डाले डोरे,
तब अमृत उगल मैं गरल गले तक लाई,
हँसकर मरने की ऋतु क्यों रोती आई !
—वही, पृष्ठ 100

उपर्युक्त क, ख और ग संज्ञक उदाहरणों में रूप और वेणु माधुर्यों की वर्णना उपलब्ध है, जिसमें नायिकागत अधिरूढ़ सात्त्विकभाव चतुष्टय में अन्यतम उद्दीप्त संज्ञक सात्त्विक भाव का स्फोटन हो रहा है। श्रीरूपपादाचार्य ने चतुर्विधि अधिरूढ़ सात्त्विक भावों को निर्दिष्ट करते हुए निम्नलिखित कारिका लिखी है—

'धूमायितास्ते ज्वलिता दीप्ता उद्दीप्तसंज्ञिता: ।
वृद्धि यथोत्तरं यान्त: सात्त्विका: स्युश्चतुर्विधा: ।।'[15]

"उद्दीप्ता' को परिभाषित करते हुए उज्ज्वलनीलमणि के टीकाकार श्रीपादजीव गोस्वामी ने अपनी 'लोचनरोचनी' टीका में—"एकदा व्यक्ति—मापन्ना: पञ्चषा: सर्व एव वा ।। आरूढा: परमोत्कर्षमुद्दीप्ता इति कीर्तिता: ।।[16] यह कारिका लिखी है।

अत: उक्त प्रकरण में हर्ष, विस्मय, अश्रुपात, स्वरभंग और आश्चर्य इन पाँचों की अधिरूढ़ता से उद्दीप्ता नामक सात्त्विक भाव की अभिव्यक्ति हुई है तथा 'घ' संज्ञक उदाहरण में कटाक्ष दृष्टि और मृदुमन्द मुसकान के प्रतिरूपक अनुभाव रूप में सुचित्रित हुए हैं।

अन्ततोगत्वा श्रीराधा वृन्दावन के सभी विभावन सामग्रियों को और अधिकाधिक उद्दीप्त होने का संदेश देती हुई अपने को श्रीकृष्ण की ह्लादिनी शक्ति होने का निर्देश करती-सी अपने कुल की मर्यादा तोड़कर श्रीश्यामधाम की मनोहर छटा बनने की साध लिए प्रकृति की नीरवता में अपने को निरुपाधि और निरिन्द्रिय रूप में भुला देती है। इसे इन शब्दों में परखें—

(क) 'आह्लाद तुम्हारा उकसे मेरे द्वारा—
मेरे निमित्त ज्यों वेणु-नाद की धारा—

15. भक्ति रसामृतसिन्धु/दक्षिण विभाग/सात्त्विकाख्य लहरी-3/का० 63/ पृष्ठ—384
16. उज्वलनीलमणि/सात्त्विक भावप्रकरण/का० 36 की लोचनरोचनी टीका/ पृष्ठ 341

उमड़ाई ब्रज-रज को कर चन्दन-पङ्की
पा श्याम-धाम जीवन नश्वरता शङ्की—
तृण-तरु का भी न रहा, तन-छटा निराली—
वृन्दावन की दावाग्नि बुझानेवाली ।'

— वही, पृष्ठ 105

(ख) 'वृन्दावन के मन-मोर, सुदृग मृग-छौने,
आ कुबड़े शतरूपा के, मनु के बौने,—
कर विद्ध इन्हें, अग-जग अखण्ड तेरा हो !
उद्दण्ड वज्र-वर्षा घमण्ड तेरा हो !!'
तू गाल बजा बेताल न कोई बाधा,
लाँघे जो कुल—मर्याद कहाए राधा ।'

—वही, पृष्ठ 123

(ग) 'कोई पहुँचा न सदेह यहाँ था देही,
मैं पहुँच गई, यह गुण निर्गुण, तुम में ही !
देते थे पंथ दिखा तुम धाम छिपा कर,
मुझको पुकारते अपना नाम छिपा कर !
ऐसे ही जन के मन में मोह उपजता,
अपना कृतित्व वह साँझ-सकारे भजता !
मैं रुक न सकी तल-कल्लोलों के रोके,
होनी जो थी बस, आज रही वह हो के !
मैं डूब गई थी निस्तल अन्तस्तल में

× × ×

है बुला लिया या भुला लिया मुरली ने ?
ली परख साध ? साधना जला ली जी ने ?'

—वही, पृष्ठ 106-7

(घ) 'दैहिक आयाम नहीं मानस-रस लाई,
निरुपाधि निरिन्द्रिय-सी केवल मैं आई ।'

—वही, / पृष्ठ 108

उपर्युक्त प्रथम उदाहरण में श्रीकृष्ण के तेज और प्रभाव के चित्रण में 'श्याम-धाम' पद अपनी सशक्तता अभिव्यञ्जित कर रहा है, जिसे श्री (भक्तिरसामृत सिन्धु) रूप पादाचार्य ने 'तेजो धाम प्रभावश्चेत्युच्यते द्विविधः बुधैः'[16] द्वारा आप्तसम्मत ठहराते हुए स्वकीय ग्रन्थ में स्थान दिया है। दीप्ति-राशि को 'धाम'[17] तथा 'सभी को पराजित करनेवाली स्थिति का नाम 'प्रभाव' है।[18] अतः उक्त स्थल में व्यवहृत 'श्याम-धाम' पद श्री—श्यामाश्याम के उद्दीपक तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठापित हुआ है, क्योंकि दोनों एक दूसरे के लिए उद्दीपन विभाव के रूप में गृहीत हैं तथा दोनों की शक्तिमत्ता एक दूसरे के अभाव में अप्रकटनीय है।

श्रीकृष्णतत्त्व की सभी शक्तियों में श्रेष्ठह्लादिनी शक्ति है, क्योंकि इसे पाकर वह ब्रह्म आनन्दमय बन पाता है इसलिए 'ह्लादिनी या महाशक्तिः (उज्ज्वलनीलमणि) सर्वशक्ति वरीयसी'[19] के रूप में इसे स्वीकारा गया है किन्तु यह शक्ति शक्त के अभाव में अपनी वरीयता प्रस्फुटित नहीं कर पाती। अतः श्रीकृष्णमयी हो जाने पर श्रीराधा विमल ज्योत्स्ना-सी अपने को परमोज्ज्वल पाकर अति प्रसन्न है। अब उसे अपने अहंकार के अत्यन्त विमोक्ष के कारण केवल अपनी सरलता का ही भान हो रहा है क्योंकि वह मन्मयी भाव को त्यागकर 'त्वन्मयी भाव में पग चुकी है और अपने को श्रीकृष्ण के पूर्णप्रकाश का माध्यम बना चुकी है। उसकी इस भावना के अभिव्यञ्जन में कवि—निबद्धवक्तृ प्रौढोक्ति सिद्ध अर्थशक्त्युत्थ ध्वनिमूलकता अधोङ्कित पङ्क्तियों में अपना चमत्कार दिखा रही है—

(क) 'पर पास तुम्हारे आने पर मन बदला,
हो गया विमल ज्योत्स्ना में पानी गदला !
त्वन्मय होने पर बुद्धि और भी चमकी—
बरसा जब घन आनन्द, दामिनी दमकी—
यदि कह देने से अनुभव भ्रम हो जाता,
तो विरच ऋचाएँ मुखर वेद रो जाता !
फिर विश्व-व्योम में जो चाहो छा जाओ,
टुक मेरे माध्यम से प्रकाश में आओ !!'

—वही, पृष्ठ 114

16—भक्तिरसामृतसिन्धु/विभावाख्यलहरी—1/का० 55/पृष्ठ 245
17—वही/का० 56 [दीप्तिराशिर्भवेद्धाम।]
18—वही/का० 58 [प्रभावः सर्वजित् स्थितिः।]
19—उज्ज्वलनीलमणि / राधाप्रकरण/का० 6/पृष्ठ 76

(ख) लीला-विग्रह यह मेरे लिए धरा है,
यह संविदेकरस, स्वप्रकाश उतरा है—
मेरे निमित्त अनिमित्त अमित आनन्दी !
अन्यथा कहाँ शिव, कहाँ डोलता नन्दी !!
ऋषि-मुनियों का न पहुँच पाता मन्मय मन,
नीरन्ध्र सघन कुछ ऐसा था वृन्दावन,
की केलि हेतु मेरे अहेतु निष्कामन,
अब सर्व-सुलभ क्या, हुआ गहन मनभावन ?

—वही, पृष्ठ 120

उपर्युक्त उदाहरण में प्राप्त 'त्वन्मय' शब्द से 'मैं श्रीकृष्ण की कान्ता हूँ' ऐसा भाव प्रकटाकर 'राधा' का तदीयमानमय अभिमान संपुष्ट हुआ है, जो उसके कान्तविषयक प्रेम में आदर और विनय के आधिक्य का परिचायक है। अतः आत्यन्तिक प्रगाढ़ आदर-विनय से भरे ऐसे स्नेह को 'घृतस्नेह' कहते हैं, जिसे आनन्दविकार मद-आदि मधुस्नेहाभास से युक्त होकर आस्वाद्य बनाते हैं। प्रिया-प्रियतम की सहज-शीतल पारस्परिक आदर-गौरवबुद्धि से उक्त स्थल में घृतस्नेह की निविडता परिलक्षित हो रही है, जैसे शैत्य पाकर घी की तरलता निविडता को प्राप्त हो जाती है। [इसे श्रीरूपपादाचार्य ने—

'भ्प्रात्यन्तिकादरमयः स्नेहो घृतमितीर्यते ।
भावान्तरान्वितो गच्छन् स्वादोद्रेकं न तु स्वयम् ।
घनीभवेन्निसर्गाति शीतलोन्मिथ आदरात् ॥
गादादरमयस्तेन स्नेहः स्याद्घृतवद्घृतम् ।
आदरो गौरवोत्थः स्यादित्यन्योन्याश्रितद्वयम् ॥'[20] द्वारा

अभिव्यक्ति दी है।]

आचार्यश्री की राधा पाञ्चभौतिक विग्रहवाली नहीं है। वह रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द रूप तन्मात्राओं से परे है। अतः अपनी निरिन्द्रियता से परिचित कराती हुई श्याम-धाम रूप साक्षान्मन्मथमन्मथत्व-गुण विशिष्ट ब्रह्म को सचेष्ट करती-सी इन पदावलियों में वर्णित हुई है—

'मैं पञ्चभूत की नहीं, डराते क्या हो ?
है अमर प्रणय, संहार कराते क्या हो ?'

—वही, पृष्ठ 133

---

20 वही/ स्थायिभाव प्रकरण /का० 70—83/पृष्ठ 428-30

उसने अपने को कृष्णार्पण कर दिया है। वह श्रीकृष्णतत्त्व में विलीन हो जाने के कारण तदाकार हो गयी है, उनकी अच्युता से परिव्याप्त हो गयी है—

'है सत्य यही श्रीकृष्णार्पण जो जीवन,
च्युत नहीं उसे होने देते दृढ़ कर मन !'

—वही, पृष्ठ—138

अत: वह उन्हें उन्मुक्त कण्ठ से चिल्लाकर सचेष्ट करती हुई अपने अन्तर में महाभाव रूप में बसने की अभ्यर्थना करती-सी 'राधा' की अधोङ्कित पङ्क्तियों में प्रतीत हो रही है—

'हो भला चाहते अचला प्रणय-कला का,
उज्ज्वलता आँज चमकती नील शलाका !

फिर विरुद सम्भालो, ज्ञान-विधान पुराना,
यह भावभक्ति का नहीं, प्रणय का ठाना !

रम जाओ मेरे अन्तर में अन्तरतर,
यह महाभाव मुझमें शाश्वत ले घर कर !

नयनों के, मन-प्राणों के रंध्रों को भर,
दुरितों से रिक्त करो मेरा अभ्यन्तर !'

—वही, पृष्ठ 138

उसके जीवन का वारा न्यारा हो गया है। वह शब्दब्रह्ममयी बन गयी है उसकी सारी वृत्तियां अन्तर्मुखी हो गयी हैं। उसके रग-रग में प्रदीप्त अग्नि ज्वाला आह्लादकता घोल रही है। उसे बैखरीवाणी मध्यमा को भेदती हुई पश्यन्तों में प्रविष्ट हो उसकी सोई स्मृतियों का छेदन करती-सी प्रतीत हो रही है। अब वह निश्शब्द अनाहतनादस्वरूपा परा की प्रतिमूर्ति बन गयी है, क्योंकि आज उसे प्रणय-प्रणव ने ओङ्कारस्वरुपा होने का गौरवदान दिया है। इसे ही कवि ने अपनी प्रखर प्रतिभा द्वारा निम्नलिखित पङ्क्तियों में उजागर किया है—

'षोडश शृङ्गार-तरङ्ग-भङ्गि अङ्गों में,
घुल रही चाँदनी अङ्गारी रंगों में !

× × ×

बैखरी मध्यमा को अब भेद रही है,
पश्यन्ती में आ स्मृति को छेद रही है !

निश्शब्द अनाहत मैं मनुहार परा की,
कर वार पार क्या देखूँ हार धरा की ?
मेरे जीवन का तो अब वारा न्यारा !
है प्रणय-प्रणव ने आज मुझे ओङ्कारा ।।'

—वही, पृष्ठ—143

उपर्युक्त प्रकरण में वर्णवक्रता की चमत्कृति से प्रबन्धवक्रता में अतिशयता का आधान हुआ है। इस तरह 'राधा' का प्रणयपर्व आचार्य श्री की 'राधा' का हृदय है, जिसमें प्रणय और कर्त्तव्य का अन्तर्द्वन्द्व दिखलाकर प्रणय के प्रलय में कर्त्तव्य को विलीन कराना कवि को अभीष्ट था, जिससे अद्वैत तदाकार हो सके। अपने उद्देश्य में कवि की सफलता अतिशयता प्राप्त कर गयी है।

'राधा' का दूसरा पर्व पुरुषार्थसंज्ञक है। इसमें प्रणय से पुरुषार्थ का गँठबन्धन कराना कवि को अभीष्ट है, क्योंकि उसे अपनी प्रबन्धात्मकता में चमत्कार पैदा करना है। अतः उसने श्रीकृष्ण को राधा के प्रणय से विमुख कर कंसादि असुरों के संहार द्वारा विश्वकल्याण और देवकी-वसुदेव को कारा-गृह से मुक्त करवाना रूप कार्य में लगाना चाहा है। उनकी बुद्धि भी सामान्य जनों की तरह स्नेह और कर्त्तव्य के दोले में झूल रही है। वे कंसवध को अपनी छोटी कला और राधिका के प्रेम को हृदयद्रावी मानते हैं—

'कंस का विध्वंस, नन्हीं-सी कला !
राधिका का प्यार, भर आता गला !!

—वही/पुरुषार्थ पर्व/पृ० 37

राधिका के प्रेममाधुर्य में उनकी कर्तव्यता घुलती प्रतीत हो रही है। अतः वे कर्त्तव्य और प्रणय की विवेचना करते दिखाई पड़ रहे हैं—

'फिर वही संस्कार, फिर-फिर प्यार ही—
हाय रे कर्त्तव्य तेरी हार ही !
मृत्तिके, कर्त्तव्य है, तू ठोस है,
राधिके, तू प्यार है, तू ओस है !!
एक दृढ़तर कर-चरण की सफलता,
एक उर पर झूलती मुक्ता-लता !

× × ×

दृप्त पौरुष की प्रथम हुंकार है,
अद्वितीय द्वितीय प्राण पुकार है !
एक चक्रीकृत धनुष-टंकार है,
दूसरा अलिपुंज-मधु-गुंजार है !'

—वही, पृष्ठ 37

अत: राधाकाव्य का नायक कर्त्तव्य परायण बन कर रहना चाहता है। उसकी ऐसी मान्यता है कि कर्मनिष्ठ ही सिरमौर बन पाता है। इस भाव की व्यञ्जिका निम्नलिखित पङ्क्तियाँ हैं—

'हम जहाँ निरपेक्ष, क्या अच्छा-बुरा !
सिर मुड़ा कि कुकर्म ही उल्टा छुरा !
कर्म शुभ सिरमौर देता है बना,
कण्टकों को बौर देता है बना !

—वही, पृष्ठ 49

अपने एक प्रसंग में कंस के कुशासन और सरल ग्वालबालों के चारित्रिक गुणों के अंकन में कवि ने अपने नायकमुखेन जो यथार्थ्य अभिव्यज्जित कराया है, उसमें उसकी वैचित्र्यपूर्णशैली अपना उत्कर्ष व्यक्त कर रही है :

'कंस यों भूचाल, पर भूपाल है,
सरल बाल-स्वभाव प्रति गोपाल है !
एक मद्यप, दूसरा गोरस पिए,
दे व्यवस्था विश्व, कौन मरे, जिए !
हंस पीता दूध, पानी त्यागता,
रक्तपायी कंस पानी माँगता !
कौन दे पानी अपानिप को इतर ?
फेरता पानी रहा जीवित पितर !
कर्म दुष्कर, पर न कंस निराश हो,
मैं पिलाऊँगा उसे पानी, रहो !
नाग ह्रद में, हाय, प्यासा मर रहा,
छिटक गह्वर से गरल कि छहर रहा !'

—वही, पृष्ठ 49

अत: 'राधा' के कृष्ण अथक श्रम करके असह्य दु:ख सहने की क्षमता दिखाते प्रतीत होते हैं, क्योंकि उन्हें यह भारत भूमि नई संस्कृति से विभूषित

होने की अभिलाषिणी बनी दृष्ट हो रही है। इसे ही कवि ने उनकी भाषा में यों अभिव्यक्ति दी है—

'अथक श्रम कर असह सहना शेष है,
माँगता संस्कृति नई यह देश है!
शीघ्रता से संशयित निर्माण हो,
माँ न चाहो, नव्यता निष्प्राण हो!'

—वही, पृष्ठ—50

श्रीकृष्ण राम के युग को विश्वास-भरा मानते हैं। उन्हें अब समय परिवर्तित दृष्ट हो रहा है। सारी दिशाएँ शंकाग्रस्त प्रतीत हो रही हैं। अतः वे कंस की निरंकुशता समाप्त कर पददलितों को उठाने के लिए उत्कण्ठित हैं—

'द्वन्द्व अन्तर्द्वन्द्व युग-पहिचान है,
एक शुभ यह ढूँढ़ता ढ़ढ़ ज्ञान है!
राम का युग था सहज विश्वास का,
युग हमारा अबुझ मन की प्यास का!

× × ×

अडिग-आस्था के सतत संधान का,
अखिल अन्तर के चिरन्तन ध्यान का;
कंस का शासन निरंकुश शेष हो,
निम्न वर्ग उठे, प्रतिष्ठित देश हो!
पूर्ण समता-प्राप्त मनुज-समाज हो,
सब स्वतन्त्र कि बन्धुता निर्व्याज हो!
धर्म राजस यज्ञ-योग अनात्म-सा,
वंश-अनुगत स्वगत सत्ता दुर्दशा,
हैं विषमता को बढ़ाते तत्त्व जो,
रौंद कर शासन चलाते सत्त्व जो,
अन्त उनका उचित समुचित रीति से,
न्याय नरमाए, बृहस्पति-नीति से!

—वही, पृष्ठ 64

कर्त्तव्यपथ में लीन कृष्ण अनासंग होकर (अर्थात् अपनी ह्लादिनीशक्ति से विलग होकर) नूतन संस्कृति की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं, किन्तु उनका

मन प्रणय और कर्त्तव्य के झूले में झूल रहा है ! वे बाह्य द्वंद्व और अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति में पड़कर किंकर्त्तव्यविमूढ़-से हो जाते हैं, उद्भ्रान्त हो जाते हैं, फलस्वरूप उनका मन उचित मार्ग का चुनाव नहीं कर पाता—

'द्वंद्व के झूले पड़े, उद्भ्रान्त मन—
कर न अपने अयन का पाया चयन !'

—वही, पृष्ठ 73

तब उन्होंने राधाप्रणय की असाधारणता महसूस की और 'प्रणय से कर्त्तव्य को विमुख नहीं कर सकूँगा' ऐसा दृढ़ निश्चय करते दृष्ट हो रहे हैं। इसे ही आचार्य श्री ने अपने उत्पाद्यलावण्य वक्रता द्वारा सहृदय हृदय संवेद्य बनाते हुए निम्नलिखित पङ्क्तियों की संरचना की है—

"प्यार राधा का त्रिलोकी-रिपु-दमन,
एक क्या, शत-कंस-दावानल-शमन !
मन न बौराए, न भरमाए कहीं,
भाव जो उमगे, उगे, छाए यहीं !
प्यार राधा का महार्घ अलभ्य है,
छवि अनन्त वसन्त की पी नव्य है !
पीत-पात-ढका-मुकुल ज्यों संकुचित,
मुक्ति-मुक्ता शुक्ति सीमा में उचित—
समुपलब्ध हुआ न अनुसंधान से,
मैं न बदलूँगा कुटिल कल्याण से !
अकल्याण रहे न ऋजु अनिकेत हो,
प्यार ही कल्याण का संकेत हो,
सिमट आता स्मृति तहों में प्यार क्षण,
चाहता कर्त्तव्य दीपक स्नेह कण !
प्राप्त होता अन्यथा निर्वाण है,
प्रणय-हीन प्रकाश तम निष्प्राण है !'

—वही, पृष्ठ 74

फिर भी कर्म का गुणगान करनेवाला नायक अपनी प्रणयिनी से पृथक् रहकर अपनी कर्मण्यता बनाये रखने में असमर्थता दिखलाता है। उसकी पृथकता उसके अस्तित्व को काफूर बना रही है। अतः वह अपनी आनन्द-

स्वरूपा श्रीराधा के प्रणय-पुधा के शाश्वत माधुर्य-पान के प्रति अधीरता दिखला रहा है—

"राधिके, कैसी भयानक भावना !
लग रहा है अलग-विलग, डरावना !
उड़ रहा अस्तित्व ही कर्पूर-सा,
मैं स्वयं से हो रहा हूँ दूर-सा !

× × ×

खो गई मेरी प्रबुद्ध प्रवीणता,
धीर प्रज्ञा को तनी-सी दीनता !
शब्द-पर्वत, उपल चुन लूँ ? फेंक दूँ ?
तर्क कर्कश, विवश घुटने टेक दूँ ?
प्यास से, उत्तप्त-स्वप्न-विलास से—
मुक्ति मिल पाई न मृत विश्वास से !
चाहता था नियत गति नक्षत्र-सा,
रह गया उड़ना पतित तरु-पत्र-सा !
पा सका अब तक न मैं अपना पता,
आज तू ही एक बात मुझे बता,
है हिरन प्यासा, जलाशय पास है,
या कि सचमुच कृष्ण तेरा दास है ?
दास ? राधा चौंक कर टुक हट गई,
गगन बदला, सघन बदली फट गई !
देखते ही देखते पाटल प्रभा
ताम्र-घट में आम्र-पल्लव-दल-निभा !
फुटकर गिरिशृंग पर गाने लगी,
नीड़ मुखर खगावली गाने लगी !
एक फूल खिला शिला पर दिन ढले—
एक तारा विजन में दीपक जले ?
राधिका ने हाथ तेरा खींच कर,
छहरते पीयूष से स्वर सींच कर—
था कहा 'क्या आज घर जाना नहीं ?'
एक तृण का घोंसला रचना यहीं ?

एक तृण का ? — मर्म गहरा हो गया,
भाव ऋजु वक्रोक्ति में ही खो गया !
मुकुर-उर में निरख मुखड़ा हँस गया,
मुख कहाँ ? प्रतिबिम्ब वह, बस फँस गया !

राधिका आचूल-मूल रहस्यमय !
तू किसे कहता रहा प्रकटित-प्रणय ?
राधिका जैसे मकर की चाँदनी—
भोर का भ्रम भर रही उन्मादिनी,
पर अभी निस्तब्ध आधी रात है,
मुग्ध पंथी, चल, सुदूर प्रभात है !'

—वही, पृष्ठ 110-11

उपर्युक्त पक्तियों में कर्त्तव्य के प्रतीक श्रीकृष्ण-तत्त्व का महाभाव-स्वरूपा श्रीराधा के प्रणय-सागर में आचूलमूक्त डूबते-उतराते और उनके गुणगान करते देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, जिसमें कविकृत उत्पाद्य-लावण्य ही प्रकरणवक्रता में रमणीयता का आधान करानेवाला है।

इस प्रसंग में एक बात और जानने की है। श्रीकृष्ण की प्रेयसियों में श्रीराधा और चन्द्रावली की मुख्यता उज्ज्वल नीलमणिकार ने स्वीकारी है, किन्तु इन दोनों में भी राधा महाभावस्वरूपा होने के कारण प्रवरा हैं। इसे ही इन कारिकाओं में अभिव्यक्ति दी गई है :—

'तत्राऽपि सर्वथा श्रेष्ठे राधाचन्द्रावलीत्युभे।
यूथयोस्तु ययोः सन्ति कोटिसंख्यामृगीदृशः॥
तयोरप्युभयोर्मध्ये राधिका सर्वथाधिका।
महाभावस्वरूपेयं गुणैरतिवरीयसी॥'[21]

नायक की भाषा में नायिका का इन पंक्तियों में क्या ही यथार्थ मूल्यांकन हुआ है :—

"रास में धाई, कहा रा-धा गया,
सब कहाँ ? यह तो कहा आधा गया !
मिलित मोदन और मोहन की दशा !
तू महाभावा अखण्ड अपरवशा !!

21—उज्ज्वल नीलमणि, श्रीराधा प्रकरण, का० 1 और 3, पृष्ठ 73।

बीज भर मैं, सृष्टि का आधार तू !
अलख द्रष्टा, दृष्टि का शृङ्गार तू !!"

—राधा, पुरुषार्थ पर्व, पृष्ठ 115

महाभाव में संयोग और वियोग दोनों की पराकाष्ठापन्नता सुनिश्चित है। इसे गोपीमात्रगम्य बतलाया गया है। गोपियों के अतिरिक्त कोई इसके आस्वादन में समर्थ नहीं है; यहाँ तक कि रुक्मिणी-आदि पटरानियाँ भी नहीं। अधिरूढ़ 'मोदन' महाभाव की उच्चतर अवस्था है। इसकी अनुभूति केवल श्रीराधिकायूथ की गोपियों को सम्भव है, अन्यों को नहीं। 'मोदन' की स्थिति में सुख-दुःख का विलक्षण यौगपद्य होता है। संयोगकाल में भी एक लोकोत्तर अकथनीय उत्कण्ठात्मक वियोग और वियोग में भी प्रिय के स्मरणमात्र से, अन्तःस्फूर्ति से, स्वप्नसंदर्शन से संभोग आस्वादित होता है। प्रिय के विछोह में यही मोदन 'मोहन' रूप ग्रहण करता है और वृन्दावनेश्वरी श्रीराधा में प्रकट होता है। भक्तिशास्त्र में बतलाया गया है कि व्रजस्था श्रीराधा में जब 'मोहन महाभाव' उदित होता है, तब द्वारका में रुक्मिणी आदि से आलिङ्गित रहते हुए भी श्रीकृष्ण मूर्च्छित हो जाते हैं। इसका अनुभाव दिव्योन्माद है। मोदन-मोहन से भी परे है 'मादन-महाभाव' —महाभाव की उच्चतम अवस्था—प्रेम की आत्यन्तिक अधिरूढ़ता, जिसे श्रीराधा का साक्षात्स्वरूप बतलाया गया है। यह इतर गोपियों के लिए भी स्वप्न-सदुर्लभ है जो श्रीराधा-कृष्ण युगल के संयोग में ही उल्लसित होता है।

उपर्युक्त रहस्यों के प्रकटन में श्रीरूप पादाचार्य की निम्नलिखित कारिकाएँ अपना चमत्कार सिद्ध कर रही हैं। अतः उनका आकलन भी यहाँ अपेक्षित है :—

"मुकुन्दमहिषीवृन्दैरप्यसावति दुर्लभः।
व्रजदेव्येकसंवेद्यो महाभावाख्ययोच्यते ॥
वरामृतस्वरूपश्रीः स्वस्वरूपं मनोनयेत्।
स रूढश्चाधिरूढश्चेत्युच्यते द्विविधोबुधैः ॥
उद्दीप्ता सात्त्विका यत्र स रूढ इति भन्यते।
निमेषासहृतासन्नजनताहृदिलोडनम् ॥
कल्पक्षणत्वं खिन्नत्वं तत्सौख्येऽप्यार्तिशङ्कया।
मोहाद्यभावेऽप्यात्मादि सर्वविस्मरणं सदा ॥
क्षणस्य कल्पते त्यादया यत्र योगवियोगयोः।
आद्यशब्दादिह प्रोक्ता कृष्णाविर्भाव कारिता ॥

मोदनो मादनश्चा सात्रधिरूढो द्विधोच्यते।
मोदन: स द्वयोर्यत्र सात्त्विकोद्दीप्त सौष्ठवम्॥
हरेर्यत्र सकान्तस्य विक्षोभ भरकारिता।
प्रेमोरुसंपद्विख्यातकान्तातिशयितादय: ॥
राधिकायूथ एवासौ मोदनो न तु सर्वत:।
य: श्रीमान् ह्लादिनीशक्ते: सुविलास: प्रियोवर:॥"[22]

मादनमहाभावा श्रीराधा के प्रणयसागर में डूबे नायक को हठात् अपने कर्त्तव्य का बोध होता है और वह—'पूर्णतम स्वातन्त्र्य है लाना मुझे! लोक में आलोक फैलाना मुझे!!' कहता हुआ अपनी जागरूकता का परिचय देता है। वह अपनी प्रणयिनी का परित्याग कर कर्त्तव्य पथ पर बढ़ने की सूचना देते हुए इन पङ्क्तियों में दृष्ट हो रहा है—

'आज सचमुच ही तुझे तज जा रहा,
फेंक वंशी पाञ्चजन्य बजा रहा,
बांसुरी में एक मन की थी लहर!
पञ्च जन का पाञ्चजन्य समूह-स्वर!
बहुत के हित स्वत्व का उत्सर्ग कर!
जा रहा उन्नीत सर्ग-विसर्ग कर!

× × ×

जा रहा हूँ दूर तेरी दृष्टि से—
भीग कर अविरत अमृत की वृष्टि से—
तप्त मरु की ओर चन्द्र-निकेत से—
शिशिर-किरण विसार जलती रेत से—
जोड़ना नाता निभाने की शपथ—
आज लेने इष्ट जीवन मरण पथ।'

—वही, पृष्ठ 117-18

उपर्युक्त उदाहरण में दो उद्दीपकों का कथन हुआ है, जिसमें वंशी प्रेमोत्पादक विभावन तत्त्व तथा पाञ्चजन्य पौरुषोत्पादक का प्रतीक है। फेंकवंशी पाञ्चन्य बजा रहा' वाक्य द्वारा नायकगत कर्मण्यता के प्रति जागरूकता और

22—उज्ज्वलनीलमणि/सात्त्विकभाव प्रकरण।

जयघोष की ललक का स्फोटन हो रहा है। अतः प्रणयपर्व की तरह पुरुषार्थ पर्व का समापन भी कवि कौशल का निदर्शन है। अतः कवि के शब्दों में इसके दूसरे पर्व में (पुरुषार्थ पर्व में) प्रणय से पुरुषार्थ का समन्वय, विजय के स्वर में, समझौता है। एक अनिश्चय अन्तिम निर्णय लेने तक मन का पीछा करता है। समन्वय है कि निर्णय चट्टानी नहीं, भावार्द्र है।' [23]

जैसा कि पहले बता चुका हूं उसके आधार पर पाठकों को यह मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होगी कि 'राधा' का प्रबन्ध विधान प्रख्यात कथावस्तु पर आधृत है किन्तु अब यह बताने जा रहा हूं कि आचार्यश्री ने इसकी बुनावट में अद्भुत टेक्निक अपनाई है, परिणामतः इसकी वर्ण्यवस्तुगत कार्यान्विति में 'विपर्यास' (पेरीपेटिया) और 'विवृति' (एनेग्नारिसिस) के अवलम्बन हुए हैं। 'विपर्यास' उस अप्रत्याशित स्थिति का नाम है जिसके कारण सहसा किसी का भाग्यचक्र घूम जाता है, व्यापार का व्यत्यय हो जाता है। अतः इसके अवलम्बन द्वारा कवि अपने प्रबन्धात्मक काव्य में कुतूहल की सृष्टि करने में समर्थ हुआ है, अपने काव्य को चमत्कृत कर सका है। पुरुषार्थ-पर्व के निर्वहण में हठात् उद्दीपकों का विपर्यास अर्थात् प्रेमोत्पादिका वंशी की जगह पौरुषोद्भावक पाञ्चजन्य का श्रीकृष्ण द्वारा धारण किया जाना तथा अपने पौरुष के प्रति सतत जागरूकता बरतने के लिए प्रियतमा को मग का कांटा समझ कर उसके चिरत्याग हेतु दृढ़प्रतिज्ञ और अनुनीत नायक के ये कथन नायिका के भाग्यचक्र बदलने में पूर्णतः समर्थ हुए हैं—

"शक्ति हे भ्रू-क्षेप-भव-सञ्चारिणी,
अन्ध-तामस-सिन्धु तरणी, तारिणी!
दे मुझे साहस विषम विद्रोह का,
कर सकूं मैं शमन मन के मोह का!
अल्पतर संकल्प भू पर स्वर्ग का
लोक-हित निश्शोक प्राणोत्सर्ग का!
प्रिय-प्रकृतिके, मातृ-जाति-प्रशस्तिके!
सर्वतोभद्रानुशासिनि, स्वस्तिके!!

23—'राधा'/पुरुषार्थ पर्व की भूमिका/पृष्ठ 11

सांस पूरक बांसुरी के रन्ध्र की
पूर्व प्रतिध्वनि शङ्ख-शायी मन्द्र की !
स्मृति चरम, विस्मृत गऊ-गोपाल की !
प्राणमणि इस सविष काले व्याल की ,
विश्वजननी, नि:स्व-जन सुख साधिके,
चिर विदा, प्राणाधिके, श्री राधिके !"

—वही/पुरुषार्थ पर्व/पृष्ठ-119

इतिहास की वर्ण्यवस्तु काव्य के वर्ण्य विषय से सर्वथा भिन्न हुआ करती है । पहली मानव जीवन के सत्यों का निर्मम आलेख है अत: इसकी वर्णना में कटुता और माधुर्य का निस्संग भाव से रहना अपेक्षित है किन्तु, दूसरा है (अर्थात् काव्य) मानव जीवन के सत्यों का सहृदय आलेख । अत: इसमें कटुता भी मधुर बनकर आती है और सहृदयों के आनन्द-दान में अपना चमत्कार दिखलाती है । इतिवृत्त के सभी प्रकरणों में सहृदयों के मन-स्तोष की क्षमता नहीं होती किन्तु कवियों के प्रबन्धों में संगुम्फित समग्र प्रकरण किसी न किसी रूप में उन्हें आनन्ददान द्वारा अनुरञ्जित किये बिना नहीं छोड़ते क्योंकि कवि निरंकुश और क्रान्तदर्शी होने के कारण अपनी कल्पना द्वारा असुन्दर में भी सौन्दर्याधान तथा नीरस में सरसता प्रवाहित करने में समर्थ होता है। इतिहास में कल्पना का सहारा नहीं लिया जाता क्योंकि उसका विषय तो याथार्थ्य का विश्लेषण-मात्र होता है । अत: उसकी शाश्वत कटुता आनन्ददान में कदापि समर्थ नहीं हो सकती ।

विचित्रमार्गी कवि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने 'राधा' की योजना में जटिल-कथानक का जैसा निदर्शन प्रस्तुत किया है वैसा अन्यत्र देखने को नहीं मिलता । प्रेमयोगी श्रीकृष्ण को हठात् कर्मयोग के प्रति उन्मुख कराकर कवि ने अपने प्रबंध में कार्य की जटिलता के कारण कथानक की जटिलता निरूपित की है । अत: विपर्यास और विवृति की स्थिति उत्पन्न कर प्रबन्ध-गत चमत्कार में अतिशयता का आधान किया है । महाकवि ने अपने प्रबन्ध की पताका-नायिका ललिता द्वारा उद्दीपकों के विपर्यास सम्बन्धी जटिलता का रहस्योद्‌घाटन कराते हुए जिन वाक्यों का प्रकटन कराया है उनके श्रवण से कविकृत वस्तु-योजना में वैचित्र्य का स्फोटन हो रहा है, सुधीजन उसका रसपान करें—

"सुन वचन चित्रा सखी का
सहज चित्र-विचित्र
बोल ललिता ने कहे
समतोल परम पवित्र !
युग न यह आंखें लड़ाने का,
जगें गोपाल
प्रणय परिणति पा चुका है
तोड़ गुञ्जा-माल !

× × ×

राज-सुख के काज वह
न गए हमें हैं छोड़,
शिशिर मधुऋतु को बुलाता
वृन्त तोड़-मरोड़ !
आयु और न हम गँवाएँ
स्नायु-बन्धन ढील
प्रणय-परिणय कम हुए
संघर्ष हो अब शील !
कर्मयोगी हो गए वह
देख देश विपन्न
फेंक डाली बांसुरी
लखकर समर आसन्न !
शङ्ख फूकेंगे वरें
कि स्वतन्त्रता सब लोग
देश - हित हों अमर
मरकर, भोगना क्या रोग !
बांसुरी सुनते नहीं सब,
वज्र-गर्जन तीक्ष्ण

दुष्कृतों का वध,
सुकृत का परित्राण अभीक्ष्ण !
सब समझ लेंगे,
बदल सकती नहीं यों सृष्टि
सृष्टि के बदलाव से पहले
बदलती दृष्टि !
क्रम बदलना है, न अब
श्रम की मचेगी लूट
सीखने की प्राण-रस
देनी नहीं है छूट !
उथल-पुथल मचे कि
क्रूर-नृशंस - वंश उपाट
शान्ति सुख-सुविधा सभी
लेंगे परस्पर बाँट !
गढ़ें नव-जीवन बढ़ें
पिछड़े हुओं के साथ
× × ×
छोड़ कर जिनको गए सब
पकड़ उनका हाथ !
प्रेम का ही रूप यह भी
किन्तु भिन्न प्रकाश
ठोस मिट्टी पर खड़े
देखें झुका आकाश! "

वही, दर्शन-पर्व, पृष्ठ 125-27

कवि प्रणीत काव्यगत कथा विधान की समग्रता का नाम प्रबन्ध है तथा उसके अङ्ग या प्रसङ्ग विशेष को प्रकरण नाम से जाना जाता है। प्रकरण पर आधारित अथवा प्रकरण में निहित काव्य-सुषमा का नाम प्रकरणवक्रता है। जहाँ प्रसङ्गविशेष के चमत्कारी होने से सम्पूर्ण महाकाव्यात्मक प्रबन्ध

परमोज्ज्वल हो उठता है वहाँ प्रकरण-वक्रता होती है अर्थात् सम्पूर्ण प्रबन्ध को दीप्त करनेवाले प्रबन्ध के एकदेश का नाम प्रकरण वक्रता है।[24] आचार्यश्री 'राधा' में ऐसे अनेक प्रसङ्ग सन्निविष्ट हैं जिन से फलप्राप्ति रूप प्रधान-कार्य के अनुसधान में प्रवृत्त प्रबन्ध के एक देशों अर्थात् प्रकरणों के उपकार्योपकारक भाव सम्बन्ध निसर्गत: सिद्ध हो रहे हैं अर्थात कहने का तात्पर्य यह है कि 'प्रबन्धरस परिवर्तनवक्रता' नामक प्रबन्धवक्रता के अन्यतम भेद-निरूपण रूप प्रधानकार्य (अर्थात् प्रबन्धगत मुख्य रस के अनुसंधान में सतत जागरूक कवि द्वारा शृंगाररस की जगह मधुर भक्तिरस का परिपोष) के उपकार्योपकारक भाव संवलित कुछेक-प्रसंग, जो प्रबन्ध के एकदेशों में अर्थात् प्रकरणों में परिगणित हैं उनमें वीभत्सरस के परिपाक द्वारा मूलरस में उत्कर्ष का आधान हुआ है क्योंकि उन प्रकरणों में निहित बीभत्सरस मूलरस का अंग-मात्र होने से उसे प्रदीप्त करनेवाला है। अत: वे प्रकरण भी सहृदयों के हृदयावर्जन हेतु यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं—

(क) "था सुना पहले किसी ने
नाम ऐसा क्रूर
फट पड़ा औचक कहाँ से
कौन-सा अक्रूर?
नयन खोखल में धँसे
पिचके पके-से गाल
गिलहरी की पूँछ-सी
मूँछें, दशन विकराल!'

—वही, पृष्ठ-23

(ख) "भूल भी पाई कहाँ थीं
हम अभी वह मूर्ति
दूसरे आए बड़े, करने
उसी की पूर्ति!
दग्ध-बुद्धि विदग्ध उद्धव
वृद्ध गृध्र-स्वरूप
बोलते मण्डूक जैसा,
मुँह कहाँ? था कूप!

—वही/पृष्ठ-37

24—प्रबन्धस्यैकदेशानां फलबन्धाबन्धवान्।
उपकार्योपकर्तृत्व परिस्पन्द: परिस्फुरन्॥
—वक्रोक्तिजीवितम्, उन्मेष-4, कारिका-5, पृष्ठ-496

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के शब्दों में :"राधा का दर्शन-पर्व जीवन-दर्शन की सीमाओं में ही अपनी सार्थकता का आयासी है। भौतिक कर्म आध्यात्मिकता को फलांग कर तीव्र गति से जहाँ पहुँचता है वह विनाश का अत्यन्त अशान्त समतल है। विकास अन्ततः विनाश का कारण न बने इसे हम सतत-सजग शुद्ध प्रेम से ही संयत कर सकते हैं।"

—राधा, दर्शन-पर्व की 'संरचना' शीर्षक भूमिका, पृष्ठ-1

महाकवि ने अपनी कालजयी कृति में राधा-माधव की अनन्यता को आत्मा और परमात्मा की अनन्यता तक की परमोच्चता का भागी बनाया है क्योंकि इनकी मान्यता है कि 'प्रेम आध्यात्मिक ही होता है, जो चंचल, उत्तेजित और उद्भ्रान्त करता है उसका नाम प्रेम के अतिरिक्त कुछ भी हो सकता है।"

—वही, संरचना, पृष्ठ 2

मन्मय-भाव के परित्याग और त्वन्मयभाव में निरन्तर अपने को नियोजित करना ही ध्यान कहलाता है। दर्शन-पर्व में वर्णित राधा श्रीकृष्ण की आराधिका होने के साथ-साथ अन्तर्मुखी हो जाने के कारण मितभाषिणी बन गयी है, जो अहर्निश अपने आराध्य की नैष्ठिक भक्ति में लीन बतायी गयी है—

'राधिका आराधिका थी
मौन मन का योग!

—वही, पृष्ठ 9

उसका मन वियोग की ज्वाला में अपने अहंकार को होम चुका है। उसकी आत्मा कृष्णाकार हो चुकी है। उसके दुःख प्रियतम की याद दिलानेवाले बन गये हैं इसलिए उसके जीवन में अब सुख का कोई मूल्य नहीं रह गया है। अतः वह इन पंक्तियों में मुक्तकण्ठ से इसका अन्वाख्यान करती देखी जा रही है—

"वासुदेव न विस्मरण
होता स्मरण का मूर्त्त
भ्रष्ट होते यजन - भजन
अनिष्ट इष्टापूर्त्त !
शक्ति विस्मृति यातना की
मेटती कटु क्लेश

दुख प्रखर करती रहे स्मृति,
सुख - कथा हो शेष !"

—वही, पृष्ठ 30

वह अब तटस्थ बन गयी है तथा श्रीकृष्ण की मधुमती भूमिका में अहर्निश डूबती-उतराती रहती है। अतः उस पर उनके दूत उद्धव द्वारा प्रचारित दर्शन भी अपना प्रभाव नहीं जमा पाता। वह अपने प्रियतम को लक्ष्य कर निम्नलिखित प्रगीत गाने लगती है, जिसमें उसके मन्मयभाव के विमोक्ष और त्वन्मयभाव में अनुरक्तता उफनाती प्रतीत हो रही है तथा दोनों में अतल की एकरूपता का निदर्शन भी हो रहा है :—

"मैं अपने मन को मना रहा,
तुम रोको अपना नयन - नीर !
देखें, प्रवाह बह रहा सहज,
सन्तुलन दे रहे खड़े तीर !

× × ×

हम मिले अचानक थे उस दिन
ज्यों सुमन - सुरभि - सम्मेलन हो
फिर बिछड़ रहे ज्यों प्राण—
सिन्धु केवल लहरों का खेल न हो !
कुहरीले पुलिन निहार रहा
साँसों के तार सँवार रहा
गत विगत - अनागत की
उन पर झीनी-झीनी झनकार रहा !
तुम सिसक-सिसक कर थक जाओ
यदि गा पाओ प्रिय, प्रणय - पीर !
तुम भूल न जाओ कूल - मिलन,
कुछ निर्जल गान दिए जाता

कितनी भी दूर रहूँ तुम से
शाश्वत आह्वान दिए जाता !
ये तडिद्रेख - सम चमकेंगे
घन अन्धकार भरने पर भी,
ये गान गगन - मन भर देंगे
मुरझे जड़ से झरने पर भी !
मैं समझूँ, मैं कीलित हिमाद्रि
तुम समझो सिन्धु कि तुम गभीर !"

—वही, पृष्ठ-137-38

उक्त पर्व के अन्तिम प्रगीत में श्रीराधा द्वारा प्रणय की जैसी महिमा निरूपित करायी गयी है, उससे निगमन विधि द्वारा आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने आत्मा और परमात्मा के अभेद में अतल की गम्भीरता दिखलायी है—

"प्यार यह प्यार री !
बिन छुए, जो बजे
वह तुनुक तार री !

कह रहा कान में
रह रहा प्राण में,
ज्ञान अभिमान में :
वह निराकार री !
शिशिर - ज्वाला - हरण
तिमिर - तारण - तरण
परस प्रिय के चरण
मरण स्वीकार री !"

—वही, पृष्ठ 151

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री श्रीराधाभाव में निष्णात अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति हैं। वे भी अपनी अधिष्ठात्री की तरह आमरण श्रीकृष्णतत्व की चरण-शरण में पहुँचने की उत्कण्ठा परिपुष्ट करते प्रतीत हो रहे हैं। अतः

उन्होंने अन्तर्दृष्टि सम्पन्न श्रीराधा को असाधारण शक्ति के रूप में स्मृत किया है तथा उसकी स्तुति उक्त पर्व के 'राधामाराधयाम्यहम्' नामक मंगलाचरण में 'राधामसाधारणशक्तिमीडे के रूप में की है। उनकी दृष्टि में श्रीकृष्ण के अकुतोभय चरण-शरण में पहुँचने के दो ही साधन पर्याप्त हैं। प्रथम श्रीराधाभाव में अपने को अनुरंजित कर अपनी अधिष्ठात्री की तरह अन्तर्मुखी होकर प्राणमणि श्रीकृष्ण का अहर्निश अनुध्यानपूर्वक चिन्तन करना तथा निश्छल व्रजवासी गोपों की तरह अपने अल्हड़पनवश गोचारण करते हुए वलवत्व को प्राप्त हो जाना अर्थात् सख्यभाव को स्वयं में परिनिष्ठित कर पाना। राधा-भाव सखीभाव का परिचायक है। अत: कवि ने अपने निम्न-लिखित श्लोक में उक्त दोनों भावों के प्रति अभिलषित होने की निष्ठा वक्रोक्ति द्वारा व्यंजित की है—

"राधिकाऽऽराधिका नित्य मन्तर्दृशो
विस्मृता विस्मिताऽऽयुर्व्यतीयाय चेत्
त्वद्व्रजे गोभिरुच्छृङ्खल: किं चरन्
जानकीवल्लभो वल्लवत्वं व्रजेत् ?"

जिसमें अपने वक्रोक्ति गर्भित वचनों द्वारा कवि ने यह जताया है कि आचार्य जानकीवल्लभ क्या नित्य अन्तर्दृष्टि सम्पन्न श्रीराधा है, जो नित्य अन्तर्दृष्टि सम्पन्न श्रीकृष्ण की आराधना में अपने को विस्मृत कर विस्मित-भाव से अपनी आयु शेष कर दे? और न तो वह व्रजवासी गोप ही है, जो तुम्हारे व्रज में अपने अल्हड़पनवश गोचारण करते हुए वल्लवत्व (ग्वालपन) को प्राप्त हो जाय? अर्थात् वह भी श्रीराधा की असाधारण शक्ति से सम्पन्न हो चुका है अत: विस्मित-भाव से अपनी आयु अन्तर्दृष्टि सम्पन्न पूर्णब्रह्म श्रीकृष्ण की आराधना में व्यतीत करने की उत्कण्ठा रखता है और उनकी सख्यभक्ति में निमज्जित होकर निश्छल वल्लवत्व ग्रहण कर व्रजमण्डल में गोचारण करता कृष्णत्व को प्राप्त होने की कामना वाला दृष्ट हो रहा है क्योंकि वह अच्छी तरह जानता है कि राधा-कृष्णमूलक रति त्रिकाल में भी किसी सजातीय या विजातीय भावों की उपस्थिति में विच्छिन्न नहीं होती, जिसे श्री रूपपादाचार्य ने—

राधा-माधवयोरेव क्वापि भावै: कदाप्यसौ।
सजातीय-विजातीयैर्नैव विच्छिद्यते रति: ॥'

द्वारा अभिव्यक्ति दी है।

प्रख्यात आधिकारिक-कथा के मार्ग में तनिक-से कल्पनाप्रसूत अंश की चारुता से उसकी रमणीयता कुछ और ही हो जाती है। अतः उस कविकल्पित अंश को उत्पाद्य-लव-लावण्यगुणविशिष्ट वस्तु के रूप में वक्रोक्ति जीवितकार ने निरूपित किया है और इसके सम्बन्ध में प्रकाशनिक्षेप करते हुए बताया है कि उत्पाद्यलवलावण्य के स्पर्श-मात्र से काव्य में इतनी चारुता आ जाती है कि वह प्रकरण चरम सीमा को प्राप्त रस से परिपूर्ण होकर समस्त प्रबन्ध का जीवातुतत्त्व-सा अनुभूत होने लगता है।[25] इसके भी दो भेद बताये गये हैं—

(क) अविद्यमान की कल्पना।

(ख) विद्यमान का संशोधन।

प्रकृत काव्यात्मक प्रबन्ध के विनोदसंज्ञक चतुर्थ पर्व में उत्पाद्य-लावण्य के प्रथम भेद (अर्थात् अविद्यमान की कल्पना) के अवलम्बन द्वारा प्रबन्धगत चारुता के अभिवर्धन में महाकवि ने अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है। इस प्रसंग में एक बात और जानने योग्य है कि 'राधा-काव्य' की संरचना में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने नाटकीय शैली का समाश्रयण लिया है। अतः इसके तमाम स्थलों में परिसंवादों के सुमधुर विन्यास पाठकों के रसपान में साहाय्य दे रहे हैं। यही कारण है कि श्रीराधाभावनामृत में सतत निमग्न ललितललाम कवि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने अपने महाकाव्य के उक्त पर्व में राधा-माधव के इतिवृत्त में अनुपलब्ध एक स्वप्न-वृत्तान्त की कल्पना द्वारा अपनी मनोमयी राधा की अनवद्य-हृद्यछवि उरेहने का जो श्रम उठाया है वह उनके प्रबन्धगत 'रुक्मिणी-कृष्ण परिसंवाद' के माध्यम से अभिनव प्रयोग के रूप में सुचिन्नित हुआ है, जिसमें कविनिष्ठ रचयित्री और भावयित्री प्रतिभा ने कई तथ्यों को अपने निबद्ध पात्र मुखेन अभिव्यञ्जित कराकर अपने विनोद का विषय बनाया है, जो रुक्मिणी और कृष्ण के मनोविनोद के रूप में पाठकों के समक्ष प्रतिपादित हुए हैं। इस पर्व की संरचना पर कवि स्वयं लट्टू है तभी तो इसकी 'प्रस्तुति' शीर्षक भूमिका में उसके ये वचन प्रस्फुटित हुए हैं—

25—इति वृत्त प्रयुक्तेऽपि कथावैचित्र्यवर्त्मनि।
उत्पाद्यलवलावण्यदन्या भवति वक्रता॥
यथा, तथा प्रबन्धस्य सकलस्यापि जीवितम्।
भाति प्रकरणं काष्ठाधिरूढ रस निर्भरम्॥
—वही, उन्मेष 4, कारिका 3-4, पृष्ठ 489-90

"दर्शन-पर्व तक की कथा में नदी-किनारे की व्यथा घुली-बही है, विनोद-पर्व से रस-सिन्धु के अन्तर्मन्थन के हिल्लोल-कल्लोल की ध्वनि-प्रतिध्वनि भी सुनाई दे सकती है। यह केवल दो नगरों या पहाड़ों के फेर-बदल की कोई ऐसी-वैसी घटना नहीं है कि वृन्दा मथुरा नहीं तो द्वारका ही सही, गोवर्धन नहीं तो रैव तक ही सही। नहीं वृन्दा-मथुरा की हरी-भरी हलचल नील नदी का ऊर्मिनृत्य है, द्वारका फेनिल सिन्धु के अर्धलक्ष्य ज्वारभाटे पिये हुए है। यमुना की लोल हिलोर में मञ्जीर गुञ्जरित है, सिन्धु की तड़िततरंगों में अस्त्रों का रक्तिम निनाद भी सुना जा सकता है।"

—वही, विनोद-पर्व, प्रस्तुति, पृष्ठ 1-2

मनोविनोद के कुछेक प्रकरणों में गूढ़तम रहस्यों के सार कथोपकथन की सरस शैली में प्रकट किये गये हैं। जैसे—रुक्मिणी-कृष्ण के परिणय-प्रसंग में नर-नारी के चिरन्तन-सम्मोहन के अन्वाख्यान में साम्प्रतिक याथार्थ्य के संदर्भों को भी कलात्मक ढंग से सुगुम्फित किया गया है, किन्तु 'रुक्मिणी-कृष्णोद्वाह प्रकरण' को समझने के लिए पाठकों को शिशुपाल और कृष्ण तथा राधा और रुक्मिणी के तात्त्विक अन्तरों को समझना आवश्यक है अन्यथा कविकृत यह विनोद पाठकों के गले हठात् उतरने योग्य नहीं है। इस प्रकरण में श्रीकृष्णगत कई अलौकिक गुणों की प्रतिष्ठा हुई है, जिनका शिशुपाल में अभाव था। जैसे – उक्त संदर्भ में वर्णित श्रीकृष्ण में 'नारीगणमनोहारी-गुणवैशिष्ट्य का निरूपण हुआ है। 'नारीगणमनोहारी सुन्दरी वृन्द मोहनः'[26] अर्थात् सुन्दरियों को सम्मोहित करने की पूर्ण क्षमता श्रीकृष्ण में है। अतः वे 'नारीगण मनोहारी' और 'मोहन' कहलाते हैं। शिशुपाल में इस गुण की न्यूनता है इसलिए वह नारियों के हृदय में प्रेमिल क्षोभ जन्य उछाल पैदा करने में असमर्थ है। इन भावों के स्फोटक पद प्रकृत प्रकरण में यत्र-तत्र द्रष्टव्य हैं, कृपया उन पर ध्यान दें—

'वीर क्या, शिशुपाल था बल धाम,
किन्तु उसका था न 'मोहन' नाम।
रूप - राशि - कुबेर, अलका - धाम,
किन्तु वह तो था न सुन्दर श्याम।

---

26. भक्तिरसामृत सिन्धु, दक्षिण विभाग, विभावाख्यलहरी 1, का० 166, पृष्ठ-280।

मार देता, सहज शत आघात,
प्यार करता, यह असम्भव बात !'

—वही, पृष्ठ 45

शिशुपालगत दूसरी न्यूनता यह है कि वह बलिष्ठ तो है किन्तु उसमें शूरता का अभाव है। शूरता श्रीकृष्णनिष्ठ अपरिहार्य गुण है। 'उत्साही युधिशूरोऽस्त्रप्रयोगे च विचक्षण:,[27] इस परिभाषामूलक वाक्य में बताया गया है कि युद्ध में उत्साह रखनेवाले तथा अस्त्रों के प्रयोग में निपुण 'शूर' कहलाते हैं। इसके आधार पर 'उत्साही' और 'निपुण' ये दो भेद शूरों के बन जाते हैं। श्रीकृष्ण दोनों के अद्वितीय उदाहरण हैं—

'धर्मशील, कुलीन था शिशुपाल
तरुण तरु के बिकसने का काल,

× × ×

सर्व गुण आगर कि नागर वीर,
ठान रण मुझसे प्रसन्न गभीर !

सात्वती - सुत नहीं मेष - समान
अन्ध अनुयायी, किया अपमान—
कटु अकुण्ठित कण्ठ से कर वान्त
शब्द अब्दों के वृथा विक्रान्त
सभा - निष्प्रभ में कुलिश-दुर्दान्त
वह कृतान्त नहीं, तुम्हारा कान्त—
था प्रथम निर्णीत, जन अनुनीत;
मैं तुम्हारा मनोनीत विनीत !'

—वही, पृष्ठ 34

(ख) 'जरासंध कबन्ध-सा टुक घूम
गिर गगन से ले कि मिट्टी चूम
चैद्य सेनापति प्रबल भुजदण्ड
चक्र से मेरे भरे दो खण्ड

27. वही, दक्षिण विभागस्थ विभावाख्य लहरी 1, का० 129, पृ० 268।

मृत्युतीर्थ सभा-भवन दिव-द्वार
यत्न-सञ्चित गर्व हो भनसार !'

—वही, पृष्ठ 36

उपर्युक्त उदाहरण 'क' में श्रीकृष्ण अपने आप को युद्ध में यमतुल्य उत्साही बतलाते सुचित्रित हैं तथा 'ख' में अपने चक्रचालन की निपुणता में सतत संलग्न होकर सेनापति चैद्य के प्रबल भुजदण्डछदन की बात करते नहीं अघाते वर्णित हैं। अत: उक्त वर्णनों से तद्गत द्विविध शूरता में सिद्धहस्तता स्वत: प्रमाणित है।

प्रेमियों के वशीभूत होने के कारण श्रीकृष्ण में 'प्रेमवश्यत्व' नामक प्रबल गुण परिलक्षित होता है किन्तु, शिशुपाल में उसका अत्यन्ताभाव है। अत: 'प्रियत्वमात्रवश्यो य: प्रेमवश्यो भवेदसौ'[28] इस परिभाषामूलक वाक्य द्वारा जो कहा गया है कि 'जो केवल प्रेम के वशीभूत होता है, उसे प्रेमवश्य' कहते हैं, यह लक्षण श्रीकृष्ण में पूर्णत: संघटित हो रहा है क्योंकि शिशुपाल पिता-भ्राता-आदि द्वारा निर्णीत वर होने पर भी रुक्मिणी का पति नहीं बन सका किन्तु कृष्ण उसके प्रेमपत्र पाकर उससे राक्षस विवाह रचाने में समर्थ हुए। अत: वे उसके प्रेमवश्य मनोनीत वर थे।

श्रीकृष्ण के अन्यान्य गुणों में 'साधुसमाश्रयत्व' भी अपनी विशिष्टता रखता है, जिसका शिशुपाल में अभाव था। 'सदैक पक्षपाती य: स स्यात् साधु समाश्रय:'[29] इस पारिभाषिक वचनावली द्वारा यह बतलाया गया है कि 'सज्जनों के एकमात्र पक्षधर होने के कारण वह कृष्ण 'साधुसमाश्रय' कहलाता है। इस तथ्य की पुष्टि निम्नलिखित श्रीकृष्णवचन से हो रही है :—

राजवंश जहाँ उपस्थित सर्व
कर्ण सेनापति कि गौरव, गर्व

× × ×

रुक्मिणी, अभिजात का वह दर्प—
फन उठा फुफकारता ज्यों सर्प—
डँस मुझे धँस कर गया पाताल !
भूल पाता मैं नहीं वह काल !

---

28. वही, का० 151, पृ० 276.

29. वही, का० 164, पृ० 279.

भीष्म नैष्ठिक ब्रह्मचारी एक ;
रहे अविवाहित, अपुत्र अनेक !
उन्हें क्लीव कहा; न टर्रा भेक !
सुन लिया सिर धुन न तोड़ी टेक
उन्हें मेरी अर्चना थी साध्य !!
बनूँ राज - समाज का आराध्य !!

—वही, पृष्ठ 35

अतः भीष्म आदि सज्जनों के पक्षधर होने के कारण ही तो श्रीकृष्ण ने राजसूययज्ञ में अपनी अग्रपूजा स्वीकारी थी तथा शिशुपाल को यमलोक भेजा था, जिसका संकेत उपर्युक्त प्रसंग में नायकमुखेन करा कर कवि ने अपने प्रबन्ध में सरसता का संधान किया है।

कवि प्रणीत उक्त प्रकरण के माध्यम से राधा और रुक्मिणी के मौलिक भेदक तत्त्वों को उजागर होने का सुअवसर प्राप्त हुआ है किन्तु इसकी गूढ़ता का रहस्य तब समझ में आयगा जब आप स्वप्न के उस बिन्दु पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे जहाँ पहुँच कर श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी को—

"आज हम दोनों प्रमद उद्यान
भ्रमण करने - सान्ध्य - पवन - समान
मुदित निकलेंगे उदित जब सोम, —
चाँदनी - फेनिल उदधि हो व्योम !"

—वही, पृष्ठ 50

इन शब्दों में सान्ध्य-भ्रमण हेतु प्रमदवन चलने का आमन्त्रण देकर अपने प्रासादशिखर की यात्रा की और मनोरथों भरी रुक्मिणी उनकी आशा में व्यग्रता को प्राप्त होकर उनके सुसज्जित प्रकोष्ठ में पहुँच जाती है किन्तु उन्हें स्वयं में खोया-खोया-सा देखकर कुछ चुटीले शब्दों के प्रयोग द्वारा सम्मोहित करना चाहती है पर वे तो अपनी पुरानी बाल्य-क्रीड़ाओं और नन्द-यशोदा, गोप-गोपियों तथा वृन्दावन की लता-कुञ्जों की अचानक याद आ जाने से व्यथित थे। अतः वार्तालाप के क्रम में इन सबों के अन्वाख्यान में तत्पर नायक से रुक्मिणी ने कहा—

"हाँ यही सन्देह एक विदेह
आप के ही संग उपजा स्नेह !

चिरस्थायी गीत की - सी टेक
आप जैसे सब नरों में नेक,
न कोई नारी दिखी उस देश—
आपका जिस पर सनेह विशेष ?

× × ×

क्या अकारथ वचन ? मन का मोह ?
कृष्ण बोले सत्य से विद्रोह—
मैं करूँ ? सम्भव नहीं अलगाव,
अविश्वास नहीं मनुष्य - स्वभाव !

× × ×

रूप का, आनन्द का उद्रेक,
गीत में संगीत - तत्व - विवेक,
तप्त उर पर शिशिर - कण - अभिषेक
चिर-विरह वह, मिलन का क्षण एक !
रुक्मिणी चिहुँकी, लली वह कौन !
है कनक - चम्पक - कली वह कौन ?

× × ×

शून्य की-सी रेख चन्द्राकार
पूर्ण अक्षर नाद में ओङ्कार !
परिधि जलनिधि की गगन न अमाप
अणु-महत् के गणित का अभिशाप—
राधिका सकती नहीं है झेल,
धन-गुणात्म विकास उसका खेल !"

—वही/ पृष्ठ-70-72

उपर्युक्त प्रकरण में श्रीराधा अनिर्वचनीय, अलक्षणीय, नादरूपिणी, अनुपमेय, ज्ञानस्वरूपा, रसस्वरूपिणी, अक्षरब्रह्म ओङ्कारस्वरूपा, व्रजवासियों की प्राणस्वरूपा, असीम-आदि गुणविशिष्टा के रूप में प्रतिष्ठापित हुई है। ये सारे गुण रुक्मिणी में नहीं थे क्योंकि ऋक्परिशिष्ट के एक मंत्र में "राधाया माधवो देवो माधवे नैव राधिका। विभ्राजन्ते जनेष्वा ।।" के माध्यम से ऋषि ने राधा-माधव की एकरूपता दिखा कर उसके चराचर में युगनद्ध रूप में व्याप्त होने की बात बतायी है ठीक वैसे ही आचार्यश्री ने श्रीकृष्ण मुखेन उनकी ह्लादिनी शक्ति ओङ्कारस्वरूपा श्रीराधा का अनवद्य-हृदय चित्रांकन कराने में अपनी आर्षदृष्टि सम्पन्नता का यथार्थ परिचय दिया है।

वृंदावनवासिनियों से श्रीकृष्ण का कैसा स्नेह था इसे निम्नलिखित पङ्क्तियों में परखें—

प्रियजनों के सब मनोरथ चूर
जब हमें लेकर चले अक्रूर
अप्रतिम, उद्विग्न, अतिशय तप्त
स्नेह ओढ़े, मुर्दे सिए अभिशप्त
रह गया व्रज रज-भरी ज्यों आँख,
झरी मरु में मोर की ज्यों पाँख !
उड़े फूल कि बचे खर-पतवार
रही परती, जले नभ का प्यार !
आरती का जल गया कपूर
शेष चिह्न रहा स्वजन को घूर
गई झंझा झाड़ को झकझोर
गया नव-निधि को चुरा कर चोर
ज्यों जली दावाग्नि वृन्दा-बीच
ज्यों पधारी सर्वहारी मीच !

× × ×

रो पड़ें, जैसे न ऐसी घात !
चकित हों, ऐसी न कोई घात !
अधर पर जिसके न कोई बोल
ज्यों मिला हो कुछ न हृदय टटोल !
महाभाव अडिग कि सकता डोल ?
कह सकी जो कुछ नहीं मुँह खोल !
वन हिला, पर अनल-अनिल-झकोर
अचल को न सका चपल झकझोर
देह कैसे थी खड़ी निष्प्राण
कौन नारीमूर्ति वह पाषाण ?
स्वर्ण-वर्णा जो हुई घनश्याम
आह ! राधा है उसी का नाम !'

—वही, पृष्ठ-72-77

बृहद्गौतमीयतन्त्र में जिसे 'देवीकृष्णमयी प्रोक्ता राधिका पर देवता। सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्ति सम्मोहिनी परा ॥' के रूप में स्वीकारा गया है वही मोहन के भावी विश्लेष मे महाभावस्वरूपा अन्तर्दृष्टिसम्पन्न निश्चेष्ट प्रकृति-सी जड़ीभूत देखी जा रही है क्योंकि राधा-माधव एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों की युगनद्धता में ही पूर्णब्रह्म का प्रकाश निहित है। अत: श्रीराधा महाभावस्वरूपा तथा श्रीकृष्ण महाभाव स्वरूप हैं। रुक्मिणी में महाभावस्वरूपता का अत्यन्ताभाव है। इसलिए वह श्रीराधा से न्यून है। अत: कवि प्रणीत यह वाक्य—

स्वर्ण वर्णा जो हुई घनश्याम,
आह ! राधा है उसी का नाम।'

उपर्युक्त भाव के अवबोधन में पूर्ण सामर्थ्य बिखेर रहा है।

रुक्मिणी में आभिजात्यदर्प की प्रचुरता है अत: उसमें निर्वेद (आत्म-धिक्कार) के भाव नहीं उफनाते। वह बात-बात में अपना आक्रोश प्राणनाथ के समक्ष प्रदर्शित करती है किन्तु श्रीराधा की सहनशीलता पराकाष्ठा प्राप्त कर गयी है। वह मिलन और विरह में अपनी समता बना चुकी है। अगर श्रीकृष्ण योगेश्वर हैं तो वह भी योगेश्वरी है। वह उनके विरह में अन्तर्मुखी

होकर उस योगजस्थिति में पहुँच चुकी है, जिसके माध्यम से अपने चतुर्दिक बगरे वसन्त की मादकता की पर्वाह किये बिना प्रशान्त भाव से मुरली का अन्तर्नाद सुनने की जागरूकता दिखला रही है। उपर्युक्त भाव की व्यञ्जिका निम्नलिखित पङ्क्तियाँ हैं। कृपया उन पर ध्यान केन्द्रित करें—

स्वगत उद्धव ने कहा : न उदन्त
निष्प्रमाण, प्रणय कि ज्ञान अनन्त !

× × ×

पार पा न सका न ऊबा विश्व
प्रेम आत्मार्पण कि सेवा निःस्व !

× × ×

गोपियों से ही हुआ यह ज्ञात
सुन सकीं राधा न मेरी बात !
किधर भी; जाने कहाँ, किस ओर—
वह अकेली शून्य, आत्म-विभोर !
मैं करूँ पहले उन्हीं का ध्यान
जो न राधा ने सुना, क्या ज्ञान !

उस घड़ी वह थी पड़ी कृश-काय
एक पेड़ तले विमन, निरुपाय !
योगिनी ज्यों हो समाधि-निलीन,
कमलिनी अन्तःप्रफुल्ल नवीन !
दुख-मुखर गोकुल-समुद्र-समीप
बन्द कर मोती पड़ी ज्यों सीप !
सिद्ध किससे कर सकें ? क्या स्वार्थ ?
साँस हो संगीत, स्वर चरितार्थ !'.......

—वही, पृष्ठ-82-83

उपर्युक्त उदाहरण में श्रीराधा की श्रीकृष्णभावनामृत में सतत निमग्नतारूप योगावस्था परिपुष्ट हुई है, जिसमें श्रीराधानिष्ठ तानव और जडिमा का अन्वाख्यान हुआ है। 'तानवं कृशता गात्रे दौर्बल्यभ्रमणादिकृत्' [30] इस परिभाषामूलक वाक्य द्वारा बतलाया गया है कि 'शरीर की ऐसी दुर्बलता का नाम तनुता है, जिससे भ्रमणादि में गात्रसंचार मुश्किल से हो सके' तथा 'इष्टानिष्ट-परिज्ञानं यत्र प्रश्नेष्वनुत्तरम्। दर्शन-श्रवणाभावो जडिमा सोऽभिधीयते॥ अत्राकाण्डेऽपि हुङ्कारस्तम्भश्वासभ्रमादयः।' [31] द्वारा जडिमा को परिभाषित किया गया है, जिसमें बताया गया है कि 'जडिमा वह अवस्था है जहाँ पहुँचकर व्यक्ति अपने इष्टानिष्ट के परिज्ञान में असमर्थ हो जाता है। चाक्षुष प्रत्यक्ष और श्रावणप्रत्यक्ष की शक्ति खो देता है। अतः वियोग की इस अद्भुत अवस्था (दशा) को 'जडिमा' कहा जाता है, जिसमें अनवसर हुङ्कार, स्तम्भ, प्रश्वास रूप व्यभिचारी वर्णित हैं।

अतः निर्दिष्ट भाव के अवबोधन में ये वचन अपनी सशक्तता अभिव्यक्त कर रहे हैं—

"गृह-कलह दुःसह स्वजन से ठान,
था निबाहा ब्याह का अभिमान
दास दुःसाहस तुम्हारा क्रीत
मैं कभी तुम से सकूँगा जीत?

चैद्य, शाल्वज, दन्तमुख बलिहार
मगधराज गिरा निमिष में हार!
स्त्रीजनोचित पर नहीं यह क्रौर्य!
पुरुष की पहचान पौरुष, शौर्य!

हो गए कैसे विधाता वाम
पुरुष दक्षिण न रच, रच दी वाम!
मैं कहूँगा तप करो कुछ काल,
जानना जो पुरुष - उर - सुर - ताल!

30—उज्ज्वल नीलमणि, विप्रलम्भदशावस्थावर्णन प्रकरण, का०28, पृष्ठ-515
31—वही, पृष्ठ—516

पुरुष को प्रिय सत्य - सदृश - विनोद,
कहाँ कौतुक, कहाँ हिंसक - क्रोध !
जो बहुरती ही नहीं निष्काम
राधिका वह ऋतु अरूप, अनाम ?
स्फुट कुमुदिनी गगन-गंगा-कूल,
छू न पाती जिसे उठकर धूल !

× × ×

नींद सुख, उत्तेजना की, दुख कि उचटी नींद,
तीक्ष्णतर संवेदना उर के सुरों को बींध
रागमाला गूँथती, गहरा, भरा सन्तोष;
स्वप्न में राधा दिखी, ज्यों-ज्योति द्योतित ओस !
अज्ञता की वह न भीति, न विज्ञता का दम्भ;
क्षुब्ध - अब्धि - तरंग में निष्कम्प मणिमय स्तम्भ,
सेतु से उतरा हुआ - सा पार जीवन धन्य
गलित अन्तर्ज्वलित क्षार - तुषार सन्तति अन्य
हंसिनी - सी पद्मछाया में सुखाती पाँख
हृदय अकुतोभय, नहीं वह भृंग-मंगुर आँख !"

—वही पृष्ठ 96-98

पण्डितराज जगन्नाथ सतरहवीं शताब्दी के सर्वमान्य समालोचक हैं। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती श्रीरूपपादाचार्य की मान्यता के प्रतिकूल 'नित्यानित्य वस्तुविचार-जन्मा विषयविरागाख्यो निर्वेद:' [32] अर्थात् वेदान्त द्वारा नित्यानित्य वस्तुओं के विवेचन से उद्भूत वितृष्णामूलक चित्तवृत्ति निर्वेद' संज्ञक स्थायिभाव है, ऐसा निर्दिष्ट किया है क्योंकि इन्हें तो निर्वेद शान्तरस का स्थायिभाव है, ऐसा सिद्ध करना था। अत: 'क्षणिको निर्वेदस्तु न स्थायी, किन्तु व्यभिचार्येवेत्याह—गृहकलहजादिस्तु व्यभिचारी।' कहकर इसे व्यभिचारिभाव के अन्तर्गत गिना है तथा गृहकलह-आदि को इसका कारण बतलाया है किन्तु भक्तिवादी—आचार्य श्रीरूपगोस्वामी ने अपने ग्रन्थ के पञ्चमविभाग में भक्तिरस के मुख्य पाँच भेदों (शान्ति, प्रीति, प्रेय, वत्सल और मधुर)

के विशद वर्णन प्रसंगों में शान्तिरति, सम्भ्रमप्रीत, सख्यरति, वात्सल्यरति और मधुररति को इनके स्थायिभाव सुनिश्चित किये हैं तथा निर्वेद व्यभिचारियों में अन्यतम माना है।

'महाऽर्ति विप्रयोगेर्ष्या सद्विवेकादि कल्पितम्।
स्वावमाननमेवात्र निर्वेद इति कथ्यते ॥' [33]

अर्थात महादु.ख, विरह ईर्ष्या तथा सद्विवेक से कल्पित (अर्थात् कर्त्तव्य के पालन न करने तथा अकर्त्तव्य के अनुपालनजन्य से कल्पित) अपनी अबमानना (अनादर) का नाम 'निर्वेद' है। चिन्ता, अश्रु, विवर्णता दैन्य, प्रश्वास आदि इसके अनुभाव बताये गये हैं। शान्तभक्तिरस शमप्रधान चिद्विशिष्ट भक्तों द्वारा आस्वाद्य है। इसे श्रीजीवगोस्वामी ने 'ज्ञानरस' की संज्ञा से विभूषित किया है। इस विषय में यह ध्यातव्य है कि तत्त्वज्ञान न होने पर विषयों के प्रति निर्वेद स्थायी हो सकता है, किन्तु इष्टानिष्ट के वियोग से उत्पन्न निर्वेद 'शान्तिरति' का भी व्यभिचारी हो रहेगा क्योंकि वहाँ शमत्व का अभाव परिलक्षित होगा।

मधुरभक्तिरस के व्यभिचारियों की चर्चा करते हुए आचार्यपाद ने आलस्यौद्ग्र्ये विना सर्वेविज्ञेया व्यभिचारिण:' [34] तथा अत्र सञ्चारिणो व्याधि: शङ्कासूयाश्रम: क्लम:। निर्वेदौत्सुक्य दैन्यानि चिन्ता निद्रा प्रबोधनम् [35] द्वारा इसके सञ्चारियों में निर्वेद को स्वीकारा है। आचार्य श्री जानकीवल्लभ शास्त्री ने भी अपने प्रबन्ध काव्य 'राधा' के पाँचवें पर्व का नाम निर्वेद-पर्व रखा है तथा इसमें नायकनिष्ठ निर्वेद के कई भावों को सुगुम्फित कर उनकी श्रीराधाविषयिणी रति के सम्पोष में सिद्धहस्तता दिखलायी है। उक्त पर्व के कई प्रकरणों में उद्धव-कृष्ण संवाद वर्णित हैं, जिनमें श्रीकृष्णगत निर्वेद रूप सञ्चारी का उद्रेक उनके कथोपकथनों में परमोत्कर्ष को प्राप्त हुआ है। कुछेक प्रकरणों पर पाठक ध्यान दें---

'बुभुक्षा थी न जग को खाद्य बाँटा,
पिपासा थी न, रस आस्वाद्य बाँटा!
न था जिज्ञासु जग, क्यों ज्ञान बाँटा?

32—रसगङ्गाधर / प्रथम आनन/ पृष्ठ 143/ चौखम्बा संकरण, वाराणसी।
33—भक्तिरसामृतसिंधु/व्यभिचारिभाव प्रकरण/ का० 7/पृष्ठ-397
34—वही मधुरभक्तिरसाख्य लहरी-5/का० 16/पृष्ठ-715
35—उज्ज्वलनीलमणि/मधुररस प्रकरणस्थ का० 16, पृष्ठ-511

तपस्वी था न, क्यों सम्मान बाँटा ?
न विधि-इच्छा समझ में आह ! आती,
परिस्थिति मुक्त को भी बांध लाती
नहीं तो कष्ट देता विश्व को क्यों ?
दुखा मन नि:स्व कहता नि:स्व को क्यों ?
न ढोना कृष्ण का शवभार पड़ता
न होता मैं किसी का क्या बिगड़ता
बिगड़ता क्या न ? उद्धव गिड़गिड़ाए—
विनय के हेतु ॠत का सेतु ढाए—
न कोई आप-सा निष्काम, निर्मम—
प्रखर आलोक में ढूँढ़े गहन तम !

वही, निर्वेद-पर्व, पृष्ठ-12

उपर्युक्त वचनावलियों द्वारा पर्व के प्रारंभिक अंश में नायकनिष्ठ सद्-विवेकादिकल्पित अवमानजन्य निर्वेदरूप सञ्चारी परिपुष्ट हुआ है। अत: नायक कर्त्तव्या-कर्त्तव्य के बोध से इतना दबा जा रहा है कि अन्यों की दृष्टि में उससे ज्यादा धिक्कार योग्य व्यक्ति इस धरा-धाम पर दूसरा कोई है ही नहीं। इसी चिन्ता में उसका चेहरा फक्क हो गया है, शरीर पीला पड़ गया है। उसके नेत्रों से कटाक्ष नहीं होते और वह अपने आप में खोया-खोया-सा देखा जा रहा है। अत: नायकनिष्ठ चिन्ता, दैन्य, कृशता, जन्मधारण की व्यर्थता-आदि अनुभावों से परिपुष्ट निर्वेद रूप सञ्चारिभाव का स्फोटन हो रहा है।

उक्त पर्व का दूसरा 'देवकी-कृष्णसंवाद' भी इस परिप्रेक्ष्य में विचारणीय है। अत: विज्ञजन इसके निम्नलिखित पंक्तियों में इसे परखें—

'सुना रे श्याम, घर में हो रहा क्या ?
मलिन मुख दीखता, था रो रहा क्या ?
कभी हँसता अगर जो देख पाती
सुमन झरते, नयन-मन मैं जुड़ाती !
भरा आलस्य तेरे तन-वदन में,
कि दी गद्दी किसी को चौथपन में !

स्वयं इस ठौर से उस ठौर जाता
प्रजा के काज से भी जी चुराता;
कभी घर में रहे भी तो बना कर
महा गम्भीर आकृति मुँह फुला कर !
न जाने ज्ञान होगा अब तुझे कब ?
मुझे भाते नहीं ये ढलमले ढब !'

—वही, पृष्ठ 16

उपर्युक्त प्रसङ्ग में वर्णित श्यामसुन्दर इतने आत्मधिक्कार-भरे सुचित्रित हैं कि अपने ही घर में बन्दी-से पड़े हैं। उनका मुख म्लान है। आलस्य से शरीर जकड़ गया है, जिससे सौ बूढ़ों में एक-से प्रतीत हो रहे हैं। व्यग्रता के कारण प्रजा के कार्यों से भी जी चुराना तथा अपने परिजनों से युक्त प्रासाद में भी चुप्पी साधे बैठे वर्णित हैं। अतः यहाँ श्रीकृष्णनिष्ठ आत्महीनता, वैवर्ण्य-आदि अनुभावों से परिपुष्ट निर्वेद रूप व्यभिचारी उत्कर्ष को प्राप्त हुआ है, जो देवकी माँ द्वारा लक्षित है।

(अ) "सुना रे श्याम, कोई काम अपना—
बना क्या ? देखता दिन-रात सपना !
करेंगे यह, धरेंगे वह, भरेंगे—
घड़े रीते, अमर हम क्यों मरेंगे !—
सिखाता है सभी को, मर रहा है !
अभय हों सब, स्वयं से डर रहा है !
इसी का नाम जीवन है, मरण भी,
यही संसार - सागर - सन्तरण भी !
अभी मध्याह्न है तेरे दिवस का
कड़क, संगीत - स्वर परिपक्व रस का।'

—वही, पृष्ठ 43

(आ) 'सुना रे श्याम, गीता धर्म - वाणी,
उतारे कर्म में, है कौन प्राणी ?

कहाँ उद्धव, कहाँ तू, कौन ज्ञानी—
मथे जीवन, बने गीता मथानी !

× × ×

जला कर वंशवन वंशी बजाता
अकृत - कृत का सुकृत का तू विधाता !

× × ×

तले में छेद है, भरता किसे है ?
गगन है, पूर्ण तू करता किसे है ?
उबारेगा सभी को, तू उबर ले !
लगे कीचड़, कहाँ क्या और गहरा ?
जड़ाशय सिन्धु पर बिठला न पहरा !'

वही, पृष्ठ 44-45

(इ) 'दुखी हैं आप कटु आलोचना से ?
सुयश को तौलते हैं लाञ्छना से ?
कभी कोई हुआ क्या सर्वमनहर ?
कमलदल बन्द होते देख शशधर !"

—वही, पृष्ठ 64

उपर्युक्त 'अ' और 'आ' संज्ञक उदाहरणों में माँ देवकी ने नायक श्रीकृष्ण की अकर्मण्यता का रहस्य खोलते हुए उन्हें सतत कर्मनिष्ठ बने रहने का सदुपदेश दिया है। पद्मनाभ श्रीकृष्ण के मुख-कमल से उच्चरित गीता के सदुपदेश कर्मनिष्ठों द्वारा सतत आचरणीय होने पर ही सार्थक हो सकते हैं, केवल गाल बजाने से नहीं। इसे वक्रोक्ति गर्भित वाणी में श्रीदेवकी ने उद्धव और कृष्ण के समक्ष इस ढंग से प्रतिपादित किया है कि अपने को निरन्तर ज्ञानी और योगी समझनेवाले उद्धव और निर्वेदग्रस्त श्रीकृष्ण द्वारा इसके अनुपालन में अकर्मण्यता के भाव सशक्त शब्दों में अभिव्यक्त हुए हैं। अतः उनके कथन का सार यह है कि निर्वेदग्रस्त श्रीकृष्ण जैसे योगेश्वर तथा अहंकार से मुग्ध बने उद्धव जैसे ज्ञानी भी गीता के रहस्यों को अपने में उजागर नहीं कर सकते तो राग-द्वेष से भरे सामान्य जन किस खेत की मूली

हैं, जो इस राजगुह्य विद्या के अनुरूप अपने को गढ़ सकेंगे ? अतः यह अपरम्पार है, इसका पार पाना टेढ़ी खीर है।

'इ' संज्ञक उदाहरण वाक्यों द्वारा उद्धव मुखेन यह प्रकटाया गया है कि सामाजिक कटु आलोचनाओं के कुप्रभाव ने श्रीकृष्ण में निर्वेद का संचार कर दिया है, जिससे वे अपने को अत्यन्त दुःखी मान बैठे हैं। अतः नायकगत अवमानजन्य 'महार्त्ति' का स्फोटन हो रहा है, किन्तु उन्हें सुहृद्सम्मित उपदेश में यह कहा जा रहा है कि 'आप तो निष्कलंक चन्द्र है, अपने सुयश को लाञ्छनों से मत तौलें। त्रिकाल में भी ऐसा कोई हुआ है, जो सबों को समान रूप से आह्लादित कर सके। यही कारण है कि गदले में प्रस्फुटित होनेवाले पंकज की निर्मलता पर भी कलंकी चन्द्रमा का प्रकाश अपनी छाप छोड़े बिना नहीं रहता। अतः समालोचकों के राग-द्वेषमूलक भाव ने भी आप कृष्णचन्द्र को निष्कलंक नहीं रहने दिया है। इसलिए अपने को विषण्ण न बनावें।'

इसके बाद के प्रकरण में दिखाया गया है कि ज्ञानी उद्धव भी अपने सखा के दुःख से विचलित हो उठे हैं, जिसकी सूचना कविकृत निम्नलिखित पंक्तियों में दी गयी है—

'पड़े शुचि सोच में उद्धव वचन सुन,
हुआ क्या, कृष्ण को जड़ में लगा घुन !
घुटे को घोखते, फिर-फिर सुनाते,
कि ग्रन्थिल ज्ञान पंथी से भुनाते !
क्षणिक होगा कि नैसर्गिक नहीं जो,
सदा सिकुड़ा रहेगा दिक् नहीं जो !
नहीं श्रीकृष्ण ऐसे, स्वत्व भूलें,
अनिश्चय-झूलने पर श्रान्त झूलें !'

—वही, पृष्ठ 66

अतः वे उनके स्वत्वज्ञापन के प्रति उत्कण्ठित देखे जा रहे हैं। उन्हें श्रीकृष्ण का अनिश्चय के झूले में झूलते हुए श्रान्त और निश्चेष्ट जीवन जीना कतई पसन्द नहीं। इसलिए उन्होंने राधा-प्रणय के प्रति अनुराग जगाने के लिए जैसी तरकीब निकाली है उससे तद्निष्ठ प्रत्युत्पन्नमतित्व का उत्कर्ष

व्यञ्जित हो रहा है तथा यहाँ स्थिति विपर्यय से संयुक्त वितर्कमूलक अभिज्ञान द्वारा जटिल-कथानक में कुतूहल के निवेश से दुहरा चमत्कार उत्पन्न किया गया है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने उक्त स्थल में तार्किक उद्धव द्वारा श्रीकृष्ण के प्रति किये गये श्रीराधा विषयक अभिज्ञान को वितर्कमूलक अभिज्ञान के रूप में विनियुक्त किया है। अतः श्री उद्धव के ये वचन नायक के निर्वेदभञ्जन में समर्थ हुए हैं और वह अपनी आह्लादिका शक्ति के गुणकथन में दत्तचित्त हो सका है फलतः इसके बाद वाले प्रकरणों में कविकृत कुतूहलजन्य दुहरे चमत्कार की संसिद्धि हो सकी है। पाठक कृपया उस पर ध्यान दें :—

"विचारा चित्त में उद्धव सुमति ने
बदल सम्मति कहीं जाए प्रणति में
निवेदन क्या करूँ, कुछ भाव बदले,
नई धारा बहे, यह नाव बदले !
स्वगत सोचा बहुत, बोले प्रकट कम—
पिघलती अब नहीं ? राधा गई जम ?
कभी चर्चा चलाते आज कल हैं ?
गए क्या भूल ! जल में पद्मदल हैं ?

वही, पृष्ठ-67

उपर्युक्त पंक्तियों में निबद्ध पात्रमुखेन श्रीराधानिष्ठ समत्व, अतल की गम्भीरता, महत्ता, प्रज्ञानता, शोकराहित्य वश्यात्मभाव और प्रशान्तता का कथन हुआ है, जिसका असर श्रीकृष्ण पर तत्क्षण हुआ है और अपनी ह्लादिनी शक्ति के आह्लाद से आकण्ठ-भरे नायक द्वारा श्रीराधा नाम की जैसी महत्ता निम्नलिखित पदावलियों में अभिव्यक्त हुई है उससे श्रीराधा-माधव का अलौकिक प्रेम प्रकर्ष को प्राप्त हुआ है। अतः इस पर्व में वर्णित नायक निष्ठ निर्वेद संचारी से परिपुष्ट मधुरारति उक्त वचनावली में प्रौढ़ि प्राप्त कर गयी है। कृपया उस पर ध्यान दें—

(क) "कहा श्रीकृष्ण ने आकण्ठ भर कर :—
उसे भूलूँ जिया जिसके लिए मर ?
उसी का अग्निशोधित हेम हूँ मैं

विदित जग को उसी का प्रेम हूँ मैं
प्रकाशित हूँ, गगन - तम - तोम बरसे,
सुरक्षित हूँ, उसी के पुण्यशर से !
स्तवन उसका करूँ, हों शब्द सार्थक,
विफल जीवन, विरल कुछ अब्द सार्थक,

× × ×

उसी की दृष्टि से थी सृष्टि देखी,
उसी की दृष्टि में थी सृष्टि देखी,
बघारा कह जिसे अध्यात्म - दर्शन,
उसी निष्काम का था लोम हर्षण—

× × ×

भ्रमर हूँ या भँवर-कब शान्त हूँ मैं ?
कभी जड़ हूँ, कभी उद्भ्रान्त हूँ मैं !

× × ×

यही वह नाम, जो अभिराम करता,
कुमति, कुण्ठा, कलुष अविराम हरता !
उसी ने तो बताया : था-हृदय क्यों ?
चलाता विश्व को नय, फिर प्रणय क्यों ?
बचाता आपदाओं से जगत को,
उठाता स्वर्ग-तक ऊँचा प्रणत को—
उसी की थी लगन जिसने संभाला—
उजाला ओप से यह रंग काला !
कहाँ होता गए फल-फूल जब झर,
जरठ पत्ते भरें उच्छ्वास मर्मर,
यही वह नाम है अन्तर्गुहा में
दिखाता पन्थ जो गहरी कुहा में !"

—वही, पृष्ठ-67-69

(ख) "यहाँ मैं हूँ, कहाँ ब्रज आज दिन है !
उपस्थिति के बिना वन-मन मलिन है !
हुई श्लथ शक्ति दूरी मापने में
गला विश्वास, पिघला गिरि विजन में
'जहाँ भी हो, रहो अन्तर्नयन में
रहस् आलाप नभ अन्तर्दिशा में
प्रलय हो, सर्ग हो, इंगित उसी का
मथूँ संसार-सागर हित उसी का
× × ×
न छन्दों में बंधी निष्पन्दता वह
चुपा दी बाँसुरी, सुर ? क्या पता ? कह !"

—वही, पृष्ठ-72

उपर्युक्त दोनों प्रकरणों में क्रमश: राधिकानिष्ठ अलौकिक सामर्थ्य के प्रति नायक का वशित्व और उसके गुणकथन में संलग्नता तथा प्रेम वैचित्र्य की अधिरूढ़ता वर्णित है। अत: नायक नायिका के रूप को सदैव अपने अन्तर में बसाने की समुत्कण्ठा दिखाता चित्रित हुआ है।

अब पुन: पाठकों का ध्यान सिंहावलोकन के लिए पीछे मोड़ना चाहता हूँ क्योंकि आचार्यश्री ने निर्वेद-पर्व में वर्णित चीरहरण-प्रकरण में विद्यमान का संशोधन' रूप द्वितीय कोटिक उत्पाद्यलावण्य नामक प्रकरणवक्रता द्वारा अपनी प्रबन्धगत चारुता के अभिवर्धन में निपुणता दिखायी है। विद्यमान के संशोधन' रूप उत्पाद्यलावण्य द्वारा कवि आधिकारिक कथा में प्राप्त कथानक में यथोचित संशुद्धि द्वारा चारुता का संधान करता है। चीरहरण-प्रसंग पौराणिक कृष्णकथा का एक रोचक वृत्तान्त है, जिसमें नंगी स्त्रियों को यमुना में स्नान करते देख स्वयं रसिकशिरोमणि व्रजराज ने उनके समग्र वस्त्रों को चुराकर कदम्ब की डाल पर बैठ बाँसुरी की सुमधुर रागिणी सुनाकर परावाक् की आराधिका बना अद्वैत वेदान्त के मर्मोद्घाटन में अपनी सफलता दिखायी है क्योंकि श्रीमद्भागवत में वर्णित चीरहरण-प्रकरण यह सिद्ध कर रहा है कि इस कार्य द्वारा गोपियों के मल, आवरण और विक्षेप रूप अविद्याजन्य आन्तरिक दूषणों के विमोक्ष में श्रीकृष्ण ने सफलता प्राप्त की थी।

अत: दिगम्बरियों को असीम आनन्दत्त्व 'रसोवैस:' के प्रमाणभूत रसराज श्रीकृष्ण के आनन्द का भाजन बनना पड़ा था, किन्तु राधाकार ने अपने प्रबन्ध में उनके वस्त्रों को श्रीकृष्ण के संगी ग्वालबालों द्वारा (अर्थात् ब्रजराज के आदेश पालकों द्वारा) अपहृत कराया है तथा उन दिगम्बरियों को आनन्द महार्णव श्रीकृष्ण की सर्वात्मता में विलीन होने का सुअवसर दिया है, जिसमें लौकिक मर्यादा का अतिक्रमण भी साधक ही बन गया है। अत: पौराणिक कथा का और उज्ज्वल रूप ही पाठकों के समक्ष प्रकट हो सका है। इसे इन पदावलियों में पड़तालें—

"मुझे ही चाहती थीं सब, विदित था,
विनोदी भाव ही मुझ में निहित था,

× × ×

अलोना मन निहारे तन सलोना
जलानल में गला मधुगंध सोना!

× × ×

कहाँ सुधि चीर की, ज्यों भूल से ही—
गए चञ्चल फिसल पद कूल से ही
न माँ की गोद में ज्यों शिशु लजाते
कहीं भूषण-वसन हैं भाग आते,
किसी अज्ञात सुख की आस से ज्यों
चकोरी चाँदनी की प्यास से ज्यों
स्वयं में लीन, उन्मन, बावली-सी
सुरभि की छाँह में छिपती कली-सी—

× × ×

अनामन्त्रित, अनावश्यक, अचानक
कि चन्द्रालोक में श्यामल बलाहक
पहुँच मैं था गया सँग बालकों के
निपट अज्ञान आज्ञा-पालकों के,

किनारे से उठा लो पट झपट कर,
चढ़ेंगे हम कदम पर दूर हट कर।
उठा लाए सरल शिशु वस्त्र-सज्जा,
कि बहनों की हुई निरुपाय लज्जा,
न वे भाई रहे अब, किन्तु बहनें ?
निकल जल से विकल, दिग्वस्त्र पहनें ?
पड़ा ही किन्तु सबको आह, आना,
दिगम्बरि को नयन नभ से मिलाना !
जुड़ाया जी हमारा, बाल हठ था ?
छली अभियुक्त मन या शुद्ध शठ था ?
कि बेढंगा भले नंगा नहाना,
कहाँ था शास्त्र - सम्मत देख पाना—
निरावृत नारियों को ? था बहाना—
अलक्षित अग्नि, इंधन का धुआँना ?"

—वही, पृष्ठ 30-31

उक्त पर्व के निर्वहन काल में कवि निष्ठ अनागतावेक्षण की प्रवृत्ति उजागर हुई है क्योंकि उसने प्रभास-पर्व के उपजीव्य रूप में जिस काल्पनिक-जटिल उत्पाद्य वस्तु का सृजन किया है उसका बीज यहीं छिपा है उसे समझे बिना पल्लवित कथागत 'विवृति' का मर्म समझना मुश्किल है।

आचार्य कुन्तक निरूपित प्रकरणवक्रता के सातवें भेद का चमत्कार कुछ ऐसा ही है, जिसमें किसी रोचक अप्रधान प्रसंग की अवतारणा द्वारा ऐसे रहस्य का उद्घाटन किया जाता है, जिससे आधिकारिक मूल कथा में चमत्कृति उत्पन्न हो जाती है। इसे ही अरस्तू ने 'निवृति' (डिस्क्लोजर या एनेग्नारिस्विस) नाम दिया है।

'प्रधान वस्तुनिष्पत्त्यै वस्त्वन्तर विचित्रता।
यत्रोल्लसति सोल्लेखा सा पराऽप्यस्य वक्रता ॥'[36]

36—वक्रोक्ति जीवितम्, उन्मेष 4, का० 11, पृष्ठ 518

उपर्युक्त कारिका में आचार्य कुन्तक का कथन है कि जहाँ प्रधान वस्तु की सिद्धि के लिए अन्य वस्तु की उल्लेखनीय विचित्रता प्रतीत होती है उसे सोल्लेखा (अर्थात् अभिनवोद्भेदभङ्गी सुभगा) या नूतन चमत्कार के पर्याय रूप में स्वीकारा जाता है। अतः 'राधा' महाकाव्य के प्रभास नामक छठे पर्व में रुक्मिणी, ललिता, यशोदा, रोहिणी, देवकी आदि का प्रभास क्षेत्र में श्रीकृष्ण द्वारा किये जा रहे यज्ञ में अन्तिम मिलन और मूलतः नायक गत श्रीराधा से मिलने की समुत्कण्ठा का विशदविवेचन, जो किसी पौराणिक आख्यान में उपलब्ध नहीं है, का अपने प्रधान उद्देश्य (अर्थात् श्री राधा-माधव के सुमधुर रतिमूलक स्थायीभाव की सिद्धि) की सिद्धि के लिए सुन्दर अप्रधान प्रसंग की उद्भावना के रूप में सुगुम्फित हुआ है, जिसमें कविनिष्ठ अद्भुत कल्पनाशक्ति-प्रधान वस्तुनिष्ठ रसवक्रता के परिपोष में वात्सल्यरस का अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध बोधित करने में सफलता व्यञ्जित कर रही है।

धर्म-क्षेत्र प्रभास में सूर्यग्रहण के अवसर पर द्वारकानाथ श्रीकृष्ण का यज्ञ प्रारम्भ हो गया है। देश-देश के राजा और ऋषि-मुनि आमन्त्रित किये गये हैं, किन्तु व्रज में नन्दराज को इसकी सूचना नहीं दी गयी है। महाकवि ने अपनी पताकानायिका ललिता द्वारा नन्द ग्राम में इसकी मौखिक सूचना प्रत्येक के पास भिजवाकर सबों में श्रीकृष्णानुराग तरंग का संचार करा दिया है। ललिता जब नन्दरानी को यह संदेश देने पहुँची है तब उस समय की स्थिति का मार्मिक चित्रण कवि ने प्रस्तुत किया है, जिसमें यशोदागत भावशबलता की झाँकी उरेही गयी है। सुधीजन उसका रसास्वादन करें—

"मातु यशोमति लपक लिपट ललिता से गईं लपट-सी
बाहें डाल गले में उलझीं डालें पीपल-वट की—
ऊदे-भूरे केश यशोदा के ललिता के काले—
तुलित गगन से होते रंग बदलते बादल वाले।
ग्रीष्म हृदय में, पावस दृग में, मुँह पर शरद सलोनी
हेम-शिशिर निष्पन्न अनागत वासन्ती अनहोनी !
फिर से आँखें भरी, हृदय हरसा, आशा हरिआई,
गह संवाद नहीं, छलना, चलना प्रभास बरियाई।"

वही, प्रभास-पर्व, पृष्ठ 5

इस प्रसंग में एक बात और ध्यातव्य है। श्रीमद्भगवती कथा में वर्णित 'उद्धव ब्रज-गमन-प्रकरण' के—

'गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रोर्नौ प्रीतिमावह।
गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्संदेशैर्विमोचय॥'[37]

तथा—

'अथैकदा द्वारवत्यां वसतो रामकृष्णयोः।
सूर्योपरागः सुमहानासीत् कल्पक्षये यथा॥
तं ज्ञात्वा मनुजा राजन् पुरस्तादेव सर्वतः।
समन्त पञ्चकं क्षेत्रं ययुः श्रेयो विधित्सया॥'[38]

इत्यादि के माध्यम से व्रज में संदेशवाहक के रूप में उद्धव के जाने तथा कुरुक्षेत्र में सूर्यग्रहण के अवसर पर वृष्णिवंशियों और गोप-गोपियों के सम्मेलन की चर्चा प्राप्त है किन्तु राधाकार ने सूर्यग्रहण के अवसर पर प्रभास-क्षेत्र में श्रीकृष्ण के यज्ञ करने की बात बतायी है, जिसमें उनके परिजनों और देश-देश से आमंत्रित राजाओं और महर्षियों के पधारने की बात बतायी गयी है किन्तु, महामना नन्द की मानसिकता यहाँ श्रीमद्भागवत के नन्द से भिन्न प्रतीत हो रही है क्योंकि अनामन्त्रित रूप में वहाँ जाना उनकी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल है।

किन्तु यशोदाजी ने अपने लाड़ले की ओर से वकालत करते हुए नन्दजी को आश्वस्त करने की चेष्टा इन पंक्तियों में की है :—

'होगा फँसा यज्ञ में, कैसे हमें बुलाने आए?
और सुनो, अपना बेटा जब भेजेगा आमन्त्रण,
तब हम जाएँगे? मिट जायगा जग से अपनापन!
यह अपूर्व कल्पना तुम्हारी, भावशून्य-सी भाषा
निरवधि आशा की सीमा, निर्मूल क्षुद्र अभिलाषा!

× × ×

37—श्रीमद्भागवत, स्कन्ध 10, अध्याय 46, श्लोक 3
38—वही, अध्याय 82, श्लोक 1-2

क्षमा दया, जो उचित, करो, बेटे ने की लरिकाई,
परछाईं-सी क्षमा तुम्हारी, दया तुम्हारी माई !
बहुत प्रयत्न किए, बदला संस्कार नहीं अगजग का
क्षितिज दिखाए, पग आँके, बाँकापन गया न मग का ?
सुना हुआ विक्षुब्ध बहुत है, खो सन्तुलन दिया है,
पहुँचूँ तो पूछूँ, बेटे बाना क्या बना लिया है ?

जग बदले मत बदले तुमने अपना काम किया है,
बाद राम के फिर अनाम को अपना नाम दिया है !
त्याग आग में सीता को ढाली जो कञ्चन काया
उसे बिठा कर लोक नयन में उसने यज्ञ कराया !

तुम भी क्या कम, अपनी वृन्दा का शुचि प्रेम जलाया,
धुआँ-धुआँ कर भूमि-व्योम को यज्ञ-केतु फहराया !
कुछ भी हो संवाद मिला तो बरबस आना ही था,
व्याह रचाए, नहीं बुलाया, जबकि बुलाना ही था !
क्या है मन में, छन न सकेगा मेरे सम्मुख मुख से,
नटखट तुम सब दिन रहस्यमय रहे कटे सुख-दुख से !
मैं यह सब मुँह खोल कहूँगी, अपने कानों सुनना,
दोष उगल दूँगी सरोष-सी फिर होगा गुन गुनना !

× × ×

क्या न कहूँगी ? देह झाड़ कर पहले तुम उठ जाओ,
जो भी जाना चाह रहे हों सब को यहाँ बुलाओ !
एक साथ निकले घर-घर से दूध-दही के मटके
माखन-मिसरी मैं ले जाऊँगी न कभी कुछ खटके !
जो खाता था यहाँ चुराकर, आज बाँट कर खाए
तुम से ढीठ पूछ बैठेगा : आप नहीं कुछ लाए ?

—वही, पृष्ठ 11-12

उपर्युक्त पंक्तियों में यशोदा की श्रीकृष्ण के प्रति वात्सल्यगर्भित प्रेमिल उपालम्भ-भरी बातें प्रस्फुटित हुई हैं तथा श्रीकृष्ण का माखनचोर रूप उनकी आँखों में तिर गया, जो वात्सल्य का विभावन तत्त्व बतलाया गया है, किन्तु उनकी उमंग-तरंग पर नन्द नहीं रीझ पाये बल्कि कड़े शब्दों में प्रतिवाद करते हुए उनकी वत्सलता पर कुठाराघात करते प्रतीत हो रहे हैं। उसे इन पंक्तियों में परखें :—

"मैं न जन्मदाता हूँ उसका, नहीं कर्म का दाता,
जान बूझ सब किन्तु मानतीं तुम अपने को माता !
ममता पहन ओढ़कर समता ! बिना बुलाए जाओ
खारे आंसू लुटा, मधुर सपने बटोर कर लाओ !
लिथड़े पाँव कहीं कीचड़ में मुसकानों से धोना,
उँगली उठे किसी की, कहना कोई शब्द सलोना !
पूछे मेरे लिए बताना उन्हें नीन्द आती थी,
सिरहाने चढ़ सोनचिरैया जाने क्या गाती थी !
बँसवट धुआँ रहा है, वंशी आग उगलती उर की,
मुँह सूखा, आँखें अँसुआईं, सुरति तुम्हारे सुर की !"

—वही, पृष्ठ 13

नन्द के ये वचन यशोदा को कर्ण कटु प्रतीत हुए और उन्होंने उनके प्रतिकार में जिन भावों का अभिव्यञ्जन किया है उन्हें आँकते हुए आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने क्या ही यथार्थ इन शब्दों में प्रकटाया है :—

'बनती बात बिगाड़ रहे हो, बोली जसुमति रानी,
कान बन्द कर, जीभ काट ली : क्या निकालते वाणी !
ये अनबोले बोल लाल मेरा क्या सुन सकता है,
जीवन रण में नहीं जानता हार नहीं थकता है !
ठिठके पाँव रहेंगे, अकड़े हाथ, एकटक आँखें—
लिए हथेली पर गोवर्धन के उग आएँ पाँखें !
आकांक्षा बन गई चुनौती, अपना निर्णय क्या हो,
सोना ही सोना निकलेगा जितना अन्तर दाहो !

ललक झलक पाने की अन्तिम, झिलमिल करती बाती,
आमन्त्रण मुझको देता, मेरी फट जाती छाती !"

—वही, पृष्ठ-13

उपर्युक्त पङ्क्तियों में श्रीयशोदा की वचनावली में वर्णित श्रीकृष्ण का गोवर्धन-धारण उद्दीपन विभाव तथा मिलनौत्सुक्य और विलाप अनुभाव के रूप में सुचित्रित हुए हैं, जो उनके वात्सल्य के परिपोष में अपना चमत्कार विखेर रहे हैं। उस वृद्धा में तो बस उनकी झलक पाने की अन्तिम लालसा स्नेहसिक्त वर्तिका की तरह झिलमिलाहट विखेर रही थी। अत: नन्दजी ने उसे जाने का आश्वासन देते हुए कहा कि 'जाओ, पूर्णाहुति से पूर्व पहुँच कर अपनी यात्रा सुफल बनाओ तत्पश्चात् गोप-गोपियों से घिरीं नन्दरानी कुछ दूर-तक मुड़-मुड़ कर उन्हें देखती रहीं क्योंकि, उन्हें विश्वास था कि वे हठ त्याग कर मुझे पुकारते जरूर आयेंगे और अपने जीवन साथी होने का आखिरी विश्वास परिपुष्ट करेंगे, किन्तु ऐसा नहीं हुआ। इधर श्रीकृष्ण-भावनामृत में निमग्न गोपियों के लिए उनके आराध्य का जो उद्दीपक रूप उनकी आँखों में रसा-बसा था उसे भी पाठकों को स्मृत कराता चलूँ तो कोई अप्रासंगिक नहीं होगा। अब कविकृत इन पंक्तियों पर अवधान केन्द्रित करें—

"इधर ग्वालिनें आँखों के अञ्जलिपुट से वह शोभा—
खिले कमल की, पीने को आतुर थीं उत्कट-लोभा !
कभी रेशमी श्यामल कुन्तल, कभी कनक पीताम्बर—
मोर-मुकुट, मकराकृति-कुण्डल दिन में पर्व निशाकर !
आते याद, विषाद न उड़ पाने का हुआ घना था,
द्रुततर गामी मन के रथ का पथ पूछना मना था !"

—वही, पृष्ठ-14

उपर्युक्त वचनावली में वर्णित श्रीकृष्ण की रेशमी श्यामल अलकें, कनकाभ पीताम्बर, मोर-मुकुट, मकराकृतिक कुण्डल तथा पूर्णचन्द्र की सोलहों कलाओं-सी अलौकिक कान्ति उद्दीपन विभाव रूप में चर्चित हैं तथा स्मृति और मिलन के आतुरताजन्य विषाद-आदि अनुभाव सुचित्रित हुए हैं।

आगे के प्रसंगों में कई स्थलों पर माता यशोदा, जो निरन्तर श्रीकृष्ण के बाल-चरितों का स्मरण कर तदनुसार विदिध्यासन की अभ्यासिनी होने के

कारण कृष्णमयी हो गयी थीं, प्रकृत ग्रन्थ में उनके कई रूपों का स्मरण कर प्रेमाश्रु बहातीं वर्णित हैं। सात दिनों में उनकी टोली प्रभास पहुँचती है जब कि साधुओं को पहुँचने में पन्द्रह दिनों तक रास्ते की धूल फांकनी पड़ी है। एक स्थल पर उन्हें श्रीकृष्ण के ऊखलबन्धनवाला दृश्य स्मृत हो जाता है और उनकी आँखें छलक पड़ती हैं, छाती धड़कने लगी है। श्रीकृष्ण चिन्तन में निमग्नता के कारण वे संगी-साथियों से कुछ पीछे छूट चुकी हैं। अतः अपने को असहाय समझ रही हैं। अपने इस चौथेपन में कृष्ण दर्शन और उन्हें अपना दुखड़ा सुनाकर उनके सुमधुर बोल सुनने की उत्कट अभिलाषा संजोये वे एकान्त पथ पर अग्रसर होती चित्रित हुई हैं :—

'ज्यों-ज्यों नियराता प्रभास है लगी धड़कने छाती,
दुरे सन्त पथ पर न दीखता कोई संग सँघाती !
आँखें छलक उठीं जसुमति की : था ऊखल में बाँधा,
ललिता लची : फांस फुसला कर दिखलाई थी राधा !
अलख अदेखे को देखेंगे लड़के लड़के आगे
रैता, पैता, मना, मनसुखा, अब बूढ़े बड़ भागे।
चला चली के बेर हेर लेंगे कान्हा का मुखड़ा
कन्धे पर कर रखबतिआएंगे कि सुनेंगे दुखड़ा.......।

—वही, पृष्ठ-24-25

साधुओं की टोली में जब माँ यशोदा को एक सन्त के मुख से भावी सूर्य-ग्रहण की भीषणता और महोत्पातकारी होने की बात सुनने को मिली तब वह भावी जन-विध्वंस से त्रस्त हो उठी हैं और उन्हें यह चिन्ता सताने लगी है कि सूर्यग्रहण में मेरे साथ कौन तीर्थक्षेत्र में रहेगा ? मैं अकेली इस अश्रुतपूर्व भीड़ में कैसे नित्य-नैमित्तिक कृत्यों को सम्पन्न कर सकूँगी किन्तु ललिता के हास-परिहास भरे शब्दों द्वारा उनकी कृष्णचिन्तन शृंखला में भग्नता दिखलायी गयी है परन्तु पुनः

'सँवरेंगे सब काम, श्याम का नाम सकल मुदमङ्गल
उरके तार सजें सब सुर के हर पग हरें अमङ्गल !

—वही, पृष्ठ-23

इस बद्धमूल धारणा ने उन्हें कृष्णचिन्तन रूप भद्रकर्म में तुरन्त संलग्न कर दिया है और वे अपने को वहाँ पहुँचाने में समर्थ हो पाई हैं जहाँ श्रीकृष्ण की

यज्ञशाला बनी है। स्वाहाकार शब्दों के तुमुलनाद से दिशाएँ गूँज रही हैं। हव्यगन्ध से प्रकृति महमहा गयी है किन्तु यज्ञरक्षक प्रबल प्रहरियों द्वारा उस जनसम्मर्द में ब्रजवासीटोली यह कह कर रोक दी जाती है कि तुम्हें प्रभु से मिलने की क्या जरूरत है? वे बारह घंटों से हवनासन पर डटे हैं, वहाँ से हिल नहीं सकते। स्वाहा-स्वाहा की रट लगी है। ऋत्विक और पुरोहित उन्हें घेरे बैठे हैं। उनके शरीर में जकड़न हो रही है, मुख म्लान हो गया है तथा रूपमाधुर्य जलधि शुष्कप्राय और शरीर संतप्त हो रहा है। तुम्हें क्या काम है? अपना नाम बताओ तथा तुम्हारा उनसे क्या सम्बन्ध है? इत्यादि प्रश्नों के साथ-साथ प्रभु से मिलने की असमर्थता दिखलायी जा रही है। किन्तु, माता यशोदा ने पलभर के लिए अपने घुटनों के बल चल कर श्रीकृष्ण के बालरूप का अनुगमन किया है। उन्हें गोपाल लाल की मणि-मञ्जीर रसाल चाल की स्मृति हो आयी है। अतः ओठों के भीतर से ठुनक कर कुँवर कन्हाई की सुमधुर टेर लगा देती है। परिणाम क्या हुआ, इसे इन शब्दावलियों में ढूँढ़ें —

व्यथित एक मर्मान्तक-सा स्वर द्वार तोड़कर आया
किन्हीं पराजित आँखों की झलकी ज्यों हलकी छाया —
एक मरोर प्रार्थना का स्वर भेद व्यग्र विह्वल-सी
नाता वातावरण का न मानती, उर्मिउच्छल-सी!
वाष्पविवर्ण नयन से फूटी म्लान मलिन मर्माहत,
विवश विरक्ति उचाट उदासी अवहेला अव्याहत!
आँधी अट्टहास की क्रन्दन बन होती उद्भ्रान्त
उठी हृदय में याज्ञिक के, श्लथ दक्षिण कर विक्रान्त!
हिला शिला प्राचीर पुरातन झोंका नया सुवासित,
कोख दुख रही दुखियारी की, आया बना सुभाषित!
डूबा दिन फैले कामों में जीवन हुआ पुराना,
संध्या हुई रात जाती है कितने दुरित दुराना!
सूखी तपती आँखों के ओ शाद्वल तल-शैवाल
कहाँ छिपे हो गहन शून्य में, उगो बाल गोपाल?
माँ हो कहाँ? पुकारा औचक तुमने मुझे कहाँ से?
हुआ विलम्ब अम्ब आने में देते थे सब झांसे।

× × ×

अस्त-व्यस्त केशों को झटका, पोंछे नयन विवर्ण
छूटी स्रुवा हाथ से, माथे से चूता द्रव स्वर्ण !
झड़ी बाँधकर स्वेद बरसता, कृष्ण मेघ से शीतल
मृत विरक्ति से चुआ अमृत आसन से उठे पिघल गल !'

वही, पृष्ठ-29-30

उपर्युक्त संदर्भ में माँ यशोदा की वत्सलता प्रकर्ष प्राप्त कर गयी है। वे अपनी रागानुगा भक्ति द्वारा श्रीकृष्णमयी बन गयी हैं। उनकी स्निग्ध-मधुर आवाज से श्रीकृष्ण में रोमाञ्च, धड़कन, उन्मनीभाव, प्रेमाश्रु, स्रुवापात रूप अकर्मण्यता, स्वेद तथा मिलन की उत्सुकता-आदि अनुभाव प्रस्फुटित हुए हैं। इतना ही नहीं, यज्ञशाला में प्रशान्त भाव से बैठे ऋत्विजों में चिन्ता और चाञ्चल्य (उद्विग्नता), पुरोहित का चिन्तित होना तथा आहूत प्राणवान् अग्नि का हठात् ठंढ़ा पड़ जाना, उसकी अर्चियों में मात्र झिलमिलाहट की प्रतीति तथा स्वयं श्रीकृष्ण का चित्रवत् निश्चेष्ट रूप में देखा जाना वर्णित है, जो श्री यशोदागत वात्सल्य के परिपोषक अनुभाव के अभिव्यञ्जक हैं। अलक्ष्य श्रीकृष्ण में इन अनुभावों को लक्षित कराने के बाद यशोदा से श्रीकृष्ण का मिलन कराकर कवि ने दोनों के परितापों के भञ्जन में लोकधर्मिता और नाट्यधर्मिता का मर्यादित और परमोज्ज्वल रूप उरेह कर प्रबन्धगत नाटकीय शैली में वैचित्र्य का संधान किया है। अतः "लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोक स्वभावजम्। तस्मान्नाट्य प्रयोगे तु प्रमाणं लोक इज्यते॥ नाना शीलाः प्रकृतयः शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम्। तस्माल्लोक प्रमाणं हि कर्त्तव्यं नाट्-योक्तृभिः॥" वाली अवधारणा का निर्वाह राधाकार ने प्राणपण से किया है नहीं तो इसका उद्दामरूप पाठकों के समक्ष अपना माधुर्य विकीर्ण नहीं करता।

नाट्याचार्य भरत ने 'अदेशजो हि वषस्तु न शोभां जनयिष्यति' के कथनमात्र से कवियों के बीच जिस लोकधर्मिता की बात प्रकटायी थी उसके औचित्य का निर्वाह शास्त्रीजी के इस प्रयोग में देखें—

"झुण्ड - झुण्ड व्रजवासी लेकर दूध-दही के मटके
नंगे पाँव, लपेटे पगड़ी, खड़े भीड़ से हट के !

× × ×

ब्रजवासी इतने आनन्दी कान्तिमान हैं ऐसे ?
धन इनका संतोष, स्वच्छ मन, तुम्हें बताऊँ कैसे ?
है आनन्द स्वरूप हमारा, दधि मथ माखन पाया,
नित्य विवेक अमृत पीता जो, उसे न डँसती माया !
ललिता ने हँस कहा, वही अपने प्यारे ईश्वर हैं,
ध्यानातीत न ज्ञान हमारा, हम गाते वह स्वर हैं !"

—वही, पृष्ठ 28-29

प्रकृत अंश द्वारा नन्द गाँव के निवासियों की ग्रामीण वेषभूषा, वाचिक मधुरता, आनन्दमग्नता, सगुणोपासना में निष्ठा, निश्छलता, आत्मतोष की भावना, अतल की गम्भीरता तथा व्रजवासिनियों में सरलता, कृष्णार्चन की तृष्णा तथा उनकी तदाकारता आदि नैसर्गिक गुणों का समुज्ज्वल वर्णन लोक-धर्म के परिज्ञान में अपना चमत्कार बिखेर रहा है।

इसके बाद वाले प्रकरण में माता यशोदा और देवकीजी का मिलन-प्रसंग वर्णित है तथा ललिता, रुक्मिणी, सत्यभामा और जाम्बवती के मिलन प्रसंग में श्रीकृष्ण के विरह में उनकी सखियों की दुर्दशा तथा गोवंश के अकाल काल कलवित होने की बात नाम निर्देशपूर्वक श्रीललिता मुखेन वर्णित है जिससे गोपाललाल से उन गो-बछड़ुओं की नैसर्गिक प्रीति ही पशुपति कल्प आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के गो-प्रेम को मूर्त्त रूप देने मे समर्थ हुआ है। इन थोड़े शब्दों में इन्हें थाहें :—

(क) मिली देवकी हुलस यशोदा से उछाल कर बाँहें,
एक लक्ष्य पर पहुँच गई हों ज्यों दो बिछुड़ी राहें।
हरि का बचपन एक संजोए, एक समेटे जीवन,
मरण-सिन्धु के तट पर फैले संस्मरणों के घन वन !
दो विपरीत दिशाओं से आ दो मन मिले पुरातन,
कहीं फुहार न बादल-बिजली, दोनों सूखे सावन !
जकड़ रखा था जबड़ों ने, थे शब्द न सहज खिसकते !"

(ख) ललिता के अनमोल बोल सुन जाम्बवती मुसकाई,
निकल रुक्मिणी और सत्यभामा भीतर से आई !

बाल सखा थे कृष्ण हमारे अब तो वय पौढ़ाई
तरुण अरुण देखा सबने हमने देखी लरिकाई !

× × ×

दूर नहीं थी मथुरा-नगरी लौटे पर न कन्हैया,
समझ गए हम मध्य धार में डूब गई अब नैया !
सूर्यसुता में वाष्पदाह, कीचड़ से भरे किनारे
चाँद न रहा शरतपूनम का टिमटिम करते तारे !
गोकुल से गोपाल गए गौओं की दशा न देखी,
झुरे बारहो वन, मुरझे मन, सूखी दूब न लेखी !
हुम्बारव से जीवन की नीरवता भर लेती थीं
दुग्ध-धार कर क्षार अश्रु झर-झर-झर-झर लेती थीं !

× × ×

वायु बहा ले जाती, बौराई सुधि फिर-फिर आती
दिन चढ़ता संध्या झुकती, बदली अम्बर भर छाती !
रुकी-थकी गायों का अन्तर उफनाया धीरज खो,
सन्नाटे में स्वर गूँजा कृष्णा का, सारा व्रज रो—
पड़ा, कृष्ण ने रूप देखकर अपना नाम दिया था,
कामधेनु ही ढही प्रथम, सुरपुर का काम किया था !
तरी सुजाता मरे वत्स विधुशेखर और अनामा,
कुछ दिन चढ़ते-चढ़ते औ, कुछ ढलते-ढलते यामा—
गिरे कुसुम्भी-कार्तिकेय, कुङ्कुम-वासन्ती सोई
बछड़े के पीछे इरावती, शिप्रा झर-झर रोई !
सब सूधे अनबोले भोले, बाँके कुँवर कन्हाई
गो-बछड़ों की शेष श्वास-ध्वनि इन तक पहुँच न पाई !

× × ×

फिर क्या हुआ ? मरण मन-भाया पाया मङ्गलकारी
दुखविछोह का सहना क्या, जब मरण-शरण बलिहारी !
लेखा करता कौन ? निहोरा भी करता तो कैसे ?
ठाने बैठा हो मरने को सारा गो-ब्रज जैसे !

× × ×

निरुद्देश्य क्या जीना-मरना गिन-गिन कर निःश्वास ?
त्याग गया गोपाल, करें किस दूजे पर विश्वास !
रजत-जयन्ती मञ्जु-मञ्जरी सुधा-माधुरी गिन्नी
कजली-राजकुमार पाटला पुरवी, विजया मिन्नी !
ऋचा, कुन्द, मुचकुन्द गए सब ....

× × ×

घूँघरवाले सिर, औ' दूध-दँतुलियों वाला मुखड़ा
देख-देख गाएँ जीती थीं, अनदेखे चित उखड़ा
बाँह उठाकर, कजरी-धौली को थे टेर बुलाते
घाम-भूख लगती न उन्हें थी, बछड़े गोद सुलाते
साँझ ढल गोरज लिपटाए, सुबल-सुदामा भागे
मोर-मुकुट मणि-कुण्डल-किरणें छिटकीं आगे-आगे !
बछड़ों की सुधि दूध चुआती, रह-रह धेनु रँभाती
ग्वाल-बाल की मुदित मण्डली चली नाचती गाती !"

प्रकृत 'क' संज्ञक उदाहरण वाक्यों में माता यशोदा और देवकीगत मिलनजन्य हर्ष, विस्मय और जड़ता रूप संचारी तथा पारस्परिक क्षेम-कुशल पूछने में वाचिक कौण्ठ्य रूप स्वात्विक का स्फोटन हो रहा है तथा 'ख' संज्ञक उदाहृत वाक्यों में पशुओं और पशुपालक व्रजवासियों में श्रीकृष्ण विरह की पराकाष्ठा दिखायी गयी है, जिससे उसकी अन्तिम दशा मरण (प्रलय) का स्फोटन हो रहा है।

इसी तरह प्रभास-पर्व के अन्त में रुक्मिणी और ललिता का संवाद वर्णित है जिसमें महारानी रुक्मिणी ने तीक्ष्ण व्यंग्य बाणों द्वारा ललिता से श्रीराधा के

प्रभास न आने की बात कह कर उसकी जैसी छवि उकेरी है उससे उनकी दृष्टि में श्रीराधा एक सामान्य प्रेमिका के शिवा और कुछ नहीं है तथा उसका उनके द्वारा स्मृत किया जाना भी उसके उपहास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है तथा ललिता द्वारा उसके प्रत्युत्तर रूप में नायिका के प्रति जैसा याथार्थ्य प्रकटाया गया है उसमे कविनिष्ठ अलौकिक प्रतिभा प्रबन्धगत चमत्कार विकीर्ण कराने में समर्थ हुई है। उसे इन पंक्तियों में परखें :—

'छेड़ रही थी उधर रुक्मिणी ललिता को बहु बार
अब कब भेंट भला होगी, यह रह जाए न उधार !

× × ×

धूसर धूल शुष्क ऊसर धरती की कितनी फाँकी
सीधी हुई कभी न बालपन से नव चितवन बाँकी
गूँज रहा जिसका नूपुर-सुर मलय पवन के स्वन में
जिसका मौन बिखरता तन्द्रिल तारों के कम्पन में
नभ से ऊँची सागर से गहरी जिसकी अनुभूति
निर्जन वन की स्तब्ध किरण-सी करुण मनोज्ञ विभूति
उस राधा की बात बताए बिना चल पड़ी कैसे ?
हम सब प्यासे मर जाएँगे थमी रस - झड़ी जैसे !

जय गणेश देवा, सेवा - फल मेवा - मोदक तेरा,
रक्षा कर, रानी रुक्मिनी ने वक्र दृष्टि से हेरा !
मुसकाई ललिता : दैया रे ! उधर किधर मुँह फेरा
बोल अमोल खोल मुँह बोलो; ऊपर से क्या हेरा ?
बिगड़ रहीं क्यों ? क्रोध हुआ ? मेरा अपराध बताओ !
स्वस्थ नहीं, कुम्हलाई-सी हो, सुरुचि सुगंध बहाओ !
व्यंग्य वाण छोड़े कितने ! राधा दबंग क्या ऐसी ?
जाए भाग त्याग गृह, राधा की उमंग क्या ऐसी ?
राधा के रँग रँगा विरज है, रंग न चढ़ता दूजा,
अर्चन-आराधन क्या करती निराकार की पूजा।'

छाँह वृक्ष की बाँह लता की - अब गिरि - वन अपने हैं
हर्म्य और प्रासाद खुली आँखों के सब सपने हैं!
झलक निकाल एक झटके में आँखें और न झपकीं
तलवों से आँखें मलने पर भी न वृत्तियाँ लपकीं
फूलों-लदी डालियाँ, तारों-भरे गगन के कोने
अपलक कोई झलक देखती देती उसे न सोने!

माँ को आना था, हम सब तो संग-साथ हैं आए,
बालापन के खेल-खिलौने टूट-फूट छितराए!
'कबहुं न होत नियार' विरज से बहुरे रज में राधा?
पूर्णकाम का कौन मनोरथ रहा अधूरा आधा?
राधा जन-मन की सम्राज्ञी, तुम राजा की रानी!
राधा झूठा सत्य नहीं है, राधा सत्य कहानी!"

वही, पृष्ठ-54-55

प्रकृत अंश में वाक्य वक्रता से परिपुष्ट प्रकरण वक्रता का मनोहारी रूप उकेरा गया है जिसमें ललितामुखेन श्रीराधानिष्ठ सुमर्यादा, धैर्यशालिता, गोकुल प्रेमवसतित्व, अलौकिक गाम्भीर्य महाभाव परमोत्कर्षतर्षिता, अन्तर्दृष्टि सम्पन्नता आदि गुणों के साथ-साथ यह प्रकटाया गया है कि श्रीराधा की रागानुगा भक्ति अब रजोगुणी नहीं रह गयी है क्योंकि उसकी चित्तवृत्तियाँ शुद्ध सतोगुणी हो गयी हैं। अतः वह विरजचित्तवृत्तिवाली अब रजोगुण का आश्रयण नहीं ले सकती और तुम्हारे पति श्रीकृष्ण क्या पूर्णकाम हैं कि उनके सारे मनोरथ पूर्ण हो चुके हैं? अर्थात् वे अभी अतृप्त काम हैं तुम्हें यह पता नहीं है। तुम द्वारकाधीश श्रीकृष्ण की पटरानी हो सकती हो किन्तु श्रीराधा तो जन-मन की सम्राज्ञी हैं। अतः तुम्हारी तरह रजोगुण में लिप्त चित्तवृत्तिवाली स्त्रियाँ मेरी राधा सखी का उपहास कर सकती हैं क्या? न तो श्रीराधा का अलौकिक प्रेम झूठा है और न उसकी प्रेम-कथा ही झूठी है।

राधा-काव्य की ललिता केवल पताका-कथा की नायिका ही नहीं है वह श्रीराधा की परमश्रेष्ठ सखी भी है। अतः राधा-कृष्ण को पूर्णतः समझने की शक्ति उसी में निहित है। उसने उपर्युक्त प्रकरण में श्रीकृष्ण को जैसा समझा

है ठीक वैसा ही आचार्य श्री ने प्रभासपर्व के निर्वहणकाल में स्वयं श्रीकृष्ण-मुखेन श्री राधाप्रीति के प्रति उनकी अतृप्तता का अन्वाख्यान कराया है, जिससे 'राधा' के महाकाव्यत्व में अतिसत्यता का आधान हुआ है। पाठकों के हृदया-वर्जन हेतु उसे यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

'है अस्तित्व हमारा बाहर गिरि-शिखरों-तक फैला
जिससे अनस्तित्व का गहरा सागर दिखता मैला !

× × ×

मैं जीवन में नवरस भरने के कुचक्र में सूखा,
सुजल-सुफल जग को करने के क्रम में प्यासा, भूखा !
मन्त्र उचारूँगा निर्जन में शान्ति तन्त्र ढूँढूँगा,,
एक जन्म पर्याप्त नहीं ? फिर कर प्रयास आऊँगा,
बहती हैं रेखामय स्मृतियाँ, मेरे नयन भरे हैं,
पत्थर-सा जम रहा अँधेरा, राधा-स्वप्न हरे हैं !
बेंच बाँसुरी मैं ने था क्या पाञ्चजन्य को पाया ?
स्पर्श गुनगुने शीतल विरस त्वचा को पुलकाते हैं,
क्या पाया, सिहरन-क्षण कर आभार प्रकट जाते हैं !'

—वही, पृष्ठ 62-63

उपर्युक्त वचनावली में वर्णित श्रीकृष्ण अपनी ह्लादिनीशक्ति श्रीराधा के मधुर-प्रेम के प्रति अपनी अतृप्तता का अन्वाख्यान करते हुए यह जताते वर्णित हैं कि अपनी ह्लादिनी शक्ति श्रीराधा से जीवनभर कटे रहने के कारण मैं अपने आत्मिक सन्दर्भ को वाह्यप्रकृति से पूर्णतः जोड़ न सका परिणाम यह हुआ कि महाभारत की लड़ाई के साथ-साथ यदुवंशियों की विनाशकारी लीला भी मुझे देखनी पड़ी। पाञ्चजन्य का उद्घोष प्रकृति को पुरुषार्थ के प्रति पूर्णतः जागरूक नहीं कर सका ! अतः प्रेमोत्पादिका वंशी की उपादेयता इससे अत्यधिक है। प्रेममूलक पुरुषार्थ के अवलम्बन से ही जीवन को सुखमय और सार्थक बनाया जा सकता है इसलिए कर्म से प्रेम की महत्ता अधिक है। इस तरह पुरुषार्थ-पर्व में प्रेम और पुरुषार्थ के अन्तर्द्वन्द्व में पड़ा नायक यहाँ (प्रभास-पर्व में) इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि अपने इस गुरुतर

कार्य की सिद्धि के लिए मेरा एक जन्मधारण करना पर्याप्त नहीं है इसलिए पुनः अपने प्रादुर्भाव के लिए प्रयत्नशील रहूँगा तभी तपस्या द्वारा इसे प्राप्त कर सकूँगा और अपने लक्ष्य की पूर्ति में समर्थ हूँगा। अतः यहाँ श्रीकृष्णनिष्ठ पुनर्जन्म की अवधारणा परिपुष्ट हुई है तथा अपने पुरुषार्थ पूर्णता के प्रति ललक का अभिव्यञ्जन हो रहा है।

'राधा' महाकाव्य की भाषा भावानुसारिणी तथा भाव भाषानुगामी हैं। अतः इसकी प्रबन्धात्मक शैली की विलक्षणता पदे-पदे अपनी अधिरूढ़ता प्राप्त करती गयी है। प्रभास पर्व की पूर्ति में आचार्य श्री को अधिकाधिक विघ्नों का सामना करना पड़ा है। अतः इसके समापन के सम्बन्ध में उन्होंने निम्न-लिखित श्लोक के माध्यम से यह जताया है कि इसकी रचना में बाधाएँ जिस रास्ते आती रहीं उसी मार्ग से उन्हें उल्टे पाँव लौटना पड़ा क्योंकि श्रीराधा के दृष्टिपात से सारे अमङ्गल नष्ट होते रहे और इस पर्व का लेखन सम्भव हो सका—

"बाध्यमानाः प्रयत्नेनान्तरायाः राधिकादृशा,
पथा येन समाजग्मुः पथा तेनैव दुद्रुवुः ॥'

प्रणय की अधिरूढ़ता उत्सर्ग में निहित है क्योंकि प्रणय बलिदानेच्छुक है। भारतीय परम्परा में प्रेम के इस रूप को पूर्णप्रतिष्ठा मिली है। अतः राधा-कार ने इसकी महत्ता प्रतिपादित करते हुए इसकी परम्परा का सम्यक् निर्वाह भी श्रीराधाकृष्ण के प्रणय-प्रसङ्ग की चरमोत्कर्षता में युक्ति-संगत माना है। इनके प्रबन्ध काव्य में इसका पारम्परिक इतिवृत्त त्रेतायुगीन श्रीसीता के पाताल प्रवेश से समृत होकर प्रेमयोगिनी श्रीराधा के प्राणोत्सर्ग की अक्षुण्णता में समाहित है, किन्तु दोनों के उत्सर्ग में मौलिक भिन्नता निरूपित हुई है। सीता में वैयक्तिक स्वार्थमूलक उत्सर्ग तथा रासेश्वरी राधागत सर्वजन हिताय प्राणोत्सर्ग की नैष्ठिक वासना निहित है तभी तो श्रीराधायूथ की सखियाँ अगले जन्म में भी श्रीराधा के साथ प्रादुर्भूत होने की समुत्कण्ठावाली वर्णित हैं, जिन्हें निम्नलिखित उदाहरणों द्वारा हृदयंगम कराया गया है —

(क) उत्सर्ग प्रणय का अर्थ हुआ
सीता संग जब पाताल धँसा
इस बार फँसा व्रज दलदल में
लख ऊपर से आकाश हँसा !

'सीता थी व्यष्टि, समष्टि विरज,
सम्मिलित यहाँ आकांक्षाएँ
तुम समझ न पाए मर्म मौन
क्या ध्वनि प्रतिध्वनियाँ बतलाएँ !'

(ख) 'राधा समष्टि संवेदन की,
उज्ज्वलता शुद्ध प्रणय की है
उपलब्धि युद्ध की नश्वरता
स्थिरता वह आत्मविजय की है !'

—उत्सर्ग-पर्व

(ग) 'जन्म यदि फिर हों हमारे
बस कि तेरे साथ
हम बिकीं निःशुल्क हैं
राधा सखी के हाथ !
कौन इस संसार में
तेरा न जाने नाम
नील-हरित स्वयं जहाँ हों
हुए श्यामा-श्याम !'

—दर्शन-पर्व, पृष्ठ 147

प्रकृत पर्व में श्रीराधा का स्वगत कथन निम्नलिखित पदावलियों में वर्णित है, जिसमें उसने अपने जीवन का यथार्थ उड़ेल कर रख दिया है, जिससे उसके भोलेपन का मार्मिक चित्र अंकित हो पाया है। सहृदय जन उसका रसपान करें—

"तुम चले गए'—अब एक यही—
स्वर गूँज रहा उखड़ी लय में,
उपहार प्यार का यह कैसा ?
क्या हार तुम्हारी इस जय में ?

घर-घर होली की धूम मची,
घर एक किसी का जला, जला;
तुम मिले विश्व से गले-गले
यदि एक किसी को छला-छला !

दुख मुझे यही होता रह - रह,
हूँगी जब आती याद कभी—
धुँधले - धुँधले दिखते होंगे
विस्मृत व्यतीत के चित्र सभी !

माँ से करते होंगे न व्याज,
आँखें आती होंगी भर-भर;
बचपन की सोची छलनाएँ
ठग देती होंगी अवसर पर !

चिन्ता करने लगते होंगे :
जाने कैसे रहती होगी
पतवार-हीन वह तरणि दीन
उथले - गहरे बहती होगी ?

मेरी भी तो है यही दशा
घुट-घुट कर हूँ जीती जाती
फटने - फटने करता अन्तर
फिर भी हूँ मुँह सीती जाती !

बस यही सोचती रहती हूँ
ऐसी क्या मुझसे चूक हुई
जो त्रिभुवन का मन मोह आह !
मोहन की मुरली मूक हुई !

क्या ऐसा अवसर आएगा—
अपनी आँखों से मेरा दुख
तुम देखोगे, मैं देखूँगी सोच्छ्वास
उदास तुम्हारा मुख !"

—उत्सर्ग-पर्व

उपर्युक्त प्रकरण में श्री राधानिष्ठ श्रीकृष्णचिन्तन की एकतानता, विवशताजन्य घुटन, अपने दुःखों की अभिव्यक्ति में वाचिक-कौण्ठ्य, प्रियतम के प्रति हुए अपने अज्ञानजन्य अपराध की आशंका, मोहन की सम्मोहिनी मुरली की निस्तब्धता में अपने अलक्ष्य अपराधों को कारण मानकर विषण्ण होना तथा पारस्परिक दुख-दर्दों के अनुभावक क्षणों की उपलब्धि की प्रतीक्षा-मूलक समुत्कण्ठा वर्णित है तथा राधाभाव में डूबे श्रीकृष्ण में चिन्ता, अश्रु, विषाद आदि के अनुभावक चित्र अंकित हुए हैं।

उत्सर्ग-पर्व में एक स्थल पर 'राधा-यशोदा-संवाद' वर्णित है जिसमें तपस्विनी श्रीराधा ने कुछ ऐसे तथ्यों को उजागर किया है जिससे तद्निष्ठ आत्मतोष, अतल की गम्भीरता, अलौकिक ज्ञानशालिता, यशोदानन्दन के राजेश्वर होने की कामना तथा अपने आपको उन्हीं की याद में विलख कर वृन्दावन की नीरवता में विलीन कर पाने की निष्ठा व्यक्त हुई है और उत्तरोत्तर नारियाँ प्रगति पथ पर बढ़ती रहेंगी। इतिहास में उनकी कहानी नये रूप में चित्रित होगी, मातृत्व का अपमान किसी भी हालत में नहीं होगा आदि भावनाएं अभिव्यक्त हुई हैं तथा श्रीयशोदामुखेन भारतीय देव पत्नियों और तपस्विनियों में श्रीराधा की सर्वश्रेष्ठता का अन्वाख्यान कराकर आचार्य श्री ने अपनी अधिष्ठात्री के प्रति सर्वोच्चनिष्ठा दिखलायी है।

आद्य कवि वाल्मीकि के आर्षकाव्य की तरह ऋषिकल्प आचार्य जानकी-वल्लभ शास्त्री का राधा-काव्य भी त्रासदी का परमोज्ज्वल उदाहरण है। इसमें श्रीकृष्ण सखा उद्धव द्वारा श्रीराधा को निम्नलिखित संदेश सुनवाया गया है :—

'संदेश कि हरि ने ली समाधि
सो गए योग की निद्रा में,
शर से छकर निर्जर पद-तल
चुप जरा, व्याधि की मुद्रा में !'

—उत्सर्ग-पर्व

किन्तु राधा इन शब्दों को नहीं सुन सकी। वह अन्तर्यामिनी थी। उसके हृदय में बसे घनश्याम कृष्णतर हो चुके थे। अत: उसने अनबूझे मन से जूझकर आत्मोत्सर्ग करने में ही जीवन की सार्थकता मानी है क्योंकि इससे बड़ी कृष्णार्पण की वस्तु क्या हो सकती है? उसके इस जीवन यज्ञ की पूर्णाहुति ने ही उसकी अलौकिकता को निरावृत किया है। अत: इस संवाद के माध्यम से आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने पुरुषार्थ पर प्रेम की विजय दिखायी है अर्थात् प्रेमा का गान करने वाले कृष्ण पुरुषार्थ में दीक्षित होने पर जनसंहार और असुविधा का जीवन जीना भले पसन्द करें तो करें किन्तु उनकी प्रेमिल शक्ति श्रीराधा तो त्रिकाल में भी अपनी शक्ति सम्पन्नता से लोक को उद्भासित करती रहेगी और जन्मजन्मान्तर अपने को कृष्णार्पण की वस्तु समझ कर उनके पगतल में समर्पित होती रहेगी, क्योंकि उसके प्रेम में कामुकता की गंध नहीं है। वह तो उसे भक्ति का पर्याय बना चुकी है। अत: प्रेम और भक्ति दोनों समानार्थी हैं और दोनों की परिणति उत्सर्ग में ही निहित है। आत्मिक विजय ही सच्ची विजय है। मिट्टी की काया तो मिट्टी में मिलती रहेगी किन्तु आत्मा अमर है। अत: विजयकेतन तो उसी के हाथ फहरने वाला है। इस उद्देश्य की पूर्ति में श्रीराधा को शत प्रतिशत सफलता मिली है। इसे ही निम्नलिखित पंक्तियों में अभिव्यक्ति दी गयी है :—

जीने-मरने का स्वाद न चख
उत्सर्ग स्वयं को कर डाला,

जो उचित जँचा, निर्भीक किया
व्याख्या निर्मूल करे टाला!

रच प्रेमहीन संस्कृति जीवन
क्या समाधान? न कहीं सुविधा

कामुकता प्रीति उपाधि गहे
स्वच्छन्द बहे तजकर दुविधा!

आँखें भर-भर फिर-फिर देखो
राधा साधारण है नारी?

अनबूझे मन से जूझ मरी,
तन ढहा, कहाँ आत्मा हारी?"

—उत्सर्ग-पर्व

उत्सर्ग-पर्व के अन्त में कविकृत ये उपसंहारात्मक वचन बड़े सटीक और श्रीराधा-कृष्ण के अलौकिक प्रेममाधुर्य से अग-जग को निरन्तर गुञ्जरित करनेवाले तथा वृन्दाधाम के प्रति दर्शन की अतृप्त इच्छा जगाने में समर्थ भी हैं :—

"राधा ने कितने अर्थ दिए
है प्रणय निरर्थ नहीं जग में,
उत्सर्ग-फूल में वह खिलता
पत्थर चुभते डगमग पग में !

× × ×

अब भी करील के काँटें हैं
सोए कदम्ब की छाँहों में
सिर के बल आगन्तुक आते
है पीर पाँव में, बाँहों में !
चाँदनी रात में चौंक-चिहुँक
सुनते सुदूर मुरली बजती,
दूसरे छोर पर आह ! तभी
किन पाँवों में पायल सजती !"

त्रासदी मुख्यत: दो भागों में विभक्त होती है। इसका पूर्वार्द्ध संवृति और उत्तरार्द्ध विवृति कहलाता है। भारतीय काव्यशास्त्रियों द्वारा निर्धारित पञ्चसन्धि और पञ्च अर्थ प्रकृतियों के योग इन दोनों भागों में युक्तिसंगत ढग से समाहित होते हैं। आरम्भ, यत्न और प्राप्त्याशा तक को अरस्तू ने 'संवृति' भाग का विषय माना है तथा नियताप्ति से फलागम तक 'विवृति' का अधिकार क्षेत्र होता है। इसी तरह मुख, प्रतिमुख और गर्भसन्धि का निवेश संवृति में तथा अवमर्श सन्धि से नई बाधा उपस्थित होती है और अन्तिम निर्वहण सन्धि में जाकर कार्य तथा फलागम के योग से उलझन बिलकुल सुलझ जाती है, त्रासदी को परमोत्कर्ष हासिल हो जाता है। पाश्चात्य

काव्य शास्त्री अरस्तू ने त्रासदी के उपर्युक्त तत्त्वों को समान रूप से नाटकों और महाकाव्यों में संगुम्फित करने का निर्देश दिया है। इन तत्त्वों का समावेश आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के प्रबन्धात्मक काव्य 'राधा' में परमोज्ज्वल ढंग से हुआ है उसे इस प्रकार समझें :—

प्रणय और पुरुषार्थ-पर्व में आरम्भ, यत्न और प्राप्त्याशा रूप अर्थ प्रकृतियाँ तथा मुख, प्रतिमुख और गर्भसन्धि के सफल प्रयोग द्वारा संवृति भाग रूप पूर्वपीठिका की सुदृढ़ बुनावट हुई है तथा पुरुषार्थ पर्व के अन्त में अवमर्श सन्धि का निवेश हुआ है जहाँ श्रीकृष्ण के विभावन तत्त्वों में विपर्यास दिखाया गया है, जिससे नायिका का विशुद्ध प्रेम अनुशासित होकर भक्ति का रूप ले सका है और श्रीकृष्ण प्रेम कर्मयोगी बनकर उससे सदा कटे रहे केवल आङ्गिक संयोग के स्तर पर, मूलतः दोनों हृदय से एक दूसरे को अपृथक् ही समझते रहे, एक दूसरे के लिए निस्पृह बने रहे। अतः यहीं से 'विवृति' भाग अर्थात् उत्तर पीठिका का सृजन प्रारम्भ होता है, जिसने अपने में नियताप्ति से लेकर अर्थात् वियोग की विभिन्नतामूलक दशाओं को भोगाते हुए नायिका को अग्निशोधित कुन्दन की तरह निर्वहण-सन्धि में कृष्णार्पण की वस्तु रूप में परिणत होने का सुअवसर प्रदान किया है, जिसमें फलागम रूप अन्तिम अर्थ प्रकृति निहित है; जहाँ पहुँच कर कवि अपनी काव्य शैली को उदात्तता प्रदान करने में सफल हुआ है तथा आदि काव्य 'महासीता चरित' की परम्परा को अपने कवि कर्म द्वारा पुनरुज्जीवित करने में अपना अलौकिक सामर्थ्य विकीर्ण कर सका है। अलमति विस्तरेण।

श्री कमलेश कुटीर, बाँसा टांड़
पो०—केयाल, वाया—कदपा
जिला—जहानाबाद (बिहार)
804419

★

कर्मक्षेत्रे-मरूक्षेत्रे

जीवन और सृजन-संघर्ष की एक मार्मिक गाथा

डॉ० रवीन्द्र उपाध्याय

कर्मक्षेत्रे-मरुक्षेत्रे : जीवन और सृजन-संघर्ष की एक मार्मिक गाथा

□ डॉ० रवीन्द्र उपाध्याय

मूलतः कवि रूप में प्रख्यात रचनाकारों ने खड़ी बोली हिन्दी-गद्य को समृद्ध और भव्य बनाने में अमित योगदान किया है। प्रसाद, निराला महादेवी, दिनकर, अज्ञेय, मुक्तिबोध, नागार्जुन, नरेश मेहता आदि के साथ ही आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने हिन्दी गद्य को नई भंगिमाएँ दी हैं, गरिमान्वित किया है। कहानी, उपन्यास, संस्मरण, आत्मकथा, निबन्ध, नाटक, आलोचना के क्षेत्रों में शास्त्री जी ने अपनी कलम का कौशल दिखलाया है। मात्रात्मक और गुणात्मक उभय दृष्टि से शास्त्री जी का गद्य प्रभावकारी है। शास्त्री जी गद्य में-पद्य में समाभ्यस्त हैं। गद्य को कवि-निकष कहा गया है। गद्य-निकष पर शास्त्री जी महाकवि सिद्ध होते हैं। उनके पद्य और गद्य में श्रेष्ठता की होड़-सी लगी है। किसी एक के पक्ष में निर्णय देना बेहद मुश्किल है। निर्णय के इस विन्दु पर 'शिवा को सराहौं-कि सराहौं छत्रसालकों' की-सी स्थिति बन जाती है।

शास्त्री जी की गद्य-कृति 'कर्मक्षेत्रे मरुक्षेत्रे' संस्मरणात्मक आत्मकथा है। यह चर्चित पुस्तक 'हंसबलाका' की अगली कड़ी है। इस पुस्तक का शीर्षक गहरी व्यंजना लिए है। शास्त्रीजी की सृजन-यात्रा सुदीर्घ है। उनका यात्रा-पथ दुर्गम रहा है। प्रतिकूल परिस्थितियों और काठिन्य के कंटकों से भरे रास्तों पर संकल्प और साहस के साथ अविचल भाव से साधनारत बढ़ते हुए उन्होंने सृजन और जीवन के लक्ष्य का निरन्तर पीछा किया है। उन्हीं के शब्दों में : रुका चका नहीं। दम-पर दम फेर खाना पड़ा। दम पर आ बनी तो भेष भी बदलना पड़ा, मगर मंजिल मारने की सनक मुसलसल बरकरार रही।"

क० म०, पृ०-9

ध्यातव्य है कि शास्त्री जी ने अपने महावन सदृश साहित्य का नब्बे प्रतिशत बनारस, इलाहाबाद, लखनऊ, दिल्ली जैसे महानगरीय साहित्यिक तीर्थों में नहीं, मुजफ्फरपुर जैसे कस्बाई शहर में साकार किया है। एक छोटे

शहर की तमाम साहित्यिक संसाधनात्मक सीमाओं के बीच उन्होंने अपनी भाव-
साधना को विस्तृति और गहराई दी है। प्रधानतः मुजफ्फरपुर ही महाकवि
आचार्य शास्त्री का कर्मक्षेत्र रहा है। गया निवासी, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय
के मेधावी अध्येता और रायगढ़ के प्रतिष्ठित राजकवि का औचक मुजफ्फरपुर
में एक अजनबी की तरह प्रवेश होता है। संस्कृत महाविद्यालय-परिसर में
महाप्राण निराला द्वारा प्रशंसित विद्वान कवि का स्वागत वहाँ के प्राचार्य द्वारा
'यहाँ कहाँ ?' के उपेक्षापूर्ण प्रश्न से होता है ! खैर ! संस्कृत महाविद्यालय में
वेदान्त के शिक्षार्थी के रूप में छात्रावासीय जीवन प्रारम्भ होता है। पारिवा-
रिक गरीबी से समझौता न कर पाने के कारण गृह-त्याग करनेवाले सृजन-
ऊर्जा से भरे हुए शास्त्री जी का पीछा गरीबी यहाँ भी नहीं छोड़ती है और
'स्वयं दासास्तपस्विनः' की जीवन-शैली अपनानी पड़ती है। शास्त्री जी का
आजाद, स्वाभिमानी और तेजस्वी व्यक्तित्व ऊपर से फूले हुओं की आँखों की
किरकिरी ही बनता है और वे पोथी-पंथियों के व्यंग्य-पात्र भी बनते हैं।
शास्त्री जी के शब्द हैं—"मेरी विजातीयता अनेक वजहों से थी। मैं आमों की
आमोदित अमराई में निष्फल युकलिप्टस-सा था। लम्बे काले कुन्तल-कलाप
से सिर ढका रहता था और साफ-सफेद चुन्नटदार धोती से पाँव। एक नजर
में सिर से पाँव तक 'ब्लैक एण्ड ह्वाइट'—या फिर हर घड़ी ढका-ढका। मेरे
मिजाज का मौसम आये दिन बदलता ही रहता था, यहाँ मौसम 'स्टिल फोटो
ग्राफ'-सा टँगा होता था।"

क० म०, पृ० 80

फिर भी, कर्मयोगी शास्त्री जी 'इतते वे पाहन हनै, उतते वे जल देत' को
चरितार्थ करते रहे। कम बोकर ज्यादा काटने को दृष्टि में रखकर शुभ
चिन्तकों ने शहर बदलने की सलाह भी दी और सृजन तथा शोहरत के लिए
अधिक उर्वर, चमकीले नगरों के नाम भी सुझाये; मगर शास्त्रीजी ने 'संतन
को कहाँ सिकरी सों काम' के से कुंभनदासी अन्दाज में इन प्रस्तावों को
अनसुनी कर दी। वे अपने कर्मक्षेत्र मुजफ्फरपुर में ही रमे रहे—'हजरते
दाग जहाँ बैठ गए, बैठ गए' बकौल शास्त्री जी—"तकदीर आजमाइश के
लिए मुझे कितने ही हितचिन्तकों ने शहर बदल लेने की सलाह दी।
दिल्ली में रहते होते तो ...... बम्बई में रहते होते तो ......। मैंने उन्हें अपनी
ओर से बहुत समझाया कि दिल्ली ने जगदीशचन्द्र माथुर के स्वर से मुझे

पुकारा था। जिन दिनों आचार्य बृहस्पति रहे थे, मुझे भी वह ऑल इंडिया रेडियो के लिए स्तरीय ऑफर दे रहे थे और पृथ्वीराज जी के माध्यम से बम्बई ने तो बारहा आवाज दी थी। जिन जगहों के लिए लोग तरसते हैं, मैंने स-विनय अस्वीकार कर दिया।"

क० म०, पृ० 73

वस्तुत: ऋषि साहित्यकार आचार्य शास्त्री ने मुजफ्फरपुर में रहते हुए अभावों के बीच भाव की गहन साधना की है। उनकी बहुत कुछ अपर्णा साधना से ही उनका सदाशिव साहित्य संभव हुआ है। उनकी मान्यता भी रही है : "साहित्य जिन्दगी की सड़ायँध से प्राण पानेवाला फूल नहीं है। वह प्रखरतर तप से रूप-रस-गन्ध पाता है। तपस्या अपर्णा होगी तो साहित्य सदाशिव होगा।"

क० म०, भूमिका

शास्त्री जी अपने कर्मक्षेत्र को मरुक्षेत्र इसी अर्थ में कहते हैं कि— "मिट्टी सख्त मिली थी। गोड़ना शुरू करते ही हाथ-पाँव पिराने लगते। ताहम सिलसिला बरकरार रहा। न किन्हीं तिलस्मात का इन्तजार, न किसी तौक ताबीज का भरोसा। दम दिलासे की ऐसी-तैसी, दिल ठिकाने रहा। मेहनत,बगैर मेहनताने के भी मेहनत। तरस, तड़प, बेचैनी और भटकन-भरी जिन्दगी भी जिन्दगी ही होती है।"

क० म०, भूमिका

शीर्षक 'कर्मक्षेत्र' एक गूढ़ार्थ भी ध्वनित करता है वह यह कि आचार्य श्री शास्त्री के अभ्यन्तर में और-और रचने, नित नूतन मौलिक उद्भावनाओं को शब्द देने की अभीप्सा असीम रही है। आज जो सृजित हुआ, कल उससे इतर, श्रेष्ठतर रचने की तृषा उनमें बनी रही है। सृजन-पिपासा का यही मरुक्षेत्र अपने भीतर लिए वे कठिन कर्मक्षेत्र में उतरते हैं। 'कर्मक्षेत्र' की पहली ही पंक्ति है—"ऐसा कैसा जनम-जनम का प्यासा जीवन है मेरा!" शास्त्री जी अपनी इस विशिष्ट प्यास का कई स्थलों पर उल्लेख करते हैं। राजकवि के रूप में रायगढ़-प्रवास के सन्दर्भ में लिखते हैं—"राजघाट के औघट घाट पर प्यासा रह रहा था। प्यास कि सातों समुन्दर के बुझाये न बुझे,

तभी ओस चाटते जीभ जली जाती थी।" (पृ० 11) एक जगह लिखते हैं—"बाहर से घिरा-घिरा दिखने पर भी मैं भीतर से एकदम अकेला हूँ। मेरी कोई छोटी-बड़ी इच्छा कभी पूरी न हुई। इस कारण और-और तरह से कुछ न कुछ पाते रहने पर भी पाने की खुशी मुझे कभी न हुई।" (वही, पृ० 37) यही सृजन-तृषा शास्त्री जी से गद्य-पद्य का पुष्कल साहित्य रचवाती है। अपने सृजन-अभियान में सतत् 'कुछ दूर और, कुछ दूर और' या 'माइल्स टु गो बिफोर आई स्लीप' की ऊर्जा और उत्साह लिए वे आज भी रचनारत हैं।

'कर्मक्षेत्रे-मरुक्षेत्रे' में शास्त्री जी ने मुख्यत: अपने मुजफ्फरपुर आगमन और उसके बाद के आठ वर्षों की दास्तान लिखी है। मुजफ्फरपुर प्रवेश और पहले वर्ष की बातें ही स-विस्तार वर्णित हैं, शेष छह-सात वर्षों की कथा सूच्य है तथा महज डेढ़-दो पृष्ठों में ही समंजित है। मुजफ्फरपुर पहुँचने के पूर्व के रायगढ़-प्रवास और उसके परित्याग का प्रसंग आचार्य श्री ने जरा तफसील में लिखा है। रायगढ़ में राजकवि का सम्मानित और सुविधा-सम्पन्न पद भी शास्त्री जी त्याग देते हैं तो इसलिए कि वहाँ रचते वे हैं और प्रशंसा राजा साहब की होती है। साहित्य-जगत के प्रजापति का दम दरबार के तंग दायरे में घुटने लगता है जैसे! आत्मा की आवाज पर अपने पेट पर लात मारकर वे वहाँ से चल देते हैं। नील गगन में उन्मुक्त उड़नेवाले पक्षी का रत्नजटित स्वर्ण-पिंजर से भला कब निभा है? शास्त्री जी लिखते हैं—

"मैं किसी की मर्जी पर जलने-बुझने वाला बिजली का लट्टू न था जो औंधे लटक कर रोशनी उगलता!" —वही, पृ० 12

× × ×

राज भवन में चीते-तेंदुए और रीछ जितने थे, मोर-हिरन उतने नहीं। जलपाखियों से पहले मगरमच्छ दिख जाते थे। निसर्ग का स्थान कलात्मकता ने ले लिया था। दिल के नाम पर कीमती कपड़े-ही-कपड़े होते थे। खुशी की पहचान लिपस्टिक पर फैली मुस्कान होती थी।"

क०म०, पृ 20

अपने ऊपर से रायगढ़ की राजसी धूल झाड़कर शास्त्री जी बाँदा होते हुए चित्रकूट पहुँचते हैं। उनके विश्राम-कक्ष के सामने के कमरे में एक समृद्ध गुजराती ब्राह्मण परिवार ठहरा हुआ है। तीर्थ-रेणु रमाने के क्रम में उस परिवार से इनका परिचय होता है। परिवार की दो युवतियाँ सुमन और कुसुम इनके कवि-व्यक्तित्व और संस्कृत ज्ञान से अतीव प्रभावित होती हैं और मुँह बोली हो जाती हैं। चार दिनों का यह यायावरी परिचय कितना गाढ़ा और गहरा सिद्ध होता है, इसका पता तब चलता है जब शास्त्री जी चित्रकूट से विदा लेने लगते हैं। इस सरेराह के परिचय को शास्त्रीजी ने जो मर्मस्पर्शी और भावोन्नत करनेवाली उदात्तता दी है, उसकी जितनी तारीफ की जाए, कम होगी। प्रस्थान के लिए शास्त्री जी सामान बाँध चुके हैं, तभी कुसुम चांदी की कटोरी मे अपनी माँ द्वारा भेजी गई खीर लेकर उपस्थित होती है। शास्त्रीजी चाव से खीर खा लेते हैं और कुसुम से कहते हैं—"तुम न दिखतीं तो इसबार हर्गिज चित्रकूट ऐसा न दिखता, जैसा दिखा। बहन की दूध-धोई दृष्टि अनदेखे पथों का पाथेय बन गई। अब मैं नई मुसीबतों से लड़ लूँगा, मुझे विहँसकर विदा दो, कुसुम बेन!"

वही, पृ० 25

विदा-वेला वैसे भी हृदय हिलकोर देती है। उस पर नवनीत से कोमल और धरती- से उदार हृदय के धनी कवि और सज्जन व्यक्ति को विदा देते वक्त कुसुम का कोमल-तरल हृदय जैसे उसकी आँखों तक छलक आता है— "मुझे भूल जाना, भाई साब!" चार रोजा परिचय को जन्मों का विस्तार देते हुए शास्त्री जी कहते हैं—"नहीं कुसुम बेन, चित्रकूट भूलने के लिए नहीं होता। एक दफा इसी जनम के बिछड़े दो भाई यहाँ मिले थे। कौन भूल सका उन्हें? इसबार न जाने किस जनम के बिछड़े भाई-बहन यहाँ अचानक मिल गये मन्दाकिनी की प्रखरतर धार में, श्यामवट की ज्योतिष्मती छाया में, शशक-शिशुओं-भरे अनसूया - वन में!" (वही, पृ० 25) यह प्रसंग अपनी गहन भावात्मकता, नाटकीयता और मानवीय सम्बन्धों की दुर्लभ दिव्यता के कारण हृदय पर अमिट छाप छोड़ जाता है। लगता है, शरतचन्द्र की कोई

भावना-भूषित उत्कृष्ट कथा आँखों से गुजरी हो। मार्मिक स्थलों की पहचान महाकवियों को ही होती है, यह प्रसंग इसे प्रमाणित करता है।

चित्रकूट से विदा लेकर आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री इलाहाबाद होते हुए अपने गाँव आते हैं। घर पर उनके स्वागतार्थ गरीबी जैसे प्रतीक्षारत है। बकौल लेखक "गरीबी पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी।" (पृष्ठ 31) रायगढ़ के राजसी सुख को ठुकराकर पुत्र का स्वेच्छा से आरण्यक अकिंचनता का वरण दीर्घकालिक दैन्य से जूझते हुए वृद्ध पिता-श्री को अच्छा नहीं लगता है और उनकी वाणी तल्ख हो जाती है—"थोड़ धन में खल बौरायी ! वर्षों दुख सहने के बाद जरा-सा सुख मिला कि बस, सिर फिर गया !" तनाव बढ़ता है और एक अदद इन्सान होने की तमन्ना लिए आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री गृह त्याग करते हैं। वे पदाति ही जीवन-संग्राम में उतर जाते हैं। गृह-त्याग का प्रसंग भी अत्यन्त मार्मिक बन पड़ा है। गृह-त्याग के बाद सन् 1939 के उत्तरार्द्ध में बाईस वर्षीय कविवर शास्त्री मुजफ्फरपुर आते हैं। इस मुजफ्फरपुर में जहाँ उनका "एक भी जाना-पहचाना चेहरा न था। भीड़ में तन्हा, मेले में अकेला।" तब भला कौन जानता था कि यह अजनबी आगे चलकर मुजफ्फरपुर के साहित्यिक गौरव में चार-चाँद लगायेगा, उसकी साहित्यिक पहचान को अधिकाधिक विस्तार देगा। तब मुजफ्फरपुर में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री पथ' के बारे में किसने सोचा होगा ? बेशक इस निराले-कवि, आचार्य की जीवन-यात्रा भी निराली ही रही है शायद। मजरूह का निम्नलिखित शेर कितना मौजूँ है—

"मैं अकेला ही चला था जानिबे मंजिल मगर
लोग साथ आते गए और कारवाँ बनता गया।"

शास्त्री जी के मुजफ्फरपुर आने के अगले महीने ही शहर में अग्रणी स्वतन्त्रता-सेनानी नेताजी सुभाषचन्द्र बोस का शुभागमन होता है। नेताजी के दर्शन से कविवर शास्त्री कृतकृत्य हो उठते हैं, जैसे उनका मुजफ्फरपुर आना सार्थक हो जाता है। बावजूद इसके कि "अंग्रेजी हुकूमत का दबदबा संस्कृत

कॉलेज के खम्भों, पायों और दीवारों पर भी नक्श था ", शास्त्रीजी अपने प्रिय क्रान्तिदूत के अभिनन्दनार्थ उनके नाम के सात अक्षरों के लिए सोल्लास सात शिखरिणियाँ रचते हैं। सुभाष-सम्मोहन में आपा भूलकर नंगे पाँव वे शोभा-यात्रा में सुसज्जित यान के पीछे भागते हैं। महाप्राण सुभाष के तेजो-दीप्त व्यक्तित्व का शास्त्रीजी ने भव्य रेखांकन किया है। कुछ ही पंक्तियों में उन्होंने स्वतन्त्रता-संग्राम के दो लोकनायकों सुभाष और नेहरू के व्यक्तित्वों का जो तुलनात्मक चित्र खींचा है, वह अद्भुत है। शास्त्री जी लिखते हैं—
"नेहरू जी को कितनी ही बार, कितने अधिक निकट से, देखने और सुनने का सौभाग्य, काशी-प्रवास के दिनों में, फिर-फिर प्राप्त हुआ था। वह हिम-गिरि के समान शुभ्र समुज्ज्वल थे, सुभाष बाबू सुमेरु के समान स्वर्णाभ ! उनका मुँह लम्बा, इनका चौड़ा। वह हँसते थे तो चेहरे पर गुलाब खिल जाता था, इनके हँसते चेहरे पर अष्टदल कमल पिंग पराग बिखेरता है। उनका व्यक्तित्व अन्तर्राष्ट्रीय था, इनका विशुद्ध भारतीय। शशि-सूर्य की वर्चस्विता लिये आकाशी आँखों की ज्योति में समर-दुर्जेयता की सुस्पष्ट झलक है।"

—वही, पृ० 69

मुजफ्फरपुर में सुभाष बाबू के पदार्पण के कुछ दिनों बाद संस्कृत की एक अखिल भारतीय सभा आयोजित होती है—टुनकी साहू के धर्मशाले में। आचार्य बदरीनाथ वर्मा की अध्यक्षता में सम्पन्न इस महासभा के स्वागताध्यक्ष होते हैं बाबू उमाशंकर प्रसाद। विशिष्ट वक्ता के रूप में बीकानेर से विद्या भास्कर गौरीशंकर शर्मा और देवघर गुरुकुल के अध्यापक तीर्थत्रय पं० लक्ष्मण मिश्र बुलाये गये हैं। संयोग से-दोनों आमंत्रित विद्वान अतिथि शास्त्री जी के आत्मीय निकल आते हैं– गौरी शंकर जी मित्र और मिश्र जी श्वसुर। दोनों शास्त्री जी के पास ही ठहरते हैं। आयोजकों की बेरुखी का आलम यह कि बिहार, उड़ीसा, बंगाल, उत्तर प्रदेश—चारों संस्थानों से साहित्य में सर्वोच्च प्रमाण-पत्र प्राप्त, 'काकली' और 'रूप अरूप' के प्रातिभ कवि आचार्य जानकी-वल्लभ शास्त्री को सभा में आमंत्रित करने की जरूरत नहीं समझी जाती है। गौरीशंकर जी के मित्रोचित दबाव और लाजवाब आग्रह "हम इतनी दूर से

आपके घर आ धमके, आप चार कदम भी नहीं चल सकते ? अब सूरज-चांद न्योतने पर प्रकाश लुटाने पधारेंगे ?" को शास्त्री जी नहीं टाल पाते हैं और अनमने भाव से सभा में शामिल होते हैं, सभा की कार्यवाही पर उनकी टिप्पणी द्रष्टव्य है—"सभा भवन में संस्कृत शिक्षा की अप्रासंगिकता पर प्रलाप किया जा रहा था। स्रष्टाओं के अभाव में प्रचारकों की ओर से परम्परा का रोना रोया जा रहा था, पूर्वजों का नीरस स्वर में नाम-कीर्तन हो रहा था जिससे वही प्रभावित हो रहे थे जिन्होंने यह सभा बुलायी थी।" (वही, पृ० 77) सभा में शास्त्री जी को धन्यवाद ज्ञापन का भार मिलता है। धन्य-वाद-ज्ञापन के बहाने वे ज्ञान की मन्दाकिनी प्रवाहित कर देते हैं। धन्यवाद ज्ञापक की आवर्त-बुदबुद-तरंग-भंगिमती वाग्धारा में श्रोता और भारतीय संस्कृति के अनन्योपासक बाबू उमाशंकर प्रसाद स्नात हो उठते हैं। उमा-शंकर बाबू के भीतर का जौहरी 'रत्न' को पहचान लेता है। वे शास्त्री जी से संवाद करते हैं—"माँ की अपार कृपा है आप पर। बिफरे स्वर तो बहुत सुने। ऐसी मधुमती भाषा में ऐसा भावपूर्ण धाराप्रवाह भाषण......।" (वही, पृ० 81) उमाशंकर बाबू के हार्दिक आमंत्रण पर शास्त्री जी अतिथियों शर्माजी और मिश्र जी के साथ उनके निवास पर पहुँचते हैं। स्वागत-सत्कार के साथ ही जमकर काव्य-शास्त्र-विनोद होता है। उमाशंकर बाबू की साहित्यानुरागिता और उदारचेतना से शास्त्री जी भी खूब प्रभावित होते हैं। उनके बारे में शास्त्रीजी का स्वगत है—"अमीर उमराव, राजे महराजे बहुतेरे देखे हैं। एक पर एक सुन्दर मुखड़े। यह दिव्यता और कहीं दिखी ? यह क्या चर्बी की चिकनाई की चमक है ? धन इनका बन्धन नहीं है। चन्दन ईंधन है, देवदार समिधा है इस जीवन यज्ञ की, धन इनका होगा, ये धन के नहीं हैं। धन की तुला पर धन्य नहीं तुलते।" (वही, पृ० 98) बस दो ही मुलाकातों में दोनों का परिचय इतना गाढ़ा हो जाता है कि स्व-गृहत्यागी, मुक्त प्रकृति शास्त्री जी उमाशंकर बाबू के घर आ रहते हैं और आठ वर्षों तक इसी स्नेह छाया में निवास करते हैं। यह निवास कवि श्री के लिए काफी उर्वर सिद्ध होता है। इन्हीं आठ वर्षों में उनकी आठ महत्वपूर्ण पुस्तकें सृजित

होती हैं—'अपर्णा', 'तीर-तरंग', 'शिप्रा', 'गाथा', 'राधा', 'अवन्तिका', 'मेघ गीत' और 'साहित्य दर्शन'। अतिरिक्त इसके इन्हीं दिनों शास्त्री जी वेदान्त शास्त्री और वेदान्ताचार्य की परीक्षाओं में 'रेकार्ड' ब्रेक कर दो स्वर्ण पदक प्राप्त करते हैं, फिर उसी संस्कृत महाविद्यालय में साहित्य के प्राध्यापक नियुक्त होते हैं।

कर्मक्षेत्र की विपरीतताओं से जूझते हुए आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री को जिन अन्य महानुभावों का सहयोग और सहानुभूति मिली है, उनका उन्होंने सादर और साभार उल्लेख किया है। आचार्य शिवपूजन सहाय, पं० वाचस्पति पाठक, पं० भैरव गिरि आदि ऐसे ही उदारचेता व्यक्ति हैं।

यों ऊपर-ऊपर से 'कर्मक्षेत्रे - मरुक्षेत्रे' एक व्यक्ति, एक रचनाकार आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के जीवन-संघर्ष की दास्तान प्रतीत होती है, मगर गहराई से देखने पर यह पुस्तक उस प्रत्येक रचनाकार के जीवन और सृजन-संघर्ष की गाथा है जो ईमान को मान देता हुआ, कलम की आन जुगाता हुआ, शख्सियत की विशिष्टता बचाता हुआ, सिद्धान्तों को सिर-आंखों पर बिठाता हुआ, स-स्वाभिमान, उन्नत सिर अपने गन्तव्य को पाना चाहता है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की निम्नलिखित पंक्तियाँ ध्यातव्य हैं—"एक बात सोचने-समझने की और थी कि क्या वाकई निजी मसला जैसा होता है कुछ ?........मेरी आर्थिक उलझन क्या एकबारगी मेरी ही थी ?" (पृष्ठ 49)....... "आत्मा का हनन करने पर, आँख मूँद कर निर्लज्जता को गले लगाने पर, मुझे ये पतझर के-से पियराये दिन नहीं देखने पड़ते। तब दिन सोना बटोरता, रात चाँदी काटती। 'प्रिय स्वतन्त्र रव, अमृत मन्त्र नव' मुझे मिल चुका था। मैं जान गया था कि स्वतन्त्र सुख के सीधे-सादे रास्ते दुःख के बीहड़ से ही निकलते हैं।" —पृष्ठ 53

दरअसल, 'कर्मक्षेत्रे-मरुक्षेत्रे' आत्मकथा के ब्याज से विचार-कथा है। घटनाएँ माध्यम भर हैं— विचार-वितान के लिए। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने 'नाना पुराण निगमानिगम' का गहरा अध्ययन तो किया ही है, जिन्दगी की किताब भी मनोयोग से बाँची है। उनका चिन्तन-प्रवाह वेद

और लोक के तटों से होकर अग्रसर है। राम-काम, सुख-दुख, आदर्श-यथार्थ, —धर्म-अध्यात्म आदि गम्भीर विषयों का आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री सूक्ष्मता से विश्लेषण करते हैं। लालित्य सर्वत्र विद्यमान है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने अपने ज्ञान को संवेदना के अमृत में स्नात किया है। वे कठिनतम रागिनी को भी कोमल सुर में गा लेते हैं। उनके चिन्तन में भारतीय संस्कृति की सुगन्ध रची-बसी है। उनके भीतर वाल्मीकि, भवभूति, व्यास, कालिदास की परम्परा स्पन्दित है। वे अतीत, वर्तमान और भविष्य में एक साथ जीना चाहते हैं। उनके लिए अतीत से जुड़ने का अर्थ वर्तमान की सम्भावना का विस्तार है, वर्तमान से विमुखता नहीं। वे लिखते हैं—"क्षणों में जीनेवाले धन्य हैं, मैं अतीत और अनागत के 'दो पाटन के बीच' साबित बचना चाहता हूँ। जन्म-जन्मान्तर के संचित संस्कार मुझमें एक आकार पा गये हैं, मैं क्षणिक या आकस्मिक नहीं हूँ। मेरे सुकृत-दुष्कृत अवचेतन में तन पाते हैं मैं विश्वात्मा के मनन से मन पाता हूँ।'—पृष्ठ 14

'कर्मक्षेत्रे मरुक्षेत्रे' का गद्य इन्द्रधनुषी है। इस गद्य में चित्रात्मकता, अलंकृति, नाटकीयता, प्रतीकात्मकता, कहानीपन, विश्लेषणात्मकता, सामासिकता के अलग-अलग रंग दीपित हैं। यह गद्य तेज हवा की भाँति एकबारगी झकझोरता नहीं, वासन्ती पवन की मानिन्द विचार-सुगन्ध लिए मन्द-मन्द मन-प्राणों में उतरता है। बकौल शास्त्रीजी—"जोर-शोर और तेजी दिखानेवाली भाषा मेरी रुचि को कभी रास न आयी। बास नशीली हो, मगर भावना की पंखुरियों के, शब्दों के पत्थर से, घिस जाने पर नहीं। यह शर्त मेरी क्लिष्ट कृतियों में भी भरसक नहीं पिसी।" —पृष्ठ 47

गद्य-प्रवाह के बीच-बीच में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री संस्कृत, हिन्दी, बंगला, उर्दू, अँग्रेजी के प्रसंगोचित काव्योद्धरण टाँकते चलते हैं, जिससे उनके स्मृति-कोष की समृद्धि का पता चलता है, साथ ही कथ्य की प्रेषणीयता द्विगुणित हो जाती है। अर्थ-गर्भ सूक्तियों का तो जैसे अक्षय कोष है आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के पास। जीवन और शास्त्र के समुद्र-मन्थन से निकले कुछ सूक्ति-रत्नों की चमक, बानगी के तौर पर देखें—

"यथार्थ सबसे समर्थ सहयोगी है आदर्श का। आदर्श बुद्धत्व है तो यथार्थ है सुजाता की खीर।" —पृष्ठ 14

"स्वार्थ अज्ञान के बंजर में पैदा होता है, श्रद्धा जोते-निराये क्षेत्र में पुष्ट बीज बोने से उत्पन्न होती है।"

"जो दुःख टाले न टले, उसे ईश्वर का अनुदान मान लेना चाहिए मगर जो कुदरती तौर पर हाथ-पाँव हिलाने भर से यह गया—वह गया हो जाये, उसे लेकर बैठना स्वाभिमान से अधिक हठधर्मी की पहचान है।"—पृष्ठ 53

"दुःख न होता तो ईश्वर की कल्पना भी न होती।" — पृष्ठ 59

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का गद्य व्यंग्य-विनोदी भी है, उनका व्यंग्य किंचित् मीठा होता है। उस व्यंग्य की चोट से सामनेवाला एकाएक तिलमिलाता नहीं, झेंप जाता है। बाज दफा आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री स्वयं पर भी व्यंग्य करने से नहीं चूकते। विनोद शास्त्रीजी खूब करते हैं। वे गम्भीर प्रसंगों में भी विनोद के लिए अवसर बड़ी कुशलता से ढूँढ़ लेते हैं। उनका विनोद गुदगुदाता है और पाठक के होठों पर खिलखिलाहट उगा देता है। अधिक जगह व्यंग्य और विनोद ऐसे घुले-मिले होते हैं कि 'कहियत भिन्न-न-भिन्न।' व्यंग्य-विनोद के कुछ नमूने प्रस्तुत हैं—

"बाबूसाहब के यहाँ मिष्टान्न और नमकीन से पूरी भरी तीन तश्तरियाँ आ गयी थीं और झरीलाल हाथ-मुँह धुलवाने के लिए झारी लिए खड़ा था। ब्राह्मण को एक दफा मिष्टान्न दिख जाये तो फिर कहाँ की तनातनी, कहाँ का बहस-मुबाहिसा और कहाँ का सुलह-समझौता! बिचारों का धरातल सहसा समतल हो जाता है; बातचीत में चाशनी घुल जाती है और हृत्तल शीतल हो जाता है........मुझे तो निर्ममतापूर्वक परान्न भक्षण करते समय ही अपना उत्सवहीन जीवन यज्ञ मालूम होता है।" — पृष्ठ 97

"चूहे के चाम से कहीं नगाड़े मढ़े जाते हैं! मेरे किये बड़ा क्या काम होना।था? न धनुष तोड़ने की तमन्ना थी, न अहल्या का उद्धार कोई मुद्दा था। फिर भी चूहे ने आदतन बिल खोदा। 'सीता' भी ब्याही और 'पाषाणी'

और लोक के तटों से होकर अग्रसर है। राम-काम, सुख-दुख, आदर्श-यथार्थ, —धर्म-अध्यात्म आदि गम्भीर विषयों का आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री सूक्ष्मता से विश्लेषण करते हैं। लालित्य सर्वत्र विद्यमान है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने अपने ज्ञान को संवेदना के अमृत में स्नात किया है। वे कठिनतम रागिनी को भी कोमल सुर में गा लेते हैं। उनके चिन्तन में भारतीय संस्कृति की सुगन्ध रची-बसी है। उनके भीतर वाल्मीकि, भवभूति, व्यास, कालिदास की परम्परा स्पन्दित है। वे अतीत, वर्तमान और भविष्य में एक साथ जीना चाहते हैं। उनके लिए अतीत से जुड़ने का अर्थ वर्तमान की सम्भावना का विस्तार है, वर्तमान से विमुखता नहीं। वे लिखते हैं— "क्षणों में जीनेवाले धन्य हैं, मैं अतीत और अनागत के 'दो पाटन के बीच' साबित बचना चाहता हूँ। जन्म-जन्मान्तर के संचित संस्कार मुझमें एक आकार पा गये हैं, मैं क्षणिक या आकस्मिक नहीं हूँ। मेरे सुकृत-दुष्कृत अवचेतन में तन पाते हैं मैं विश्वात्मा के मनन से मन पाता हूँ।'—पृष्ठ 14

'कर्मक्षेत्रे मरुक्षेत्रे' का गद्य इन्द्रधनुषी है। इस गद्य में चित्रात्मकता, अलंकृति, नाटकीयता, प्रतीकात्मकता, कहानीपन, विश्लेषणात्मकता, सामासिकता के अलग-अलग रंग दीपित हैं। यह गद्य तेज हवा की भाँति एकबारगी झकझोरता नहीं, वासन्ती पवन की मानिन्द विचार-सुगन्ध लिए मन्द-मन्द मन-प्राणों में उतरता है। बकौल शास्त्रीजी—"जोर-शोर और तेजी दिखानेवाली भाषा मेरी रुचि को कभी रास न आयी। बास नशीली हो, मगर भावना की पंखुरियों के, शब्दों के पत्थर से, घिस जाने पर नहीं। यह शर्त मेरी क्लिष्ट कृतियों में भी भरसक नहीं पिसी।" —पृष्ठ 47

गद्य-प्रवाह के बीच-बीच में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री संस्कृत, हिन्दी, बंगला, उर्दू, अँग्रेजी के प्रसंगोचित काव्योद्धरण टाँकते चलते हैं, जिससे उनके स्मृति-कोष की समृद्धि का पता चलता है, साथ ही कथ्य की प्रेषणीयता द्विगुणित हो जाती है। अर्थ-गर्भ सूक्तियों का तो जैसे अक्षय कोष है आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के पास। जीवन और शास्त्र के समुद्र-मन्थन से निकले कुछ सूक्ति-रत्नों की चमक, बानगी के तौर पर देखें—

"यथार्थ सबसे समर्थ सहयोगी है आदर्श का। आदर्श बुद्धत्व है तो यथार्थ है सुजाता की खीर।" —पृष्ठ 14

"स्वार्थ अज्ञान के बंजर में पैदा होता है, श्रद्धा जोते-निराये क्षेत्र में पुष्ट बीज बोने से उत्पन्न होती है।"

"जो दु:ख टाले न टले, उसे ईश्वर का अनुदान मान लेना चाहिए मगर जो कुदरती तौर पर हाथ-पाँव हिलाने भर से यह गया—वह गया हो जाये, उसे लेकर बैठना स्वाभिमान से अधिक हठधर्मी की पहचान है।"—पृष्ठ 53

"दु:ख न होता तो ईश्वर की कल्पना भी न होती।" — पृष्ठ 59

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का गद्य व्यंग्य-विनोदी भी है, उनका व्यंग्य किंचित् मीठा होता है। उस व्यंग्य की चोट से सामनेवाला एकाएक तिलमिलाता नहीं, झेंप जाता है। बाज दफा आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री स्वयं पर भी व्यंग्य करने से नहीं चूकते। विनोद शास्त्रीजी खूब करते हैं। वे गम्भीर प्रसंगों में भी विनोद के लिए अवसर बड़ी कुशलता से ढूँढ़ लेते हैं। उनका विनोद गुदगुदाता है और पाठक के होठों पर खिलखिलाहट उगा देता है। अधिक जगह व्यंग्य और विनोद ऐसे घुले-मिले होते हैं कि 'कहियत भिन्न-न-भिन्न।' व्यंग्य-विनोद के कुछ नमूने प्रस्तुत हैं—

"बाबूसाहब के यहाँ मिष्टान्न और नमकीन से पूरी भरी तीन तश्तरियाँ आ गयी थीं और झरीलाल हाथ-मुँह धुलवाने के लिए झारी लिए खड़ा था। ब्राह्मण को एक दफा मिष्टान्न दिख जाये तो फिर कहाँ की तनातनी, कहाँ का बहस-मुबाहिसा और कहाँ का सुलह-समझौता! बिचारों का धरातल सहसा समतल हो जाता है; बातचीत में चाशनी घुल जाती है और हृत्तल शीतल हो जाता है........मुझे तो निर्ममतापूर्वक परान्न भक्षण करते समय ही अपना उत्सवहीन जीवन यज्ञ मालूम होता है।" —पृष्ठ 97

"चूहे के चाम से कहीं नगाड़े मढ़े जाते हैं! मेरे किये बड़ा क्या काम होना था? न धनुष तोड़ने की तमन्ना थी, न अहल्या का उद्धार कोई मुद्दा था। फिर भी चूहे ने आदतन बिल खोदा। 'सीता' भी व्याही और 'पाषाणी'

का काया-कल्प भी किया। मेरा गंगा पार करना एकबारगी बेकार न हुआ।"

—पृष्ठ 37

"कहने को गया का हूँ। मुजफ्फरपुर आया तो आया, फिर कहीं गया नहीं। तो क्या मेरे चले आने से गया झूठा हो गया? नहीं, गया से गया, वह गया!"

—पृष्ठ 36

'कर्मक्षेत्रे-मरुक्षेत्रे' आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के जीवन और सृजन-संघर्ष की मर्मस्पर्शी गाथा है। बेशक, यह पुस्तक आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के साधक व्यक्तित्व को कई स्तरों पर गहरे उद्‌घाटित करती है; साथ ही पाठक के मन में लक्ष्य के लिए संघर्ष की अमित ऊर्जा भरती है और नवोदित सर्जकों के मन में 'आत्म दीपो भव' का उद्‌बोधन अंकित करती है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री लिखते हैं—"संसार में ऐसी कौन-सी राह है जिस पर धूल नहीं उड़ती, अंधेरा नहीं फैलता, कंकड़-पत्थर नहीं होते! आनन्द तो अपने भीतर है, उसके प्रकाश में बाहर भी निर्भय विचरण किया जा सकता है। पसीना सुखाने के लिए वही बोधिवृक्ष की छाया है।"

—वही, पृष्ठ 101

शास्त्र-ज्ञान और जीवनानुभवों के सुर-ताल से सजा-सँवरा 'कर्मक्षेत्रे-मरुक्षेत्रे' का गद्य सितार की झंकार की तरह है, जिसे सुनने-गुनने के लिए पाठक जैसे विवश हो जाता है। वस्तुतः एक महान गद्यकार की मनोहरा गद्य-कृति है 'कर्मक्षेत्रे-मरुक्षेत्रे'।

उपाचार्य, हिन्दी विभाग
श्री रा० प्र० सिंह महाविद्यालय
जैंतपुर, मुजफ्फरपुर

★

कर्मक्षेत्रे-मरुक्षेत्रे

आचार्य का एक अमूल्य अवदान

सुश्री शरद सिंह

कर्मक्षेत्रे मरुक्षेत्रे
आचार्य का एक अमूल्य अवदान

□ सुश्री शरद सिंह

"आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री स्वत: ही प्रकाशित रहे हैं। आधुनिक साहित्य-सर्जकों में शायद ही कोई ऐसा विरल व्यक्तित्व होगा जिसने अपने जीवन को इतनी काव्यानुभूतियों में, इतने परिप्रेक्ष्यों में चित्रित अनूदित किया हो।"

श्री ब्रह्मदेव शास्त्री का यह कथन आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की साहित्य-सर्जना को अक्षरश: पारिभाषित करता है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का साहित्य वह कालजयी साहित्य है जिसमें सभी विधायें समाहित हैं और सभी विधाओं में एक विस्मयकारी अगाधता के साथ उनकी कारयित्री एवं भावयित्री प्रतिभा की इन्द्रधनुषी आभा देदीप्यमान है। करुणा और वेदना की भाव-भूमि पर उनका "राधा' महाकाव्य जहाँ व्यष्टि और समष्टि का संपर्क सेतु है वहीं वह उनकी अनुभूतियों का और ललित-कलित कल्पनाओं का सुन्दर संगम भी है। यह साहित्य जगत के लिए एक अनुपम अवदान भी है। पाषाणी हो, काकली हो, श्यामा संगीत हो, हंसकिंकिणी हो या धूपतरी हो, सभी में उनकी भावप्रवणता, मौलिकता, कविकर्म की निपुणता, संगीतात्मकता और संस्कृत तथा हिन्दी भाषा पर उनके पूर्ण अधिकार को प्रमाणित करते हैं। यह प्रामाणिकता उन्हें एक ओर पंत, प्रसाद, निराला और दूसरी ओर जयदेव और कालिदास से उन्नीस नहीं रहने देती है।

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री एक सिद्ध कवि हैं। वहीं गद्य सर्जना पर उनका इतना अधिकार है कि यह निर्णय कर पाना कठिन होता है,

उनका कवि-रूप श्रेष्ठ है या गद्यकार का रूप। गद्य साहित्य को उन्होंने नाटक, निबंध, कहानी, उपन्यास आदि सभी प्रमुख विधाओं के ग्रंथ-रत्न प्रदान किये हैं। यहाँ तक कि अपनी स्मृतियों के वातायन से झांक कर संस्मरण की सुदीप्त मुक्तायें भी चुन लाये हैं। संस्मरण की यह विधा तो अन्य विधाओं से दुरूह है। फिर भी कितना अद्भुत है, हृदयहारी है, सम्मोहनकारी है उनका अपने भावों और अतीत के धूमिल चित्रों को साकार रूप प्रदान करना। इस विधा में भी उन्होंने छोटी-सी-छोटी रेखा को अछूता नहीं छोड़ा है। अष्टपदी, कर्मक्षेत्रे मरुक्षेत्रे, एक असाहित्यिक की डायरी, हंसबलाका, अनकहा निराला आदि सभी संस्मरण साहित्य में भावप्राणता, यथार्थ की विविधता परिलक्षित होती है, वहीं काव्य प्रवाह की मधुरता, वाक्य विन्यासों की सहजता और समाहित सौन्दर्य का निखार भी विमोहित कर लेता है।

"कर्मक्षेत्रे मरुक्षेत्रे" आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का यह संस्मरण उनकी जादुई प्रतिभा का एक कालखण्ड है। इसमें उनकी आत्मानुभूति की अभिव्यंजना के साथ उनके संघर्षमय जीवन की झांकी उजागर है। कांटों भरे जीवन-पथ के पड़ावों पर अनेक साहित्यकारों, साथियों, जननेताओं से उनका साक्षात्कार हुआ। उन संस्मरणीयों के जीवन की अनेक घटनाओं और विशिष्टताओं को उद्घाटित करते हुए उन्होंने अपनी निजता के साथ तादात्म्य बनाये रखा है।

यह संस्मरण शुरू होता है वहाँ से जब उन्हें रायगढ़ में राजकवि का पद प्राप्त हुआ। रायगढ़ में उन्हें निवास के लिये मिला गेस्ट-हाऊस और मिला रायगढ़ नरेश और कविता प्रिय राजमहिषी द्वारा प्रदत्त सम्मान। यूं ही न था यह सम्मान, उनमें कला और प्रतिभा जो थी किन्तु ईर्ष्यालुओं की कमी कहाँ? सजातीय उड़िया कवि मुकुटधर पाण्डेय को सदा उनके प्रति उकसाते रहते थे। पाण्डेयजी के संवेदनशील व्यवहार से ही तो वे वहाँ खिंचे चले गये थे। पर उन्हीं की आँखों में खटकने लगे। आचार्य जानकी-वल्लभ शास्त्री के हृदय में भी असंतोष उपजने लगा। "रचता था मैं

मुँहदेखी…… ……कहना पड़ता था। महाराज की गहरी सूझ-बूझ को दाद दीजिए।''

इस घटनाक्रम में सामंती परिवेश के जीवंत रूप के जहाँ दर्शन होते हैं वहीं दो रोटी के लिये खुद की सर्जना को दूसरे का नाम देना यह विडम्बना, यह दैन्य भी प्रतिभासित होता है।

आखिर अन्याय और शोषण उन्हें रास नहीं आया। इसके बाद आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने चित्रकूट की राह ली। यह स्वाभिमानी व्यक्तित्व उनकी निजता का परिचायक है।

चित्रकूट में सीता और राम का प्रसंग………क्योंकि उसके आगे शिव-शक्ति का अर्द्धनारीश्वर रूप ही रह जाता है। परस्पर सर्व-समर्पण का वही सुमेरु-शिखर है। ये संदर्भ आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की सभ्यता और संस्कृति की परख और विशिष्टता को अभिव्यक्त करता है।

कल का राजकवि चित्रकूट में ''प्रवासी, एक निरा बटाऊ, बाट भूला बटोही'' बन गया। वह अपने अन्तर्संघर्ष के भँवर से उबरने के लिये प्रयासरत था कि उस बटोही की भेंट हुई तीर्थयात्री एक गुजराती परिवार से। उस परिवार की छोटी कन्या कुसुम ने 'चारुदत्त' पढ़ा था। 'चारुदत्त' पर चर्चा के दौरान कई बार याद आया रायगढ़ का गेंडे के शक्ल का मुंशी और चौदह विषयों का पोंगा पंडित आचार्य जिसे जानकीवल्लभ शास्त्री की साहित्यिक सूझ - बूझ और वाक्चातुर्य के सम्मुख परास्त होना पड़ा था।

अतीत की कड़ियों में…… सौन्दर्यमयी कुसुम सवेरे-सवेरे खीर की कटोरी लाती है। कटोरी भर खीर, उनकी दार्शनिकता का पुट लिये इतिहास ज्ञान को मुखरित कर देती है। सुजाता की खीर को राजयोगी गौतम ने समस्त विश्व को चखा दिया था।'

मानवीय भावना की स्निग्ध चांदनी बिछलने लगती है, विदा बेला में

उनके द्वारा कुसुम से कहे गये इस कथन में—'कुसुम बेन ...... न जाने किस जनम के दो बिछड़े भाई-बहन यहाँ अचानक मिल गये। कल भाई अपनी राह लेगा।'

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री अपनी राह लेकर इलाहाबाद पहुँचे। वहाँ वाचस्पति पाठक ने उनसे रायगढ़ के राजकवि पद छोड़ने के संदर्भ में रोष व्यक्त किया किन्तु आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री शान्त रहे। क्योंकि, निराला का "प्रिय स्वतंत्र रव अमृत मंत्र नव" उनके जीवन का मूलमंत्र बन चुका था। यह स्वतंत्रता का पथ दुख के बीहड़ से निकलता था। इस बीहड़ में भोगी हुई अनुभूति आज के माहौल का निचोड़ बनकर उनके एक वाक्य में उभर आती है—"चमचे चमकते हैं, विवेकी को इस सर्वभक्षी हा हुताश में कहीं ठौर-ठिकाना नहीं मिलता।"

फिर अगला पड़ाव आता है। इस पड़ाव में डॉ० रामकुमार वर्मा के भतीजे चन्द्र प्रकाश वर्मा और नरेन्द्र शर्मा का निकट साहचर्य प्राप्त होता है। दोनों समान धर्माओं की आत्मीयता उन्हें आकृष्ट करती है। फिर साथ होता है "सरस्वती" सम्पादक पं० देवीदत्त शुक्ल से। और, 'भारती भंडार' के पाठकजी से। साहित्य - सुरभि के साथ - साथ प्रूफ देखने के नाम पर पाठकजी उन्हें सौ रुपये प्रदान करते हैं। बटोही फिर आगे की राह लेता है।

अब पड़ाव आता है अपने गाँव का। घर का दैन्य सीमा पार कर चुका है। यहाँ उनकी उपस्थिति एक सहज मनुष्य की उपस्थिति भान कराती है। बहन सोमा (सुमित्रा) के विवाह की तैयारियाँ। दो बार की तैयारी का सामान ताई और जीजाजी के श्राद्ध की भेंट चढ़ चुका था। तीसरी बार सोमा को दुल्हन बनने का सौभाग्य प्राप्त (?) होता है। प्यार-दुलार में पली सोमा के जेठ—उसके भाई आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री से कहते हैं कि "हमें ढेकी चलाने वाली, चक्की पीसने वाली बहू की जरूरत थी। सोमा यह बोझ उठायेगी।"

भाई का हृदय तड़प कर रह गया। सोमा अपनी अमीर ससुराल में जल-जल कर भस्म की ढेरी बनती गई। यथार्थ की भूमि पर देखा, सहा और सुना गया अतीत। प्रिया चन्द्रकला को एक संतरे के लिए तरसते और संतरे की जगह एक अनाड़ी द्वारा दही पिला दिये जाने के कारण चिर-वियोग। टूटे हुए पिता द्वारा रायगढ़ छोड़ने का उलाहना। इन सबके वशीभूत उनका हृदय गरीबी से छुटकारा पाने के लिये तड़प उठा। और वे मुजफ्फरपुर आ गये। अनजान नगर, अनजान डगर। अतः शासकीय संस्कृत कॉलेज पहुँचे। वहाँ प्राचार्य से कहा कि वे यहाँ अद्वैत वेदान्त पढ़ाने का इरादा रखते हैं। अवसर दिया गया। यहाँ व्यतीत होते जीवन की सच्चाई को उन्होंने "कर्मक्षेत्रे" में शब्दों से साकार किया है। अथवा यूँ कहा जा सकता है कि समय को शब्दों में बाँध दिया है। हवलदार त्रिपाठी से भेंट, शिवजी से वार्ता सभी कुछ आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के व्यक्तित्व की भव्यता, विराटता और निरालेपन को उजागर करती है।

'कर्मक्षेत्रे' के कर्मठ किन्तु कोमल हृदय सर्जक ने गरीबी से मुक्ति चाही थी पर ईमानदारी की शर्त पर। इसी के साथ मगध की माटी की सोंधी गंध से उन्हें सदा अगाध प्रेम रहा है। विद्याभास्कर गौरी शंकरजी के आमंत्रण पर वे लाहौर भी गये। पर कुछ समय बाद वापस मगध आ गये। जगदीशचन्द्र माथुर ने आकाशवाणी के लिये उन्हें दिल्ली आमंत्रित किया वहीं पृथ्वीराज कपूर ने बम्बई के लिये पुकारा किन्तु मगध प्रेम के सम्मुख ये पुकारें विलीन हो गईं।

"कर्मक्षेत्रे-मरुक्षेत्रे" वस्तुतः एक ईमानदार और स्वाभिमानी जीवन का दर्पण है। कर्तव्यों के प्रति सोच और दायित्वों के प्रति प्रतिबद्धता गोर्की की आत्मकथा के द्वितीय अंश "मेरे विश्वविद्यालय" की संघर्ष कथा का सहसा स्मरण करा देती है। संस्मरण लेखन की विधा एक चुनौती भरी विधा है। विगत के साथ न्याय करने की जिम्मेदारी से भरा हुआ। जिसे आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने बखूबी निभाया है। आचार्य श्री के गद्य पर

विद्वद्वर देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' का कथन सर्वथा सटीक है —"आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की जादुई प्रतिभा का सुधापरस पाकर जन्मी उनकी कृतियाँ हिन्दी गद्य साहित्य को अपने अनुपम और ललित अवदान से अलंकृत कर रही हैं।"

एफ-36, एम० पी० ई० बी० कॉलोनी,
मकरोनिया, सागर, म० प्र०-470004

★

अष्टपदी : एक दृष्टि

वर्षा सिंह

अष्टपदी : एक दृष्टि

□ वर्षा सिंह

(१)

सुख को जीना जितना सहज है, उतना ही दुष्कर है दुख को जीना…… जीना ही नहीं, उसे आत्मसात कर लेना तो और भी दुरूह कार्य है। दुखों को आत्मीय बनाना बिरले ही लोगों के वश की बात होती है। दुख से दुख की श्रृंखला जुड़ती चली जाती है; वर्त्तमान का एक गहन विषाद अतीत के सहस्राधिक विषादों को टटोल-टटोल कर कतारबद्ध करता जाता है। विषादों की लम्बी श्रृंखला से आत्मा का अटूट संबंध बनाये रखना अपने आप में एक बहुत बड़ी स्तुत्य उपलब्धि कही जा सकती है। साधारण मनुष्य भूल ही जाना चाहता है सारा दुख; वर्तमान का दुख और वर्तमान दुःख-जन्य विगत के विषादों की श्रृंखला। वह तो निरन्तर सुख और मात्र सुख के उपादान ही ढूंढ़ता रहता है। जबकि यह शाश्वत सत्य है कि दुखों से ही सुखों की प्रामाणिकता सिद्ध हो पाती है। सुख की पहचान ही दुख के आकलन पर निर्भर है। इसीलिए साधारण मनुष्य के वश में विषादों का लेखा जोखा सम्भव नहीं है। यह तो समूचे युग में एकाध व्यक्ति ही कर पाते हैं, जो निश्चय ही असाधारण होते हैं।

ऐसे ही असाधारण व्यक्तित्व और प्रतिभा के धनी, विलक्षण चारित्रिक दृढ़ता के प्रतीक, करुणा की प्रतिमूर्ति हैं आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री। हिन्दी वांङ्मय के पुरोधा आचार्य शास्त्री ने पीड़ा को, विषाद को, दुःख को पूरी गहराई से जिया और आत्मसात किया है। यही वजह है कि प्राणिमात्र के प्रति… मनुष्यों ही नहीं, वरन् मूक पशुओं के प्रति भी, उनकी करुणा मंदाकिनी के समान निरन्तर प्रवहमान होती है। स्वयं के दुख में परदुखों का समन्वय करने की क्षमता आचार्य शास्त्री में अद्भुत रूप में विकसित है। इसका जीता-जागता प्रमाण है पशुओं के प्रति उनका निःस्वार्थ स्निग्ध प्रेम।

स्वयं दारुण दुख झेलते हुए, अपरिमित विषाद के क्षणों में अपना दुख भूल कर, लगातार **परदुखों** की विगत स्मृतियों का चिन्तन आचार्य शास्त्री

की जीवनी के सातवें सोपान 'अष्टपदी' में विषाद की सार्वभौमिकता के साथ परिलक्षित होता है। अपनी पीड़ा से साक्षात्कार करते हुए आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने लगातार उन क्षणों की स्मृतियों को जिया है, जिन क्षणों में उन्होंने अपने पालतू पशुओं—गौओं, बिल्ली के नन्हें-मुन्ने बच्चों, दुधमुहे पिल्लों की पीड़ाओं को आत्मसात् किया था। 'अष्टपदी' यानी शास्त्री जी के शब्दों में 'आठ डग और' वास्तव में विषाद के क्षणों में जीवन की यथार्थता, निरन्तरता और ईश्वर की अनुपम कृतियों से साक्षात्कार के हैं।

ब्रह्ममुहूर्त में सन् 1985 के 18 जुलाई को आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री नित्यप्रति की भाँति गौशाला में गये। प्रकाश व्यवस्था में अवरोध होने के कारण उनकी पाली हुई एक गौ 'उर्मी' ने उन्हें घायल कर दिया। कूल्हे में चोट लग गयी और वे वहीं गौशाला में असहाय-से असहनीय पीड़ा सहते हुए पड़े रहे। भोर होने पर सूर्योदय के पश्चात् ही उन्हें वहाँ से उठाया जा सका। परिवारजनों को बिलम्ब से ज्ञात हो पाया कि वे दुर्घटनाग्रस्त हो कर गौशाला की भूमि पर एक नाद के समीप पड़े हुए पीड़ा झेल रहे हैं। निश्चय ही सबने तब यही जाना······ समझा कि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री इस अवधि में स्वयं की पीड़ाओं से उलझे हुए विषाद की परिधि में लिप्त हैं। किन्तु नहीं·········'अष्टपदी' के रूप में उनकी जीवनी पढ़ कर ही यह समझा जा सकता है कि पीड़ाजन्य विषाद के वे क्षण आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की अपनी पीड़ा के क्षण नहीं थे, बल्कि अपनी पीड़ा की अनुभूति ने उन्हें, विगत की पीड़ाजन्य उन अनेक अनुभूतियों के स्मृतिद्वार खोल कर उन पीड़ाओं से पुनः परिचित करवा दिया था, जो उनकी अपनी पीड़ा से नहीं उपजी थी। एक पाले हुए पशु से मर्मान्तिक वेदना पा कर वे उन दूसरे पाले हुए पशुओं की मर्मान्तिक वेदनाओं का स्मरण करते रहे, जिन्हें आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने आत्मसात कर लिया था। मानवता का यही वह चरम स्वरूप है, चरम बिन्दु है जहाँ से ईश्वरीय चमत्कारों की सृष्टि का प्रारम्भ होता है। ईश्वरीय गुणों के दर्शन होते हैं और ईश्वरीय प्रभुता का भान होता है। निजदुख से परदुख को प्रधानता देना ही मानव गुण से कहीं ज्यादा ईश्वरीय गुण के निकट है। 'अष्टपदी' के पृष्ठ-दर-पृष्ठ इसी ईश्वरीय गुण का आईना बन कर प्रेरणास्पद बन गये हैं।

दुर्घटनाग्रस्त होने के बाद पीड़ाओं की एक लम्बी यात्रा······· अस्पताल-दर-अस्पताल······ दवायें, डाक्टर, शल्य-चिकित्सा······ ज्वर·········और इन सबके मध्य अविरत चिन्तन ···अपने नहीं, पराये······नितांत पराये

विषाद का चिन्तन ...... चिन्तन की लम्बी शृंखला। 'अष्टपदी' के अनेक दृष्टान्त, उद्धरण, संस्मरण मानवता के चरम विन्दु की कथा कहने वाले हैं। विषाद की जिस सार्वभौमिकता को, आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने 'अष्टपदी' में उल्लेखित अपनी जीवन-घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में, अनजाने में ही निरूपित कर दिया है, वह अनेक ग्रन्थों के मनन, पठन के बाद भी अन्यत्र नहीं मिलती।

दुर्घटना के बाद दुर्घटना ....पहले बछड़े के मारने से कूल्हे की अस्थि का टूटना फिर अस्पताल के लम्बे इलाज के बाद पच्चीस वर्षों की विश्वसनीयता का प्रमाणपत्र दे कर लगायी गयी बोन-प्लेट का अचानक टूट जाना और इस बोन-प्लेट के टूटने के बाद आयुर्विज्ञान संस्थान में बितायी गयी त्रासदी-भरी रातें और दिन। किन्तु हर दफा, हर विषादपूर्ण लम्हें में निरन्तर उन बीते हुए दिनों की स्मृतियाँ, जिनमें सुख भी यदि है तो विषाद से जनमा। जैसे लम्बी काली अमावस की रात्रि के पश्चात उगा हुआ सूर्य मृत्यु की भयावह छांह से उबर कर निकला जीवन का कुन्दन। श्रेष्ठता का साक्षात्कार। 'अष्टपदी' के जरिये आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के अंतर्मन तक सहजता से पहुंचा जा सकता है। उनकी सोच, उनका चिन्तन और चिन्तन की कथाबद्ध अभिव्यक्ति—सभी कुछ प्रतिबिम्बित होता है 'अष्टपदी' रुपी दर्पण में। यहाँ पारे और सिंदूर के लेपन के स्थान पर दुख और सुख का लेपन शास्त्री जी ने जिस पाण्डित्यपूर्ण कौशल से सीधे-सादे ढंग से किया है, वह पढ़ने वाले के लिए आईने के सदृश है।

कालिदास पर शास्त्रीजी का दुर्लभ आलेख भी, जो कभी 'माधुरी' में प्रकाशित हुआ था, 'अष्टपदी' के माध्यम से सहज ही उपलब्ध हो जाता है। शास्त्री जी की सहजता का इससे बढ़ कर और कौन-सा उदाहरण हो सकता है कि वे एक स्थान पर 'अष्टपदी' में लिखते हैं कि "मेरी जिन्दगी जैसे एक ऐसी बात है, जिसमें कोई बात ही नहीं है।"

जिन्दगी का होना और न होना, जिन्दगी में किसी बात का होना और न होना....शेक्सपियर के बाद बहुत कम ही ऐसे रचनाधर्मी होंगे, जो अपना जीवन दर्शन इस सहजता से बयान कर जाते हैं।

विषाद और आनन्द सभी कुछ इतना सहज कि व्यक्ति अंतस तक महसूस करता है शास्त्री जी के प्रत्येक बयान को। किस्सागोई है तो दृष्टांतों के जरिये लयबद्धता। सत्य का इतनी सहजता से रूपांकन विलक्षण है।

शास्त्री जी का विषाद जीवन के प्रति आस्था उपजाने वाला है, जैसे प्रसव वेदना ही शिशु-जन्म का शुभ-संकेत होती है, जैसे घने बादलों का जमाव वर्षा के आगमन का संकेत होता है। वैसे ही विषाद का घनीभूत होना ही सुख के आगमन का संकेत बनता है। मिलने और बिछुड़ने के सत्य को सहजता से स्वीकार कर लेना ही विषाद में निहित सुख और आनन्द की बयानगी है।

"अष्टपदी" के "आठ डग" वामन के तीन डगों से कम नहीं हैं, जिन्होंने पूरी सृष्टि नाप ली थी तीन डगों से। ये "आठ डग" आठों यामों को नापने की क्षमता रखते हैं। यह कालजयी कृति प्रतिदिन पारायण के बाद भी मानस में, एक बार और बाँचने की उत्कंठा जगाये रहती है, यही वह सत्य है, जो 'अष्टपदी' को पढ़ कर मैंने अपनी अल्पबुद्धि के अनुसार समझा, जाना।

(२)

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री, जिन्हें लोग कवि के रूप में अधिक देखते, सुनते, पढ़ते और जानते हैं, वस्तुतः सर्वतोमुखी प्रतिभा सम्पन्न गद्यकार भी हैं। कविता के समान ही शास्त्री जी की गद्य रचनाओं की परिधि भी अत्यंत व्यापक और सार्वभौमिक है। उन्होंने अनेक कथाओं, आलोचनाओं, आत्मकथाओं, संस्मरणों, यात्रावृतों, उपन्यासों इत्यादि की रचनायें सफलता-पूर्वक की हैं। समानरूप से हर विधा पर कलम चलाना और पाण्डित्यपूर्ण वैभव से उसे समृद्ध करते जाना आचार्य श्री की विलक्षण प्रतिभा को प्रदर्शित करता है।

संस्मरणात्मक लेखन में आचार्य जी ने उदात्तता-पूर्वक सृजनात्मक अभि-व्यक्ति की है। आत्मीयता, मौलिकता व्यक्तित्व की अभिव्यंजना, जिंदादिली और व्यंगात्मकता उनके संस्मरण के विशिष्ट गुण हैं। 'अष्टपदी' भी इनसे अछूती नहीं है। इस पुस्तक में आचार्य श्री के गद्य का स्वरूप अपनी प्रांजलता, उत्कृष्टता और बहुआयामी गुणात्मकता के साथ प्रस्फुटित होकर सामने आया है।

वर्षों पहले सुप्रसिद्ध आलोचक नलिन विलोचन शर्मा ने जानकीवल्लभ जी के विषय में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा था कि "मैं समझता था,

पण्डितराज जैसा गद्य हिन्दी में नहीं लिखा जा सकता; आपने असम्भव को सम्भव कर दिखाने का जो प्रयास बराबर किया है, वह परिपूर्णता प्राप्त कर चुका है।" निःसंदेह शर्मा जी का कथन अक्षरशः सत्य है। इस सत्य का प्रमाण आचार्य शास्त्री जी के अन्य गद्य साहित्य एवं 'अष्टपदी' शीर्षक आत्म-कथा है।

'अष्टपदी' में आचार्यश्री के आठ वर्षों की जीवन संघर्ष-कथा के दर्शन होते हैं। सन् '40 से 48 तक की जीवन कथा को उन्होंने 'अष्टपदी' का नाम दिया है, यानी 'आठ डग और'।

शास्त्री जी के लेखन की सहजता ही वह कारण है, जो 'अष्टपदी' को जीवन्त गतिशीलता प्रदान करती हुई पाठक के हृदय में प्राणभूत अन्तर्धारा बन कर प्रवाहित होने लगती है। चूंकि शास्त्री जी का कविस्वरूप निर्विवाद रूप से अलौकिक, अद्वितीय और अप्रतिम है, अतः उनके गद्य में स्वाभाविक लालित्य की कमनीयता प्रचुर रूप से विद्यमान है। एकदम 'क्लासिक' और 'लिरिक' गद्य देकर शास्त्री जी ने हिन्दी साहित्य को अलंकृत किया है।

उनके संस्मरण सिर्फ उनकी अपनी बात तक सीमित न रह कर युगचेतना के रूप में उजागर हुए हैं। यथार्थ का बेबाक निरुपण करते हुए वे लिखते हैं—'जरासन्ध की-जैसी जिस्मानी ताकत अब कहाँ? अब तो पैसे की ताकत ही सबसे बड़ी ताकत हो गई है! पैसेवाला, जो मर्जी, खरीद सकता है। ऐसे में धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप का विवेक किसे है।' (पृष्ठ 47)

'अष्टपदी' में शास्त्रीजी अपने ही बीच के दया और करुणा से परिपूर्ण, संवेदनाओं और अनुभूतियों से भरे रचनाकार के रूप में दृष्टिगत होते हैं। वे स्वयं के बारे में कहते हैं—'मैं तो उन लोगों में हूं जो संस्कार, आचरण और चरित्र पर बल देते हैं, कच्चे-पक्के खाने पर नहीं'। (पृष्ठ—63)

'दुख की बहुत याद आती है। दुःख ही पैनी याददास्त की कसौटी है।'
पृष्ठ— 105)

पुस्तक के प्रारम्भ में, पालित बछेड़ी द्वारा चोट पहुँचाये जाने के हादसे से शुरु हुए दुखद प्रसंगों को जीते हुए, आचार्य श्री 1940 से '48 के दौरान जिये हुए सुखों-दुखों का स्मरण करते हुए अपनी आपबीती को 'अष्टपदी' के माध्यम से व्यक्त करते हैं।

'हंसबलाका', 'कर्मक्षेत्रे : मरुक्षेत्रे' और 'एक असाहित्यिक की डायरी' के बाद की यह जीवनगाथा, कवि शास्त्री जी का गद्य है। उनका कवि

हृदय, कालचक्र की कुटिल झंझाओं से पीड़ित होकर अपनी पीड़ाजन्य अनुभूतियों को शब्द बद्ध करते हुए, अनेक कविताओं, श्लोकों, शेरों के माध्यम से अपने गद्यलेखन को लालित्य और गरिमापूर्ण हृदयग्राहिता प्रदान करने में सक्षम है। बहुरंगी भाषा की धुवन अंतस को स्पर्शित करने और झकझोरने वाली है। यह उनकी बहुविज्ञता का प्रमाण है कि किसी एक संदर्भ को अभिव्यक्त करते हुए वे ऐसे अनेक पहलुओं की भंगिमाओं के पट अनजाने ही खोलते चले जाते हैं, जिनका उल्लेख उनकी आध्यात्मिक चेतना की ऊर्ध्व-मुखता के प्रति बरबस ही श्रद्धानवत कर देता है!

स्वय पीड़ातिरेक से दो-चार होते हुए भी शास्त्री जी मूक पशुओं, अशक्त प्राणियों की पीड़ा के प्रति चिन्तनशील हैं। पुस्तक के प्रारम्भ में वर्णित हादसे का उल्लेख करते हुए वे अपनी पालतू नन्हीं मुन्नी सतरंगिनी बिल्ली अलका, लोना और अन्य प्राणियों की चर्चा करते हुए स्वयं जितने अधिक भावविह्वल हो उठे हैं; उससे कहीं अधिक आर्द्रता उस पाठक के हृदय में अनजाने ही भर देते हैं, जो 'अष्टपदी' के माध्यम से उनके निकट होता है। यह उनकी सहज और पैनी लेखनी का चमत्कार ही तो है। इसी तरह का एक प्रसंग है काली चींटी का। पर्यावरणीय संचेतना और प्राणिमात्र के प्रति दया और करुणा से भरा हुआ शास्त्री जी का हृदय एक चींटी तक के प्रति कितना संवेदनशील है; यह इसी प्रसंग से प्रमाणित होता है। वे लिखते हैं—'अंगीठी में लकड़ी पड़ गई, जब बाबू साहब ने हँसते-हँसते अपने अविलम्ब लिए गये निर्णय को हंस कर दोहराया :

'अरे मार भी डालो इसे, हम तो काली के उपासक हैं!'

मुझे जैसे झंझावात ने जड़ से हिला दिया, धारदार शब्दों ने मेरे जकड़-बन्द ताले को झकझोर कर तोड़ दिया! मैंने अपनी बेसुरी सांसों में दुनिया भर की नमी भर कर कहा :

'चींटी भी काली है, बाबू साहब!' (पृष्ठ—32)

शास्त्री जी रमना और मुजफ्फरपुर के जिए हुए शब्दों को याद करते हुए बहिन अमला और सुमित्रा का स्मरण करते हैं। एक अत्यंत मार्मिक कविता 'सुमित्रा की शेष स्मृति', उनकी बहिन की मृत्यु के समय जो उनकी अनुभूतियों से सहज ही प्रवाहित हो उठी थी; 'अष्टपदी में वर्णित है।

शास्त्री जी का हृदय संस्कारी और धार्मिक साहिष्णुतायुक्त है, किन्तु अनेक प्रसंगों में वे धर्मान्धता से दूर तर्क को प्रमुखता देते हैं। सत्य को सत्य

के रूप में ही स्वीकारना उनकी विशिष्टता है। बाबू साहब से रामप्रसंग पर की गयी लम्बी चर्चा इसी की बानगी है। सम्पूर्ण चर्चा के उपरान्त अंत में उनका संस्कारी हृदय, समस्त तर्क-वितर्कों के बाद, तर्क को तर्क तक ही सीमित रखता हुआ बुजुर्ग रामभक्तों से कहता है—

जो बालक कछु अनुचित करहीं,
गुरु पितु-मातु मोद मन भरहीं !

गोस्वामी तुलसीदास जी की उक्त चौपाई से वे अपने द्वारा दिये गये तर्क-वितर्कों की छाया को क्षण में धूमिल कर देते हैं। यह पांडित्य पूर्ण चातुर्य और साहस शास्त्री जी के अपरिमित ज्ञान का परिचायक है।

(देखें पृष्ठ 76 से 91 का प्रसंग)

जितना माधुर्य, आलंकारिक चमत्कार और शैली-प्रवाह आचार्यश्री की ललितललाम कविताओं और गद्य लेखों में है, उतना ही सुरीला कण्ठ और संगीत उनकी रचनाओं से मुखरित होता है। उनके गीतों का पाठ सुनने के लिए रसज्ञ श्रोताजन उन्हें अनेक काव्यपाठों, कवि सम्मेलनों में निरन्तर आमंत्रित करते रहा करते हैं। ऐसे ही कुछ कवि सम्मेलनों की स्मृतियों को आचार्य श्री ने 'अष्टपदी' में स्थान दिया है। दिनकर, रामकुमार वर्मा और बच्चन के साथ पूर्णिया में आयोजित कवि सम्मेलन, चम्पारण का सम्मेलन, कई-कई यादें और यादों के साथ जुड़ीं पीड़ादायक कालाजार ज्वर के लम्बे प्रकोप की भी स्मृतियाँ। दिनकर जी से जुड़े अनेक अछूते प्रसंग भी यत्र-तत्र उजागर किए हैं आचार्यश्री ने। उन्हें याद करते हुए शास्त्री जी लिखते हैं—

'दिनकर जी अपने समय के सूर्य थे उनके प्रकाश में दूसरे अपने-पराये को जानते-पहचानते थे।'

(पृष्ठ-206)

वे आगे कहते हैं:—'एक खास कालखण्ड में दिनकर का एक खास किस्म का लेखन हिन्दी की अपनी धरोहर है।'··· 'दिनकर की शख्सियत को मैंने सदा स्वीकारा है।'

(पृष्ठ, 210-211)

निराला से पूर्णतः प्रभावित होने के साथ ही शास्त्री जी ने अन्य सरस्वती पुत्रों की भी खुल कर सराहना की है। किसी प्रकार का पूर्वाग्रह नहीं है उनके स्वच्छ हृदय में। नेपाली जी की चर्चा करते हुए भी शास्त्री जी भाव विभोर हो उठते हैं। मुंगेर के कवि सम्मेलन के प्रसंग में वे कहते हैं—

गर्मियों के दिन। पसीने से लथ-पथ था ही, ऊपर से नेपाली जी ने लहर-लहर स्वर में रस बरस कर पूरी तरह भिगो दिया था।' (पृष्ठ 215)

अनेक सफल कवि सम्मेलनों की स्मृतियां 'अष्टपदी' के वातायन से झांकती हैं। शास्त्री जी को मंचों पर हाथों-हाथ लिया जाता है। प्रशस्तिस्वर और करतल ध्वनियों से निरन्तर नवाजा जाता है। किन्तु शास्त्री जी को कभी गर्व नहीं इस सब पर। वे सच्चे सरस्वती सपूत हैं। उनकी साहित्य अराधना करतल ध्वनियों से संबर्धित जरूर हुई, किन्तु उसी पर पल्लवित-पुष्पित होने की मोहताज नहीं रही। मुंगेर के राजकुमार शचीनन्दन सिंह 'भ्रमर' के आतिथ्य में बीते दिनों की चर्चा करते हुए, अपनी आप बीती पर सहज दृष्टि डालते हुए शास्त्री जी बरबस पाठकों को अपनी प्रवृति, अपनी साहित्य साधना की उत्कृष्टता की झलक मात्र से परिचित करा देते हैं।

'और हां, ऐसे ही प्रशस्तिस्वर और करतल-ताल से संवर्धित भी हुआ हूं। किन्तु यह मेरी असली जमीन नहीं है।' (पृष्ठ, 222)

वास्तव में यह निर्विवाद रूप से शाश्वत सत्य है और रहेगा कि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की असली जमीन वही है, जो कालिदास की थी, जो लेव टालस्टाय की थी।

बहुआयामी प्रतिभा से सम्पन्न आचार्यश्री का हिन्दी पर ही नहीं, अपितु संस्कृत, उर्दू, अंग्रेजी, बांग्ला आदि अनेक भाषाओं पर समान अधिकार है। गद्य और पद्य दोनों पर ही समान रूप से उनकी कलम चली है। क्लासिक और लिरिक गद्य देकर हिन्दी साहित्य को अलंकृत, गौरवान्वित करने वाले आचार्य श्री जानकीवल्लभ शास्त्री की 'अष्टपदी' निःसंदेह हिन्दी वांगमय की अमूल्य निधि है। जिसमें मानवीय करुणा के स्वर हैं, बौद्धिक संवेदना का चिन्तन है और दुख के प्रति गहरी सहिष्णुता""ऐसी ऊर्जस्विता कि प्रतिकूलताओं के विरुद्ध संघर्ष को सम्बल दे सके। विश्व साहित्य की यह अद्भुत, अनुपम कृति है 'अष्टपदी'।

एफ-36, एम० पी० ई० बी, कालोनी
मकरोनिया सागर-470004
(म० प्र०)

एक असाहित्यिक की डायरी
आत्माभिव्यक्ति की परिधि में

डॉ० तालकेश्वर सिंह

'एक असाहित्यिक की डायरी' आत्माभिव्यक्ति की परिधि में

□ डॉ० तालकेश्वर सिंह

रचना मानस में उद्दीपन की रेखायें बनती और मिटती रहती है। बनने और मिटने की इसी प्रक्रिया में एक नयी उद्भावना आकार ग्रहण करती है और यही उद्भावना अनुभूति की तीव्रता एवं विचार के गाम्भीर्य के अनुरूप गद्य और पद्य, किसी में भी अभिव्यक्ति का क्षण बनाती है। अभिव्यक्ति के क्षण और भोगे क्षणों की अभिव्यक्ति के संगम पर रचना का रूप-निर्माण होता है। इसी बिन्दु पर रचित होने के कारण आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की पुस्तक 'एक असाहित्यिक की डायरी' रचनाकार के दर्द और परिवेश को कभी स्व और पर की परिधि में तो कभी परिधि के बाहर रचना और रचनाकार के अन्तस्सम्बन्धों की पहचान निर्दिष्ट करती है। रचना के दौरान रचनाकार की अन्तर्यात्रा के घुमावों को प्रकाश देती है। मिलन के उन बिन्दुओं को पकड़ती है जो भीतर के लेखक और बाहर के व्यक्ति के अन्तराल को स्पष्ट करते हैं। अनुभव की मधुर और तिक्त गन्ध भी यहाँ है।

'स्वान्तः सुखाय' लिखा जाने वाला साहित्य भी 'सवान्तः सुखाय' की सम्भावना को समेट कर चलता है। अपने भीतर "सुरसरि सम सब कहँ हित होई" के अर्थ-गौरव के साथ व्यक्ति की संवेदना को समाज की व्यथा से जोड़ता है। साहित्य में व्यक्ति और समाज दोनों की पीर अभिव्यक्ति पाता है। व्यक्ति और समाज की यही पीर साहित्यिक बिधा (रूप) का आन्तरिक आधार प्रस्तुत करती है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री लिखते हैं, सच तो यह है कि साहित्य-सर्जना कोई हादसा नहीं है, वह तो जैसे विन्ध्य के बाद अनेकानेक संभावनायें लिए हिमालय का उज्ज्वल आविर्भाव है, भरी नदियों से नहर निकाल लेने का कौशल भर नहीं है, सतत रस-वर्षण से कहीं अन्तर्हित हुई सरस्वती का भी अपरोक्ष आभास देते रहना है। रचना इकलौती चेतना का एकतरफा प्रकाश शायद नहीं होती।" (एक

असाहित्यिक की डायरी : काँच की छतरी) असंदिग्ध रूप से आचार्य जानकी-वल्लभ शास्त्री ने असाहित्यिक के अन्तर से सम्भावना के सत्य को पूर्ण साहित्यिक वाणी दी है। सम्भावना के सत्य और सत्य की सम्भावना को भाषायी परिवेश में ढाला है। साहित्य व्यक्ति-चेतन की अभिव्यक्ति-भर नहीं है, अपितु व्यक्ति-चेतना का समष्टि-चेतना में तथा समष्टि-चेतना में व्यक्ति-चेतना के पर्यवासन का प्रयास है। इसीलिए साहित्य में व्यक्ति और टाईप की लय से जीवन्त चरित्र बन पाता है। व्यक्ति और समाज संग-संग चलते हैं।

निराला के गीतों में स्व के दर्द से कम पर की पीड़ा नहीं है। रचना को निजी जीवन-यात्रा के भोग से निस्संग करके प्रस्तुति में समर्थ कलाकार से ही यह संभव है। निराला के गीत घराऊ अदायगी से असंपृक्त अपनी स्वर-साधना में व्यापकता को समाहित कर लेते हैं। वीणा वादिनी वर दे! व्यक्तिनिष्ठ अनुभूति की व्यंजना मात्र नहीं है अपितु समष्टि का समर्पण-गान है। इसका सरगम सीधे इस तत्त्व से जोड़ता है. जहाँ से सब कुछ निःसृत होता है। ऐसे महामानव के दर्शन से अन्तर में जो भाव-प्रेषण होता है वह अकल्पनीय होता है : "मैं तो पहली बार यह सब देख सुन रहा था, मेरी मनःस्थिति सर्वथा अकल्पनीय थी।" (वही र० 1) इसलिए कि वे निराला अतुलनीय थे! कल्पना के पख उनकी कल्पना में सिकुड़ जाते थे।

ललित कलाओं में काव्य को सर्वोपरि माना गया है। काव्य के बाद संगीत का स्थान है। उपकरणों की उत्तरोत्तर सूक्ष्मता कलाओं की श्रेष्ठता की उद्घाटक है। वर्ण और स्वर काव्य तथा संगीत के आधार हैं। सधे वर्ण और स्वर काव्य एवं संगीत को अभिव्यक्ति का मजबूत आधार देते हैं। जहाँ दोनों की मैत्री सिद्ध होती है वहाँ अभिव्यक्ति प्रभावी होती है। काव्य और संगीत एक दूसरे के संग हो जाते हैं। वेदना की अभिव्यक्ति से काव्य तथा संगीत में निखार आता है। कबीर, सूर, तुलसी, मीरा तथा आधुनिकों में निराला के गीत व्यथा की अन्तर्कथा भी कहते हैं तथा संगीत की लहर भी छिटकाते-थहराते हैं। कटूक्तियों का गरल पायी रचनाकार ही संसार को अमृत का अशेष भंडार निर्व्याज सौंपता है। निराला ने संसार को केवल दिया है। संसार से प्रेम की जगह उन्हें घृणा मिली है। सहानुभूति की जगह आक्रोश मिला है। सहृदयता की जगह कषाय व्यंग्य मिला है।

निराला न केवल गीत लिखते थे उसकी सस्वर प्रस्तुति भी जानते थे। और "गाते समय उनके प्रदीप्त मुखमण्डल पर परमहंसी भाव तैरता रहता

था। आध्यात्मिक ज्ञान की अतिशयता में एक अवधूत, व्यवहार-विचार में एक निर्विकार संन्यासी, परमहंसों की-सी अनासक्त विचार-आचार-संहिता, रस-समुद्र की द्विधाभूत तरंगों-कवित्व, और संगीत पर एक-एक-सा लहराता हुआ मन। निराला निराला है।" (वही पृ० 2) निराला रचना और चितना के मिलन-बिन्दु थे। बद्ध और मुक्त प्राणियों से सर्वथा ऊपर। सम्पूर्ण मानवता से प्यार करने वाले। निराला के काव्यास्वाद का एक और निकष जानकीवल्लभ शास्त्री ने दिया है। "अतीन्द्रिय का स्पर्श पाए बिना कोई लेखक आध्यात्मिक अनुभूतियों की वैसी छूनेवाली अभिव्यक्ति नहीं दे सकता।" (वही पृ० 4) लेखक केवल लिखता ही नहीं है, वह पाठक की बोध-शक्ति को उभारता है, उसकी संवेदना का संस्कार-परिष्कार करता है तथा भावना का आधार भी प्रस्तुत करता है।

पंत, प्रसाद और निराला की त्रयी पर आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का भावुक-मन बराबर टिका रहता है। संस्कृत वाङ्मय से तुलसीदास तक उनका भावन व्यापार अपनी परिधि बनाता है। सचमुच आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री रचना और आलोचना के समन्वित व्यक्तित्व हैं। भारत की चिन्तन-परम्परा उनके समक्ष स्पष्ट है। और वह भी लकीरों की आकृति भर नहीं है, परम्परा की पूरी पहचान है। अतीत के गर्भ-गृह से परावर्तित होने वाले प्रकाश से आत्मीय परिचय है। सभ्यता और संस्कृति की बारीकी का परिज्ञान है। सभ्यता बाहरी चमक है ओर संस्कृति भीतर का प्रकाश। भारतीय संस्कृति में अध्यात्म और भौतिक दोनों का समाहार है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की परिकल्पना में अध्यात्म और भौतिकता का अन्तर्भाव है। त्यागपूर्वक भोग भारतीय संस्कृति की प्राणभूत विशेषता है।

'एक असाहित्यिक की डायरी' में गीतिकाव्य की विशिष्ट चर्चा है। गीतकार की कलम से गीतकाव्य का ऐसा विश्लेषण अद्भुत है। गद्य और पद्य में समभ्यस्त, आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री साहित्य की तमाम विधाओं पर साधिकार कलम चलाते हैं।

कविता, नाटक तथा उपन्यास आदि के लिए साहित्य का प्रयोग होता है। किन्तु साहित्यिक विधा नाम मात्र नहीं है। अपितु, साहित्य की अनिवार्य संस्था है। व्यवस्था का एक सिद्धान्त है। गीतिकाव्य (लिरिक) कवि की निजी अनुभूति का प्रतिफल है। बाहर के परिवेश से दूर हृदय की भावात्मक स्थिति है। व्यक्तित्व से जुड़ाव गीतिकाव्य में अधिक होता। परन्तु जब यही जुड़ाव कवि व्यक्तित्व से असंग होकर बाह्य संसार से सम्पर्क सिद्ध करता

है तब गीतिकाव्य भी सार्वत्रिक की ओर प्रयाण करता है। आत्मनिष्ठता के साथ समाज की तरंग-ध्वनि भी सुनाई पड़ती है।

ऋग्वेद की स्तुतियों में व्यक्ति और समाज दोनों के भाव एवं दर्द व्यंजित हैं। 'रामचरित मानस' लिखा गया है 'स्वान्तः सुखाय', पर स्व से असंग होकर। किन्तु कहीं-कहीं असंग के संग स्व भी अपनी झलक दिखा जाता है। रचना से रचनाकार का नितान्त असंग हो जाना संभव नहीं है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री कहते हैं—"ऋग्वेद से 'रामचरित मानस' तक का भारतीय साहित्य वर्ण और वर्ग में विभक्त समाज के ही अनुभव चिन्तन और कल्पना का तो वैभव-विस्तार है।" (वही, पृष्ठ 58) वर्ण और वर्ग प्रत्येक युग में सद्भाव और विकास की प्रतिरोधी धार के रूप में खड़े होते रहे हैं और भारतीय संस्कृति ने अपने समन्वयशील स्वभाव के अनुरूपवाद के भीतर से संवाद को प्रकट किया है। किसी बाहरी चिंतन का प्रभाव यह न होकर भारत की मिट्टी की गंध ही समन्वय-पुष्पों की सोधित सुगन्ध बनी है। कबीर की रहस्यानुभूति में वर्गहीन समाज की कल्पना मुखर नहीं है, अपितु ऊपर से क्रान्ति-दर्शन जैसा दीखने वाला भाव तत्त्वतः प्रेम-दर्शन है। अध्यात्म और भौतिकता को कबीर प्रेम की डोर में गुंफित करते हैं। कबीर, सूर, तुलसी, मीरा तथा संतों के प्रेम-गीतों में समर्पण के साथ सबका स्वीकार है। गिरिधर गोपाल के अंगीकरण में समष्टि का समावेश है। गीतिकाव्यों की आत्मनिष्ठता प्रबंध-काव्यों तथा प्रबन्ध-काव्यों की वस्तुनिष्ठता गीति-काव्यों में समाविष्ट हो गयी है। यही समाविष्टि निर्वैयक्तिक धरातल का निर्माण करता है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की स्थापना है, "यों 'रामचरित मानस' से मेघनाद वध तक ऐसा एक भी प्रबन्ध-काव्य मेरे देखने में नहीं आया जिसमें इन दोनों के सम्मिलित तत्त्व (Clements, Properties) न हों!"
(वही, पृष्ठ 59)

अंग्रेजी लिरिक (Liric) के लिए हिन्दी में गीतिकाव्य का प्रचलन है। संवेदना एवं अनुभूति से गीतिकाव्य का सीधा सम्बन्ध होता है। व्यक्ति परक स्थिति गीतिकाव्य में होती है, पर समष्टि अनुभव से इसे कटा नहीं कहा जा सकता। गीतिकार के व्यष्टि-अनुभव का जब समष्टि-भाव में समीकरण होता है तब गीतिकाव्य में भी असंगतता आ जाती है। उदाहरण के लिए सूरदास के —'जा पर दीनानाथ ढरे' में आत्म-निवेदन के स्वर में तमाम जीवों की भावात्मक स्थिति है। दीनानाथ के द्रवण में सबका मंगल है। 'सियाराम मय सब जग जानी' में अखिल सृष्टि की वन्दना इसलिए रच गयी

है कि सबमें राम है और राम में सब हैं। कोई विकल्प अथवा अपवाद नहीं है। जाति और सम्प्रदाय के लिए कोई अवकाश नहीं है। भक्ति-काव्य विस्तृत आधार फलक पर पूरी गम्भीरता के साथ खड़ा है। प्रेम का जो प्रकाश वहाँ से छन कर आ रहा है वह आज के जीवन का मंगल-विधान है।

गीतिकाव्य की कलात्मक पूर्णता के कतिपय आदर्श आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री प्रस्तुत करते हैं। भावना, भाषा, शैली और अन्विति से गीतितत्व रक्षित रहता है। तुलसीदास के पदों में अनुभुति और कला की पूर्णता है। भीतर के भाव प्रकृति के चित्रण में अपनी पूर्णता सिद्ध करते हैं। आधुनिक हिन्दी में भी कलात्मक पूर्णता के पर्याप्त गीत लिखे गये हैं। गीत का बहाव ऋग्वेद से प्रारम्भ होकर आज तक विद्यमान है। पड़ाव और ठहराव के नये बिन्दु भी बने हैं; किन्तु "हम तत्त्वदर्शी कबीर को, भक्त-शिरोमणि तुलसीदास को गाते देखकर गा उठे। बह गई बौद्धिकता कबीर की गीता की सुधा-धारा में; उमड़ पड़ा रस-प्रवाह तुलसी की विनय में; सूर के सूर आँखों में प्राणों की रसार्द्र आभा उभरते रहे, मीरा की वेदना-विह्वल कण्ठ मन की निर्जन घाटियों को यों गुंजाता रहा जैसे आधी रात के सन्नाटे को पपीहे का निर्जन आह्वान।" (वही, पृष्ठ 67) स्वर और भाव के संगम पर उत्कृष्ट गीत लिखे जाते हैं। भाव का स्वर और स्वर का भाव गीतिकाव्य को विशिष्टता प्रदान करता है।

गीत और गीतिकाव्य में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री स्पष्ट अन्तर करते हैं। वे कहते हैं, "मेरे विचार से गीत और गीतिकाव्य एक नहीं हैं। गीत का दायरा बड़ा है, गीतिकाव्य का छोटा। गीत की परिधि में गीतिकाव्य आ सकता है, गीतिकाव्य कहने से गीत काव्य का बोध नहीं होता। सुस्पष्ट शब्दों में गीतिकाव्य भारत में अँकुरा, फूला और फला है। गीतिकाव्य पश्चिम की हवा में बह कर आया हुआ वैयक्तिक संवेदनाओं का साधारणीकृत स्वर-विशेष है।" (वही, पृ० 70) भारत में ज्ञान भी गेय हो गया है। ज्ञान और गेय की अन्विति का सरगम रच गया है। गीत वैयक्तिक उद्‌गार न होकर निर्वैयक्तिक गुरु-वाणी है। गीत ही गीति काव्य की सुधा-धारा है:

मैं गाऊँ तेरा मन्त्र समझ,
जग मेरी वाणी कहे - कहे !
बरसे वह तेरी सुधा धार,
जग उसको पानी कहे कहे !

मन्त्र की भाषा में असंगता होती है। वैयक्तिक अनुभूतियों से रचा गीत जब अपनी समष्टि-ध्वनि को अभिव्यंग्य बनाता है तब वह आत्मनिष्ठ भावों का अभिप्रकाश मात्र न रह कर प्रार्थना बन जाता है। ऐसे प्रार्थना-गीतों की दृष्टि से आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री स्तुति-परम्परा के गीतकार ठहरते हैं। और, 'एक असाहित्यिक की डायरी' समर्थ रचनाकार की समर्थ कलम से निकला समर्थ गद्य का समर्थ नमूना है !

स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

★

धूपतरी : एक मूल्यांकन

रश्मिरेखा

'धूपतरी' : एक मूल्यांकन

□ रश्मिरेखा

धूपतरी आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के गीतों का अन्यतम संकलन है। उत्तर छायावादी सौन्दर्य की अमूर्त्त सिहरन से लेकर नवगीत तक की आधुनिकता का विस्तार उन गीतों में है। प्रेम और सौन्दर्य शास्त्रीजी के गीतों के केन्द्रीय भाव हैं। धूपतरी के गीतों में इस भाव के भी कई रंग हैं अपितु रंगों की भी कई-कई पर्त्तें हैं, जो तह दर तह खुलकर उस सौन्दर्य को उद्घाटित करती चली जाती है। ये सारे गीत खण्ड-खण्ड न लगकर एक संघटित अनुभूति का अनवरत प्रवाह है, जो उनके प्रत्येक गीतों में नये-नये बिम्बों और प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है। उसी तरह जैसे—

"तोड़-तोड़ मिट्टी की परतें
अंकुर सुन्दरता के उगते" (पृ० 18)

वे उस अनुभूति को व्यक्त कर मुक्त हो जाना चाहते हैं पर पुनः वही अनुभूति फिर एक नये सिरे से चमकने लगती है। जब यह संभव दिखाई नहीं पड़ तब "कहते-कहते अकह जो रह गया" की व्यंजना के लिए कवि "कौन मौन क्षण अपने में सुनसान है"—पर उतर आता है। अभिव्यक्ति की यह व्याकुलता कवि को बार-बार घेरती है।

इस मौलिक सर्जना की पृष्ठभूमि में प्रेम के सम्बन्ध में कवि की निजी धारणा है कि प्रेम वह महान तत्त्व है, जो व्यक्ति को रिक्त करने के बदले और समृद्ध करती चलती है। इसी प्रेम तत्व में रंगकर कवि अकेले ही सारे जीवन संघर्ष से जूझने को तत्पर हो उठता है—

"डूब गये जलयान हजारों
कश्ती की क्या हस्ती

फिर भी मौजों के सर चढ़कर
हँसती मेरी मस्ती
मैंने अपने हाथों खेई
मेरा न था खिवैया
पार नहीं मझधार नहीं
झकझोर रही पुरवैया (पृ० 16)

प्यार-एक नैसर्गिक चीज है। उसे जितना ही दबाने की कोशिश की जायेगी वह उतना ही उफनता है। उसे किसी बंधन में भी नहीं बांधा जा सकता—कसने पर 'और कसो तार, तार सप्तक में गाऊँ' की तरह झंकृत होता ही रहेगा। कवि ने इसी भावना को एक सर्वथा नये बिम्ब में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—

"सुर्ख धागों में कभा
किन्तु तड़फड़ाता —सा
सख्त डंठल से बंधा
किन्तु सर उठाता —सा
सब्ज कोंपल में छिपा
नर्म किरन में सिहरा
प्यार का फूल खिला
ताल में विजन के (पृ० 58)

प्रेम के अशरीरी न मानते हुए भी उसके सुख-दुख की सारी अनुभव प्रक्रिया से गुजर कर सामान्य से सर्वथा भिन्न एक दूसरी ही कोटि की अशरीरी—अनुभूति कवि प्राप्त करता है। वे इसे माया समझकर त्याज्य नहीं समझते-अपितु उसमें गहरे डूबकर उसके पवित्र एवं गरिमामय रूप की ओर संकेत करते हैं—

"झीने-झीने मलय झकोरे
डाल रहे फूलो पर डोरे
एक गन्ध अब भी अनजानी
छना कुञ्ज सारा का सारा" (पृ० 47)

या फिर—

'औचक झकझोर गया
नया था झकोरा
तन में भी दाग लगे,
मन न रहा कोरा" (पृ० 42)

धूपतरी के गीतों में प्रकृति अपने आदिम समृद्धि के स्रोत के रूप में अभिव्यक्त हुई है। कवि उसकी भाव सम्पदा पर न्योछावर है लुटा हुआ सा। तभी तो वह कहता है—

"प्रात पवन का नैश समर्पण
तन से मन हरने लगा—
पलकों की कंपकपी अलस
पदतल में पनपी घास में
एक नया सपना
आँखों के कुहरीले आकाश में" (पृ० 45)

इन गीतों में वर्णित प्रकृति-चित्रण अपने वैविध्य और आकर्षण में चकित कर देने वाला है। कहीं "केसर कुंकुम लहका दिगन्त है तो कहीं "धूपतरी तिरती कुहरी की झील में"। कहीं यदि "आँसूओं टंगे सपने तोरण उजड़े नीड़ के" है तो कहीं "सहमा सा आलोक भींगता, तिमिर के द्वार" एक ओर यदि "चाँदनी थरथराई तिमिर पुंज में" तो दूसरी ओर "आते-आते ठहर गया सा ठहरा पतझर" है। कहीं अगर इन्तजार का हरसिंगार, बिजन में खिलकर झर गया" तो कहीं "गन्ध की अनन्त वेदना ही वसंत है। सचमुच प्रकृति सौन्दर्य की ऐसी अद्‌भुत व्यंजना साहित्य में अद्वितीय है—

भोर-भोर गोरैयों की
उतरी खेतों में रोर
चह-चह चहल पहल चकचौंधी
यहाँ - वहाँ चहुँ ओर

किरनें भी हो गईं शबनमी
घास-पात को छेड़
बीच खेत में हुई झिलमिली
हरियाली की मेड़ (पृ० 54)

कवि ने अपने सम्पूर्ण जीवन बिम्ब को प्रकृति बिम्ब में बांधने का अपूर्व प्रयास किया है। इन्होंने प्रकृति बिम्बों में अनेक संदर्भों, भावों और अनुभूतियों में अपने निजी संवेगात्मक क्षणों को जीने, पहचानने और पूजने का सफल प्रयास किया है। इसके साथ-साथ इन्होंने अपने भीतर के सुख-दुःख के अनुभव से गुजरते हुए उसे सामान्य जन-जीवन की पीड़ा से जोड़कर एक अद्‌भुत विस्तार दिया है। तभी तो प्रकृति इनके गीतों में आकर संवेदनशील हो उठती है—

"चांद का फूल खिला
ताल में गगन के
दर्द की सर्द हवा
गम की नमी में डूबी
कसमसाहट की कसम
है जमीं ऊबी - ऊबी (पृ० 58)

प्रकृति के अमूर्त्त सौन्दर्य के मूर्त्त अंकन में भी कवि को अपूर्व सफलता मिली है। एक तो नीरवता-अपने में ही अमूर्त्त है, फिर उसकी खनक सारे वातावरण में वायवी सौन्दर्य की अनुपम सृष्टि करता है।

"खनक रही—सी नीरवता पतझार की
महक रही केवलता सूनी डार की" (पृ० 9)

या फिर यह वायवी सौन्दर्य, जिसमें अमूर्त्त सौन्दर्य की सूक्ष्म सिहरन के साथ कवि का अपना अन्तः जीवन भी स्पंदित है—

"नींद भिगोई, सपनों डूबी
सुधि की नीली डोर

हरियाली हिलकोर

झुला देती तन मन झकझोर" (पृ० 26)

कई आलोचक शास्त्री जी के इन गीतों में दार्शनिक सूत्रों का भी अन्वेषण करते हैं अनेक जगह पर उनकी बिम्ब योजना से यह भ्रम उत्पन्न होता है। जैसे —

"तिरते हैं जलयान तान सिर

पार उतर जाते

अर्न्तमरु की गहराई

अब भी अनजानी रे" (पृ०, 68)

या फिर—

"कोई प्यासा भी न पी सका

खारा पानी रे

सिन्धु नहीं यह, प्यासे जग की

करुण कहानी रे" (पृ० 68)

पर वास्तव में यह कवि के अन्तरतम की सीधी-सादी और ईमानदार अभिव्यक्ति है। जिसमें हम कोई भी दार्शनिक सूत्रों का अन्वेषण कर सकते हैं या किसी वाद मे रख सकते हैं।

पर धूपतरी के कोमल गीत केवल प्रेम और सौन्दर्य के दायरे में ही नहीं घूमते अपितु अपना समय भी अपनी तमाम भयावहता के साथ दर्ज है। एक संवेदनशील व्यक्तित्व की घुटन-टूटन और पीड़ा की सशक्त अभिव्यक्ति इन गीतों में होने के साथ-साथ खुरदुरा यथार्थ भी पूरी कलात्मकता के साथ इन गीतों में अभिव्यक्त हुआ है। कोई भी समझौता कवि के लिए असंभव है। अनुभव की ईमानदारी के प्रति वह प्रतिबद्ध है—पूरी आत्म सजगता के साथ। वह घोषणा भी करते हैं—

"बात ईमान की या कहो मान की

चाहता गान में मैं झलक प्राण की (पृ० 56)

समाज में अर्थ की सर्वोच्च प्रतिष्ठा के बाद जीवन के सारे छंद बिखर रहे हैं। हमारे संस्कार, मानवीयता, आत्मीयता का अवमूल्यन होता जा रहा है। राजनीति और अवसरवादिता हर क्षेत्र में हावी है। धूपतरी के अनेक गीतों में इन तथ्यों का उद्घाटन पूरी प्रखरता से हुआ है। अवसरवादी एवं सुविधा भोगी वर्ग के लोगों के कथनी-करनी की विषमता पर मारक व्यंग्य करते हुए कवि कहता है कि—

दुसिआए पाकड़ पर
बैठकर भुजंगा
बोल रहा ठाकुर जी
देख रहा दंगा (पृ० 36)

खोखले वायदे, नारे और रैली की राजनीति आज हमें और हमारे देश को कहाँ ले जा रही है। तरह-तरह के आप्त वाक्यों और आश्वासनों के भंवर जाल में हर बार भोली-भाली जनता ही ठगी जाती रही है। हम और हमारा भारत महान भले ही भूखा-नंगा रहे पर यह दीखना नहीं चाहिए। कवि इन दुरंगी नीति वाले नेताओं को बेनकाब करता हुआ जनता को अपने व्यंग्यात्मक लहजे में सावधान करता हुआ, उन नेताओं की चाहत इस रूप में व्यक्त करता है—

"नक्शे में फस्ल-भरे
हरे खेत खींचो
खून पसीने का क्या ?
रंगों से सींचो !
देश हमारा न दिखे
भूखा या नंगा ! (पृ० 38)

पर कवि जिसकी साध साधना से न बड़ी मेरी कोई" —जब अपनी काव्य-साधना का समुचित मूल्यांकन साहित्य-जगत में होते नहीं देखता है, तो उसका मन कसक उठता है और "अंधेर हो न हो, देर हुई, हक खो बैठा" —जैसी भावना उसके कवि-मन को घेरने अवश्य लगती है। निराला की

काव्य साधना की पीड़ा और मूल्यांकन के प्रति बरती गई उपेक्षा को वे काफी निकट से भोग और जी चुके थे। तभी तो उनकी मर्मान्तिक पीड़ा इन पंक्तियों में अभिव्यक्त होती है—

"मैं उठ जाऊँगा तब
लगवाओगे मेले ?
और सहा, जाता न?
रहा जाता न अकेले" (पृ० 41)

ऐसी पीड़ा का होना सहज ही है क्योंकि यह निर्विवाद सत्य है कि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की काव्य साधना का सही मूल्यांकन अपने समग्र रूप में अभी तक हिन्दी साहित्य में संभव नहीं हो पाया है। प्रसिद्ध नवगीतकार माहेश्वर तिवारी ने इस ओर दृष्टिपात करते हुए उसके कारणों को तह में जाते हुए स्पष्ट संकेत दिया है कि- "आज हिन्दी समीक्षा की जो नामवरीय प्रवृत्तियां हैं, उसमें बहुत सारे महत्त्वपूर्ण लोगों का अभी तक ईमानदार मूल्यांकन नहीं हुआ है। क्योंकि ऐसी शिखर आग्रही समीक्षा में समीक्षकों के सामने रचनायें नहीं होतीं, व्यक्ति विशेष होते हैं और उसका जो अराजक परिणाम हो सकता है, उससे न तो नेपाली छूट पाये न जानकीवल्लभ शास्त्री और न उन-जैसे तमाम दूसरे लोग।

(परिवेश—12, पृ०45माहेश्वर तिवारी से माधुरी सिंह की बातचीत)

कला की दृष्टि से धूपतरी के गीत अपनी कलात्मकता में कालजयी रचना है। काव्य कला है और उसे पूर्णता तक पहुँचाने वालों में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का नाम अन्यतम है। धूपतरी के गीतों में छंद विधान, प्रतीक और बिम्बों को ऐसा अद्भुत संयोजन कवि ने किया है कि उसकी सारी अर्थ संभावनायें झिलमिलाती रहती हैं। गीतों में व्यक्त गतिशील बिम्ब एक साथ कई-कई सौन्दर्य दृश्यों की सृष्टि करने में समर्थ है कि सारा अर्थ उद्घाटित होता चला जाता है। छंद-अलंकार एवं संगीत की राग रागनियों की दृष्टि से धूपतरी के सारे गीत एक अत्यन्त समर्थ प्रस्तुति है, जिसमें इन गीतों के माध्यम से सारा संगीत अपने सुर-ताल-लय समेत झंकृत होता रहता है। जिसे

कवि के स्वर में इन गीतों को सुनने का सुअवसर मिला है, उसे तो इन गीतों की राह से गुजरते समय एक स्वर्गीय आनंद की अनुभूति होती है। इन गीतों में कवि के गूंजते अमूर्त्त स्वर उसके सारे अर्थ को नए सिरे से उद्-घाटित करते हुए अद्भूत लय और अद्भूत लय के साथ कानों में शहद घोलते रहते हैं। और हमारा मन एक अपूर्व आनंद की धूपतरी पर निमग्न हो अनेक अर्थ संभावनाओं से भरी कुहरी की झील में तैरता हुआ चलता चला जाता है—चलता चला जाता है।

द्वारा—डॉ० अवधेश कुमार
इमामगंज
मुजफ्फरपुर-842001

★

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की काव्य-साधना

डॉ० वंशीधर लाल

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की काव्य-साधना

□ डॉ० वंशीधर लाल

आधुनिक युग के विशिष्ट कवियों में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री शीर्ष स्थान के अधिकारी हैं। छायावादोत्तर युग से अबतक रचनाशील वे एक ऐसे कवि हैं, जिनका रचनाफलक अत्यन्त विस्तीर्ण है। उनकी कविता एक भाव-विन्दु पर नहीं रुकी है। यदि कहीं ऐसा हुआ भी तो वहाँ सघनता कम नहीं है। साहित्य की लगभग सभी विधाओं में इतना कुछ लिखने वाले हिन्दी के एक मात्र कवि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री हैं। आलोचना, संस्मरण, उपन्यास, कहानी, नाटक, पत्रकारिता, काव्य आदि विविध विधाओं के रचयिता आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का हिन्दी आलोचकों ने अपेक्षाकृत कम महत्वांकन किया है। हिन्दी साहित्य के सहृदय समीक्षक कभी-कभार पत्र-पत्रिकाओं में लिखकर अपने आलोचक धर्म के निर्वाह की खानापुरी करते रहे हैं। हाँ, इधर डॉ० मारुतिनन्दन पाठक के सम्पादन में इक्यावन लेखों की एक पुस्तक 'आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ! समकालीनों की दृष्टि में' पहली बार प्रकाश में आई है, जो आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के कृतित्व पर कुछ हद तक प्रकाश डालने में सक्षम है। लेकिन इतने बहुआयामी व्यक्तित्व वाले रचनाकार को एक ग्रंथ की सीमा में समेट पाना दुष्कर है।

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की काव्य-साधना से सरस्वती के भांडार की श्रीवृद्धि हुई है। इनके शिल्प के उत्कर्ष को देखकर घनानन्द की ये पंक्तियाँ बरबस याद आती हैं—

'लोग है लागि कवित्त बनावत
मोहि तो मेरे कवित्त बनावत।'

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री परंपरा और प्रयोग के कवि हैं। परंपरा से मेरा अभिप्राय अपनी सांस्कृतिक विरासत से है, रूढ़ियों से नहीं। परम्परा साहित्य के लिए उपयोगी होती है, किन्तु रूढ़ि अवांछनीय है। साहित्य का विकास तब तक नहीं हो सकता जबतक रूढ़ियों से मुक्ति नहीं मिलती।

परंपरा विकसनशील होती है। देश, काल और परिस्थिति के अनुसार उसमें परिवर्तन होता रहता है। परंपरा में नवीन तत्वों का विकास और प्राचीन तथा अनुपयोगी तत्वों का ह्रास होता है। परंपरा में ही प्रयोग की गुंजाइश है। उसी से साहित्य में नये आयाम उद्घाटित होते हैं और नवीन परंपराओं की नींव पड़ती है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री इसी अर्थ में परंपरा और प्रयोग के कवि ठहरते हैं। उनकी रचनाओं में कुछ अंश ऐसा अवश्य है, जो उन्हें परम्परा से जोड़ता भी है और उन्हें उससे अलग भी करता है। कुछ में परम्परा का विकास है और कुछ में सर्वथा नया योगदान है। उन्होंने अनेक नयी कल्पनाएँ, नयी उद्भावनाएँ और नयी अनुभूतियाँ दी हैं। शिल्प में भी कई नये प्रयोग किये हैं। छंदों की दृष्टि से भी नये प्रयोग किये हैं और संगीत का तो पर्याप्त प्रयोग किया है। भाव को उन्मिषित करने वाली कविताएँ भी हैं और युग के यथार्थ की भूमि पर अधिष्ठित कविताएँ भी हैं। जहाँ आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री को परम्परा रूढ़ि प्रतीत हुई है, वहाँ उसे छोड़कर वे आगे बढ़ गये हैं। यही कवि की प्रयोगशीलता है। मेरे विचार से आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का सम्पूर्ण साहित्य मुक्ति का एक सार्थक प्रयास है, लेकिन वह मुक्ति कैवल्य के अर्थ में नहीं, संसार की जड़ता, अज्ञानता, असंगतियों की मुक्ति के अर्थ में है।

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के काव्य के मूल्यांकन के क्रम में कई प्रकार की भ्रांतियाँ अभी भी विद्यमान है, जिनकी ओर 'आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ! समकालीनों की दृष्टि में' शीर्षक ग्रंथ के 'आलोकवर्त्म' में डॉ० मारूतिनंदन पाठक ने संकेत किया है। वस्तुतः आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के साथ न्याय नहीं हो पाया है। कोई उन्हें छायावादी कहता है, कोई प्रगतिवादी और कोई प्रयोगवादी। दर असल में भ्रांतियाँ उनकी बहु-आयामी काव्य विस्तृत भूमि के कारण है। यह भूमि उन्हें किसी भी वाद के घेरे में वर्गीकृत करना कठिन है। वे स्वयं एक युग का निर्माण करते हैं, जिसमें आधुनिक काव्यधारा की अधिकांश प्रवृत्तियाँ समाहित हो जाती हैं। जिस समय छायावादी कवि कल्पना के कांतार में भटक रहे थे वहाँ आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री निराला की तरह कविता को यथार्थ की ठोस जमीन पर उतारने का प्रयास कर रहे थे। उनका विश्वास था कि यहाँ न तो फिसलने का भय है और न नीचे धँसने का। शायद यही कारण है कि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का युग आज भी समाप्त नहीं हुआ है। यह सही है कि प्रगतिवाद की धरती जीवन के बीच की धरती होते हुए भी

विज्ञापनी वृत्ति और मार्क्सीय सिद्धांतों से पटी रही। प्रयोगवाद की वैचित्र्यवाद और चमत्कार वृत्ति से भी आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की कविता अनछुई बनी रही। छायावाद की ठीक पीठ पर उतरने वाली मस्ती की वह जमीन, जो हाला, मधुशाला, से जानी जाती थी, वह भी आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री को उन्मत्त न कर सकी। मस्ती, खुमार और नशे की वह धरती, जहाँ प्रणय का रंग मस्ती के अल्कोहल से मिलकर नारी शरीर के उत्तरी, दक्षिणी ध्रुवों को सौन्दर्य के शराबी, पैमाने से माप रहा था, आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री को प्रवंचित न कर सकी। इसलिए वे नित्य ऐसी जमीन की बेइंतहा तलाश करते रहे, जिसका आकार विशाल हो और नींव मजबूत हो। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री वैसी जमीन की खोज करते रहे, जहाँ सौन्दर्य का कश्मीर भी चहकता हो और जीवन के कटु-मधु अनुभवों के अभ्रभेदी शिलाखंड जीवन की कटुता, भयंकरता और विसंगतियों का अहसास भी कराते हों। यही आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के काव्य का सत्य है और यही सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति उनकी 'काकली' से 'राधा' तक विद्यमान रही है।

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की साहित्य-साधना संस्कृत से शुरू होती है जो 1941 तक अबाध गति से चलती रहती है। 'काकली', 'लीलापद्मम्', 'बंदीमंदिरम्' आदि रचनाएँ कवि की महाप्राण शक्ति का परिचय देती है। यहाँ भी परम्परा और प्रयोग के दर्शन होते हैं। इन कृतियों की शैली और वस्तु तो पुरातन और पारंपरिक हैं, पर योजना में नयापन अथवा प्रयोग भी प्रतिभासित है। 1939 में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री अपनी पहली हिन्दी कविता-पुस्तक, 'रूप-अरूप' के माध्यम 'सामयिक धारा के प्रतिनिधि कवि' के रूप में प्रतिष्ठित हुए। कहीं तो वे चित्र के साथ नाद-साधना में रत दीखते हैं, कहीं आध्यात्मिक भूमि पर अर्पित दिखाई देते हैं। 'उत्पलदल' जैसे गीत पर्व के अवसरों पर वे वेदांत की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर निस्संग मालूम होते हैं, कभी एक क्षण के स्पर्श के लिए ठहरते हैं, कभी अविराम आगे बढ़ते जाते हैं। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की काव्य-साधना का यह रूप बड़ा आकर्षक है। कहीं तो वे अतीत के आकर्षण में घिर जाते हैं। तो कहीं वर्तमान पर इत्मीनान के साथ भरोसा करते दिखाई देते हैं। कभी सागर किनारे बैठकर उत्ताल तरंगों के साथ डूबते-उतराते हैं तो कभी खेतों में काम करने वाली मजदूरिन और उसके छोटे से अफीम खाये बच्चे के पास बैठे दिखाई देते हैं—

उदाहरण द्रष्टव्य है—

"नाविक अभी सवेरा है।
तरी खोल झट, कह, वह तट भी
पहचाना क्या तेरा है!

और—

गई काटने गेहूँ अम्मा
बाप गया बेगारी में है,
खा अफीम घर के कोने में
बच्चा पड़ा खुमारी में है।"

'रूप-अरूप' के उक्त उद्धरणों में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की काव्य-यात्रा के प्रारम्भिक उत्स देखे जा सकते हैं। इन्हीं रूपों का विकास उनकी परवर्त्ती रचनाओं में हुआ है।

'गाथा' (1944) में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री पुन: नव्य प्रयोग करते नजर आते हैं। इसकी प्रवृत्ति और प्रकार भिन्न प्रकार का है। कुछ गीति कविताएँ और कुछ गीति प्रकृति की लम्बी कविताएँ भी हैं और कुछ उनसे भिन्न कोटि की भी हैं। इसके गीतों में जीवन और जगत को लोक-मंगल की दृष्टि से देखने और तदनुरूप वस्तुपरकता को आत्मसात कर उन्हें आत्मपरक अनुभूतियों और संवेदनाओं में एकात्म करके, स्वर-लय के साथ अभिव्यंजित किया गया है। निराला की परंपरा में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ही एक मात्र गीत शिल्पी हैं, जिनके गीतों में अपनी धरती और मनीषा की भावधारा के पूर्ण संसार के साथ स्वर-लय की धारा प्रवाहित हुई है। उनकी समस्त रचनाओं में आत्मान्वेषण की प्रवृत्ति विद्यमान है। उनके गीतों में उनकी जीवन-दृष्टि यथेष्ट रूप में उभर कर सामने आती है। कर्म में जीवन का लक्ष्य और विस्तार आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के गीतों का केन्द्रीय भाव है। जीवन ज्योति जलाने और दुख को सुमुख बनाने की अद्भुत आकांक्षा उनकी रचनाओं में विद्यमान है।

'रूप-अरूप' और 'तीर तरंग' की मूल भावना 'शिप्रा' और 'अवंतिका' में चरम विकास पर हैं। 'अश्वत्थ' और 'अवंतिका' शीर्षक रचनाएँ प्रकर्ष हैं। इन कविताओं में इतिहास की शव-साधना की गई है। इतिहास की पृष्ठभूमि में वर्तमान के लिए उपयोगी सामग्री जुटा लेना परम्परा में प्रयोग ही कहा जाएगा।

अवंतिका की ये पंक्तियां द्रष्टव्य हैं—

"नया सबेरा जन्म ले रहा, चहल-पहल है,
वन-प्रांतर-सब मुखर, मर्मरित और गुंजरित;
पत्र-पत्र में स्पंदन, कंपन कली-कली में,
नए रक्त का है यह मांसल शिशु प्रकाश का।
यह क्रन्दन चीत्कार नहीं यह कहीं करुण है।
यह तो शिशु का जन्मजात अधिकार तरुण है।'

'धूप तरी' के गीतों का मूल स्वर मानववाद की मांगलिक एषणाओं से अनुस्यूत है। गीत सौन्दर्य की अभिव्यंजना के लिए जो उपकरण जुटाये हैं, वे प्रकृति और परिवेशगत यथार्थ से अनुप्राणित हैं, जैसे—

"औंधा आकाश टँगा सर पर,
डाला पड़ाव सन्नाटे ने,
ठहरे - गहरे सन्नाटे को,
झंकार बना दो तो जानूँ।
तीखे काँटों को फूलों का,
शृंगार बना दो तो जानूँ।

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की काव्य-साधना पर गहराई से विचार करने पर एक विलक्षण बात सामने आती है वह है—उनके रचना शिल्प का बहुआयामी होना, उदाहरण के लिए उनके राधा महाकाव्य और प्रगतिशील गाथा को परखा जाय। ये दोनों कृतियाँ उनके कृतीकर्म के दो दीप्त सीमांत हैं। एक में करुणा का महाभाव आह्लादक महालास्य हो गया है और दूसरे में समाज की विसंगतियाँ और विद्रूपताएँ है।

'गाथा' के ये व्यंग्य विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं :—

मानव गिनती की हद पाये,
इतने पशु थे आये
इतने लोग कि क्या गुलाम
नर - मादों की भी मस्ती
इतने पैसे जाए खरीदी
मानवता भी सस्ती।

× × ×

श्रेष्ठ किताबें हिन्दी लिटरेचर
की कितनी आई
गुल बकावली से ले
तोता - मैना के सब भाग
सिंहासन बत्तीसी, प्रेम छत्तीसी
शीशी - कार्क और चन्द्रकान्ता
बाईबिल की बच्ची मनु की ताई।

आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने 'गाथा' को पद्य-कौशल का प्रतिमान ठीक ही कहा है।

अध्यक्ष, पत्रकारिता विभाग
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

★

महाकवि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री
की
काव्य-साधना

डॉ० ब्रजमोहन पाण्डेय 'नलिन'

महाकवि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की काव्य-साधना

□डॉ० ब्रजमोहन पाण्डेय 'नलिन'

बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी महाकवि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की कारयित्री एवं भावयित्री प्रतिभा के उत्कर्ष-प्रकर्ष को सीमाओं में आबद्ध करना किसी भी एक समालोचक के लिए संभव नहीं है। शास्त्रीजी को केवल बिहार का सबसे विद्वान कवि के रूप में आकलित करना सर्वथा अयौक्तिक है। वे तो हिन्दी साहित्य के उन समर्थ महाप्राण कवियों में से एक हैं जिनसे हिन्दी साहित्य की चतुरस्त्र श्री-वृद्धि हुई है। शास्त्रीय चिन्तन की अप्रतिम गरिमा, आध्यात्मिक अनुभूति की ऋजु-कोमल अभिव्यक्ति की सर्वतोभद्र उदात्तता, प्रकृति के अपार सौन्दर्य को शब्दों के शिखरों में प्रत्यक्ष करने की अपूर्वता, शृंगार गंगोज्ज्वल प्राणवन्त भाषा की प्रासादिकता हृदयानुरञ्जक कल्पना की अभिरम्यता, शब्दपरिपाक की निसर्ग सुन्दरता, शब्दार्थ सौन्दर्य की व्यापकता वचोभंगिमा की समग्रता, लयात्मक स्वरों के आरोह अवरोह की सामञ्जस्यपूर्ण रसात्मकता आदि का जैसा मणिकाञ्चन सद्भाव कवि की काव्य साधना में अधिगत होता है, वैसा अन्यत्र सर्वथा दुर्लभ है, दुराप, दुष्प्राप्य है।

ऋत में दृप्त एवं अपनी आत्मा में तृप्त कवि की काव्य साधना में भूलोक एवं स्वर्लोक, स्थूल तथा सूक्ष्म का एकस्थ सौन्दर्य संदृप्त है। कवि ने केवल रसा के रस का ही भावन नहीं किया है, प्रत्युत अनन्त के अनिर्वच सौन्दर्य का सगायन शुभ्र समाधि में संस्थित होकर किया है। जीवन को केन्द्र में उपन्यस्त कर कवि ने प्रकृति दर्शन अध्यात्म, प्रेम तथा शृंगार की घनीभूत एवं संवेदनशील अनुभूतियों को वचोभंगिमा की समग्र अपूर्वता के साथ अभिव्यक्त करने का जो सहज एवं संयमित प्रयत्न किया है, वह सर्वथा श्लाध्य एवं स्पृहणीय है। रस प्रसन्न एवं गम्भीर पदों वाली उनकी मधुस्मित काव्यवाणी में सर्वत्र हृदयानुरञ्जकता, अभिरम्यता एवं नवता का साम्राज्य है।

कवि की साहित्य साधना का समारम्भ संस्कृत काव्यसाधना से हुआ किन्तु महाप्राण निराला के स्नेहपुलकित आग्रह पर उनका अवतरण जब हिन्दी साहित्य के विविध आयामी संसार में हुआ तो वे रससिद्ध कवि एवं नीर क्षीर विवेकी आलोचक के रूप में प्रतिष्ठित एवं समादृत हुए। कवि की काव्य साधना में अतीत के सांस्कृतिक जीवन की गरिमा वर्त्तमान की प्रगतिशीलता और अनागत से अनुबद्ध जीवन की निष्ठा तथा ज्योतिविलसित विश्वास उल्लसित है।

महाकवि की काव्य साधना में गीतों की प्रधानता है। सहस्राधिक गीतों के संगायक कवि की काव्य प्रवृत्तियों का पुङ्खानुपुङ्ख विश्लेषण करना और विचार के निकष पर उन भावप्रवण गीतों के प्रकर्ष को आकलित करना सहज संभव नहीं है। 'काकली' से कवि के गीतिकाव्य की सृष्टि का समारंभ होता है। 'काकली' यद्यपि कवि के अल्पवय की रचना है किन्तु वह कवि के प्रौढ़ कवित्व का सर्वोत्तम निदर्शन है। काकली की उल्लसित निम्न पक्तियाँ अवधेय हैं—

निनादय नवीनामये वाणि वीणाम्
मृदु गाय गीति ललित-नीति-लीलाम् ॥
मधुरमञ्जरी-पिञ्जरीभूतमाला:
वसन्ते लसन्तीह सरसा रसाला: ।
कलापा: कलित कोकिला काकली नाम्
निनादय नवीनामये वाणि वीणाम् ॥
बहति मन्दमन्दं सनीरे समीरे
कलिन्दात्मजायास्स वानीरतीरे ।
नतां पंक्ति मालोक्य मधुमाधवीनाम्
निनादय नवीनामये वाणि वीणाम् ॥

'भारती वसन्त गीति' में कवि ने सरस्वती का सम्यगाराधन करते हुए नवीन वीणा के निनादन की अभ्यर्थना की है। वसन्त आ गया है, वन उपवन में नवोत्कर्ष छा गया है। सरस रसाल अपनी मधुर मञ्जरियों से पिञ्जरीभूत हो उठा है। इसी मधुस्मित परिवेश में नीति समुपेत ललित गीति के मधुर संगायन की अभ्यर्थना कवि ने की है। यह कविता वर्ण विन्यास की

भ्रूर्वता, अर्थ संगति की उत्तमता एवं रसाभिनिवेश की चारुता, नादव्यंजना की मधुरता से उल्लसित है। 'काकली' की समस्त गीतियों में भाव-भाषा और कल्पना का चरमोत्कर्ष दृष्टिगत होता है।

वसंत का अपूर्व सौन्दर्य संभार में कुसुमित वन में मल्लिका की बेलों को कंपाती हुई हवा बह रही है। मधुकर गुञ्जार करता हुआ मकरन्द का पान कर रहा है, पुंस्कोकिलों की उन्मादक ध्वनि रसाल को विकल कर रही है, रसज्ञों की बात तो छोड़ दीजिए, वसन्त तो मुनियों के मन को भी मदोन्मत्त बना देता है। सूक्ष्म संवेदनात्मक बिम्ब से अनुप्राणित यह चाक्षुष विम्ब अतीव सम्मोहक बन गया है—

नुदन्मल्लीवल्लीं कुसुमितवने वाति पवनो
ध्वनन् धीरं धीरं पिबति मकरन्दं मधुकरः।
रसालं कालेऽस्मिन् विकलयति पुंस्कोकिलकुलं
मधुर्मन्दंमन्दं मदयति मुनीनामपि मनः।

इसमें कवि ने वर्णमैत्री से अभ्युपेत अर्थ-ध्वननकारी शब्दों के कलात्मक प्रयोग के द्वारा न केवल नादसौन्दर्य की अभिनव सृष्टि की है, अपितु सस्वरता भी प्रदान की है। शास्त्री जी के नादसौन्दर्य से वर्णयोजना में चमत्कार की भी सृष्टि हुई है। ध्वनिचित्र अलंकार के विनियोग से यह कविता सहृदय संवेद्य बन गयी है। आनुप्रासिक संगीत की मधुरिमा तो अत्यद्भुत है। काकली में शब्द संगीत पर आधृत इस प्रकार की ध्वन्यात्मक वर्ण संगतियों के उदाहरण परिमाण में सर्वाधिक हैं—

कलितकिशोर कुसुमकुलसङ्कुल मञ्जुलवञ्जुल दले।
निर्जनपदे वससि किं? वद अयि मे प्रियसखि विमले
लसितहरित नवपादप पुञ्जप्रसून परागावले
सकले सजलेऽनलेऽनिले कमले प्रियसकलकले
कासि? कथय अयि हले।

× × × ×

कोकिलकलालापेङ्गित नृत्यन्मञ्जुमञ्जरीपुञ्जम्
गुञ्जच्चञ्चुरचञ्चरीकसञ्चयसञ्चारित कुञ्जम्
दलदरविन्द मन्दं मन्दं सामोदो मदधीरः
मदयन्मुनिजनमनो ववौ मृदु मधुमयमलयसमीरः॥

उपर्युक्त उद्धरणों में ध्वनिचित्र का अप्रतिम सौन्दर्य द्रष्टव्य है। इसमें न केवल नाद सौन्दर्य की ही अपूर्व सृष्टि हुई है अपितु अर्थ सौन्दर्य भी है। अनुप्रास जनित वर्णावृत्तियों से भाषा संगीतमयी हो गयी है।

महाकवि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री हिन्दी साहित्य के उन विशिष्ट गीतकारों में शीर्षस्थ हैं जिन्होंने भावप्रवण गीतों की अभिनव सृष्टि के द्वारा हिन्दी साहित्य की अपूर्व श्रीवृद्धि की है। कवि ने अपने गीतों में अपनी संवेदनशील अनुभूतियों को ही अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है। कवि जीवन पाटल के कण्टक प्रत्यूहों से विपन्न नहीं होता है और न छायावादी कवियों के समान पलायन के अयन को ही अपनाता है। उसके जीवन का अयन हिन्दी के कवियों से सर्वथा भिन्न और नवीन है उन्होंने अपने गीतों में पीड़ित प्राणों की व्यथा की कथा को ध्वनि तरंगों में उकेरा है। उनके गीत हिमतुषार की तरह घनीभूत हैं जिसका संद्रवण दूसरों की उष्मा से ही संभव है। जीवन के हर्ष-विषाद, आशा-निराशा सुख-दुख, उन्नयन-अवनयन की भाव तरंगें ही उनके गीतों की ध्वनि तरंगों में परिणत हो गयी हैं। उनके गीत उनके व्यक्तित्व को प्राणवन्त अभिव्यक्ति प्रदान करने में पूर्णत: समर्थ हैं। कवि प्रवहमान, जीवन को ही गतिशील मानना है। क्योंकि उसमें गति है, वेग है, क्षिप्रता और स्वतंत्रता है। मार्ग के पत्थरों चट्टानों से उसकी गति-भंगिमा कहीं व्याहत नहीं होती है। वह अपना मार्ग स्वयं गढ़ता है, बढ़ता है, मुड़ कर देखता नहीं—

सिन्धु मिलन की चाह नहीं कुछ
मुझको तो बहते जाना है।
अपनी तुंग तरंगों का ही
रहता इतना बड़ा भरोसा।
लौट लौट कर नहीं देखता,
मुझको तो बहते जाना है।

कवि जीवन को जीने की कला जानता है। वह सुख और दु:ख, हर्ष और विषाद दोनों के अपूर्व समन्वय को ही जीवन मानता है क्योंकि यह संसृति सुख-दु:ख, आग-पानी दोनों का समुच्चय है। कवि कहता है—

जीना भी एककला है—
इसे बिना जाने, अनजाने,
जीने कौन चला है?

तपन - ताप से नहीं,

तुहिन से कोमल कमल जला है !

जीना भी एक कला है !!

कवि का जीवन दर्शन अतीव गहन और व्यापक है। सम्पूर्ण विश्व उस विराट का ही प्रतिरूप है। और कवि उस विराट की दिव्य छवि का संगायक है। उस विराट के रूप का निर्झर सर्वत्र झर रहा है और अवनि-अम्बर दोनों उसमें उल्लसित दृष्टिगत हैं—

रुप-निर्झर झर रहा है

मृण्मयी मधुरस - पगी हैं

विहँस गगन शिखर रहा है

उठ रही हैं लील लहरें लालसी

दमकती उद्दाम किरणों में बसी

उर हुआ सुर - सिन्धु - सा है

बिन्दु-बिन्दु निखर रहा है।

यहाँ 'मृण्मयी' मूलाधार और गगन-शिखर सहस्रार का प्रतीक है। इस रूप निर्झर में विश्व का हृत्प्रदेश सुर-सिन्धु के समान हो गया है और प्रकृति का बिन्दु-बिन्दु कण-कण निखर गया है। साहित्य संगीत और दर्शन के संगायक कवि ने अपने जीवन के दिव्य दर्शन को साहित्य की सुकुमारता और संगीत की मधुरिमा से अनुस्यूत कर बना दिया है। कवि सम्पूर्ण विश्व को उस विराट की छाया मानता है, उसका विराट् ज्योतिमय है, ज्योति का अधिष्ठान है। उसी विराट् की ज्योति से सम्पूर्ण विश्व उद्भासित है—

विश्व तुम्हारी माया ?

ज्योतिर्मय, यह अन्धकार

छाया कि तुम्हारी छाया ?

कवि पर वेदान्त दर्शन का प्रचुर प्रभाव है। निम्न गीत में 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' भाव स्वरों के संयम के द्वारा संगीत की मधुरिमा में परिणत होकर अभिव्यक्त हुआ है। एक ही विश्व विटप पर अमर्त्य चिरन्तन और मर्त्य दो सुहृदों के समान सयोनिज होकर निवास करता है किन्तु मर्त्य सयोनिज होकर भी अज्ञान एवं भौतिक प्रपञ्च के व्यामोह के कारण चिरन्तन

सत्य परम विराट् को उपलब्ध नहीं होता है। इसी भाव की सांगीतिक अभिव्यक्ति निम्न पंक्तियों में हुई है—

यों हम दोनों हिले मिले हैं
एक डाल पर खुले खिले हैं

नाम-मात्र का अन्तर फिर भी,
तुम हो 'हाँ', मैं हाय ! 'नहीं' हूँ।

—तीरतरंग—11

महाकवि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री को विराट ब्रह्म ही प्रिय है। वह परम तत्त्व मानवीय गुणों की सीमा से सर्वथा परे हैं। वह निःस्पृह, निर्लेप, निरामय, निराकांक्ष, निर्भय, निर्गुण, निराकार आदि शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। जीवात्मा और परमात्मा का सम्बन्ध अटूट है। जीवात्मा यदि स्वर है तो ब्रह्म शब्दकार है, वह परम सत्य है, कल्प कल्पनाधार है, वह निर्गुण निराकार है। उस विराट ब्रह्म के वियोग के कारण यह जगत दृश्यमान है। जीवात्मा जो भवप्रपंच और मायाबद्ध है, उसके प्राण मुक्ति पाने के लिए अहरह विकल हैं। जीवात्मा का अस्तित्व उस विराट् के अस्तित्व के कारण ही है किन्तु निर्गुण निराकार को पाने के लिए जीवात्मा के अन्तस्तल में सुरसरि के समान मुक्ति की कथा उमड़ रही है। जीवात्मा और परमात्मा का सम्बन्ध स्वर और शब्दकार के समान है। शब्दकार के बिना स्वर अकल्प्य है :—

मैं स्वर हूँ, तू है शब्दकार !
तेरे वियोग से, बिछुड़न से
है बना विश्व यह दृश्यमान

इसलिए तो यहाँ तड़प, टीस
उच्छ्वास विकल हैं सकल प्राण
मैं नव अभुनव जर्जर जग का
तू सत्य कल्प - कल्पनाधार

साँसों से कसे - कसे उर में
उमड़ी सुरसरि-सी मुक्ति व्यथा

जीवन के उड़ते क्षण - से खग

मुड़-मुड़ कर कहते मर्म-कथा

क्या कहूँ,—नहीं मैं तो कुछ भी,

पर तू भी निर्गुण, निराकार!

जीवात्मा की तरी बीच सागर में फँसी है, नील गगन और हरी मही भी अत्यन्त दूर है, ठौर ठिकाना का कोई अधिष्ठान आयत्त नहीं है। जग के मग से बिछुड़ा हुआ, असहाय अकिंचन है, लुटा हुआ है। उसका हृदय उस परम ज्योति रूप ब्रह्म के अभाव में सूना है और दर्शन की लालसा से उसकी आँखें भरी हैं। वह भवसागर में अपनी तरी अदम्य साहस के साथ खेता है, किन्तु माया का प्रपंच (काली बदली, तिमिर तुषार बयार) उसे घेर लेता है। घोंसले को पिंजड़ा बना लेता है और उस अनन्त सत्ता से मूल से बिछुड़ जाता है और उस बिछुड़े जीव को पुन: कोई उस सत्ता से अनुबद्ध करने वाला नहीं होता है—

बना घोंसला पिंजड़ा पंछी।

अब अनन्त से कौन मिलाए

जिससे तू खुद बिछड़ा पंछी।

सुखद स्वप्न लख किसी सुदिन का

चुन-चुन पल छिन तिनका - तिनका

रहा मूल से दूर, दूर, पर

डाल पात तो झग पंछी।

महाकवि के गीतों में उस रहस्यात्मक सत्ता के प्रति अटूट श्रद्धा, आस्था और विश्वास का स्वर मुखरित है। आत्मा और परमात्मा की एकता, ब्रह्म और जगत की एकता इन दोनों के सम्मिलित रूप को सर्ववाद की संज्ञा दी जाती है। प्रकृति की अनन्त विभूतियों में अपने परमप्रिय की प्रातिभासिक सत्ता का अनुभव किया है और उस अनन्त सत्ता के प्रति उसके अन्तर में निरन्तर अचल विश्वास भी है। कवि के गीतों में भावात्मक एवं साधनात्मक रहस्यवाद का स्वर मुखरित हुआ है। कवि के भावोल्लसित माधुर्यभाव-पुलकित गीतों में विश्व नियन्ता ब्रह्म की अनन्तता के साथ भाव सम्बन्धों के चिन्तन के क्षेत्र का ब्रह्मवाद हृदयानुरञ्जक कल्पना और जीवन्त

भावुकता का आधार पाकर उनके रसपगे गीतों में रहस्यवाद के रूप में परिणत हो गया है —

मैं चलता चलूँ निरन्तर
अन्तर में विश्वास भरे।
इन सूखी - सूखी आँखों में
तेरी ही प्यास भरे।
मत पहुँचूँ तुम तक,
पथ में मेरी चरण - निशानी हो।
यह पीर पुरानी हो!
वह काम करूँ ही नहीं
न हो जिससे तेरी अर्चा
वह बात सुनूँ भी नहीं
न हो जिसमें तेरी चर्चा
जग उँगली उठा कहे :
कोई ऐसा अभिमानी हो!

उस अनन्त प्रियतम के दर्शन की ललक और लालसा की उत्कटता की उच्छल अभिव्यक्ति शिखर पर पहुँच गयी है। कवि कोई ऐसा काम नहीं करना चाहता है जिससे उस अनन्त की अर्चा न हो और न वैसी कोई बात सुनने को उत्सुक है जिसमें उसकी चर्चा ही नहीं हो। उसे लोकवृत्ति की कोई चिन्ता नहीं है।

कवि का प्रिय अनिकेतन किन्तु सुन्दर है, वह समुन्दर के समान असीम अनन्त और अप्रमेय है। उसकी प्रतिध्वनि सुनकर तरुपल्लव भी मर्मर कर उठते हैं। उसका प्रिय केवल उसका नहीं, समस्त विश्व का प्रिय है। अतः वह उसे रोक रखता कैसे? वह अपने मीलित नयनों को उन्मीलित कर प्रियदर्शन के लिए समुत्सुक है—उसके हृदय में विरह की वेदना उमड़ रही है क्योंकि सजल नयनों से निरखने के पहले उसका निर्मोही प्रियतम चला जाता है :—

प्रिय अति सुन्दर हे।
जान विजन क्षण आता
सजल - नयन सखि, निरख न पाती
तब तक निर्दय जाता!

कह कैसे अपना घर भर लूँ
वह सबका धन है
कैसे रोक रखूँ जब सबका
वह अनिकेतन है।

कवि के गीतों में भावात्मक एवं साधनात्मक रहस्यवाद का ही केवल स्वर सुनाई नहीं पड़ता है उसमें रागानुगा भक्त्यात्मक रहस्यवाद भी है। रहस्यवादी भक्त कवि परमात्मा को साध्य एवं प्रियजन के रूप में देखता है। उस परम सत्ता के साक्षात्कार की, मिलन की अनुभूति अनिर्वचनीय होती है। जनम-जनम की पहचानी तान को सुनकर वह उत्फुल्ल हो उठती हैं, उसकी सूखी आँखों में यमुना की लोल लहर लहर उठती है, क्योंकि उसका प्रियतम प्रेम की कठिन रागिनी को कोमल स्वरों में गा उठा है :—

किसने बाँसुरी बजाई
जनम-जनम की पहचानी
यह तान कहाँ से आयी।
अंग - अंग फूले कदम्ब सम
साँस - झकोरे झूले ॥
सूखी आँखों में यमुना की
लोल लहर लहराई ॥
निर्मोही मोहन से रूठी
मीरा मृदु मुस्काई ॥

—शिप्रा

'चाँदनी' शीर्षक कविता में कवि के प्रकृतिमूलक रहस्यवाद की झाँकी मिलती है। विश्वात्मा में लीन होने के लिए वह अखिल उर आह्लादिनी, नयन मन उन्मादिनी चाँदनी के समान व्याप्त होकर आप्त बन जाना चाहता है। वह लोक में स्वर्ग का आलोक पाने के लिए व्यग्र एवं उदग्र है—

काश ! मैं इस चाँदनी - सा व्याप्त होता।
स्वच्छ निर्मल, विश्व भर का आप्त होता ॥

वह हृदय की आँखों को खोल विश्वात्मा के रूप को निहारने का आग्रही है—

देखना हो, रूप वह अनमोल देखो।
मूँद कर आँखें मुँदा दिल खोल देखो ॥

उस ज्योतिर्मय की ज्योति का स्वर्णप्लावन देखकर तृप्ति नहीं होती है केवल प्यास घनी होती है :—

ज्योति का प्लावन, प्रकाश प्रकाश केवल।
तृप्ति होती ही नहीं, है प्यास केवल॥

अज्ञात चिरन्तन सत्य के बोध की जिज्ञासा कवि की अन्तश्चेतना में प्रबल हो उठी है, किन्तु वह अनदेखा सलोना निठुर बन मौन है, मुखर नहीं —

पूँछता हूँ कौन हो तुम? कौन हो तुम।
ओ निठुर बेदर्द क्यों यों मौन हो तुम॥

कवि के काव्य में निसर्ग सुन्दर भावनाओं की जहाँ कोमलतम अभिव्यक्ति हुई है वहाँ प्रकृति के सुन्दरतम चित्र भी उल्लसित हैं। प्रकृति कवियों की प्रेरणा भूमि रही है। मंजरित रसाल की डाल पर कोकिल का कलकूजन, उत्फुल्ल कमलदलों पर भ्रमरों का मधुगुंजन, मेदुर मेचक मेघों के ऊपर इन्द्रधनुषी वितान, रभस वेग से झरने वाले निर्झरों का कलगायन, अखिल उर आह्लादिनी चाँदनी का रजत प्रसार, नील-नभ में श्वेत शतदल-सा खिला चाँद, हिमतुषार, धवल-पर्वत-शृंग विकच कमलों की गन्ध लेकर भ्रमरों को उन्मत्त बनाता मन्द-मन्द बहने वाला समीर आदि से कवियों की अंतश्चेतना उत्प्रेरित होती रही है। कवि के काव्य में भी प्रकृति के अपार सौन्दर्य की झाँकी मिलती है। प्रकृति के कोमल उपादानों को लेकर कवि ने अपने कोमल गीतों को गाया है। मेघगीत तो कवि के प्रकृति-प्रेम का सर्वोत्तम निदर्शन है।

वसन्त के सौन्दर्य से वन-उपवन उल्लसित हो उठता है। सनेह रस सींची मधुऋतु, जब आती हैं तब वन की ऊँची-नीची डगरिया फूलों से ढँक जाती है। कमल की कोमल पंखुड़ियों को खोल कर गन्धकुमारी निकलने लगती है, पवन की प्यारी हँसी फुनगी-फुनगी को आन्दोलित कर देती है :—

मँजराई अमराई, आई ऋतु सनेह - रस - सींची।
फूलों से ढँक गयी डगरिया वन की ऊँची - नीची॥
कनक कमल की खुली पंखुरियाँ, निकली गन्धकुमारी।
फुनगी-फुनगी हिला गई है हँसी पवन की प्यारी॥
केसरिया पट पर अन्तर की छवि मधु गई उलीची।
मँजराई अमराई, आई ऋतु सनेह - रस - सींची॥

वसंत में भौंरे गुनगुनाने लगते हैं और नर कोयल कूँकने लगता है, रंग-तरंगों पर मलय-बयार लहराने लगती है, स्वर पराग पंखुड़ियों पर बिछने लगता है। फाग का राग सुनकर मलय बयार मदोन्मत्त हो उठती है—

रंग - तरंगों पर लहराती आती मलय बयार।
फाग राग सुन-सुन गुमसुम मदमाती मलय बयार॥
गुनगुन गुनगुन भौंर और कूऊकूऊ नरकोयल।
स्वर पराग बौछार बिछ रही पांखरियों पर कोमल।
गन्धपरों पर मधुमरन्द ढुलकाती मलय बयार॥

उन्मादिनी अखिल उर आह्लादिनी चांदनी कवि को बहुत भाती है। चांदनी फैली है मानो क्षीर सागर निर्मल फेन उगल रहा हो, जिसमें चांद शुभ्र शतदल-सा खिला प्रतीत होता है :—

नयन मन उन्मादिनी
आज निकली चांदनी
उमड़ता ज्यों क्षीर सागर फेन-निर्मल।
चांद उसमें है खिला ज्यों शुभ्र शतदल॥

मेघगीत में कवि ने वर्षा ऋतु के अपूर्व सौन्दर्य का नयनाभिराम चित्र अंकित किया है। सावन की नीर भरी बदरी जब आती है तब जीवन लहरी तरंगित हो उठती है। पावस का अनन्त रससागर उमड़ता है दिग्दिगन्त उस रस में डूब जाता है, नीलम नील तरी तिरने लगती है :—

सावन की नीर भरी बदरी।
वह पवन पंख से उड़ आई
सुकुमार सुन्दरी श्याम परी
पावस का रस सागर अनन्त
उमड़ा, डूबा सब दिग्दिगन्त
तिरती नीलम की नील तरी
सावन की नीर भरी बदरी॥

मेघ बिन्दु बिन्दु जल बरसाता भूतल हर्ष विभोर हो उठता है। अतनु चरण की चाप सुनकर फूल पात चल हो उठते हैं :—

बादल री !

बिन्दु - बिन्दु मधु बरसे
हरसे भूतल पागल री
सौरभ भीना झीना - झीना
अम्बर हर पुरवाई
सकुच सिहरती डरती-डरती
धरती - धरती आई।

शून्य गगन में व्यर्थ मगन मंडलानेवाले सूखे गर्जन तर्जन पर इतराने वाले झूम-झूम कर निर्जन में गाने वाले बादलों से कवि धरती को हरित भरित बनाने की प्रार्थना करता है :—

उतर रेत में आक नवासा भरे खेत में
पागल बादल।
शून्य गगन में व्यर्थ मगन मँडलाता है
गिरि शिखरों की उठा बाहुएँ, स्वर कि अधर तक आता ?
आ रे आ, तुझको बुला रही तेरी धरती माता
आ रे आ, मरघट को नव फूलों का देश बनाता।

प्रकृति के अभिनव चित्रकार कवि ने प्रेम और शृंगार के सम्मोहक चित्रों को भी अंकित किया है। प्रेम से ही जीवन सार्थक होता है। प्रेम जीवन का माधुर्य है। प्रेम के अभाव में जीवन में शून्यता घनीभूत होती है। लौकिक प्रेम ही ईश्वरीय प्रेम में परिणत होता है। कवि के काव्य में लौकिक और अलौकिक एवं आध्यात्मिक प्रेम की अजस्र धारा प्रवाहित है। प्रेमात्मक भावनाओं को कवि ने कोमल स्वरों में गाया है। प्रेम निर्विकार विप्रसन्न एवं समरस दो आत्माओं की अत्यद्भुत अनुस्यूति है। जो सर्वथा लोकोत्तर एवं अनिर्वच होता है।

नींद नहीं आती, आ जाती तेरी याद
कैसे तुझे सुनाऊँ, अपना अन्तर्नाद।

गीतों में अनुभूति और अभिव्यक्ति के बीच दूरी नहीं होती है और जहाँ दूरी होती है वहाँ अभिव्यक्ति व्याहत हो जाती है। विविध भावों को गीतों के माध्यम से वही प्रस्तुत करता है जिसमें प्रतिभा की प्रत्यग्रता होती है। गीतों में आत्मनिष्ठता होती है कवि के अन्तर की वेदना शब्दों के शिखरों में व्यक्त होकर विहँसती है और दूसरों की अंतश्चेतना को उद्भासित कर आनन्द का संचार करती है शास्त्रीजी के गीतों में आत्मनिष्ठ अनुभूति की जो मर्मस्पृक् अभिव्यंजना हुई है वह श्लाघ्य और संवेद्य है। हर्ष-विषाद, सुख-दु.ख, जैसी विषम परिस्थितियों में सामंजस्य स्थापित कर वे आगे बढ़ते हैं, किन्तु वे केवल अपने लिए ही चिन्तित न होकर दूसरे की चिन्ता में पर्याकुल होते हैं—

जग वसन्त बहार या मल्हार गाए
छलछलाये दृग, अधर उर मुस्कराए
आग उगले, या शिशिर अनुराग बरसे
मैं अछूते तार में हूँ, तुम कहाँ हो ?
मैं मगन मझधार में हूँ, तुम कहाँ हो ?

विचार और कल्पना से अनुस्यूत इस गीत में विषम परिस्थितियों में रहनेवाले कवि की संवेदनशील अनुभूतियों की अभिव्यंजना हुई है जो हृदयावर्जक है।

कवि दुःख को सुमुख बनाना चाहता है। वह दुःख को सहने की सामर्थ्य को आयत्त करता है और सुख की चन्द्र किरण छिटकने पर नत हो जाने का विमर्श प्रस्तुत करता है—

दुख को सुमुख बनाओ गाओ।
असह सहो, दृढ़ प्राण बनाओ,
अश्रु-कणों को गान बनाओ।
जब सुख छिटके चन्द्रकिरण बन,
सजल नयन झुक चुप हो जाओ।

अश्रु को गान बनाने वाले कवि ने सुख संवेदन में संयमित रहने की बात कही है, वह अत्यंत गम्भीर और भावप्रवण है। जब सुख चन्द्रकिरण बन छिटकता है तब व्यक्ति हर्षातिरेक की तरंगों में आन्दोलित होने लगता

है; किन्तु कवि ने इस सुख में भी विनत हो जाने की और सुख संवेदन में मौन रहने की बात कही है, हर्षोद्वेलन की नहीं।

जीवन के समुद्र शतघूर्णावर्त्त तरंगाघातों में न जाने कितने सहस्र यान औरों के डूब गए तो कवि की तरणि की क्या उर्जस्विता हो सकती है फिर भी वह जीवन समुद्र की उत्ताल तरंगों पर साध्य को सिद्ध करने वाले कवि की तरणि उत्ताल तरंग प्रत्यूहों पर वीर्यवती होकर रुकती नहीं झुकती नहीं केवल बढ़ती ही जाती है। सिद्ध साधक की यह अभिव्यक्ति दृढ़ संकल्पात्मक चेतना को उद्योतित करती है—

डूब गए जलयान हजारों,
कश्ती की क्या हस्ती ?
फिर भी मौजों के सर चढ़कर
हँसती मेरी मस्ती।

व्यक्तित्व की करुणाविगलित भावव्यंजना का उत्कर्ष 'सुमित्रा की शेषस्मृति' नामक शोकगीत में प्राप्त होता है। इस गीत में सहज भावों का उद्रेक, शोक की सघनता तथा विप्रसन्न अभिव्यक्ति की निश्छलता मिलती है। इसमें बहन सुमित्रा के निधन से मर्माहत कवि-हृदय के आवेगपूर्ण भावों की सहज सरल तथा प्रासादिक अभिव्यक्ति है—

कहाँ मिले स्वर्गीय सुमन ? मेरी दुनिया मिट्टी की।
विहँस बहन, क्यों तुझे सताऊँ कसक बताकर जी की ?
अब आखिरी विदा लेता हूँ आह यही इतना कह—
'मुझसा भाई हो न किसी का, तुझ सी बहन सभी की।'

—शिप्रा

इस गीत में कवि ने भाई-बहन के अपूर्व एवं अप्रतिम स्नेह को अभिव्यक्त किया है वहाँ उसने सम्पूर्ण प्रगीत में अपने विषादपूर्ण जीवन को व्यक्त किया है। इसमें विषाद की सघनता ऐसी घनीभूत है कि पाठक सजल नयन हो जाता है। इसमें कवि की आत्मपरक सघन करुण अनुभूति की तीव्रता है। हिन्दी साहित्य के शोक गीतों में इसे यदि अप्रतिम और अद्वितीय कहा जाय तो कदाचित् अत्युक्ति नहीं होगी। गीतों में गेयता का होना अपरिहार्य है। गीत का प्राणतत्व राग है। कठिन रागिनी को शास्त्री जी ने कोमल

है; किन्तु कवि ने इस सुख में भी विनत हो जाने की और सुख संवेदन में मौन रहने की बात कही है, हर्षोद्वेलन की नहीं।

जीवन के समुद्र शतघूर्णावर्त्त तरंगाघातों में न जाने कितने सहस्र यान औरों के डूब गए तो कवि की तरणि की क्या उर्जस्विता हो सकती है फिर भी वह जीवन समुद्र की उत्ताल तरंगों पर साध्य को सिद्ध करने वाले कवि की तरणि उत्ताल तरंग प्रत्यूहों पर वीर्यवती होकर रुकती नहीं झुकती नहीं केवल बढ़ती ही जाती है। सिद्ध साधक की यह अभिव्यक्ति दृढ़ संकल्पात्मक चेतना को उद्योतित करती है—

डूब गए जलयान हजारों,
कश्ती की क्या हस्ती ?
फिर भी मौजों के सर चढ़कर
हँसती मेरी मस्ती।

व्यक्तित्व की करुणाविगलित भावव्यंजना का उत्कर्ष 'सुमित्रा की शेषस्मृति' नामक शोकगीत में प्राप्त होता है। इस गीत में सहज भावों का उद्रेक, शोक की सघनता तथा विप्रसन्न अभिव्यक्ति की निश्छलता मिलती है। इसमें बहन सुमित्रा के निधन से मर्माहत कवि-हृदय के आवेगपूर्ण भावों की सहज सरल तथा प्रासादिक अभिव्यक्ति है—

कहाँ मिले स्वर्गीय सुमन ? मेरी दुनिया मिट्टी की।
विहँस बहन, क्यों तुझे सताऊँ कसक बताकर जी की ?
अब आखिरी विदा लेता हूँ आह यही इतना कह—
'मुझसा भाई हो न किसी का, तुझ सी बहन सभी की।'

—शिप्रा

इस गीत में कवि ने भाई-बहन के अपूर्व एवं अप्रतिम स्नेह को अभिव्यक्त किया है वहाँ उसने सम्पूर्ण प्रगीत में अपने विषादपूर्ण जीवन को व्यक्त किया है। इसमें विषाद की सघनता ऐसी घनीभूत है कि पाठक सजल नयन हो जाता है। इसमें कवि की आत्मपरक सघन करुण अनुभूति की तीव्रता है। हिन्दी साहित्य के शोक गीतों में इसे यदि अप्रतिम और अद्वितीय कहा जाय तो कदाचित् अत्युक्ति नहीं होगी। गीतों में गेयता का होना अपरिहार्य है। गीत का प्राणतत्व राग है। कठिन रागिनी को शास्त्री जी ने कोमल

स्वरों में लाकर अपने गीतों को सांगीतिक मधुरिमा से अनुस्यूत कर दिया है। शास्त्री जी के समस्त गीत एवं प्रगीत कोमलकान्त पदबन्ध शब्दगुम्फन अक्षर-मैत्री तथा आन्तरिक शब्द संगीत से आपूरित है। लघुतरल वर्णों की मधुर झंकृति पंक्तियों की लयसंयुक्त झंकृति में अनुबद्ध हो जाती है—

सुमन-भार नत तरु वल्लरी वन
सौरभ भार-अधीर समीरण
प्राण भार--बेसुध तनु तन मन
छन-छन-छिन-छिन री
गीला ही रहता आँचल,
यह बादल के दिन री।

शास्त्री जी का संगीत शब्द शिल्प की कलात्मकता से संयुक्त है। अनुप्रास गुम्फित शब्दावली भी संगीतात्मक झंकार की अत्यद्भुत उद्भावना करती है—

किसने बाँसुरी बजाई ?
जनम जनम की पहचानी
यह तान कहाँ से आई ?
अंग अंग फूले कदम्ब - सम
साँस - झकोरे झूले ;
सूखी आंखों में यमुना की
लोल लहर लहराई !

शास्त्री जी के गीत स्वरताल में आबद्ध हैं। शब्द संगीत की नवल प्रभा आद्यन्त उद्दीप्त है। शब्द संगीत की माधुरी, स्वरों का सौरस्य अपूर्व है—

रुप चितेरे - रुप चितेरे !
आँक रहे क्या साँझ सबेरे ?
नील गगन स्वच्छन्द पवन को ?
मेघ पिञ्जरित प्रथम किरण को ?
चन्द्रातप या तिमिर मलिन को ?
रुप गढ़े किसके, किसके रे ?

—उत्पलदल

× × ×

तन जर्जर, मन थरथर, थरथर,
हर हर करता आया पतझर
हिमकण से सजकर उत्पलदल
झूम रहे थे निश्छल प्रतिपल
शिशिर जलन में झार हुए जल
तपता वदन मलिन कर दिनकर।

कोमल पदों का विन्यास, शब्दों का ध्वननकरी संयोजन, रसाद्यनुगत वर्णों का अनुप्रास केवल नाद संगीत की योजना नहीं करता, प्रत्युत वर्ण्य विषय को अप्रतिम रूपाकार प्रदान करता है। शब्द शिल्पी शास्त्री जी के गीत कोमलता, संगीतात्मकता तथा स्वरमाधुरी की दृष्टि से अपूर्व एवं आद्यन्त आस्वाद्य हैं।

संवेदनशील अन्त करण की ऋजुकोमल अभिव्यक्ति को गीत की संज्ञा दी जाती है जिसमें सघन वेदना की मर्मस्पर्शिता अनुस्यूत रहती है। गीतों में अल्पभावावेश की अभिव्यक्ति होती है अतः उनका बाह्य रूपाकार संक्षिप्त होता है। किन्तु उनमें भावों की अन्विति भी होती है। शास्त्री जी ने प्रत्येक गीत में अपनी किसी अप्रतिहत मनः स्थिति के चित्रण का प्रयास किया है, अतः संक्षिप्तता उनके गीतों का विशेष गुणधर्म है। उन गीतों में गेयता भी अनुस्यूत रहती है परिणामतः उनमें विस्तार का अत्यल्प अवकाश रहा है। उनके गीतों में अनुभूति अक्षुण्ण रह पायी है। उनके गीतों में मुक्तक काव्य की भावाभिव्यंजना की संक्षिप्त पद्धति तथा वैयक्तिक अनुभूति का अपूर्व समन्वय है—

जीवन ज्योति जले।
अथिर तिमिर आलोक लोक को
पल छिन भी न छले।

इस पूरे गीत में प्रभावान्विति संक्षिप्तता और सांगीतिक मधुरिमा भरी है।

गीत रागात्मिका वृत्ति से अभ्युपेत रहता है अतः उसमें कोमल तरल भावों की प्रासादिक अभिव्यक्ति के लिए शब्द तारल्य, सुकुमारता सरस प्रवाह

का होना अपरिहार्य है। शास्त्री जी के गीतों में कोमल मसृण पदों के अपूर्व संयोजन के साथ ही रस - प्रसन्न शैली की स्वच्छता का प्रवाह मिलता है—

मंजरियों से लदा हुआ द्रुम
झरता रहता केसर कुङ्कुम
मुझे याद आते केवल तुम
दूर खड़े मुस्काते जाते
मेरा मन रहता मुरझाया।

तरल सरल शब्दों के नियोजन से प्रवाह में तीव्रता लयात्मक द्रुतता पूर्णता को प्राप्त हो गयी है।

पतझड़ के पीले पत्तों-सा उड़ता ही न रहूँ।
पछवा हवा, मुझे ले चल उस ठौर
हरित पीत का मूल्य जहाँ कुछ और
मेरा शेष अशेष उगाए बौर
अपनी व्यथा कथा मैं तुझसे निर्जन में न कहूँ।

संगीतात्मय लय के साथ तरल भावात्मक प्रवाह का रूप इसमें निखार पा गया है। वैयक्तिक अनुभूति से अनुप्रेरित रागात्मक भावावेश इस गीत का स्थायी तत्व है। अन्तःस्फूर्त इस गीत में भावना की सहज द्रवणशीलता मूर्त हो गयी है। अन्तिम पंक्ति में कवि अपनी व्यथा की कथा को निर्जन में नहीं व्यक्त करना चाहता है। भावप्रवण इन पंक्तियों में व्यक्ति तत्व सहज स्फूर्त्त हो गया है।

इस प्रकार आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के गीतों के अनुशीलन से यह पता चलता है कि उनके गीतों में सांगीतिक मधुरिमा, वैयक्तिक अनुभूतियों की गहनता, भाव प्रवणता, भावों की सहज अन्विति, सहज अन्तःप्रेरणा तथा सर्वत्र तरल प्रवाहमयी शैली एवं संक्षिप्तता का सुन्दर समाहार परिलक्षित होता है। उनके सभी गीतों में कला प्रज्ञा का चरमोत्कर्ष दृष्टिगत होता है। कवि की काव्यभाषा अतीव प्रासादिक एवं प्रांजल है। उन्होंने भावों के अनुकूल भाषा का प्रयोग किया है। भाषा के क्षेत्र में उन्हें विभिन्न भाषिक

संस्कृतियों का अवदान प्राप्त है। यही कारण है कि उनके प्राणवन्त काव्य में एक ओर जहाँ संस्कृत भाषा के गाम्भीर्य के दर्शन होते हैं वहाँ दूसरी ओर ललित कोमल पदों की मधुरता भी मिलती है। सौन्दर्य प्रवण 'पावसबाला' के रूपांकन में कवि ने मधुर किन्तु संस्कृत बहुल भाषा का प्रयोग किया है—

झलमल - मुक्तादल - नव - जल - धर—
जलधर - कुन्तल - जाला,
कज्जल - कल चपला चल लोचन
गोरोचन रुचि - भाला
विमल - बलाका - माला, सुरधनु—
अनुरंजित वर - अम्बर
मदिर - मंद - मंथर - गत आगत
स्वागत पावस - बाला।

इसमें प्रकृति के नैसर्गिक एवं हृदयानुरंजक सौन्दर्य को महाकवि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने प्रत्यंकित किया है। इसमें 'पावसबाला' का मानवीकरण किया गया है। यह 'पावसबाला' मंद - मंद मंथर गति से आयी है, जिसका कवि ने स्वागत किया है। वह जलधर जिसमें झलमल मुक्तादल सुशोभित हैं, वही उसके कुन्तल केश हैं। बिजली ही उसके चल लोचन हैं और उसके भालपर गोरोचन का तिलक लगा है। विमल बलाकाओं से सुशोभित और सुरधनु से अनुरंजित सुन्दर, अम्बर में वह मदिर मंद गति आयी है। मानवीय भावनाओं का आरोप करके 'पावसबाला' को एक सौन्दर्यप्रवण नायिका के रूप में चित्रित किया है। जिसमें चाक्षुष बिम्ब की योजना अतीव संवेद्य और स्पृहणीय हो गयी है।

माधुर्य व्यंजक वर्णों से अनुप्राणित, ललित कोमल पदों से आढ्य गूढ़ शब्दार्थ विरहित कवि की यह काव्यभाषा अत्यन्त जीवन्त और प्राणवन्त है। इसमें केवल अनुल्वण पदों का मधुर विन्यास ही नहीं अपितु भावात्मक तरलता के साथ शब्द अर्थ को ध्वनित करते हैं। शब्दों के चयन मात्र से 'पावसबाला' का गत्वर चित्र अंकित हो गया है। वर्णमैत्री और वर्णसंगीत का ऐसा अपूर्व समन्वय हिन्दी साहित्य में अन्यत्र कहाँ ?

कवि की गिरा चिन्मय है जिससे अर्थ-रस का संवर्षण होता है। कवि ने शब्द को अर्थ का ज्ञान दिया है। यही कारण है कि उनके शब्द परिपाक

अर्थ पूर्ण हैं। उनमें भाषा, भाव, कल्पना और ध्वनि का अनन्वय सामंजस्य रसज्ञों की अंतश्चेतना को जहाँ आवर्जित करता है, वहाँ प्रातिम-क्षमता सम्पन्न विपश्चितों की मनीषा को चमत्कृत भी करता है।

निराला के विराट् व्यक्तित्व के रूपांकन में कवि ने जिस भाषा का प्रयोग किया है, उससे महाकवि निराला के विराट् पौरुष और उनके विराट् रूप का चित्र मूर्त्त हो उठा है। निराला के व्यक्तित्व के अनुरूप ही कवि की यह काव्य भाषा प्रभावपूर्ण और अर्थ गाम्भीर्य से अनुप्राणित है। ध्वन्यात्मक वर्ण योजना के कारण निराला का गर्वोन्नत ललाट, विराट् वक्षस्थल एवं प्रलम्ब बाहु का चित्र एक ही साथ संमूर्त्तित हो गया है :—

सेवा - व्रत - हत - पार्थिव - प्रमोद
हिन्दी - मन्दिर का मूर्त्त मोद
साहित्य-सरस अच्छोद-कमल-वनमाला
चिर आत्माराम, अगाधमेध
शास्वत सित - शर शब्द वेध
अविराम सिद्ध वह नाम प्रसिद्ध—'निराला'!

कवि की काव्यभाषा में शब्द और अर्थ का समन्वय जल और तरंगों के सम्बन्धों के समान है। राम को जैसा भव्य परिवेश मिला था, उसी भव्य परिवेश के अनुकूल आभिजात्य संस्कृति से समन्वित काव्यभाषा का प्रयोग कवि ने राम के उदात्त व्यक्तित्व के रूपांकन में किया है।

मिला श्रीराम को परिवेश परिमल
ललित अभिजात स्वर्णिम प्रातशतदल
मिहिर के वंश के अनुरूप सारे
हुए संस्कार, फिर गुरुकुल पधारे
वहीं विद्या - महोदधि - मर्म - मंथन
किया, सीखा विचारा - चार ग्रन्थन।

उपर्युक्त उद्धरण में श्रीराम, परिवेश, परिमल, ललित, अभिजात, स्वर्णिम, शतदल, महोदधि आदि पदों के योग से परिवेश जनित भाषिक संस्कृति का संप्रत्यय होता है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के काव्य में वर्णमैत्री एवं ध्वन्यात्मक वर्णों की अपूर्व योजना मिलती है। अनुरणनकारी

वर्ण योजना से वर्णमैत्री और शब्दमैत्री जनित लयात्मक संगीत का अपूर्व समावेश उनके काव्य में हुआ है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की निम्न कविता लयात्मक ध्वनि की गुणवत्ता से उल्लसित है, जिसमें नादव्यंजक शब्द और अर्थ की युगपत् अनुस्यूति मिलती है :—

मेघ रन्ध्र में मन्द्र-सान्द्र ध्वनि
द्रिम-द्रिम-द्रिम उन्मद मृदंग की।
भाद्र - समुद्र - रुद्र रव रशना
नाच रही कस दस दिसि - वसना
रिमझिम-रिमझिम रुनझुन-रुनझुन
छुन किट तच्छुम रन-रन रुन-रुन
छुम-छुम, छन-नन झनझन-झुनझुन
मुक्त केश सरका श्यामाम्बर।
—मेघगीत

इसमें दो शैलियों के दर्शन होते हैं, ऊपर की पंक्तियों में नादव्यंजक ओजपूर्ण पदबन्धों की योजना हुई है तो नीचे की पंक्तियों में प्रसाद गुण संवलित पदबन्धों की योजना की गयी है। यहाँ कवि का ध्यान विशेष रूप से शब्द-संयोजन पर रहा है अर्थ गौरव पर नहीं किन्तु प्राणवन्त पदबन्धों के द्वारा मेघ के झूम-झूम के बरसने और गरजने का जो चित्र अंकित किया गया है, वह चित्र धर्मिता से युक्त है।

शास्त्रीजी की काव्यभाषा में एक ओर जहाँ संस्कृत बहुल संश्लिष्ट पदावली मिलती है वहाँ सहज सरल रस पेशल शब्दावली भी प्राप्त होती है।

काश ! मैं इस चाँदनी-सा व्याप्त होता,
स्वच्छ, निर्मल, विश्व भर का आप्त होता,
फैलता समभाव से जल और थल पर,
एक-सा टूटी कुटी, ऊँचे, महल पर,
खेलता मैं सिन्धु की, हँस, हर लहर से,
बोलता गिरिराज के उन्नत शिखर से,
सब किसी का प्यार पाता, जी जुड़ाता,
लोक में मैं स्वर्ग का आलोक लाता।

चांदनी शीर्षक कविता की इन पंक्तियों में ऋजु कोमल शब्दों के विन्यास से भाषा में सहजता और सरलता का समावेश हो गया है। कवि ने लोक-भाषा की सहज सरल एवं उदात्त शैली को अपने गीतों में सहजता के साथ लाने का स्तुत्य प्रयास किया है—

फटी पौ पंछियों के पंख फड़के,
चले मिल गोष्ठ को ले लोष्ट तड़के,
लगाये धूल धूमल नग्न तन में,
भरे ऊधम धमाधम मग्न मन में,

ऊपर के उद्धरण में आये, पौ, पछियों, फड़के, तड़के, धूली धूमल, ऊधम धमाधम आदि शब्द लोकभाषा से लिए गए हैं, जो सहज ही ग्राह्य एवं बोध्य हैं। कवि को सहज सरल भाषा लिखने में भी सिद्धहस्तता प्राप्त है। देखिए इन पंक्तियों को—

मैं अटट गंवारिन उपलों-भरी अंगारी
झकझक करती तम से निखोट, उजियारी।
कछुई - सी सिमटी रहती हूँ अपने में
ऐसी अठखेली बहती हूँ सपने में
देखा न अछेह उछाह मरू पर मैं भी
मुँह घुरा झुराती, सुनूँ वरू वर मैं भी।

भाषा की स्वाभाविकता का सहज प्रवाह और लोक जीवन में प्रचलित शब्दों की सरलता का सौन्दर्य यहाँ अपूर्व है।

शास्त्री जी के गीतों की भाषा में यदि कहीं समस्त पद बन्धों का विन्यास मिलता है तो कहीं अत्यंत सरल किन्तु प्राणवन्त शब्दों की सहजता मिलती है—

भूला हुआ भोर का राही
साँझ हुए घर आया!

कवि ने प्रात: कालीन चित्र को सहज सरल भाषा में अभिव्यक्त किया है जिसमें भावप्रवण कोमल शब्दों का लयात्मक सन्निवेश हुआ है। लय, अर्थ, बिम्ब और प्रभाव के सामंजस्य से निर्मित इस कविता की भाषा स्वच्छ स्फटिक के समान निर्मल और अवदात है —

नया सवेरा जन्म ले रहा, चहल-पहल है,
वनप्रान्तर सब मुखर, मर्मरित और गुंजरित।
पत्र-पत्र में स्पन्दन, कम्पन कली-कली में,
नये रक्त का है यह मांसल शिशु प्रकाश का।

शास्त्री जी की काव्यभाषा स्वाभाविक अलंकार, सौन्दर्य से समृद्ध और समादृत है। उन्होंने अपनी संवेदनशील ऋजु कोमल अभिव्यक्तियों को वचो-भंगिमा की समग्रता के साथ अभिव्यक्त करने के लिए रसाक्षिप्त अलंकारों का प्रयोग किया है। उनके काव्य में प्रयुक्त अलंकार रसात्मक भावों को दीप्ति प्रदान करते हैं। कहीं भी उनके काव्य में अलंकारों का सन्निवेश सायास नहीं हुआ है। उनके मूर्त्त अमूर्त्त भाव अलंकारों के सहज विनियोग से उत्फुल्ल हो उठे हैं। शास्त्री जी के काव्य में अलंकृत भाषा का प्रासादिक प्रयोग हुआ है। कवि ने अपनी काव्यभाषा में जहाँ एक ओर शब्दालंकारों का प्रयोग भावों के रसोत्कर्ष के लिए किया है वहाँ अर्थालंकारों का प्रयोग अभिव्यक्ति की रसात्मकता के लिए किया है। कवि को अनुप्रास अतीव प्रिय है। अनुप्रास के द्वारा उन्होंने अपने काव्य में नाद संगीत की योजना की है—

तपन ताप से नहीं,
तुहिन से कोमल कमल जला है
जीना भी एक कला है।

× × ×

तोड़-तोड़ कर प्रस्तर के स्तर—
झरता जीवन-निर्झर झर झर,
मरण यहाँ पाने को जीवन,
शरण तुम्हारी आया !

ऊपर की पंक्तियों में वर्णावृत्तियों से सांगीतिक मधुरिमा जीवन्त हो उठी है।

शास्त्री जी के गीतों में प्रतिपद अनुप्रास का सौन्दर्य और माधुर्य व्यंजक वर्णों की ललित योजना हुई है। स्वरों के संयम से संगीत का गीतों में अन्त-र्वेशन हो गया है। अनुप्रास के साथ ही रूपक अलंकार का सौन्दर्य भी उद्दीप्त है—

रेणु पिञ्जरित कुञ्चित कुन्तल रेशम श्याम सघन था।
स्वर्ण-सलिल में मन्द मन्द खिलता अरविन्द - वदन था।

—अवन्तिका

स्वर्ण-सलिल और अरविन्द-वदन में रूपक अलंकार की योजना से कलात्मक बिम्ब की योजना हुई है, वहाँ रेणु पिञ्जरित कुञ्चित कुन्तल में वर्णावृत्तियों से पदलालित्य की मधुरिमा ध्वनित है। पदलालित्य की दृष्टि से निम्न पंक्तियाँ भी अपूर्व हैं —

चटुल चरण धर मलिन, पुलिन पर री,
मधु संध्या उतरी।
नवल नील द्युति, अमृत - मधुर स्मिति री,
गति शिञ्जन-सिहरी॥

—रुप अरुप

शब्दालंकारों में अनुप्रास और यमक की बहुलता मिलती है। यह उनकी सहज स्वाभाविक काव्यशैली का सहज प्रतिमान है।

किसलय किसलय, पुहुप पुहुप झुक झूमे,
अलि-कलि ने आपस के मुँह हँस चूमे

—शिप्रा

भ्रमता-भ्रमता भ्रमर भ्रमों के वन का
क्रम-क्रम से आलोक लोक तक आया

—अवन्तिका

नए-नए घन उनए उनए,
तन-मन सावन-गगन बन गए!

—मेघगीत

ऊपर के उद्धरणों में यमक अनुप्रास पुनरुक्ति एवं ध्वन्यर्थ व्यंजना की छटा उल्लसित हो उठी है। शास्त्री जी के गीतकाव्य में इस प्रकार के उद्धरणों

की प्रचुरता मिलती है। शास्त्रीजी ने अनुप्रास यमक आदि अलंकारों के योग से गत्यात्मक चित्र को भी मूर्त्त कर दिया है मद पगी नदी के जलनिधि से मिलने के चित्र को कवि ने अनुप्रास जनित ललित पद योजना से मूर्त्त कर दिया है जिससे प्रगल्भ यौवना नायिका का चित्र भी जीवन्त हो उठा है—

सरित भरित-रस चली समद-पद
जलनिधि-पद बल खाती,
उमग-उमग मग पर डगमग पग—
धर कल-कल-स्वर गाती;

—रुप अरुप

निम्न पंक्तियों में यमक और अनुप्रास का अभिनव सौन्दर्य दृष्टिगत होता है और नाद संगीत भी श्रवण सुखद बन गया है—

झुलते खुल खुल मुकुल कोर पर,
हवा मचलती चलती—
लता परी की सुरभि-भरी
प्यारी सारी सरकाती!

—रुप अरुप

कवि ने अपने कोमल भावों को अभिव्यंजित करने के लिए सादृश्य मूलक अलंकारों में उपमा, रुपक, उत्प्रेक्षादि अलंकारों का अपूर्व विनियोग किया है। इन सादृश्यमूलक अलंकारों की योजना से भावों की अभिव्यक्ति में सहायता मिली है वहाँ कविता का समग्र प्रभाव भी प्रत्यक्ष हो उठा है। इन सादृश्यमूलक अलंकारों के योग से उनकी अभिव्यक्ति में जहाँ चारुता आयी है वहाँ भाषा भी समृद्ध हुई है। उनकी चित्रविधायिनी अलंकृत भाषा में उपमा का सौन्दर्य सर्वत्र व्याप्त है—

पतझर के पीले पत्ते सा,
उड़ता ही न रहूँ।

विरस पतझर में हरित भरित पत्र पीतवर्णी हो जाते हैं। 'पीले पत्ते सा' कहकर कवि ने सारहीन विरस जीवन की दीन दशा का जो चित्र अंकित किया है वह हृदय द्रावक है। रूप और क्रिया सादृश्य भी अपूर्व है।

मुखड़ा टुकड़ा-सा शरत्पूर्णिमा विधु का
कोंपल-सा सुन्दर अधर, उत्स सा मधु का।

—तीर तरंग

यहाँ मुखड़ा, कोंपल और उत्स को उपमान के रूप में नियोजित कर कवि ने चित्र को प्रभास्वर बनाने की अपूर्व कल्पना की है।

आत्म चेतना-चैत-चांदनी सी
चमकी तब गाथा
अमृत फुहारों से नहाया-सा
पुलकित चित घर आया

यहाँ आत्मचेतना के स्वरूप को चित्रित करने के लिए चैत चाँदनी की उपमान योजना अप्रतिम है। इस उपमान योजना से आत्मचेतना की सात्विकता शुभ्रता और निष्कलुषता का संप्रत्यय होता है। निम्न पंक्तियों में भी उपमा का सौन्दर्य द्रष्टव्य है—

कुरुक्षेत्र में हृषीकेश - सा
हँस हँस गाता गीता जीवन।

× × ×

अघट घाट पर लुढ़का घट सा
आत्मभाव से रीता जीवन।

कवि ने लोकापवाद से विवश एवं मोहन के प्रेम में वशीभूत राधा की न जी पाने और न मर पाने की विवशता के चित्र को विभिन्न उपमानों के द्वारा रूपायित किया है। यहाँ 'पंखकटी विहगी आँधी की कदली अधजली

पतंगी मरुतट उछली मछली' आदि उपमान मोहन के अनन्य प्रेम में पगी राधा की विवशता को साकार कर देती है—

मैं पंखकटी विहगी, आँधी की कदली,
अधजली पतंगी, मरुतट-उछली मछली
जीने दे रहा समाज न वृन्दावन का
मरने न दे रहा महामोह मोहन का।

अनुप्रास विलसित इन पंक्तियों में विभिन्न उपमानों के संयोजन से भावाभिव्यक्ति में चारुता आ गयी है और राधा की संवेदनशील विवशता मूर्त्त हो उठी है।

रुपक निगूढ़तत्त्वों की अभिव्यंजना में सहायक होता है। सभी रससिद्ध कवियों ने अपनी निगूढ़ भावनाओं की अभिव्यंजना के लिए रुपक अलंकार का सहारा लिया है। रुपक में अभेद्यरोप के कारण उपमेय तथा उपमान से सर्वथा भिन्न एक अन्य सौन्दर्य की अभिनव सृष्टि होती है साथ ही बिम्बों की भी योजना हो जाती है—

जलती आग कि जलता इंधन
किरण समीरण के छूने से
खुलता फूल कि खिलता बन्धन

संदेह गर्भित रूपक का सौन्दर्य यहाँ अतीव प्राणवन्त हो उठा है—

दर्प सर्प ने उसे डँसा था
विष मद था चढ़ आया।

यहाँ दर्प पर सर्प का और विष पर मद का आरोप करके कवि ने दर्प की भयंकरता और विष की घातक शक्ति का निरूपण किया है। अमूर्त्त के लिए मूर्त्त उपमानों के प्रयोग से भावाभिव्यक्ति जीवन्त हो गयी है—

आत्मजयी हो जहाँ सुगत
उस ठौर कि शान्ति सुजाता।

यहाँ आत्मजयी पर सुगत (बुद्ध) का और शान्ति पर सुजाता का आरोप किया गया है ।

कवि को संदेह और उत्प्रेक्षा अलंकार अतीव प्रिय है । संदेह में प्रतीति निश्चयात्मक नहीं हो पाती । संशयात्मिका वृत्ति आन्दोलित रहती है—

विश्व तुम्हारी माया ?
ज्योतिर्मय यह अंधकार
छाया कि तुम्हारी छाया ?

यहाँ अन्धकार के छाने की या ज्योतिर्मय की छाया (शोभा) की प्रतीति में संदेह प्रत्यासन्न है । उत्प्रेक्षा अलंकार की योजना में भी कवि सिद्धहस्त है । ज्योत्स्ना के पारावार में जहाँ क्षीर सागर निर्मल फेन उगल रहा है । वहाँ चाँद इस प्रकार खिला है मानो नील गगन में शुभ्र शतदल खिला हो—

उमड़ता ज्यों क्षीर सागर फेन - निर्मल,
चाँद उसमें है खिला ज्यों शुभ्र शतदल ।

यहाँ चाँद पर शुभ्र शतदल की सम्भावना की गयी है जिससे उत्प्रेक्षा अलंकार की अपूर्व योजना हुई है । शुभ्रशतदल यहाँ उपमान है जिससे चाँद की शुभ्रता का भी सप्रत्यय होता है ।

कवि ने भावों की सहज अभिव्यक्ति के लिए स्वभावोक्ति अलंकार की योजना की है । स्वभावोक्ति में उक्ति का स्वाभाविक चमत्कार निगूहित रहता है । अन्य अलंकारों में जहाँ उक्ति में वक्रता होती है वहाँ इस अलंकार में उक्ति की सहजता और प्रसन्नता परिलक्षित होती है :—

निस्तब्ध पवन में ध्वनियों की हलचल थी
गौओं की, समवय बाल - बालिका दल की:
नीड़ों में चोंच उठाये नवजातों की
दाने चुग आती खगियों की पाँतों की ।

इस कविता में स्वभावोक्ति अलंकार की योजना हुई है जिससे प्रभाव की समग्रता प्रत्यक्ष हो गयी है।

करुणा और वेदना से आप्यायित कवि का जीवन कंचन तन को तपाकर गलाकर आत्मा की प्रतिमा गढ़ने के लिए कृतोद्योग है। संसार के गरल को पीकर कवि ने विश्व जीवन के लिए अमृत रस का संवर्षण किया है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री वैदिक मनीषा के कवि हैं। वे विश्व मांगलिक चेतना के उद्गाता हैं। वे मंगलमय जीवन के कवि हैं :—सौन्दर्य के संगायक हैं किन्तु उस सौन्दर्य के जिसमें मांगलिकता अनुस्यूत रहती है—

'मंगलमय हो सुन्दरतर जो'

वैदिक ऋषियों के समान आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने विश्व मंगल को ही अपना मंगल माना है और यही उनके जीवन की काव्य-साधना का उत्कर्ष है—

विश्व भर का हो भला!
विश्व भर को प्राप्त हो नव—
ज्ञान, नित नव - नव कला,
एक साथ हिलें - मिलें सब,
एक डाली पर खिलें सब,
एक गत पर विश्व भर का—
एक स्वर का हो गला!

★

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की काव्य-दृष्टि

डॉ० रामनरेश मिश्र 'हंस'

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की काव्य-दृष्टि

□ डा० रामनरेश मिश्र 'हंस'

शास्त्रीजी का रचना-संसार बड़ा ही व्यापक और गहरा है। शास्त्री जी के रचनाकार को उत्तुंग हिमगिरि कहा जा सकता है जिसमें गंभीर चिन्तन से परिपूर्ण मस्तिष्क की भूधरी गुरुता है तो संवेदना-समवेदना से तरंगायित हृदय की स्त्रोतस्विनी भावुकता भी। जब लगन के ताल में ज्ञान के फूल खिलकर परिमल से सारी वसुधा को भर देते हैं, भीतर की पागल मीरा मुस्काने लगती हैं, हृदय की जादगरनी वीणा के सारे तारों को शारदा झंकार से भरकर संवार देती है, ज्ञान की सरस एवं रसमय ऊर्जा से मस्तिष्क उफन जाता है, 'जनम-जनम की पहिचानी तान' छेड़कर नीली मुरली पुकार उठती है तो शास्त्री जी का रचनाकार प्रकट होता है—मानवीय संवेदना की सारी धरती को समृद्ध एवं सम्पन्न कर सनातन मानव-मूल्यों किंवा जीवन मूल्यों की संप्रतिष्ठा के लिए बेचैन होकर।

कालिदास, भवभूति, वाणभट्ट, कबीर, तुलसी और निराला के व्यक्तित्वों का समन्वित रूप ही आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के अभिधान से ख्यात हैं। संस्कृत, हिन्दी, बंगला, उर्दू एवं अंग्रेजी के साहित्य-ज्ञान में तुल्यबल प्रतिभा के धनी शास्त्री जी वर्त्तमान युगीन साहित्य-साधना के मूर्धन्य हस्ताक्षर हैं। इनका रचनाकार साहित्य की समस्त विधाओं में सक्रिय हो अपनी अलग पहचान बनाता हुआ अग्रसर है या अग्रेसर है। शास्त्री जी की रचनाकारिता, इसीलिए परस्पर विरोधी आयामों से युक्त है। यह सरल है तो जटिल भी, सुगम है तो दुर्गम भी, मृदुता-मंजुता से ओत-प्रोत है तो कठोरता से भी, नगर-बोध से जुड़ी है तो ग्राम-बोध से भी, प्राचीन चिन्ताधारा की समाख्या के लिए बेचैन है तो अर्वाचीन चिन्ताधारा की समाख्या के लिए भी। सर्वत्र कालिदासी मानसिकता से अनुप्रेरित-अनुप्राणित ! पर-प्रत्ययनेयता से सर्वथा मुक्त मौलिकता से महाप्राण ! शास्त्रीजी के रचनाकार की मूल प्राण-शक्ति मौलिक अथवा निजी दृष्टि ही है।

शास्त्रीजी की काव्य-दृष्टि को परखने की कसौटी त्रिआयामी है। प्रथमतः साहित्य दर्शन, चिन्ताधारा एवं प्राच्य-साहित्य में, द्वितीयतः अपने ग्रंथों की स्वलिखित भूमिकाओं में और निजी रचनाओं के रचना-कौशल में। शास्त्री जी द्वारा लिखित अन्य रचनाकारों के ग्रंथों की भूमिकाओं एवं सम्मतियों में भी शास्त्रीजी की दृष्टि का साक्षात्कार होता है। सबों का समग्रतः परिदर्शन एक शोध-प्रबन्ध की माँग करता है। यहाँ एक लघु आलेख की सीमा को ध्यान में रखते हुए उनके काव्य-सिद्धान्त के दिग्दर्शन मात्र की चेष्टा की जा रही है। शास्त्रीजी की दृष्टि में काव्य परिपूर्णता के क्षणों की वाणी है[1], जीवन-सागर के अजस्र मंथन से उद्भूत मंगल-श्री है[2], अधिक से अधिक सत्य को व्यक्त करने के लिए सतत प्रयत्नशील महामनस्वियों की पवित्र तथा परिष्कृत लिपि-बद्ध वाणी का नाम ही साहित्य है[3], विविध वाणियों में स्फुट सत्य प्रकाशन का सही उदात्त उद्वेग साहित्य है[4]। ध्यातव्य है कि काव्य को शब्द-अर्थ से लेकर रसात्मक वाक्य अथवा रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द के रूप में परिभाषित किया गया है। आधुनिक विद्वानों ने इसे रस-दशा का वाणी-विधान स्वीकारा है। विदेशी काव्यज्ञों ने इसे 'दिली जजबात की तर्जुमानी' या 'मारिफत हासिल करानेवाली हकीकत' या 'जुनूनेहाल का बयान' माना है तो 'जीवन की आलोचना,' 'जीवन की अभिव्यक्ति' 'शान्ति के क्षणों में उत्थित सशक्त उद्गारों का उद्दाम प्रवाह' आदि भी। कवि-कर्म के तीन स्तर हैं—अनुभावना, अनुभूति एव परिकल्पना। इन तीनों को पारकर ही रचनाकार काव्य-रचना करता है। शास्त्री जी इन समस्त विचारों को आत्मसात् कर परिपूर्णता के क्षण और मंगल-श्री की बात कह पूर्वोक्त परिभाषाओं का समन्वय मात्र ही नहीं करते; बल्कि, कुछ निजी दृष्टि भी दे जाते हैं। साहित्य को विद्वानों ने 'मानवता का मस्तिष्क' 'सहित का भाव', 'ज्ञान-राशि का संचित कोश', 'जीवन की सुगन्ध' और 'मानवता का हृदय, आदि कहा है। आधुनिक दृष्टि में साहित्य 'जिन्दगी का दस्तावेज है तो कविता 'भाषा में आदमी होने की तमीज,' 'अपराधियों के कठघरे में खड़े एक निरपराध आदमी का हलफनामा' आदि। शास्त्रीजी के अधिक से अधिक सत्य-प्रकाशन' या 'स्फुट सत्य-प्रकाशन हेतु उदात्त उद्वेग में सबों का समग्रतः समाहार नहीं है क्या ? आश्चर्य तो तब होता है कि बिनोवा और धूमिल आदि के कई दशक पूर्व शास्त्री जी ने ये विचार व्यक्त किए थे।

1. साहित्य दर्शन, पृ० 31
2. बेला
3. साहित्य-दर्शन, पृ० 1
4. वही, पृ० 3

प्राचीन-नवीन के समन्वय-सन्तुलन से युक्त अपार मौलिक ऊर्जा की परख यहाँ होती है। शास्त्री जी के सम युगीन, किन्तु, वरीयस चिन्तकों ने साहित्य को 'समाज का दर्पण' 'मानवता की उच्चतम अभिव्यक्ति' आदि कहा है। शास्त्री जी की दृष्टि में 'सत्य, ज्ञान एव आनन्द की अभिव्यक्ति ही साहित्य है,'[5] साहित्य आत्मतृप्ति का उद्दाम उच्छ्वास है[6]। 'The Spontaneous overflow of powerfull emotions' और आत्म-तृप्ति के उद्दाम उच्छ्वास के अन्तर को यहाँ सहज ही समझा जा सकता है। वे कहते हैं—

"साहित्य आत्म-तृप्ति का उद्दाम उच्छ्वास है। जिसे पाकर हम झूम-झूम जाते, मस्ती की अलस अँगड़ाइयाँ लेने लगते हैं, कैसे विश्वास हो, उससे और किसी का कुछ भी न होगा? हमने तो अपने संकुचित स्वार्थ का साथ नहीं किया, फिर हमारी तृप्ति हमारी ही सीमा में सिमटकर क्यों रह जाए? लोक मंगल की ऐसी भव्य भावना से भरकर साहित्यकार आत्म सुधा को साफ सुथरी बोली की रूपहली-सुनहली प्यालियों में ढाल देता, उड़ेल देता है।' स्पष्ट है कि शास्त्री जी की आत्म-तृप्ति सार्वभौम तृप्ति है जहाँ लोक मंगल और आत्म-मंगल का दिव्य और भव्य समन्वय है, समरसता है, लालित्य है। शास्त्रीजी के अनुसार साहित्य एक अनुभूति है। विशाल विश्व से हिलमिल कर जो कुछ समझा, प्रकृति की श्री-सुषमा को अन्तः स्तिमित नेत्रों से जैसा देखा, उसी की एक-एक रश्मि-रेखा साहित्य के स्वच्छ पृष्ठों पर अंकित है।'[8]

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है—

'की जानो की होलो, आजि, जागिया उठेछ प्राण।
दूर हते शुनि येन महासागरेर गान।'

विश्व-वीणा पर झंकृत गीतों द्वारा रचनाकार की प्राण-शक्ति के जागरण की बात शास्त्रीजी भी स्वीकारते हैं। विल्हण ने भी साहित्य-समुद्र के मंथन से प्राप्त कर्णामृत के प्रभाव को विस्मित भाव से स्वीकारा है। शास्त्रीजी की दृष्टि में साहित्य रचनाकार की प्राण शक्ति का विश्व व्यापी विराट् चेतना के तद्रूप हो अभिव्यक्ति पा लेने की प्रक्रिया का मधुर परिणाम है जिसमें आत्म-संगीत और विश्व-संगीत का अद्भुत और असाधारण समन्वय है। साहित्य एक चेतना है जो अखिल सृष्टि को चैतन्य बनाती है। साहित्य स्वयं

5. वही, पृ० 3
6. वही, पृ० 3
7. वही, पृ० 3
8. वही, पृ० 4

में सृष्टि होकर स्रष्टा भी है जो अपनी संजीवनी शक्ति से पूरी वसुधा को ससुधा बनाने, विश्वव्यापी मानवता को संवेदनशील बनाने और जीवन के हर स्तर पर उसे अपार प्राण ऊर्जा प्रदान करने में सहज समर्थ है।

राजशेखर से सहमति प्रकट करते हुए आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री भी साहित्य में शब्द और अर्थ दोनों को बहुमूल्य मानते हैं और दोनों के बैलेंस को स्वीकारते हैं।[9] शब्द और अर्थ का सहितत्व मात्र काव्य नहीं, बल्कि, शब्द और अर्थ में दोनों को समान रूप से संतुलित भी होना चाहिए। भामह, मम्मट और कुन्तक आदि ने भी इस संतुलन को परोक्षतः स्वीकारा है। शब्दार्थ-संतुलन अर्थालंकार रहिता विधवेव सरस्वती' की एकांगी मान्यता को भी अस्वीकार करता है तो 'शब्द अधूरे हैं क्योंकि उच्चारण माँगते हैं' की मान्यता को भी।

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की दृष्टि में काव्य और साहित्य पर्यायवाची हैं—'साहित्य शब्द काव्य के ही अर्थ में चरितार्थ होता है। ....साहित्य सम्पूर्णता का प्रतिनिधि है। सम्पूर्णता, जिसे दार्शनिक भाषा में 'भूमा' कह सकते हैं।[10] लिट्रेचर और पोयट्री का भेद आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री को पूर्णतः ज्ञात है। जल-राशि को एक ही महासागर न कहकर भिन्न-भिन्न नाम दे दिए गए हैं। विश्व की पूरी जल-राशि 5 महासागरों और कई उपसागरों, नदियों के नाम से अभिहित है, उसी प्रकार, शास्त्र और काव्य (Literature and poetry) भी हैं। सकल शास्त्र, सम्पूर्ण ज्ञान-राशि ही साहित्य है। सुविधा के लिए इस ज्ञान-राशि को भी विविध नामों से अभिहित किया गया है।

काव्य के ही अर्थ में साहित्य शब्द के विशेष प्रयोग के लिए आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का तर्क है—'ज्ञान-ज्योति से सकल शास्त्रों के ओत-प्रोत रहने पर भी काव्य ही तत्क्षण अलौकिक आनन्द में मज्जित कर सकने, प्रतिपल भटकते फिरने वाले चपलतम मन को एकाग्र कर रस-सागर में परिप्लावित करने की क्षमता रखने के कारण साहित्य शब्द से अभिहित होता है। ....अन्य शास्त्र 'ज्ञानमय', 'प्राणमय' तो हैं पर 'आनन्दमय' कदापि नहीं। इसलिए रसमय या आनन्दमय होने के कारण काव्य ही साहित्य शब्द से अभिहित होता है'।[11] स्पष्ट है कि साहित्य की तमाम परिभाषाएँ (आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री द्वारा प्रदत्त) काव्य की परिभाषाएँ हैं।

---

9. वही, पृ० 10
10. वही, पृ० 13
11. वही, पृ० 13

भारतीय जीवन वासनानुप्राणित न होकर शुद्ध एवं सात्विक प्रेम की पवित्र धरती के रस से संपोषित है। पाश्चात्य दृष्टि में सेक्स अथवा महज कामवासना ही जीवन की स्पन्दशक्ति है। साहित्य में समस्या के नाम से इस सेक्स का बिम्बन धड़ल्ले से चल पड़ा है। शास्त्रीजी भारतीय चिन्ताधारा के समर्थक हैं उनके शब्दों में "साहित्य की इस पावन वन भूमि को परकीया नायिकायों का स्वैर बिहार स्थल बनाना पाप ही नहीं, महापाप है।"[12]

शास्त्रीजी के मत से जीवन का उद्देश्य है—आत्म-ज्ञान, अखण्ड आनन्द। साहित्य और दर्शन दोनों ही समस्वर से इसका प्रतिपादन करते हैं। ब्रह्म की उपलब्धि में जो भूमिका भक्ति और ज्ञान की है वही भूमिका साहित्य और दर्शन की है। दोनों का प्रतिपाद्य एक है। 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः एक-भक्तिर्विशिष्यते' की गीता-दृष्टि के साथ शास्त्रीजी भी प्रतिपाद्य की दृष्टि से साहित्य और दर्शन को एक पंक्ति में बैठाते हैं। किन्तु, दर्शन की शुष्कता, तार्किकता और जटिलता साहित्य को दर्शन से अलग करती है। शास्त्रीजी दोनों के श्रेय-तत्व को स्वीकारते हैं तो साहित्य के 'प्रेयस' को भी। 'श्रेयस' साहित्य और दर्शन दोनों को एक स्थान पर बिठाता है तो 'प्रेयस' के कारण साहित्य अपनी अलग पहचान बनाता हुआ दर्शन से बहुत ऊपर उठ जाता है, दर्शन जड़वादी भी हो सकता है; परन्तु साहित्य सर्वदा चैतन्यवादी है। आज के रचनाकार जड़वाद को साहित्य में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं, जड़वाद-आधृत साम्यवाद की प्रतिष्ठा के लिए सर्वत्र चहल-पहल है। शास्त्री जी साहित्य और जीवन दोनों में भागवत साम्यवाद की प्रतिष्ठा के पक्षधर हैं। भारतीय जीवन-साधना अनाहत के अनु-संधान के लिए तत्पर रही है। शास्त्री जी इसी अनुसंधान के समस्वर हैं—'साहित्य की सुवर्ण वीणा में ऐसी-ऐसी स्वर्गीय झंकारें भरी हुई हैं। वे अनहद नाद की भाँति आत्मश्रुति द्वारा ही सुनी जा सकती हैं।........लोक मंगल की कमनीय कामना करनेवाला ही होता है। भोगवासना निश्चय ही मंगल नहीं, विनाश है, वह साहित्य का कदापि अभिप्रेत विषय नहीं।'[13]

काव्यात्म की खोज में शुरू से ही तत्परता दीखती है और अपने यहाँ अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य, ध्वनि और रस को काव्यात्म की प्रतिष्ठा मिलती गयी है। इसी क्रम में मंगल और आनन्द भी आए हैं। आधुनिक दृष्टि ने सौन्दर्य को प्रतिष्ठित किया है तो साहित्यिकों की वैज्ञानिक दृष्टि ने विज्ञान के आकर्षण - सिद्धान्त को। ये स्थापनाएँ स्वातन्त्र्योत्तर हैं।

---

12. वही, पृ० 13   13. वही, पृ० 18

शास्त्रीजी की क्रान्तदर्शी दृष्टि ने इस सदी के तीसरे चौथे दशक में ही घोषणा की थी—

'साहित्य (कला) की आत्मा, साहित्य (कला) का सौन्दर्य प्राण ही है।.... इसमें निर्माता के सौन्दर्य ज्ञान, सौन्दर्यानुभूति का तत्व भी मिश्रित रहता है। इसलिए इसे प्राकृतिक सौन्दर्य का 'फोटोग्राफ' नहीं कहा जा सकता। सौन्दर्य मात्र नहीं, केवल अनिन्द्य सौन्दर्य ही कलावस्तु का विषय है। सौन्दर्य के प्रति आकर्षण प्राणी का सहज धर्म है। सौन्दर्य की इसी अनन्त पिपासा, अनादिवासना के कारण प्राणिश्रेष्ठ मानव स्वभावतः कलाप्रिय है।'[14] कला सत्य के लोकमंगलकारी सौन्दर्य को सर्वांग सुन्दर रूप में प्रकट करती है। पौराणिक कला सृष्टि की तिलोत्तमा कालिदास की पार्वती, तांत्रिकों की ललिता इसी कला-दृष्टि एवं कला-सृष्टि की उपज हैं। लालित्य-सृष्टि की प्रक्रिया है- समस्त लालित्याधायक तत्वों का समुच्चय, यथाप्रदेश उनका अभिनिवेश, रचनाकार की हार्दिक चेष्टा, विश्व-मंगला सिसृक्षा और एकस्थ सौन्दर्य दिदृक्षा। तभी, कोई दर्शक (भावक) कह सकता है— क्रीड़ा ते लोक रचना सखा ते चिन्मयः शिवः आहारस्ते सदानन्दः वासस्ते हृदये सताम्।' रचनाकार की यही कला-दृष्टि जब सृष्टि की ओर तत्पर होती है तो कला पराकला के रूप में सृष्ट हो परमानन्द में लीन करने की क्षमता पाती है। शास्त्रीजी इसी सौन्दर्य-दृष्टि के पक्षधर हैं। वे कहते हैं—'सौन्दर्य ईश्वर की उच्चतम विभूति, बल्कि निज का रूपांकन है।[15] 'सौन्दर्य स्वच्छ हृदय की पवित्र उदात्त भावना है।[16] सौन्दर्य-दर्शन की सारी फिलासफी इसी परम-शिव-दृङ्मात्र-विषयः' में समाप्त हो जाती है।'[17] भारतीय चिन्तन काम को भी धर्म का अविरोधी मानता रहा है। फ्रायड और वात्स्यायन की काम-विषयक अवधारणा में मौलिक अन्तर है कि फ्रायड का काम धर्म विरोधी है; 'मदन ज्वाला-सदन' है; जबकि वात्स्यायन का काम धर्म अविरोधी या धर्मानुरोधी है, 'त्रिविध-ज्वाला-हरण है। काम ईश्वर का पर्याय है। काम-गायत्री की परिकल्पना इसका प्रमाण है। काम विष्णु का पर्याय है। शास्त्रीजी के मत से पूर्ण ब्रह्म का इस विशाल विश्व में कोई भी अस्तित्व निरुद्देश्य नहीं; इसी लिए कला-सृष्टि भी सोद्देश्य है, मूल्य-सापेक्ष है। 'कलार्थे कला' व्यर्थ की वस्तु है। उसे कूड़े की टोकरी में फेंक देना ही उचित है। कला की सार्थकता जीवनार्थता में है। मम्मट आदि ने भी काव्य के 6 प्रयोजन यश, अर्थ,

---

14. वही, पृ० 21
15. वही पृ० 22
16. वही, पृ० 22
17. वही पृ० 23

व्यवहार-ज्ञान, शिवेतर-क्षति, सद्यः परनिवृंति और कान्ता-सम्मित उपदेश माना है। 'अर्थकृते' का अर्थ मेरी दृष्टि में 'धनकृते' से ज्यादा 'जीवनार्थकृते' है। शास्त्रीजी भी यहाँ जीवनार्थता, अशिव-क्षति और सद्यः परनिवृंति आदि के पक्षधर हैं। आधुनिक काव्य शास्त्रियों का विरेचन-सिद्धान्त (Theory of catharsis) सद्यः परनिवृत्ति ही तो है। कला का आराधक जिस मौलिक सौन्दर्य की सृष्टि-साधना में तत्पर होता है उसका कोई बाह्य प्रयोजन नहीं होता। वह तो आत्म-तृप्ति के लिए ही साधना करता है। जो विश्वात्म-तृप्ति का पर्याय है। तुलसी ने 'स्वान्तः सुखाय' एवं 'स्वान्तस्तमः शान्तये' काव्य साधना की थी जो विश्वान्तः सुखाय एवं विश्वान्तः तमः शान्तये बनी हुई है। कलाकार की निजता के भूगोल इतिहास और संस्कृति में विश्व के भूगोल, इतिहास और संस्कृति सम्बद्ध हैं। कलाकार का 'स्व' सर्व-स्व ही है। वेद की घोषणा है कि 'सर्वहुत' यज्ञ के द्वारा उस परम पुरुष ने साममंत्रों की रचना की और कल्पना की कि मेराबाह्य मधुमय हो, आन्तर मधुमय हो, वाणी मधुमय हो; किंबहुना, मैं मधुमय हो जाऊँ। वैदिक 'सर्वहुत' यज्ञ और मधुम यता की कल्पना काव्य-प्रयोजन के मूल उत्स हैं। आज का कलाकार भी पूर्ण विसर्जित अहं और समग्रतः समर्पित आस्था की बात करके किसी-न-किसी तरह वैदिक अवधारणा की समस्वरता ही प्रकट करता है। शास्त्रीजी ने वैदिक अवधारणा को ही जीवन में उतारने की चेष्टा की है और आज के कलाकार का मार्ग-दर्शन किया है। इस प्रकार शास्त्री जी प्राचीन और अर्वाचीन को जोड़नेवाले एक जबरदस्त कड़ी के रूप में समीक्षा के मंच पर विराजमान हैं।

शास्त्री जी साहित्य और धर्म को एक दूसरे का पूरक मानते हैं। रस्किन ने लिखा है—He only is advancing in life, whose heart is getting softer, whose blood warmer, whose brain Quicker whose spirit is entering into living peace. शास्त्रीजी भी इसी के पक्षधर हैं। आधुनिकता का तर्क है कि धर्म और ईश्वर की सत्ता मिटाए बिना आत्मोन्नति असंभव है। क्रान्ति में ये दोनों परम बाधक हैं। छायावादी मानसिकता महारुद्र-ताण्डव के लिए बेचैन रही है ताकि सारे अमंगल और अशिव मिट जाएँ और फिर नए सिरे से 'सत्यं शिवं सुन्दरं की प्राण-प्रतिष्ठा हो सके। धर्म और ईश्वर की मानसिकता मनुज को निरंकुश और उच्छृंखल होने से बचाती है; वासनाओं को मिटाती है, दुष्प्रवृत्तियों का दमन करके सुप्रवृत्तियों को उद्‌बुद्ध एवं प्रबुद्ध करती है।

Life of my life, I shall ever try to keep my body pure, knowing that thy living touch is upon all my limbs....... And it shall be my endevour to reveal thee in my actions, knowing it is they power gives me strength to act.

आज का भारतीय चिन्तक मनुष्य जाति की समस्याओं के समाधान का एकमात्र उपाय सुझाता है---अन्त: की पशुता का दमन—Human problems may be easily solved if donkey in man be Suppressed—डा० राधाकृष्णन् इनके विचार से मनुष्य प्रेम का पात्र है घृणा का नहीं; सर्जना का पात्र है संहार का नहीं; सहयोग का पात्र है दमन का नहीं। शास्त्री जी भी डा० राधाकृष्णन के विचार से पूरे सहमत हैं। धर्म और ईश्वर से वर्जित जगत के मानवों को देख डा० गुलाब राय चिन्तित होते हैं—'आज तो मनुष्य और तो सब कुछ बन गया है, मनुष्य ही नहीं बन सका है।' शास्त्रीजी समयुगीन सुस्थ चिन्तन के पूरे समर्थक हैं, अस्वस्थ चिन्तन के पूरे विद्रोही।

अविवेकपूर्ण तोड़-फोड़, हिंसा आदि द्रोह हैं, क्रान्ति नहीं। अच्छे मूल्यों की सुस्थापना के लिए प्रयत्न ही सच्ची क्रान्ति है तो चुके मूल्यों पर कड़ा प्रहार ही विद्रोह है। शास्त्री जी की दृष्टि मूल्यवादी दृष्टि है, मानववादी दृष्टि है। साहित्य और राजनीति के विषय में शास्त्रीजी के विचार बड़े ही स्पष्ट हैं। राजनीति और साहित्य कभी भी एकाकार नहीं हों। साहित्य का राजनीति-प्रचार-प्रसार में जुट जाना बड़ा ही अनर्थकारी होगा। साहित्य में राजनीति को पचा डालने की ताकत अवश्य होनी चाहिए—यों दामन थाम लेनेवाले खारों को गुलों से बेहत्तर बतलानेवालों को जतलाया जा सकता है कि राजनीति को पचा लेने की ताकत साहित्य के चौबे लोगों में होनी ही चाहिए, तभी उसके उदार उदर में विशाल विश्व का विलोकन किया जा सकेगा।........साहित्य की मथुरा में कुछ दुमंजली तोंदवाले चौबे-ही-चौबे तो हैं नहीं, बल्कि सबसे कम नम्बर इन्हीं का होगा। साहित्य के सर्जन और पालन का सारा भार सिद्ध साधकों, निश्छल तपस्वियों पर रहता है और आज भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है।........राजनीति की खूनी जमीन में साहित्य की तप; साधना नहीं हो सकेगी।[18]

साहित्य जीवन-मूल्यों की संस्थापना में निरन्तर साधनालीन रहता है—जीवन के विराट विम्बन के द्वारा। साहित्य की इस अर्थवत्ता को हर युग में

18. वही, पृ० 29-30

किसी न किसी रूप में स्वीकारा जाता रहा है। शास्त्री जी की भी इससे पूरी सहमति है—'जीवन-समुद्र के अजस्र मथन के पश्चात् निकली हुई मंगल श्री का ही नाम तो साहित्य है। अपने स्वच्छ हृदय-पटल पर समाज की बहुरंगी सत्यछवि का अंकन कर लेनेवाला ही तो साहित्य है।'[19]

शास्त्री जी काव्य का सच्चा दर्शन रसास्वाद को मानते हैं। काव्य का सहस्रार रसावगाहन ही तो है। अलंकरण-क्रिया, रीति-क्रिया, वक्रोक्ति-क्रिया, औचित्य-क्रिया या ध्वनि-क्रिया आदि सारी क्रियाएँ-उपक्रियाएँ रसावगाहन प्रक्रिया के अन्तर्गत हैं, ऐसा आज के विचारक मान रहे हैं। शास्त्रीजी का अभिमत भी यही है—काव्य का स्वरूप-निरूपण, तारतम्य-व्यवस्थापन, वर्गीकरण आदि समस्त प्रक्रियाएँ उसके आन्तर रस-सुख की प्राप्ति से पहले की अवस्थाएँ हैं। काव्य-सुधा का स्वाद मिलते ही गर्जन-तर्जन, नियम-अनुशासन, भेद-भाव,—सबकी सुध जाती रहती है। रसास्वाद ही काव्य का सच्चा दर्शन है। काव्यामृत-पान के समय न तो उद्भट-मम्मट के काव्य-लक्षणों का अनुसन्धान होता है और न मैथ्यु आर्नल्ड या कार्लाइल के।'[20]

यहीं शास्त्री जी की समीक्षा-परक दृष्टि भी सुस्पष्ट होती है। उनके मत से—'काव्य की आलोचना' उसके सम्मिलित सौन्दर्य को रेखाओं में विभाजित करना, उसके अलंकार और ध्वनि का छोटा-मोटा 'कैटलाग' तैयार कर लेना नहीं है।'[21] कवि-कर्म सौन्दर्य का अंकन है—'सत्य को सुन्दर बना देने की कला।'[22] आलोचना का प्रतिमान गढ़ते समय शास्त्री जी घोषित करते हैं—'किसी कृति के गुण-दोष का निष्पक्ष विश्लेषण ही आदर्श आलोचना नहीं है।'[23] आलोचना का आदर्श है—'आलोचक के चतुरस्र सौन्दर्य के अन्वेषण तथा रस-बोध का आकुल-आवेग; कृतिकार के साथ सहानुभूतिमूलक आत्मीयता से उत्पन्न रसमय विवेक प्रवाह।'[24] यहाँ सहानुभूति से शास्त्री जी का तात्पर्य समानुभूति (Ampathy) से है या सह-अनुभूति से है। कलाकार की संवेदनशील अनुभूति को समवेदना और सह-अनुभूति के रूप में आत्मसात् कर लेना ही समीक्षक-कर्म है, समीक्षा है। 'आलोचना वीणा या ध्रुपद का पद नहीं; तारों की झंकार और गायक के सुरों से सामंजस्य स्थापित करनेवाला संगीत है! क्योंकि आलोचना कोकिला या रसाल की डाल नहीं; अपितु स्वर

---

19. वही, पृ० 31
20. वही पृ० 33
21. वही, पृ० 33
22. वही, पृ० 43
23. वही, पृ० 46
24. वही पृ० 46

और सौरभ को मिश्रित कर मुसकरानेवाली वसंत-श्री है।'[25] आलोचना के दो उदाहरण शास्त्री जी पेश करते हैं—रवीन्द्र नाथ ठाकुर एवं डी० एल० राय के निष्कर्ष दुर्वासा के शाप की योजना पर प्रस्तुत् कर उनके परस्पर विरोधी विचारों पर अपना अभिमत देते हैं—'अपने-अपने स्थान पर दोनों ही आलोचक 'परम तथ्य' का प्रतिपादन करते दिखाई पड़ते हैं। किन्तु उनके दृष्टिकोण में कैसा आकाश-पाताल का-सा अन्तर! एक की दृष्टि में जो कालिदास की सर्वश्रेष्ठ निपुणता है, वही दूसरे की दृष्टि में एकदम छिछोरापन है। तीसरी श्रेणी के नाटक के उपयुक्त अयुक्तियुक्त कल्पना है। क्यों न हो, आलोचना के लिए कोई रूढ़ सिद्धान्त, कोई विशिष्ट दृष्टिकोण तो नियत है नहीं। आलोचक अपने मस्तिष्क पर भरोसा रखकर, अपना दिल पिघलाकर लेखक का दिल छेड़ रहा है, और दिमाग को टटोल रहा है, छू रहा है, और तदनुकूल उपपत्तियाँ अपने आप निर्मित होती चली आ रही हैं। मैं इसे आदर्श आलोचना कहता हूँ।'[26]

'आलोचक की सबसे बड़ी सफलता यही तो है कि वह भ्रम से भी पाठक को यह सोचने का अवसर न दे कि वे विचार निश्चित रूप से मूल कृतिकार के नहीं, अपितु उसी आलोचक के हैं। और ऐसा तभी हो सकता है जब वह आलोच्य विषय के अन्तरंग में प्रविष्ट होकर, उसका मर्म मालूम करने के लिए अहर्निश साधना करता है, उससे एकतान होकर उसका अनाहत नाद सुन लेता है। और तब जो उसकी अनुभूतियों का सहज उद्गार होता है, वही आदर्श आलोचना है, वही आलोचना का आदर्श है।'[27]

संस्कृत-आलोचना में एक ओर गुण-दोष, रीति-अलंकार रसादि के विवेक की पद्धति मिलती है तो दूसरी ओर रचनाकार को शब्द योजना आदि के विषय में सही सुझाव की भी। इनसे परे अन्तरंग प्रवेश, मर्म-बोध, सम-वेदना और सह-अनुभूति के साथ स्वात्म-निकष पर मूल्य-विवेचन की प्रवृत्ति पारम्परिक रूप से उपलब्ध होती है -कभी सूक्तियों के माध्यम से, कभी टीका एवं भाष्य के माध्यम से। अंग्रेजी आलोचना-पद्धति का झुकाव दोष-दर्शन की ओर अधिक दीखता है, गुण-दर्शन की ओर कम। इसी वजह से आलोचना सुनकर रचनाकार द्वारा आत्म-हत्या किए जाने की सूचनाएँ भी वहाँ मिलती हैं। संस्कृत समीक्षक रचनाकार के साथ एकरस या समरस हो आत्म-

25. वही, पृ० 46
26. वही, पृ० 47
27. वही, पृ० 49

विवेक द्वारा कृति को और भी सशक्त और मनोहर बनाने का प्रयास करता है। शास्त्री जी के 'संस्कृत में आलोचना है ही नहीं, आलोचना तो विदेशी देन है' जैसी धारणाओं का परोक्षत: खण्डन करते हुए भारतीय आलोचना-पद्धति के सुस्थ और स्वस्थ रूप को प्रस्तुत करते हैं। इनकी नजर में काव्य और काव्यालोचन सीमाबद्ध हैं जबकि सर्जना और समीक्षा दोनों बोध के स्तर पर अनन्त और असीम हैं। सर्जना रचना के द्वारा सत्य को मनोहर रूप में अंकित करती है तो समीक्षा मनोहरता को भी मनोहर बनाने का प्रयत्न।

"सुन्दरता कँह सुन्दर करई।
छवि गृह दीप-सिखा जनु बरई॥" (मानस)

शास्त्रीजी जीवन के अतुल आवेग के आग्रही हैं तो काव्य में कलातत्त्व के समुचित समावेश के तीव्र पक्षपाती भी—'वस्तुत: कला की योजना जीवन का स्वर तीव्रतर करने के लिए ही हुई है, मानव-जीवन में ज्यों-ज्यों सौन्दर्य-प्रियता घर करती गई, त्यों-त्यों कला की बारीकी भी निखरती गई है। जब कलाकार किसी का मादक रूप और किसी की प्रशान्त आकृति आँकता है तो वह अपनी ओर से उसके जीवन को ही स्फुट करता है, कुछ आड़ी-तिरछी रेखाएँ खींचना भर उसका उद्देश्य कदापि नहीं होता।'[28] कलाकार जीवन के विश्लिष्ट अणु-परमाणुओं को एकत्र कर दिव्य आकार में परिणत कर मंगल की सृष्टि करता है।[29] भारतीय चिन्ताधारा लोक मंगल और आत्म-मंगल के समन्वित रूप दिव्य मंगल की संप्रतिष्ठा को पूर्ण जीवन स्वीकारती है। शास्त्री जी भी इसी के पक्षधर जान पड़ते हैं।

'काव्यशास्त्र की भूमिका' निबन्ध में शास्त्री जी ने काव्यशास्त्र शब्द को सर्वाधिक सारगर्भ घोषित किया है। उनके विचार से नाट्य काव्य के भूगोल का एक गोलार्द्ध है, अलंकार उसका एक देश है, रीति मध्य युगीन काव्यात्मक सौन्दर्याभिव्यक्ति के पर्याय के रूप में अर्थ रूढ़ है, साहित्य लिट्रेचर का पर्याय बन गया है तो रस शास्त्रीय परम्परा में एक विशिष्ट वाद के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है। इसीलिए काव्यशास्त्र अपनी अनैतिहासिक धरती के बावजूद विषय को व्यक्त करने में सर्वाधिक समर्थ है।[30] काव्य शास्त्र के विषय में शास्त्री जी का मत है—'काव्यशास्त्र किसी जाति, धर्म, सम्प्रदाय या समाज के भीतर से जन्म ग्रहण करने वाली काव्यात्मक भावराशि को अन्तः

28. चिन्ताधारा, पृ 19 29. वही, पृ० 3-20
30. वही, पृ० 27-28

सम्बन्ध-सूत्रों में गूँथकर विश्व-मानवता के गले का शृंगार-हार बना देता है; राष्ट्रीय आवेश तक से संकुचित अन्तश्चेतना को विश्वात्मा से सम्पृक्त कर देता है।'[31] काव्य-शास्त्र अन्धे की लाठी है तो आँखवालों के अन्तः करण का परिष्कार भी, अज्ञानदुर्गम घाटियों में वह पथप्रदर्शक है तो समतल के पथिकों के लिए आनन्द के क्षितिज का संकेत भी।[32]

आज के नाट्य-शास्त्री संस्कृत साहित्य में एकांकी का अभाव घोषित करते हैं। शास्त्री जी ने 'संस्कृत साहित्य में एकांकी शीर्षक निबन्ध में रूपक के ५ भेदों भाण, प्रहसन, व्यायोग, वीथी और प्रङ्खण, 'रासक' श्रीगदित, विलासिका, हल्लीस और मणिका को एकांकी घोषित किया है।[33] नाट्य के २८ भेदों में १५ एकांकी ही हैं—अपनी भिन्न प्रकृति और प्रवृत्ति के द्वारा अपनी अलग पहचान बनाते हुए। शास्त्री जी आधुनिक एकांकी विधा से इन्हें भिन्न स्वीकारते हैं—काव्यात्म के रूप में रस की प्रतिष्ठा और तदनुसार रसास्वाद के निकष पर। संस्कृत एकांकी रसवादी हैं जबकि पश्चिम द्वारा आयातित एकांकी समस्यावादी। संवाद, पात्र-कल्पना, भाषा आदि के निकषों पर भी दोनों में पर्याप्त भेद है।

भारत के प्राचीन आचार्यों के मतों के समीक्षण के साथ शास्त्री जी मुक्तक को 'पूर्वापर निरपेक्ष पद्य' के रूप में परिभाषित करते हैं।[34] गीतिकाव्य की विशिष्ट प्रकृति का निर्देश करते हुए वे लिखते हैं—'आधुनिक गीतिकाव्य मुक्तक काव्य का विवर्त हो सकता है पर उसी का एक रूप-विशेष नहीं। गीति काव्य के मूल में आत्मनिष्ठता का जो आग्रह अनिवार्य है वह मुक्तकों में सर्वत्र नहीं पाया जाता। और व्यक्ति चेतना की मार्मिक अभिव्यक्ति के अभाव में गीतिकाव्य दुर्लभ है।[35] आज के काव्यशास्त्री गीतिकाव्य को मुक्तक का एक रूप-विशेष मानते हैं। शास्त्रीजी का दृष्टिकोण बिलकुल भिन्न; किन्तु, सुविचारित सुस्थ है। कवीन्द्र रवीन्द्र के मत से संस्कृत गीति रचना असंभव है, क्योंकि, व्याकरण के अनुशासनों में बँधी परिमार्जित वाणी में स्वाभाविक प्रवाह संभव नहीं। यह तो लोकवाणी में ही संभव है। शास्त्री जी रवीन्द्र के मत को एक हद तक ही स्वीकारते हैं। कालिदास की शब्दावली में वे लोकवाणी को वनलता और देववाणी को उद्यानलता कह दोनों के

31. वही, पृ० 31
32. वही, पृ० 32
33. वही, पृ० 36-42
34 वही, पृ० 44
35. वही, पृ० 43, मुक्तक कवि कालिदास

वैशिष्ट्य सहज गति एवं आकर्षण को व्यक्त करते हैं। शास्त्री जी का मत भारतीय संगीतशास्त्रीय अवधारणा के अनुरूप है। भारतीय संगीत में गीत के प्रमुखत: दो भेद हैं—मार्गी और देशी। मार्गी के लिए संस्कृत उपयुक्त है तो देशी के लिए लोकभाषा।

शास्त्रीजी काव्य में कल्पना और वास्तविकता के अस्तित्व को तो समान रूप से स्वीकारते हैं यदि संतुलन बना रहे और काव्य-उद्घाटन मर्मस्पर्शी हो।[36] 'काव्य में चित्र और संगीत' में शास्त्री जी काव्य-कला को श्रेष्ठ मानते हुए भी ललित कलाओं में श्रेष्ठता का निर्णय मूर्त्त-अमूर्त्त आधारों पर करना उचित नहीं मानते। इनके मत से श्रेष्ठता की कसौटी प्रभाव-शालिता होनी चाहिए। संगीत की व्यापक प्रभावशालिता काव्य की श्रेष्ठता पर प्रश्नचिह्न लगा देती है। शात्री जी के मत से काव्य वर्णात्मक, व्यंजना-प्रधान और रस-सिद्ध होता है तो संगीत ध्वन्यात्मक, नाद-प्रधान और माधुर्य सिद्ध है। दोनों के आनन्द में प्रकार-भेद है। संगीत आपात मधुर है तो काव्य-आस्वादन के बाद अमृत तुल्य। दोनों ही रसवादी है—'गायक ने स्वरों की सुमधुर योजना से रस-सृष्टि की और कवि ने स्वर-युक्त भाव-व्यंज-कता से।'[37] चित्रकला की स्थिति भी संगीत जैसी ही है। कभी 'भावों किंवा पदार्थों की जैसी संघटित, सुसम्बद्ध अभिव्यंजना उसमें होती है और उसका जैसा सुस्थिर सामूहिक प्रभाव पड़ता है, वह गतिशील कलाओं (काव्य और संगीत) में दुर्लभ है।'[38] शास्त्री जी के मत से काव्यकला की सर्वश्रेष्ठता उसकी उदारता और व्यापकता में है। सारी ललित कलाएँ काव्यकला में सिमटकर आ विराजती हैं और आनन्द-दान की विराट् एवं व्यापक योजना में अपनी विशिष्ट भूमिका समन्वय-संतुलन के साथ निभाती हैं। शास्त्री जी की यह अवधारणा कालिदास की 'नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समारा-धनम्' एवं भरत के नाट्येस्मिन्यन्न विद्यते' के अनुरूप है। आधुनिक प्रतिमान के लिए यह चुनौती जरूर है, पर, अविचारित सुस्थ न होकर सुविचारित सुस्थ एवं सुविचारित रमणीय है। आनन्द बोध के लिए काव्य में चित्र और संगीत की विशिष्ट भूमिका है। काव्य में दो प्रकार के संगीत होते हैं—शब्द संगीत और भाव-संगीत। इनसे क्रमश: गीतिकाव्य (lyrics) और गीतकाव्य (Songs) की सृष्टि होती है। 'नया स्वर' शीर्षक कविता में शास्त्रीजी कलाकार के नए स्वर को मन की नेक हठ मानते हैं जो संगीत में ढलकर

36. वही, पृ० 66-101 (कल्पना और वास्तविकता)
37. वही, पृ० 137   38. वही, पृ० 139

प्राणों की वेदना को व्यक्तकर संवेदना की धरती को अपनी मधुरिमा से आलोकित कर जीवन को झंकार से भर देता है।[39] 'जीवन-रचना' में कवि काव्य-रचना की प्रक्रिया का भी संकेत दे जाता है। तदनुसार, चेतना जब सुरेख, सुछबि बन सुघर रूप में उमड़ उमड़ कर तन्मयता की रसात्मक अहंता से सुसज्जित होती है तो इस सुन्दरतम को भी आलोचक की आँखों में जँचना पड़ता है—अपनी मूल्यवत्ता प्रमाणित करने के लिए।[40] गीत के विषय में शास्त्री जी के विचार हैं—'गीत तो हृदय के सबसे खुले बोल हैं। भाव के स्रोत अनेक हो सकते हैं, सबके धरातल भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं; किन्तु सब अर्थों को स्वर और लय देनेवाला तत्व एक ही होता है। और वह तत्व स्वयं जीवन है'।[41] शास्त्री जी की दृष्टि में गीत जीवन-चेतना की तरंग हैं—कल्पना द्वारा उच्छलित, अन्त: की ध्वनि, किन्तु, अपने आप में आत्मबोध, युग-बोध और विश्व-बोध को समेटे हुए। 'अपनी संवेदनाओं का सुरीली साँसों के सहारे सहज प्रसारण ही मेरी गीत-साधना का अतवर्य औचित्य हो सकता है। वास्तव और यथार्थ मिट्टी की गन्ध ही नहीं, जिन्दगी का दर्द भी हो सकता है'।[42]

"बकद्रे पैमानये तखय्युल सरूर, हर दिल में है खुदी का।
अगर न हो यह फरेब पैहम तो दम निकल जाय आदमी का॥"

शास्त्री जी गीत को रचना की दृष्टि से साहित्य की अन्य विधाओं से अति कठिन मानते हैं। काल-चक्र और प्यार-पीड़ाएँ ही नहीं, बहुत-सी अनाम वेदनाएँ भी अनुभूतियों के मधु-चक्र का निर्माण करतीं और सृजन का विशेष क्षण इन्हें गीत का विग्रह दे डालता है।[43] गीतकार को सरस्वती के पावन मन्दिर में पाँव रख कर भी प्रार्थना करनी पड़ती है—

'निनादय नवीनामये, वाणि! वीणाम्।
मृदुं गाय गीतिं ललित - नीति - लीनाम्॥'[44]

या

यह सँवार सितार लाया।
शारदे! झंकार दे सब तार, तेरे द्वार आया॥

39. संगम, पृ॰ 73
40. वही, पृ॰ 7
41. उत्पलदल (गीत-कथा) पृ॰ 6
42. वही, पृ॰ 13
43. वही, पृ॰ 28
44. काकली, पृ॰ 1

'आधुनिक कवि' की भूमिका में शास्त्री जी कवि-व्यक्तित्व के विषय में आधुनिक चिन्तन के सम स्वर हैं—किसी भी कवि का व्यक्तित्व आनुवंशिकता, परिवेश, अध्ययन, जीवन के अनुभव और उनसे उन्मिषित भाव-दृष्टि से संश्लिष्ट रूप में निर्मित होता है जिसकी अभिव्यक्ति उसकी कलाकृति में होती है।[45] जब गगन से एक बार फिर उतर कर, विष का प्याला पीकर रुठी मीरा निर्मोही मोहन से मृदु मुसका उठती तो जनम-जनम की पहिचानी तान कवि के अन्त: में छिड़ जाती है और रचनाकार विस्मित-चकित रह जाता है—'किसने यह बाँसुरी बजाई ?'

काव्य को आत्मा की कला घोषित करते हुए शास्त्री जी रचनाकार के व्यक्तित्व और तदाकारता की आशंसा करते हैं—'आत्मा की कला का स्रष्टा आत्मनिष्ठ हो, आवश्यक नहीं, तदाकार होना आवश्यक है; अन्यथा रूप प्रकाशित न होगा। कलाकार अपने व्यक्तित्व की विडम्बनाओं से भी न बचे तो बिम्ब प्रतिबिम्ब बन जायगा। फिर भी रचना की आग के आसपास उसके व्यक्तित्व का छितराया हुआ धुआँ देखा जा सकता है।'[46] आज के चिन्तकों के मत से महाकाव्य में जीवन का समग्र अंकन अपेक्षित है। समग्रता के विषय में शास्त्री जी का अभिमत है—'जीवन में समग्रता के बिना समग्र अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है और समग्रता केवल शब्दों से ही नहीं फूटती। रंगों और रेखाओं, स्वरों और मुद्राओं द्वारा भी जीवन के गोपन और गहन को वाणी मिलती है। चित्र और संगीत का काव्य के साथ यूँ ही रक्त का सम्बन्ध नहीं है। आधे-अधूरे तथ्यों का संकलन जीवन को सम्पूर्ण रूप से समझने में विशेष सहायक नहीं होता। और तो और, एक अकेली सौन्दर्य-चेतना के अभाव में प्रज्ञा और विवेक की जोड़ी भी समग्रता नहीं सिरज पाती।'[47] सर्जना को भावात्मक मानते हुए शास्त्री जी ज्ञान और कर्म को सर्जना का मूल मानते हैं जो सृष्टि को नाम और रूप देते हैं। राधा की रचना-प्रक्रिया में भी अन्तःस्फुरण का यही क्रम है।

काव्य-भाषा पर शास्त्री जी का अपना मौलिक चिन्तन है—'काव्य स्वयं भाषा है।' 'शब्द-अर्थ रूपी शरीर को सोने की तरह सोधे बिना आत्मा का सरस स्वरूप प्रकट होने से रहा।'[48] 'भाषा यदि निरा शब्द-जाल नहीं, सम्पूर्ण अभिव्यक्ति है, तो वह अपने समग्र ज्ञान, अनन्त सामर्थ्य और अपार

---

45. आधुनिक कवि, पृ० 13
46. राधा (1), सन्दर्भ, पृ० 27
47. वही, पृ० 9
48. राधा (2), काव्यभाषा, पृ० 7-11

श्री सुषमा के साथ प्रकाशित होगी।'[49] 'वस्तुतः संक्रान्ति युग में सांस्कृतिक संक्रमण का क्रम संलक्ष्य से कहीं अधिक असंलक्ष्य रहता है। युगीन चेतना की संरचना के घटक तत्वों का विश्लेषण कोरी वैज्ञानिक प्रक्रिया से सम्भव भी नहीं है। भाषा संस्कृत का मुँह है, संक्रमण की चेतना उसी से छनती है। और संस्कृति 'अन्तमूंल बहिश्शाख' होती है। सुधीजन जानते हैं।'[50] इतिवृत्तता के खिलाफ शास्त्री जी का उद्घोष है—'काव्य-रचना इतिवृत्त का निर्वाह कल्पना की यथार्थता और अनुभूति की सघनता ने यह जो गढ़ा है, यह जो मेरे अनगढ़ शब्दों में व्याकृत हुआ है, यह किसी मान्यता पर निर्भर नहीं है। यह यदि निर्माण है तो आत्मानुसन्धान के कारण प्रयोग है तो अक्लिष्ट मनोयोग के कारण। मनोमय भूमिका आनन्द और संताप के द्वन्द्व की तीक्ष्णता से मुक्त नहीं है। विरह और मिलन के तिमिर-वरण किरण-वाण तीव्रतर घात-प्रतिघात का भी अवसर नहीं चूकते।'[51]

शास्त्री जी की दृष्टि में 'संगीतिका' गीति-नाट्य का एक विशेष रूप है जिसका अन्तर्लक्ष्य है—आन्तरिक जीवन में प्रवृत्तियों के पारस्परिक संघर्ष का चित्रण।[52] 'संगीतिका काव्य और संगीत के सम-सुषम अनुपात से ही नाट्यकला की मौन-मुखर रेखाएँ आंक सकती है।[53] शास्त्री जी संगीतिका को काव्य नाटक से सर्वथा भिन्न मानते हैं—संगीतिका के रस भावों का साधारणीकरण संगीत के माध्यम से होता है : काव्य और नाट्य का चमत्कार संगीत द्वारा साकार होता, अधिक तीव्र और मोहक बनता है और संगीत निरी आवृत्ति या स्वर-कम्पन नहीं है।

काव्य-नाटकों में भी मानव-जीवन के राग-तत्व को ग्रहण किया जाता और भावनाओं तथा अनुभूतियों को वाणी दी जाती है; किन्तु, संगीतिका में तो उन्हें गाया भी जाता है। अनुभूतियों की तीव्रता भीड़ से जैसे व्यंजित होती है: घात-प्रतिघातों को लयों के आकुंचन-प्रसारण एवं स्वरों के घुमाव से जैसे मूर्त्त किया जाता है, वैसे छन्दोबद्ध शब्दों के नाटकीय संलाप से संभव नहीं है।'[54] 'संगीतिका में शब्द और स्वर के मूल स्रोतों के सहज संगम से भाव और अनुभूति का संश्लिष्ट सत्य नाटकीय पूर्णता में मूर्त्त हो उठता है।[55]

---

49. वही, पृ० 12
50. वही, पृ० 15
51. राधा (3), संरचना, पृ० 1
52. तमसा (अप्रस्तुत) पृ० 10
53. वही, पृ० 10
54. वही, पृ० 11
55. वही, पृ० 12

संगीतिका पर आधुनिक समीक्षकों की दृष्टि पर कठोर व्यंग्य-प्रहार करते हुए शास्त्री जी संगीतिका को देश और काल की सामाजिक अन्तश्चेतना से निबिड़ रूप से सम्बद्ध मानते हैं जिसमें सांस्कृतिक प्रभाव-विस्तार, रूप-वैविध्य, आकस्मिक भावावेग, बाधित ध्येय, आभ्यन्तर संगीत के साथ कवित्व और अनधीत संगीत भी अनुस्यूत होते हैं।[56] शास्त्री जी आधुनिकता के नाम पर आग्रहपूर्वक सर्वत्र उसकी अनुवृत्ति के पक्षधर नहीं हैं। वे भाषा की अलंकृति-अनलंकृति को स्थिति-सापेक्ष मानते हुए संगीतिकाओं की अलंकृत भाषा की आवेग पूर्णता पर संतोष प्रकट करते हैं।[57] संगीतिका के मंचन या रंग-व्यवस्था के विषय में शास्त्री जी नाटक के अनुरूप मंच-व्यवस्था के पक्षधर हैं। इनकी दृष्टि में दृश्य-चमत्कार नाट्य-कला का चूड़ान्त प्रकर्ष नहीं है। इनके मत से गीति-नाट्य में नाट्य तथा संगीत का सहज संगम होना चाहिए।[58]

गीति-काव्य और गीति-नाट्य के भेद और शास्त्रीय राग-रागिनियों का गीति-नाट्य में सन्निवेश पर शास्त्रीजी का मत है—'गीति-नाट्यों की मैंने कल्पना के सहारे सृष्टि की है, वे और जो हों, गीति-काव्य कदापि नहीं हैं। काव्य और नाट्य के तत्वों में अंगांगिभाव उपस्थित करना अवश्य मेरा लक्ष्य न था, तभी मैंने एक और ऐसे तत्त्व का सम्मिश्रण अनिवार्य कर दिया जिससे शब्द शरीर में लय और स्वर की आत्मा प्रतिष्ठित हो गयी। अब यदि शब्दातीत स्वर-सौन्दर्य से अभिज्ञ जन इन रस-भावानुकूल शब्दों को राग-रचना के अनुरूप अनुभव करें, तभी यह श्रम सार्थकता प्राप्त करेगा, अन्यथा कोरे काव्य-नाट्य को शास्त्रीय संगीत का स्पर्श-दोष कदापि न लगेगा, मेरा यह विश्वास अकारण नहीं है।'[59]

नाट्यकला शास्त्रीजी की दृष्टि में कठिन और असीम है, अलोक-सामान्य वस्तु है। नीना से शास्त्रीजी कहवाते हैं—'नाट्यकला तो और कठिन है असीम! वह क्या लौकिक वस्तु है? वह न नकल उतारना है और न परछाईं होना, न तसवीर बन जाना। वह न कोरी कल्पना है, न झूठा सपना। वह जादू-टोना तो और भी नहीं है। उसकी अनुभूति न सम्यक् ज्ञान जैसी होती है, न भ्रान्ति जैसी। उसका तो स्वभाव ही रस है—अखण्ड आनन्द। ……कोई भला आँख में आँसू भरकर और जमाने भर का दर्द

---

56. वही, पृ० 12
57. पाषाणी (प्रस्तुत), पृ० 10 (क)
58. वही, पृ० (ङ)
59. इरावती (आमुख), पृ० (ग)

अपने स्वर समोकर मस्ती का नाटक क्या खेलेगा ?[60]"

आधुनिक आलोचकों के अनुसार संस्कृत में उपन्यास की परम्परा है ही नहीं ! आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ने इस धारणा पर तीखा प्रहार किया है।[61] आचार्य वाजपेयी के मत से कथा-आख्यायिका की विधाएँ उपन्यास ही हैं। ये पाश्चात्य उपन्यास-प्रतिमान पर खरे न उतरें यह अलग बात है। अंग्रेजी नारी के बाल भूरे, आँखें नीली, रंग गोरा और उंगलियाँ भिण्डी की तरह लम्बी एवं सिकुड़ी-सी होती हैं। अब इन लक्षणों का अभाव भारतीय नारी में पाकर कोई इन्हें नारी मानने से इनकार कर दे तो ! समीक्षकों को उचित है कि वे संस्कृत उपन्यास के प्रतिमान और पाश्चात्य उपन्यास के प्रतिमान अलग-अलग निर्धारित कर रचनाओं को पड़तालें और निष्कर्ष दें। शास्त्रीजी भी आचार्य वाजपेयी के विचारों से सहमत हैं। आख्यायिका के रूप में 'एक किरण : सौ झाइयाँ' को प्रस्तुत करते वे कहते हैं—"एक किरण : सौ झाइयाँ" प्राचीन कथा-आख्यायिका की परम्परा में एक सबसे नया प्रयास है। गद्य-काव्य का वह अपरूप रूप, जो कभी सुबन्धु, दण्डी या वाण द्वारा गढ़ा गया था, अब 'धूलप' से 'धूमल' हो गया है। आज इस जमीन का जर्रा-जर्रा जिससे रोशन है वह किसी सर्चलाइट की तेज और तीखी रोशनी हो तो हो, उषा की ज्योति, सन्ध्या की दीपशिखा या पूनम की चाँदनी नहीं है।

संस्कृत में मैं दण्डी-वाण की शैली में आधे और पूरे पृष्ठ के बड़े-बड़े वाक्य ही नहीं, उसी माप का एक-एक समस्त पद भी लिख चुका हूँ, इसलिए हिन्दी के इस गद्य-काव्य में (भला इसे उपन्यास कैसे कहूँ, उस पश्चिमी विधा पर तो कुछ इने-गिने नामों का ही जन्म सिद्ध अधिकार है।) मैंने खाँटी तत्सम शब्दों का आग्रह छोड़कर भिन्न-भिन्न संस्कृतियों की प्रतीकवर्णी, मिलावट-गन्धी, एक वनस्पति-भाषा का प्रयोग किया है। आशा है, आज के अनेकानेक अवांछनीय अ-प्रयोगों में एक यह 'यूँ ही'-सा प्रयोग भी खप जाएगा।

मैंने बोधपूर्वक ही इसमें प्राचीन-कथा आख्यायिका की कुछेक सुबोध विशेषताओं को अपना लिया है, जैसे—सरल-तरल कथा-प्रवाह को विक्षुब्ध

60. एक किरण : सौ झाइयाँ, पृ० 9-10

61. साहित्य-निर्माण

कर देनेवाला कवित्व, अवान्तर वर्णनों में भी केन्द्रीय जैसी तीव्रतन्मयता, गौण-मुख्य चरित्रों पर समान दृष्टि आदि। और जो कुछ निर्विशेष है, वह बेशक नया है। बेवक्त की शहनाई यह नहीं है। यों बेवक्त की न होने पर भी है शहनाई ही, कारनेट या क्लारियोनेट नहीं।'[62]

'बाँसों का झुरमुट' कहानी-संग्रह की कहानियों को पढ़ने के बाद शास्त्रीजी की कहानी विषयक धारणा का बोध होता है। तदनुसार रचनाकार की रचना-दृष्टि जीवन के व्यापक अनुभव-संवेदनों से निर्मित एवं परिपुष्ट हो, सर्जना उस धरती से जुड़े जहाँ जिन्दगी की कठोर सच्चाइयाँ अपनी सम्पूर्ण भयानकता के साथ घटित हों और सामाजिक एवं वैयक्तिक, संघर्षों के बिम्बन द्वारा मानवीय संवेदना को व्यंजित करे। व्यवस्था द्वारा लादी गयी यांत्रिकता को अथवा मानवीय संवेदनशीलता को तोड़नेवाले गहरे षड्यंत्र को वेनकाब कर मानववादिता के स्वर का विस्तार करना ही कहानियों की अपनी अलग पहचान है।[63] 'स्मृति के वातायन' से शास्त्रीजी का संस्मरण-विषयक दृष्टिकोण विस्पष्ट होता है। शास्त्रीजी की दृष्टि में संस्मरण आभ्यन्तर समग्रता और संभ्रमपूर्ण विह्वलता की सहज ध्वनि हैं। यह अप्रकाशित उच्छ्वास आत्म-विभोर वेदना का आनन्द-प्रकाश है।[64] यह कोई परम्परित विधा नहीं; जिसका कोई निश्चित प्रतिमान हो; किन्तु हिन्दी-साहित्य में संस्मरण एवं आत्म-कथा को भी डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, कविवर बच्चन और आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री आदि रचनाकारों ने काफी लोकप्रिय बनाया है—साहित्य के लालित्य-रस से सराबोर कर, उदात्त आत्म-ऊर्जा से उर्जस्वी-वर्चस्वी बनाकर। स्मृति के वातायन, हंस-बलाका, कर्मक्षेत्रे मरुक्षेत्रे और अष्टपदी में शास्त्रीजी ने डा० द्विवेदी और कविवर बच्चन से आगे की मंजिलें तय की हैं—गद्य के क्षेत्र में।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि शास्त्रीजी की काव्य-दृष्टि मौलिकता से भरी-पूरी है। इसमें प्राचीन-नवीन, भारतीय-विदेशी मतों का पिष्टपेषण भले नहीं हो; किन्तु, बोध और पाचन के स्तर पर, समन्वय-सन्तुलन में तुल्यबल दीखता है। शास्त्रीजी की राजहंसी वृत्ति ने पूरे विवेक-पूर्वक अच्छे को अपनाया है, मौलिकता से कमनीय बनाया है और आत्म-रस से रसान्वित-तरलायित किया है। शास्त्री जी द्वारा गढ़े प्रतिमान संवेदनात्मक

---

62. एक किरण : सौ झाइयाँ (परिधि) 64. स्मृति के वातायन (लय), पृ० 3
63. बाँसों का झुरमुट

संवेगों की भावुक भूमि पर मानव-जीवन के शाश्वत मूल्यों की संप्रतिष्ठा में अग्रेसर भूमा से संवलित प्रतिमान हैं जिनकी प्रकृति में स्थिरता और गत्वरता का सहज समन्वय है। शास्त्री जी में समीक्षक की शुष्कता-रुक्षता और तर्क-बुद्धि की जटिलता का सर्वथा अभाव है, एक रचनाकार की समरसता, समानुभूति, नवनवोन्मेशालिनी प्रज्ञा की सरसता, लालित्य, औदात्य, तरलता और बोध की मौलिकता सर्वत्र वर्तमान है। शास्त्रीजी की सर्जना और सर्जनात्मक बोध 'तिले तिलें नूतन होय' की प्रकृति के हैं। शास्त्री जी का विवेक एक अक्खड़ एवं फक्कड़ राजहंस का विवेक है जो गंगाजल को कलुषित देख उसका भी त्याग कर सकता है, स्वर्ग-तरंगिनी में उगे कमलों के स्वल्प रस से परितृप्त हो मस्त रह सकता है—जीवन में भी और सर्जना में भी। शास्त्रीजी का आचार्य विन्दु में सिन्धु को समा लेने की हैसियत रखता है तो सिन्धु को पचाकर एक नया अमृत-सिन्धु पैदा कर देने की भी।

यहाँ शास्त्रीजी द्वारा सीधे व्यक्त विचारों को ही रखने का यत्न किया गया है। उनकी सूक्ष्म काव्य-दृष्टि बेला में प्रकाशित संस्मरणों और प्राचीन-अर्वाचीन आचार्यों के मतों पर दी गयी टिप्पणियों में दीखती है। ऐसा विराट् पांडित्य और प्रखर बोध बिरले ही मिलता है। 'बाढ़ई कथा पार नहिं लहऊँ' की मानसिकता के कारण जान-बूझ कर मैं इन संदर्भों को छोड़ दे रहा हूँ। तथास्तु।

—आचार्य एवं अध्यक्ष : संस्कृत विभाग
गोपालगंज कालेज, गोपालगंज
(बिहार विश्वविद्यालय)

वंदी मंदिरम् के कवि की राष्ट्रीयता

डा० सुरेश पाठक
(एम० ए०, साहित्याचार्य, आयुर्वेद रत्न)

वंदी मंदिरम् के कवि की राष्ट्रीयता

□ डा० सुरेश पाठक एम० ए०, साहित्याचार्य

मनुष्य माँ के गर्भ से जमीन पर आता है। अतः उस स्थान को मातृ-भूमि कहते हैं। उस भूमि पर वह लुढ़कता-गिरता हुआ बड़ा होता है। यही कारण है कि उस जगह के प्रति उसका अथाह प्रेम रहता है। वहाँ के लोग उसे ज्यादा प्रिय लगते हैं। बाहर रहने पर उसे उस भूमि की याद सदा आती रहती है। वहाँ के पेड़-पौधे अन्न, संस्कृति रीति-रिवाज—सभी के प्रति उसका हार्दिक प्रेम रहता है। इसलिए कहा जाता है कि जन, जन्म भूमि और उसकी संस्कृति —सभी मिलकर राष्ट्र का स्वरूप निर्धारित करते हैं। वस्तुत: इन सभी के अभाव में व्यक्ति कुछ कैसे बन सकता है? मनुष्य जितना भी महान होता है वह समाज एवं राष्ट्र का है। उसका पुनीत कर्त्तव्य है कि वह प्राण-पण से समाज एवं राष्ट्र के लिए समर्पित हो जाए; क्योंकि वह देश का है और देश उसका है—दोनों में कोई अन्तर नहीं है। ऐसी भावना के आते ही व्यक्ति समाज एवं राष्ट्र के लिए ही सोचता है। इसके फलस्वरुप इतिहास उसे सदा के लिए अपना लेता है।

हमारे देश में राष्ट्रीयता की भावना आदिकाल से है। हमारे पूर्वज इसके प्रति बराबर सजग रहे, और इसका पाठ हमें सदा पढ़ाते रहे। पहला पाठ है—साथ-साथ चलना यानी आपस में सहयोग भावना—"संगच्छध्वं, संवदध्वं।" यही कारण है कि यहाँ के साहित्य में देश-प्रेम विश्व एवं आत्मोत्सर्ग की भावना दिखती है। हमारे वेद राष्ट्रीय भावना से भरे पड़े हैं—"अभिवर्तन मणिनायेन इन्द्रः अभिऽववृधे। तेन अस्मान ब्रह्मण: पते अभिराष्ट्राय वर्धये।" वाल्मीकीय 'रामायण' में राम के वन-गमन के समय अयोध्या के नर-नारी रो उठते हैं—भला राम जैसे नायक के अभाव में देश का संचालन कौन करेगा?

'महाभारत' के शांति पर्व में अर्जुन के वाणों से बिंधे रहने पर भी जब युधिष्ठिर भीष्म पितामह के पास राज्य-संचालन की शिक्षा लेने जाते, हैं तो वह राजा को राष्ट्र कल्याण के लिए अपने आपको समर्पित करने की शिक्षा देते हैं। स्मरणीय है भीष्म ने अधिकारी होते हुए भी सिंहासन का त्याग किया था। अत: युधिष्ठिर ने उन्हीं से उपदेश लेने का निर्णय किया। बाद की रचना वाणभट्ट की 'कादम्बरी' में चन्द्रापीड द्वारा शुकनाश को राज्य-संचालन का उपदेश दिया गया। विशाख दत्त ने 'मुद्राराक्षस' की रचना कर चाणक्य के नीति-चातुर्य, बुद्धि कौशल एवं अखण्ड राष्ट्र-प्रेम को चित्रित किया तो राक्षस के मित्र-प्रेम एवं राज भक्ति को आत्म-समर्पण द्वारा व्यक्त किया किरातार्जुनीयम् राज्य-संचालन, 'मृच्छकटिक' में तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक अस्थिरता एवं दुरवस्था दिखा कर राष्ट्र को सचेत किया गया है। उतर रामचरितम् के राम लोकाराधन के सामने पत्नी तक का त्याग कर बैठते हैं—"आराधनाय लोकस्य मुञ्चता नास्ति में व्यथा"। 'रघुवंश' में महाकवि कालिदास दिलीप, रघु आदि आदर्श राजाओं की राज्य-व्यवस्था का वर्णन करते हैं तो अग्निवर्ण जैसे विलासी राजा का चित्रण कर उन्होंने राष्ट्र-नायकों को सचेत किया है कि उन्हें अपनी करनी का फल भोगना पड़ेगा।

प्राचीन संस्कृत-साधकों की परम्परा में आधुनिक युग के संस्कृत-साधकों में भी राष्ट्रीयता दर्शनीय है। यहाँ ज्यादा चर्चा करना संभव नहीं है। गया के पण्डित रामावतार मिश्र एवं पं० रुद्रदत्त की चर्चा आवश्यक है। पं० रामावतार जी हमारे आचार्य श्री के गुरु भाई थे। आप दोनों महापण्डित रमा प्रसाद मिश्र 'रमेश' जी के छात्र थे। पं० रुद्रदत्त जी मित्र थे। रामावतार जी के 'भारतवर्षेतिहास:' में वैदिक युग से लेकर स्वतंत्रता प्राप्ति तक का इतिहास वर्णित है। रुद्रदत्त जी के 'भारतीय रत्न चरितम्' नामक गद्य रचना में आदि काल से लेकर स्वतंत्रता प्राप्ति तक के राष्ट्रीय पुरुषों का वर्णन है। इस रचना में अनेक अँग्रेज महानुभावों की भारत-सेवा को चित्रित किया गया है।

महाकवि जानकीवल्लभ शास्त्री जी का कुल संस्कृत साधना के लिए विख्यात था। महापण्डित रामानुग्रह शर्मा जी आपके पिता श्री थे। आपके बन्धुबांधव भी विख्यात संस्कृत-साधक थे। गया से 'साहित्य सरोवर' नामक संस्कृत-हिन्दी की समस्या-पूर्त्ति विषयक पत्रिका निकलती थी जिसमें 'मैगरा' गाँव के अनेक विद्वानों की रचनाएँ छपती थीं। इसके संपादक पं० बाल गोविन्द मिश्र उर्फ 'कमलेश' जी (कमलेश विलास) थे। पं० रमा प्रसाद जी की समस्या-पूर्त्तियाँ उसमें छपती थीं। बाद में इन्हीं के सम्पादन में 'रसिक विनोदिनी' निकलती थी जिसके अंतिम संपादक पं० रामावतार जी थे। आपको साहित्यिक वातावरण आरम्भ से ही मिला। परिणाम यह हुआ कि १६ वर्ष के अल्प वय में आपके कोकिल कण्ठ की 'काकली' ने महाप्राण भारत गौरव निराला जी को प्रभावित किया।

महाकवि शास्त्री जी के बाल कवि ने जब लेखनी पकड़ी उस समय स्वतंत्रता- आंदोलन जोरों पर था। जब आम आदमी में आजादी की लहर थी तो समाज के चितेरे साहित्यकार अपने को कैसे बचा सकते थे? आचार्य श्री उन्हीं चितेरों में से एक हैं। भारत माता की बेड़ी ने इन्हें झकझोर दिया। आप अपने को नहीं सँभाल सके, क्योंकि आपका 'मंदिर'—भारत बंदी था। इसे मुक्त करना आवश्यक था! अतः आप राष्ट्रीय कविताएँ लिखने लगे। पत्र-पत्रिकाएँ कविताओं से जगमगाने लगीं। स्वतंत्रता-आंदोलन के समय कवि की लेखनी से प्रस्तुत 'बंदी मंदिरम्' 'बेला' के पाठकों को सन् 90 में उपलब्ध हुआ।

महाकवि शास्त्री जी की यह रचना खण्ड काव्य है। मंदाक्रान्ता छन्द में महाकवि कालिदास के यक्ष ने मेघ द्वारा यक्षिणी के पास वियोग-संदेश भेजा। पूज्य शास्त्री का हृदय तो भारत माता की दासता से अत्यन्त दुःखी था। अतः आपने अपना हार्दिक दुःख इसी छंद के माध्यम से व्यक्त कर एक परंपरा शुरु की। भारत माता गगनस्पर्शी पर्वत-शिला पर बैठी हुई अपनी हथेली पर मुखमण्डल को टिकाती चिंतन मुद्रा में हैं। इनके पैर सदा बेड़ी में जकड़े हैं, पर विश्व-कल्याण के लिए बराबर चिंतित हैं। पहले वह विश्व का मार्ग

दर्शक थी। आज उनकी दशा चिंतनीय है—

"तिष्ठन् व्योमस्तिमित नयनः प्रस्यपाषाण खण्डे
न्यस्याङ्के करतलपुटं दक्षिणं वाममोष्ठे
प्रायोनित्यं निगदित पदोऽसावशान्तराले
कारागाराङ्गण परिवृतश्चिन्तयामास विश्वम्"।

गुलाम भारत-वासियों का आँखों-देखा चित्रण भी खूब है—

"नग्नान्नेतान्ननु तनु तनून् बालकान् वीक्ष्य सूक्ष्म"

फिर भूखों का करूण-क्रंदन तो दिल को दहला देता है—

"क्षुत्क्षामाणां श्रवण कुहरे क्रंदनं मानवानां"

देश-वासियों का मनोबल ऊँचा रहे; वे अपने को हीन न समझें अतः महाकवि हमें याद दिलाते हैं कि प्राचीन काल में भारतीय ही चक्रवर्त्ती सम्राट् था—

"पृथ्वि क्षत्रं नरपति-पति किम्परिन्यत्य पूर्वम्"

आगे कवि ने महाभारतकाल में दुःशासन द्वारा द्रौपदी के चीरहरण जैसे अत्याचार तथा कृष्ण द्वारा ऊपर से वस्त्र-प्रदान कर उनकी लज्जा बचाने का आदर्श भी दर्शाया है—

"कादाचित्कीं कथयति कथा मध्वनीनोऽवतीर्णः
कृष्णः कृष्णाम्बर हरणते, बिम्यदाकाश मार्गात्
अद्या संख्या विहृत वसनास्सन्ति दुःशासनेन ...."।

कई बातें खटकती हैं। प्राचीन भारत कुछ था और अब कुछ है, कोई ताल-मेल नहीं है। एक कृष्ण वृन्दावन में गौ चराते थे; उनकी रक्षा करते थे दूसरी तरफ गाँव के बड़े-बूढ़े गो हिंसा का पेशा अपनाते हैं (३१)। फिर यज्ञ की हिंसा को रोकने के लिए भारत-भूमि पर बुद्ध का पदार्पण हुआ। उन्होंने यज्ञ की ज्वाला में जलते लोगों को अहिंसा की शीतल छाया प्रदान की :—

"धर्म ज्वाला कुलित जनतां शीतलच्छाय वृक्षे
संहर्तुं प्रायततवितथाक्रोश घोषोपशान्त्यै।"

बाद में बिम्बिसार के सम्राट् पद पर अभिषिक्त होने पर राजगृह से अपनी राजधानी (पटना) मगध में बसाने, पिता को जेल देनेवाले अजात शत्रु के उत्थान-पतन की चर्चा है। फिर अशोक के साम्राज्य के साथ-साथ धर्म का विस्तार करने का उत्साह वर्द्धक वर्णन हुआ है —

"कस्याह्लादं जनयति न मनस्येवमेव प्रकामम्
धर्मेस्थैर्य्यात् प्रकृति सुकृत-न्यास साम्राज्य लक्ष्मी—
विस्तराद्वाव्यधित निखिलार्नति मुक्तान शोकः।"

मौर्यवंश के उपरान्त शुंग वंश का शासन हुआ। शासक का नाम था—पुष्य मित्र—"मौर्ये ध्वस्ते प्रथित पृतिनः शुंगवंशावतंसो द्रागारेभे श्रुति सुविहितान् सद्धिधीन् पुष्यमित्रः।"

पुष्यमित्र के बाद अंतिम भारतीय वीर सम्राट् पृथ्वीराज का वर्णन हुआ है—

"पृथ्वीराजो नरपतिरभूत्पश्चिमोऽपूर्व शौर्यः
कल्पेनास्तंगत उपहृता शेष वर्ण प्रकाशः।"

उक्त वीर मोहम्मद गोरी का शिकार हुआ। फिर गोरी एवं उसके अनुयायियों का अत्याचार तो जग जाहिर ही है। महाकवि का मन बराबर भारत माता की बेड़ी तोड़ने को बेचैन है। आपका विचार है कि परतंत्रता से बढ़कर और क्या दुर्दशा हो सकती है—

"स्वातंत्र्यार्थं सविधि मिलितैः कार्य्यमेकं विचार्यम्
व्यासेनोक्तं सुख मिदमदोऽपरातन्त्र्यात्परं किम्।"

आचार्य श्री का विचार है कि जब तक हमें सारे अधिकार न प्राप्त हो जाएँ तब तक किसी भी व्यक्ति का कल्याण संभव नहीं है। इस संसार में एक ही धारा में सबों की भलाई संभव है—

"यावन्न ण्थास्समुदित सचां स्वाधिकारास्समष्ट्या
तावद् व्यक्ति नं शुभ मयिता नावि तत्सम्प्रदायः

एकाधारा जगति जयति व्यक्ति समष्टिः

श्लिष्टच्छायोदय विभयोमंङ्गलं मङ्गलानाम् ।

महाकवि को इस बात की सर्वाधिक पीड़ा है कि भारत भूमि को विदेशियों ने खूब लूटा । उन खूनियों ने यहाँ के नगरों को उजाड़ा और धर्म को बिगाड़ दिया, लोगों में विभेद पैदा किया तथा हिन्दुस्तान को बर्बादी के रास्ते पर पहुँचा दिया—

"श्रित्वा मोह मदमति गदं देव भूमिं दुदोह

द्रोणी कृत्य प्रवर नगरं शोषितं पातुकामः

वर्णान् भङ्त्वा श्रम निगडितान् धर्मधाराम् निरुध्य

हिन्दोस्तानं व्यधित यवनो भारतामम्पिधाय ।"

अंत में आप आशा व्यक्त करते हैं कि भारतीयों का दुःख दूर होगा। यह है कि नीचे रहनेवाले भी उन्नति करते हैं। यह राष्ट्र भविष्य में निश्चित कारण रूप से पूर्व की भाँति विश्व में यश एवं प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा—

"नीचैरुच्चेर्नवति नियति र्नेह संदेह हेतुः

आयात्येव प्रथम सुकृतस्य प्रभावेण भावि ।"

इस प्रकार महाकवि जानकीवल्लभ शास्त्री जी का 'वंदी मंदिरम्' राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत है; और यह रचना युगों-युगों तक भावी पीढ़ी को राष्ट्र के प्रति अपने को समर्पित करने के लिए प्रेरित करेगी ताकि अखण्ड भारत का दीप सदा विश्व को आलोकित करेगा ।

ग्राम—पाठक बिगहा, पो०—बढ़ेता

द्वारा नगलांकिगर (जहानाबाद)

बाँसों का झुरमुट

श्री चन्द्रदेव प्रसाद सिंह

बाँसों का झुरमुट

—श्री चन्द्रदेव प्रसाद सिंह

रचनाकार के अन्तर्जगत् की बाह्य अभिव्यक्ति शिल्प के माध्यम से होती है। रचनाकार अपने अनुभवों को जब अभिव्यक्त करना चाहता है तो विधा की तलाश होती है। जब विधा के बाह्य रूप-विधान निर्धारित हो जाते हैं तब रचनाकार अपने रचनात्मक अनुभवों के जरिये अपनी अभिव्यक्ति को सम्प्रेषणीय बनाने के लिए तराशता है। यह तराश की प्रक्रिया आंतरिक दबाव में सम्पन्न होती है। अन्ततः शिल्प रचनात्मक अनुभवों के आंतरिक दबाव की परिणति है। शिल्प के माध्यम से ही रचनाकार का भावजगत् मूर्त होता है। शिल्प प्रभावोत्पादक हो इसके लिए इसका सुगठित एवं कथ्य के अनुकूल होना आवश्यक है। इस प्रक्रिया में रचनाकार अपनी सम्यक् अभिव्यक्ति की सम्प्रेषणीयता के लिए आत्म संघर्ष द्वारा ही सार्थक शिल्प की सृष्टि अपने रचनात्मक अनुभवों के अनुकूल कर पाता है। फलतः कभी कभी शास्त्रीय शिल्प-विधान का अतिक्रमण भी हो जाता है और शिल्प एक विशिष्ट रूप आकार ग्रहण कर लेता है। जीवन की व्यापक अनुभूति ज्ञान और प्रतिभा के सामंजस्य से कैसे विशिष्ट बन जाती है इसे आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री की कहानियों में देखा जा सकता है।

शिल्प के दो पक्ष हैं—आंतरिक और बाह्य। आंतरिक शिल्प के अन्तर्गत रचनाकार की वैसी मनः स्थितियाँ हैं जो शिल्प विधि के अन्वेषण की स्थितियाँ स्पष्ट करती हैं। इसमें भावसत्ता में जाग्रत अपनी संवेदना को जीवन के अनेक स्तरों के मर्म को अभिव्यक्त करने के लिए रचनाकार बेचैन हो उठता है तथा संवेदना को रूप देने के लिए उपयुक्त शिल्प को तलाशता है। यही वह स्थिति है जब रचनाकार शिल्प के प्रति सजग होकर अपने को समग्र रूप से प्रकट कर अपनी प्रभाव-क्षमता सहित आंतरिक दबाव को सम्प्रेषणीय बना देता है। इसमें रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण संभव है।

जब रचनाकार की अनुभूति भाषा के स्तर पर उतर आती है तब शिल्प का बाह्य रूप परिलक्षित होता है। यही शिल्प का मूर्त एवं साकार रूप है। इसके विश्लेषण से रचना की सूक्ष्मता, जटिलता, दुर्बोधता तथा कथ्य

की सम्प्रेषणीयता की सफलता खोजी जा सकती है। रचना में प्रयुक्त भाषा एवं शैली के साथ संवेदना की प्रगाढ़ता की परख होती है।

अतः रचनाकार द्वारा कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए साधन स्वरूप स्वीकृत विधि एवं प्रक्रिया ही शिल्प विधान है जिसके अभाव में अनुभूतियों की सफल अभिव्यक्ति असंभव प्रतीत होती है।

आधुनिक कहानी के क्षेत्र में कविता की तरह शिल्प पर 'नई सोच' आयी है। इसी चिंतन के परिणामस्वरूप पूर्ववर्ती कहानी-कला के विश्लेषण के लिए वस्तु, दृष्टि और रचना के तीन स्तर निर्धारित किये गये हैं। वस्तु के लिए प्रासंगिकता और समकालीनता को कसौटी माना गया है। दृष्टि में प्रतिबद्धता और वकालत की शर्त रखी गई है। रचना के स्तर पर शिल्प की बाह्य प्रविधियों को एक साथ लाने की कोशिश हो गई है। इस तरह पहले की शिल्प-विधियाँ भी इनमें अन्तर्भक्त हैं।

कहानी के विकास के साथ-साथ शिल्प का भी परिवेशगत विकास हुआ है। समकालीन परिस्थितियाँ एवं प्रवृत्तियाँ विकास को प्रभावित करती हैं। प्रेमचन्द की कहानी-कला पर विचार करें तो उनके कथा-विन्यास में आरंभ, मुख्य घटना घात-प्रतिघात, चरमसीमा और उपसंहार दृष्टिगत होते हैं। कथानक प्रारंभ से प्रायः साठोत्तरी कहानी तक कहानी में 'कथानक' को आधारभूत मान्यता मिली है। अत्याधुनिक कहानियों से कथानक का जो निष्कासन हुआ है, उसके पीछे समकालीन चुनौतियों और नूतन प्रयोग की दलील दी जाती है, किन्तु सच तो यह है कि ऐसे कहानीकार दिग्भ्रांत ही नहीं, कहानी में भोगे हुए यथार्थ की अभिव्यक्ति की वकालत करके भी यथार्थ की भावभूमि का संस्पर्श नहीं कर पाते हैं।

फलतः उनकी कहानियों में विश्वसनीयता और सहजता का अभाव होता है। कहानी में कथा-तत्त्व का निर्वाह कर पाना अनुभूति की सच्चाई और ज्ञान की सूक्ष्मता पर निर्भर करता है। ऐसे अनुभूति और ज्ञान की बलि चढ़ाकर पन्ने रंग लेना और बात है।

शास्त्रीजी व्यावहारिक रूप से अतीत, वर्त्तमान और भविष्य के मनश्चेता कलाकार हैं। ऐसे लोग अपने विचार और कला से कभी अप्रासंगिक नहीं हुआ करते हैं। इसीलिए शास्त्री जी की कहानियों का विश्लेषण-विवेचन नये आधुनिक बोध की दृष्टि से ही यहाँ अभिप्रेत है।

यद्यपि "बाँसों का झुरमुट" आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री जी की प्रारंभिक कहानियों का संग्रह है। लेकिन साहित्य के क्षेत्र में इनकी समस्त कहानियाँ कहानी-कला [प्रेमचन्द युगीन कहानी-शिल्प को आलोक स्तंभ मानकर] के शीर्ष पर प्रतिष्ठित की जा सकती हैं। "बाँसों का झुरमुट" शास्त्री जी द्वारा १९३५ से १९४१ तक की रचित एकादश कहानियों का संकलन है। यह बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न कहानीकार के प्रभा मंडल की उष: कालीन रचना होते हुए भी प्रौढ़ चेतना की संवाहिका है। प्रकृति से कवि होते हुए भी शास्त्री जी ने अपनी कहानियों में कहानी-कला के सभी पक्षों का बखूबी निर्वाह किया है। कवि हृदय की छाप भाषा-प्रयोग में झलकती है, मगर कुशल गद्यकार के नाते कहीं भी कहानी की आत्मा को उन्होने आहत नहीं होने दिया है। आचार्य श्री की प्रारंभिक साहित्यिक उठान की कहानी होकर भी "गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति," को साकार करती लगती है। यदि इन कहानियों की समता बैठाई जाय तो एक साथ ही आचार्य श्री की भाषा-शैली में प्रसाद और वस्तु एवं प्रतिपाद्य में प्रेमचन्द के दर्शन होंगे। यदि प्रसाद और प्रेमचन्द हिन्दी-कहानी-विकास के प्रारंभ की दो समानान्तर रेखाएँ हैं तो तीसरी समानान्तर रेखा जानकी वल्लभ शास्त्री के रूप में खींची जा सकती है। अतएव "बाँसों का झुरमुट" की जमीन की तलाश के लिए कहानी-विकास-परम्परा को दृष्टि पथ में रखना आवश्यक है। १९ वीं शताब्दी से आधुनिक हिन्दी कहानी की शुरुआत होती है। प्रेमचन्द और प्रसाद १९६५ तक आते-आते कहानी-कला के फलक विस्तार पर सम्पूर्ण रूप से छा जाते हैं। बल्कि वे दोनो आदर्श रूप से स्थापित हो जाते हैं। स्वभावत: शास्त्री जी के समक्ष हिन्दी-कहानी का स्वरूप तो स्पष्ट था, परन्तु प्रौढ़ एवं परिपक्व कला का मानदण्ड पूर्णत: स्थापित नहीं था। कुछ गिने-चुने रचनाकार ही कहानी के नाम पर गंभीर रचना कर रहे थे। ऐसी झिलमिलाती रोशनी में पगडंडी से डग मार राजमार्ग तक पहुँचना कठिन था। जबकि शास्त्री जी इस राजमार्ग की ओर नि:संकोच एवं निर्भीक भाव से आँख खोलकर बढ़े हैं।

गद्य और पद्य दोनों ही विधा में शास्त्री जी को साधिकार बोलने और लिखने का गर्व प्राप्त है। काव्य पक्ष जितना सरस, शास्त्रीय और सम्प्रेषणीय है उतना ही इनका गद्य भी सुसंस्कृत एवं परिनिष्ठित है।

"बाँसों का झुरमुट" की कहानियों के वस्तुपक्ष पर विचार करते वक्त शास्त्री जी के वस्तु-चयन की सावधानी की बारीकियों को नजरअंदाज नहीं

किया जा सकता है। समकालीन चुनौतियों को शास्त्री जी ने अपनी कहानियों में स्वीकृति दी है तथा इसकी प्रासंगिकता बनाये रखने के लिए मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। 'मीना' तत्कालीन समाज की जड़ता एवं दरिद्रता का ऐसा दस्तावेज है जिसका प्रेमचन्द और प्रसाद की कहानियों को मुखर गवाह बनाया जा सकता है। 'ईश्वर' और 'बरगद के साए' में युग बोध की पकड़ है, जो कथानक के संघटन में परिवेश और परिस्थिति को अभिव्यक्त करता है। "बाँसों का झुरमुट" का बीज भारतीय संस्कृति के वृन्त पर झूलते गाँव-समाज है जिसकी सत्य एवं यथार्थपरक घटना को इन कहानियों में अभिव्यक्ति दी गयी है। इन कथावस्तु के चयन में शास्त्री जी की, जीवन-बोध के प्रति अन्वेषी दृष्टि के दर्शन होते हैं। इसी सांस्कृतिक बोध और वस्तुगत विवेचन से सभी कहानियाँ आज से पचास-पचपन वर्ष पहले की रचित होकर भी पूरी उष्मा से प्रासंगिक हैं और समकालीन चुनौतियों से साक्षात्कार करती दिखती हैं। इन कहानियों में कुंठित मानवता के प्रति शास्त्री जी की मानवीय दृष्टि के दिग्दर्शन होते हैं। शास्त्री जी की कहानियाँ मानवीय चेतना की जमीन को तलाशनेवाली रचनात्मक प्रतिभा के दस्तावेज हैं। शास्त्री जी की कहानियाँ उनके व्यावहारिक जीवन के अनुभूत सत्य को अभिव्यक्ति प्रदान करती हैं। विवेच्य संग्रह में मानव मूल्य के विघटन, उस पर मँडराते संकट एवं समाज के अनुभूत सत्य का उद्घाटन है। शास्त्री जी बातचीत के दौरान भी अन्य प्रसंग में स्वीकारते रहते हैं कि उन्होंने जो जिया है उसे ही विविध विधाओं में व्यक्त करने की कोशिश की है। वस्तुतः निराला की तरह शास्त्री जी ने भी अपने साहित्य में जीवन को और जीवन में साहित्य को पूर्णतः समाहित कर दिया है, खपा दिया है। इसीलिए 'इनको' न तो साहित्य से अलग किया जा सकता है और न उनके साहित्य को उनके जीवन से। यही कारण है कि निराला और शास्त्री जी दोनों ही के साहित्य की जमीन उनकी जिजीविषा के लिए संघर्षरत है। ऐसी स्थिति में रचना की मूल संवेदना के संधान से ही अभिव्यक्त अनुभूत सत्य तलाश और उसकी तराश देखी जा सकती है। कहानी भी मूल संवेदना के अभाव में किस्सागोई या गल्प भर ही कहला सकती है।

"बाँसों का झुरमुट" का नामकरण संकलन की आखिरी कहानी के नाम पर ही हुआ है। "बांसों का झुरमुट" जगत् के सृष्टि-क्रम का सार्थक प्रतीक है जो 'नेति-नेति' के दर्शन पर आधारित है। झुरमुट के बाँस

कटते हैं फिर उससे निकली कोंपले बाँस बन जाती हैं। बाँस की कोठी आग से झुलस जाती है लेकिन पावस की शीतल फुहार पा फिर नई-नई कोंपलों एवं करीरों से हरी भरी हो लहलहा उठती है। वस्तुत: बाँस की वंश पम्परा अनवरत जारी रहती है। एक कोठी से अनेक कोंपलें, अनेक बाँस निकलते हैं। एक ही जमीन पर एक ही जड़ से सभी बाँस जुड़े होते हैं, गुँथे होते हैं। मानव के वैविध्यपूर्ण जीवन-सन्दर्भों में इसी प्रतीक का शास्त्री जी ने अपनी कहानियों में प्रयोग किया है। सम्पूर्ण कहानियों की मूल संवेदना एक है—मानवीय मूल्य! 'मीना' शीर्षक कहानी में तोता प्रतीक है—मानवीय प्रेम, मानवीय संवेदना एवं मानवीय मूल्य का। जहाँ मनुष्य की मनुष्यता मरती जा रही है वहाँ पशु-पक्षी वफादार साबित हो रहे हैं। जब सम्पूर्ण मानवीय सम्बन्ध पर प्रश्न चिह्न मुँह फाड़ खड़ा है तो मीना अपने सम्बन्ध को विश्वसनीय रूप से पुख्ता करती है। यही मानव समाज पर क्रूर व्यंग्य हो जाता है। प्रेमचन्द की कहानी 'कफन' में अलाव में पकता आलू ही मानवीय मूल्य है जिसे बाप-बेटे अपनी-अपनी क्षुधा की भट्ठी में झोंकने की ताक में कराहती बुधिया की सुधि तक नहीं लेते। पति-पत्नी, श्वसुर-बहू के मानवीय सम्बन्ध मसक जाते हैं, भूख की भट्ठी में जल जाते हैं। 'ईश्वर' कहानी में इसी मानव-प्रेम को उजागर किया गया है। प्रेम मानव मन की सहज रागात्मवृत्ति है। सामाजिक भेद-भाव से परे प्रेम जन्म लेता है। प्रेम की आँख निश्च्छल होती है। हम उम्र और सहपाठी होने के कारण नरेन ईश्वर से प्रेम करता है। प्रेम प्रवृत्ति है, प्राणी मात्र की प्रकृति है। लेकिन नरेन के पिता को अछूत से प्रेम नागवार लगता है। वे प्रेम के लिए नरेन को वर्जित करते हैं। परिणामत: मानसिक रोग का शिकार हो जाता है। यही मानवीय मूल्य का विघटन एवं मनुष्य की हृदय हीनता 'बकरे की माँ' तथा 'रोदन का राग' कहानियों में मर्म को छेदती है।

आचार्य श्री की दृष्टि समाज की कठोर सच्चाईयों का साक्षात्कार करती है। यथार्थपरक सामाजिक जीवन के सत्य के उद्घाटन में शास्त्री जी ने युगीन समस्याओं को उठाया है। यदि 'मीना' में स्त्री-शिक्षा, विधवा-जीवन की समस्या एवं अंध्र परम्परा की कुरीतियों को आधार बनाया है तो 'ईश्वर' में भारतीय समाज की वर्ण-व्यवस्था की विद्रूपता को चित्रित किया गया है। इस युग की अनेक सामाजिक समस्याओं तथा रुढ़ियों से ग्रस्त भारतीय गाँव का वर्णन शास्त्री जी की कहानियों में हुआ

है। 'मीना' की सतवंती का रूप एक कर्मठ एवं जुझारू नारी का है जो खोखली रुढ़ मान्यताओं को उतार फेंकती है। एक ब्राह्मणी विधवा होकर भी भिक्षाटन न कर मजदूरी, मिहनत करती है। निराला की तरह शास्त्री जी भी प्रगति के लिए ब्राह्मवादी ढोंग का तिरस्कार करते हैं और श्रम, कर्म में आस्था व्यक्त करते हैं। आलस्य एवं काहिलपन के विरुद्ध कर्म की जागृति भरते हैं। 'ईश्वर' कहानी में नरेन छूत-अछूत की कुरीति को न मान मानवता के स्तर पर प्रेम और सौहार्द से समता-समरसता लाने की चेष्टा करता है। अबोध मन को क्षुद्र, संकीर्ण भेद-भाव नहीं लगता है, बल्कि ऐसे कुत्सित संस्कार समाज के सफेदपोश लेना पड़ता है जिसे नरेन न स्वीकार कर बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से हृदय परिवर्तित करा देता है। नरेन विद्रोह नहीं कर, मनोचिकित्सक की भाँति मन का उपचार मानसिक रोगी बन कर करता है। यहाँ शास्त्री जी ने प्रगतिकामी होते हुए भी क्रांतिकारी उन्माद के बदले संयम सौहार्द, सदाचार एवं सहयोग को ही परिवर्त्तन के लिए उपयुक्त समझा है, यह उनकी समाज-संरचना में समन्वय-कारी दृष्टि का परिचायक है। सामाजिक कुरीतियों के चित्रण में 'रोदन का राग' कहानी में बाल-विवाह की धारणा बड़े ही यथार्थ परक घटना के रूप में उद्घाटित हुआ है। इसके केन्द्र में भी नारी-जीवन की विडम्बना ही मुखरित हुई है। दृष्टि के स्तर पर "बाँसों का झुरमुट" की कहानियाँ सांस्कृतिक चेतना के प्रतिबद्ध है। राजनीतिक और साहित्यिक गुटबंदी के वाद-परिवाद से हटकर शास्त्री जी भारतीय संस्कृतिवाद के पोषक हैं। संस्कृतिवाद में विश्वमानवता की मंगल कामना तो है ही भारतीय जीवन की समग्रता और विविधता के प्रति भी आश्वस्त होने का प्रमाण है। शास्त्री जी की प्रतिबद्धता भारतीय समाज को इच्छा-आकाँक्षा, हर्ष-उत्कर्ष, संयोग वियोग, दया-क्रोध, मोदन-उत्पीड़न, रोदन-क्रन्दन का चित्रण कलम या कूची, वाणी या वाद्य द्वारा करने में दिखती है। आचार्य जी ने अपनी रचनाओं में जीवन की इसी प्राणवत्ता को अभिव्यक्ति दी है। यही कारण है कि सामाजिक बोध में परिवर्त्तन की आधुनिक चिंतन की गतिशीलता तथा वैचारिक परिष्कार कहानियों में दृष्टिगत होते हैं। यही संस्कृतिवाद की भाव-भूमि है जहाँ गुच्छ के दर्शन होते है। जहाँ टकराव नहीं, समन्वय प्रकट होता है। सद्भाव और समन्वय से ही देश का जातीय गौरव और मानवीय मूल्य अक्षुण्ण रह सकता है। शास्त्री जी की सांस्कृतिक दृष्टि में इन गुणों का समावेश मिलता है तथा भारतीयता के विमल, कोमल, एवं भव्य-भाव-वैभव के दर्शन होते हैं।

सभी कहानियाँ घटना-विशेष को लेकर कही गई हैं जिनका वातावरण ग्रामीण क्षेत्र है। यथार्थपरक युगीन समस्याएँ ही कहानी की केन्द्र है।

यदि 'मीना' गरीबी और बेवशी है तो भारतीय विधवा के करुण जीवन की गाथा भी है। नारी जागरण को यह कहानी प्रामाणिक आधार प्रदान करती है।

मनोविज्ञान के धरातल पर "बागमती के किनारे" को देखा जा सकता है। ऐसे सभी कहानियों में मन:स्थिति को आधार बनाया गया है। लेकिन 'बागमती के किनारे' मनोवैज्ञानिक सिद्धांत पर भी खरा उतरती है। काम का उदात्तीकरण व्यक्ति की इच्छाशक्ति और मानसिक स्तर पर निर्भर करता है। "बागमती के किनारे" में रामचन्द अपनी निर्धनता के कारण परिणय सूत्र में नहीं बंध पाता है और विवाह की उसकी साध पूरी नहीं होती है : चिर कुँवारेपन के बोझ से मुक्ति के लिए बागमती की बाढ़ में बहकर आयी लाश से अपना शव-विवाह रचता है। वह अपने जीवन की साध की छद्म तृप्ति करता है। इसी तरह 'रोदन का राग' और "बरगद के साए में" भी काम की अतृप्ति शिष्ट एवं आदर्श रूप में प्रस्तुत हुई है। बरगद के साए में" कहानी द्वारा फ्लैशबैक पद्धति से जीवन की विभिन्न असंगतियों को दर्शाया गया है।

आलोच्य कहानी संग्रह में वस्तु, दृष्टि एवं रचना के रचाव में शास्त्री जी के कथा-कौशल के दर्शन होते हैं। ये कहानियाँ एक साथ ही प्रेमचन्द की यथार्थपरक दृष्टि और प्रसाद की भावावेगमयी द्रवणशीलता को समाहृत करती हुई विशिष्ट बन गयी हैं। शास्त्री जी की यही विशिष्टता उन्हें सभी के करीब लाकर भी पृथक पहचान देती है। बाँसों का झुरमुट" तो इसका स्पष्ट प्रमाण ही है।

—राजभाषा सहायक,
क्षे० प्र० वि० पूर्वोत्तर रेलवे, मुजफ्फरपुर

★

"निराला के पत्र"

बनाम डॉ० रामविलास शर्मा

डॉ० महेश्वर सिंह

"निराला के पत्र"
बनाम डॉ० रामविलास शर्मा

—डॉ० महेश्वर सिंह

["न केवलं यो महतोऽप भाषते
शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्"]

डॉ० रामविलास शर्मा ने निराला की "साहित्य-साधना" खण्ड–३ के ६५ पृष्ठों की भूमिका में आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री के लिए २६ पृष्ठ 'सुरक्षित' रखे हैं। "इस तीसरे खण्ड में निराला के लिखे हुए पत्र तथा निराला को साहित्यकारों, पारिवारिक जनों और उनके मित्रों द्वारा लिखे हुए पत्र हैं।" (नि० सा० सा०–३, भूमिका पृष्ठ–१) लेकिन पुस्तक में निराला को लिखे हुए शास्त्री जी के अथवा निराला द्वारा शास्त्री जी को लिखे हुए पत्रों में से शास्त्री जी अनुपस्थित रखे गये हैं, और फिर भी वे भूमिका में एक तिहाई से भी अधिक स्थान के अधिकारी हो गये हैं—ऐसा क्यों और कैसे ?

डॉ० शर्मा पुस्तक की भूमिका में लिखते हैं—"यहाँ जानकी वल्लभ शास्त्री को लिखे हुए निराला के पत्रों की चर्चा प्रासंगिक होगी। 'निराला के पत्र' नाम से ये राजकमल द्वारा प्रकाशित हैं। आरंभ में लम्बी भूमिका है, पत्रों के साथ विस्तृत पाद टिप्पणियाँ हैं।" (पृ० ३६) 'निराला के पत्र' में १०६ पत्र संकलित हैं। इनमें से (डॉ० शर्मा के अनुसार) ६८ पत्र सन् ३५ से ४६ के बीच लिखे गये हैं। डॉ० शर्मा लिखते हैं—"निराला के जीवन में—इसी अवधि में सरोज की मृत्यु, प्रेमचन्द, प्रसाद, नवजादिक लाल श्रीवास्तव की मृत्यु, उनके साले रामधनी द्विवेदी और पुत्र वधू फूल दुलारी की मृत्यु होती है। इसी में वह स्वयं गंभीर रूप से बीमार पड़ते हैं···ऐसी अवधि में निराला किसीको लगभग सौ पत्र लिखें तो वे निराला के जीवन चरित का अध्ययन करनेवाले के लिए असाधारण महत्त्व के तो होंगे ही, जिसे वे लिखे गये हैं, निराला के जीवन में उसकी भूमिका भी असंदिग्ध होगी। जानकीवल्लभ शास्त्री ने बिल्कुल ठीक लिखा है—"इन पत्रों में मुँदा-मुँदा क्या कुछ नहीं खुलता" (नि० के पत्र भूमिका–५०६६)।

इसके अलावा—"इन पत्रों के होने-न-होने से निराला का कुछ नहीं आता-जाता, अलबत्ता ये नहीं हों तो मेरी प्रत्यभिज्ञा न हो; कोई नहीं जाने कि किसी परम शिव ने कभी स्वेच्छा से अपने पट पर मेरा चित्र आँका था।"

"यह चित्र किस तरह का है, निराला के जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानेवाले जानकीवल्लभ शास्त्री के व्यक्तित्व की विशेषताएँ कौन-सी हैं, निराला के पत्र पढ़ने वालों के लिए ऐसी बातों की जानकारी आवश्यक है।" (भूमिका–५०३६)

जिज्ञासु पाठक उन्मुख होगा कि अब इस पृष्ठ भूमि पर डॉ० शर्मा निराला द्वारा लिखे गये पत्रों के आलोक में शास्त्री जी के व्यक्तित्व के नये आयामों को उद्घाटित करेंगे। लेकिन नहीं, उल्लिखित 'निराला के पत्र' की जगह वे शास्त्री जी के एक संस्मरण 'पितृदेव' से उद्धरण दे-देकर, इन्ही के सहारे निष्कर्ष निकालना शुरु कर देते हैं। 'पितृदेव' 'स्मृति के बातायन' में संगृहीत शास्त्री जी की एक मार्मिक रचना है। शास्त्री जी ने इसमें एक स्थान पर लिखा है—"यह जो अंधेरा उजाले पर हावी हो जाता है, यह जो दोस्ती और मुहब्बत के सीने में भोथी छुरी भोंक दी जाती है उसकी तरफ से नजर फेर लेना मुझे जँचता नहीं है। महज इसी बुनियाद पर कि दुनिया में ऐसा हुआ किया है, हुआ करेगा, यही दुनिया की तारीफ है, इसे हर जुबान में, हर तरफ जाहिर करना ही जरुरी जान पड़ता है।" (पृ०–१३३) अर्थात इस रचना में "दुनिया में जैसा हुआ किया है—संस्मृत है। इस अर्थ में इसकी वस्तु उपस्थापन कला 'सहजा' है। इधर डॉ० शर्मा इससे जो उद्धरण देते हैं उसकी विन्यास-कला 'आचार्या है। आचार्या इस अर्थ में कि इनका उन्होंने अपने रंग में रंगकर उपयोग किया है। ये उद्धरण यहाँ वही अर्थ नहीं देते हैं जो संदर्भ युक्त स्थिति में रचना में दे रहे हैं बल्कि वह अर्थ देते हैं जो आलोचक का अभीप्सित है। अर्थात् ये लेखक के उद्दिष्ट को नहीं, आलोचक के उद्दिष्ट को व्यक्त करते हैं, यहाँ लेखक के नहीं, आलोचक के मनोभावों के वाहक बन गये हैं। बात अटपटी लग सकती है, लेकिन अटपटी है नहीं। यहाँ कोई 'जादू' है जो पाठक के सिर पर चढ़कर बोलने लगता है। इस जादू को समझने के लिए आलोचक रामविलास शर्मा के लेखन की कुछ मूलभूत विशेषताओं पर प्रकाश डालना जरुरी है।

किसी कृति में निबद्ध तथ्यों का विश्लेषण, व्याख्या और मूल्यांकन अपनी मूल दृष्टि से करना-आलोचना का यही प्रकार्य है। लेकिन इसके

निर्वाह के लिए उसे यह छूट कतई नहीं दी जा पकती कि वह तथ्यों का यादृच्छिक उपयोग करे, उन्हें तोड़े-मरोड़े, उनका आधा-अधूरा उपयोग करे। विद्यमान का संशोधन और अविद्यमान की कल्पना इसका क्षेत्र नहीं है। तथ्यपुंज ही इसका सर्वस्व होता है। यहीं से उसे रोशनी मिलती है, जैसे चन्द्रमा को सूर्य से। वह तथ्यों की ग्रहीता भर होती है, उसकी उत्पादिका नहीं। डॉ० शर्मा की आलोचना—(आलोचना की) इस संहिता को नकार कर चलती है। इस दृष्टि से डॉ० शर्मा हिन्दी के अद्वितीय तथ्योत्पादक आलोचक हैं। वे अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए (i) तथ्यों का यादृच्छिक उपयोग करने में (ii) उन्हें तोड़ने-मरोड़ने में (iii) उनका आधा-अधूरा उपयोग करने में कहीं कोई संकोच नहीं करते हैं। उद्धरणों की वर्षाकर पाठक को आतंकित-विस्मित कर देना, आवश्यकतानुसार उद्धरणों को संशोधित-परिवर्द्धित कर डालना, खंडोद्धरणों को लेखक के मुँह में डालकर अपना अभीप्सित उगलवा लेना—उनके आलोचनात्मक लेखन की मूलभूत विशेषता है। (आलोचना पढ़कर ही अपनी विद्वत्ता की शेखी बधारनेवाले हिन्दी के पाठक के इस मनोविज्ञान से कि उद्धरणों को मूल से मिलाकर देखने की जहमत वह उठायगा ही नहीं,—डॉ० शर्मा ने भरपूर फायदा उठाया है।)

यह आरोप निश्चय ही गंभीर है। यह गंभीरता और बढ़ जाती है जब बात डॉ० रामविलास शर्मा की हो रही है, जिनकी विद्वत्ता और मेधा का हिन्दी-जगत कायल बन चुका है। यह आरोप अमूर्त्त रूप में अविश्वसनीय ही नहीं, हास्यास्पद भी लग सकता है। अतः आवश्यक है कि विस्तार का खतरा उठाकर भी—मैं अपनी बात को सोद्धरण और सप्रमाण प्रस्तुत करूँ।

डॉ० शर्मा निराला के काव्यालोचक के रूप में हिन्दी में पर्याप्त ख्याति और कीर्त्ति अर्जित कर चुके हैं। इस ख्याति और कीर्त्ति की आधार स्तंभ स्वरूप अपनी पुस्तक "निराला की साहित्य-साधना (द्वितीय खंड) के भाव-बोध खंड के आरंभिक उपखंड 'स्वाधीनता प्रेम' में प्रथम पृष्ठ पर ही निराला के एक गीत की चार पंक्तियाँ उद्धृत करते हुए लिखते हैं—"भारत स्वाधीन हुआ किन्तु जिस स्वाधीन भारत का स्वप्न निराला देख रहे थे, वह साकार न हुआ। साहित्य में अवसरवादिता, चाटुकारिता की बाढ़-सी आ गयी, उच्च वर्ग समृद्ध हुए, निम्न वर्ग को दैन्य से मुक्ति न मिली। निराला ने इस स्थिति का भाव-चित्र खींचा—

"मंदिर में बन्दी हैं चारण,
चिघड़ रहे हैं वन में वारण,
रोता है बालक निष्कारण,
बिना सरग-सारण भरणी हैं।" (नि०सा०सा०-२ ५ १४३)

उपर्युक्त चार पंक्तियाँ निराला के एक गीत की ऊपर और नीचे की पंक्तियाँ छाँटकर बीच से उठा ली गई हैं। इन पंक्तियों से अवसरवादिता, चाटुकारिता, उच्चवर्ग की समृद्धि, निम्नवर्ग का देन्य आदि का अर्थ कहाँ से स्फुट हो रहा है, हाथी जंगल में चिग्घाड़ रहे हैं, बालक निष्कारण रो रहा है। इन क्रियाओं की चाटुकारिता दैन्य आदि से कहाँ संगति बैठती है ? 'मरणी' शब्द किसके लिए प्रयुक्त है, बिना सरण-सारण किसके लिए प्रयुक्त हुआ हैं— ? इन चार पंक्तियों से कुछ स्पष्ट नहीं हो रहा है। अतः पूरा गीत देखना पड़ेगा। जिस गीत से ये पंक्तियाँ उद्धृत है वह इस प्रकार है—

घन तम से आवृत धरणी है।
तुमुल तरंगों की तरणी है।
मंदिर में बन्दी हैं चारण,
वन में चिघड़ रहे हैं वारण,
रोता है बालक निष्कारण,
बिना सरण-सारण भरणी है।
शत संहृत् आवर्त्त-विवर्त्तों
जल पछाड़ खाता है पर्त्तों
उठते हैं पहाड़ फिर गर्त्तों
धँसते हैं, मारण रजनी है।
जीर्ण-शीर्ण होकर जीती है,
जीवन में रहकर रीती है
मन की पावसता पीती है,
ऐसी यह अकाम सरणी है। (अर्चना–पृ०)

यहाँ गहन अंधकार से आवृत धरणी है जो बिना सरण-सारण है, भरणी है, अकाम सरणी है। रजनी मारण है। एक सागर है (चेतना का) जिसमें शत संहृत् आवर्त-विवर्त हैं, अनेक पर्त्त के साथ पछाड़ खाता हुआ जल है। तरंगे पहाड़ की ऊँचाइयों तक उठती हैं फिर गर्त्तों धँसती हैं। मंदिर में

चारण बन्दी हैं, वन में वारण चिंग्घाड़ते हैं, बालक निष्कारण रोता है— आदि। वस्तु-योजना की मूल रेखायें यहीं हैं। इसमें डॉ० शर्मा को अवसरवादिता, चाटुकारिता, समृद्धि, दैन्य आदि के भाव-चित्र का दर्शन किस कोण से हो रहा है? इस भाव-चित्र का विभावन व्यापार कविता में किसी भी सिरे से मौजूद नहीं है। प्रश्न है कि आखिर इस वस्तु-योजना का उद्दिष्ट क्या है, कविता में निराला की कौन-सी मनोदशा व्यक्त हो रही है? और बात चूँकि निराला काव्य के कीर्तिलब्ध आलोचक डॉ० शर्मा के संदर्भ में हो रही है, अतः कविता के उद्दिष्ट को निर्भ्रान्त रूप से पाठकों के समक्ष रखना ही पड़ेगा।

निराला की दार्शनिक-वैचारिक स्तर की रचनाओं की एक कोटि वह है जिसमें 'जुही की कली' की तरह तमसोमाज्योतिर्गमय का कविता में उतारा गया पूर्ण चित्र है। इन ज्योतिस्पर्शवाली रचनाओं के साथ दार्शनिक-वैचारिक स्तर की कई रचनाएँ ऐसी हैं जिनमें विरोधी परिवेश और पूर्णतामूलक अनुभूतियों के बीच सीधी टकराहट है और कवि ने विरोधी परिवेश की शक्तिमत्ता और क्रियाशीलता का सशक्त चित्रण करते हुए अंततः विरोधी तत्त्व पर, जड़तत्त्व पर आत्मतत्त्व की विजय या विजयशीलता का चित्रण किया है। 'राम की शक्ति पूजा', 'तुलसी दास', 'वनबेला,' 'स्वागत धारा' आदि में बिम्बों का अनुस्थापन इसी आस्था की अभिधारणा से परिचालित है। इनके अतिरिक्त एक कोटि ऐसी रचनाओं की भी है जिसमें पूर्णता मूलक अनुभूति और वास्तविक अनुभूति के बीच टकराहट है और दोनों को धारा समानान्तर प्रवाहित है। अस्तित्त्व के अर्थ-संदर्भों का विश्लेषण करते हुए कवि ऐसी चिन्तन-भूमि में पहुँच जाता है जहाँ विषम वास्तविक अनुभूतियों का पूर्णतामूलक अर्थ-संगति में समाहार शक्य नहीं हो पाता। 'सरोज-स्मृति' की संरचना इसी कोटि की है।

इन सबके साथ ही रचनाओं की एक कोटि वह है जहाँ निराला वेदान्त की दीर्घा से बाहर निकलकर अनुभूति के अराल पथवाले निविड़ विपिन (निविड़ विपिन पथ अराल-अर्चना) में विचरण करते हुए महसूस करते हैं कि वह आस्था, आत्मा की वह पावन निधि, वह मधुदान आकांक्षित फल उत्पन्न नहीं कर पा रहा है। परिणामस्वरूप उनका मनुष्य की पीड़ा का अस्तित्वपरक एहसास तीव्र हो उठता है। अनुभव के इस बिन्दु पर उन्हें मनुष्य का पूरा अस्तित्व अभेद्य अंधकार में डूबा हुआ प्रतीत होता है। इन रचनाओं में वेदान्त के प्रकाश का नामोनिशान तक नहीं। गहन अंधकार

में कवि आँखें साधता हुआ दिखाई पड़ता है। 'अर्चना' की प्रस्तुत "घनतम से आवृत धरणी है" में निराला की यही मनोदशा व्यंजित है। मन्दिर में बन्दी चारण, जंगल में चिग्घाड़ते वारण, (हाथी) निष्कारण रोता हुआ बालक तीनों यहाँ (डॉ॰ शर्मा द्वारा उद्धृत पंक्तियों में) असम्बद्ध, अलग-अलग हैं। इन्हें एक संगति में बाँधने वाला वेदान्त का धागा टूट चुका है। परिवेश जड़तत्त्व (घनतम) का (सर्जनात्मक समग्रता से रहित) असम्बद्ध विस्तार बना हुआ है। कवि को यह धरणी (धृ+अनि) भरणी (भरण-पोषण करने वाली) पर बिना सरण-सारण आर्थात् ऐसे मार्ग वाली दिखती है जो किसी गंतव्य पर, लक्ष्य पर नहीं पहुँचाती। जरा (जीर्णता) और रोग शीर्णता) से ग्रस्त होकर जीती, उच्चतर मूल्य और औदात्य से रीती, मन की शुचिता को पीती—लक्ष्यहीन गतिशीलता (अकाम सरण) वाली धरणी से निराला विषण्ण और निराश हैं। तरल तरंगों की तरणी, आवर्त्त-विवर्त्तों से संयुक्त पछाड़ खाती हुई जलराशि, मारण-रजनी आदि बिम्ब माला की इकाइयों की तरह स्वतंत्र पर विषाद और नैराश्य के सूत्र में बँधे हुए कविता में व्यक्त भाव को सघनतर करते हैं।

क्या यह मानलिया जाय कि यहाँ डॉ॰ शर्मा इस गीत का अर्थ-निर्णय करने में गच्चा खा गये हैं? लेकिन गच्चा खा जाने वाली बात जँचती नहीं है क्योंकि इसी गीत की ठीक अगली चार पंक्तियों (शत-संहत्…भारण रजनी है) को वे 'अंतर्द्वन्द्व' शीर्षक उपखण्ड में निराला के मृत्यु-दर्शन, आत्म-निर्वासन, त्रास की चरम परिणतिवाली मनोदशा से जोड़ते हैं। 'अर्चना' के ही एक गीत की चार पंक्तियों का अर्थ-संदर्भ स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—

"यहाँ निराला का मृत्यु-दर्शन है, आत्म निर्वासन और त्रास की चरम परिणति। (समुद्र का गर्जन छूटा जा रहा था—घनतम से आवृत धरणी है) इस गीत में अंधकार है, वन में चिंघड़ते हुए हाथी हैं और गरजता हुआ समुद्र है—

शत-संहत् आवर्त्त-विवर्त्तों,
जल पछाड़ खाता है पर्त्तों,
उठते हैं पहाड़ फिर गर्त्तों
धँसते हैं, भारण रजनी है। (नि॰सा॰सा–२ पृ॰ २५६)

इस तरह डॉ॰ शर्मा एक ही गीत की चार पंक्तियों को उद्धृत कर अपनी ओर से उनमें साहित्यिक अवसरवादिता, चाटुकारिता की बाढ़,

उच्चवर्ग की समृद्धि, निम्नवर्ग के दैन्य-बंधन के भाव-चित्र के दर्शन कर लेते हैं और अगली ही चार पंक्तियों में मृत्यु-दर्शन, आत्म-निर्वासन और त्रास के मनोभावों की व्यंजना पाते हैं। एक ही गीत की चार पंक्तियाँ छाँटकर उनका एक जगह एक तरह से यादृच्छिक उपयोग—दूसरी जगह अगली चार पंक्तियों का अपनी अपेक्षानुसार बिल्कुल भिन्नार्थक उपयोग, यह और जो कुछ हो आलोचना कर्म नहीं है।

ऐसा नहीं है कि यह उदाहरण मैंने ढूँढ़कर जुटाया है। यह इस खंड के प्रथम पृष्ठ पर ही है। बात बढ़ाचढ़ाकर कही हुई लगेगी लेकिन मैं पूरे दायित्व बोध पूर्वक कहता हूँ कि इस भाव-बोध शीर्षक खण्ड में अर्थ-निर्धारण की जो पद्धति अपनायी गई है वह कृति-विमुख, संदर्भ-विच्छिन्न, यादृच्छिक, आरोपित और भ्रामक है। वागीस शुक्ल ने बिल्कुल सही लक्षित किया है कि "निराला की साहित्य-साधना" में हँसिया के ब्याह में खुरपे का गीत गाया गया है। (पूर्व ग्रह—अंक ९५-९६) पुस्तक में डॉ० शर्मा का सरोकार न निराला के कवित्व से है न कविता से, उन्होंने प्रगतिवादी आन्दोलन की तात्कालिक आवश्यकताओं के दबाब में जो अपनी समीक्षा दृष्टि और पद्धति निर्मित की उसी दृष्टि और पद्धति से निराला को अपने विचार धारात्मक साँचे में आन्वेत-व्यस्ति भर किया है। उन्होंने चाहे निराला पर लिखा हो या आचार्य शुक्ल, प्रेमचन्द या आचार्य म० प्र० द्विवेदी पर—उनकी समीक्षा-दृष्टि एक ही, पद्धति एक ही, प्रेरणा स्रोत एक ही है। इनकी वेधशाला एक ही वैचारिक कक्ष में स्थापित है।

लेखकों का समर्थन और विरोध करने के डॉ० शर्मा के दो अलग-अलग अस्त्र हैं—यथार्थ चेतना और विचार धारा। जिस लेखक का उन्हें समर्थन करना होता है उसके अन्य पक्षों को अनदेखा कर वे यथार्थ के प्रति लेखक की चेतना पर केन्द्रस्थ होते हैं। उन्होंने भारतेन्दु, प्रेमचन्द, निराला, आचार्य शुक्ल, अमृतलाल नागर, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि को समर्थन इसी आधार पर दिया है। लेकिन जब उन्हें किसी लेखक का विरोध करना होता है उन लेखक के यथार्थ बोध को दर किनार रखकर अपने को विचारधारा पर केन्द्रित कर लेते हैं और उस लेखक को प्रगति विरोधी, रीतिवादी, प्रतिक्रियावादी कोटि में डालकर उसकी छीछालेदर कर डालते हैं। आचार्य ह० प्र० द्विवेदी, रेणु, राहुल जी, यशपाल आदि के विरोध में उनका यही दृष्टिकोण रहा है। और अगर किसी ने उनके

विरोध में कुछ लिखा, उनकी विचारधारा के विरोध में कुछ लिख दिया— फिर तो उस लेखक की 'खुदा ही खैर' करे।

यहाँ निराला की साहित्य-साधना (खण्ड–३) की भूमिका में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के व्यक्तित्व के आयामों का जैसा उद्घाटन किया है, उसमें डॉ० शर्मा के लेखन की उपर्युक्त सारी विशेषताएँ एकत्र दृष्टिगोचर हो जाती हैं।

डॉ० शर्मा ने आचार्य शास्त्री की कहानी बहुत परिश्रमपूर्वक तैयार की है। इन २६ पृष्ठों में बहुत-सी बातें लिखी गई हैं। इन सभी के ब्योरेवार विवेचन के पहले सर्वप्रथम यह जाँच लिया जाय कि यह कहानी है किस किस्म की, :—गढ़ी हुई या सच्ची। और मिट्टी की किस्म जाँचने के लिए खेत को प्रयोग शाला में लाना कहाँ जरुरी होता है? इसलिए पहले डॉ० शर्मा की प्रमुख स्थापनाओं की असलियत का ही जायजा ले लिया जाय। ये असल हों तभी गंभीर विवेचन-विश्लेषण का औचित्य और सार्थकता है।

'निराला के पत्र' को हाशिये पर डालकर आचार्य शास्त्री के 'स्मृति के वातायन' में संगृहीत 'पितृदेव' शीर्षक संस्मरण से एक वाक्य उद्धृत करते हुए डॉ० शर्मा इनके व्यक्तित्व की पहली विशेषता निम्नलिखित शब्दों में उद्घाटित करते हैं :—

"यदि इनके पिता ने "नागरिक जीवन बिताया होता आज उनकी आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति उच्चतर होती"। (स्मृ० के वा० ५-१४) इस तरह जानकीवल्लभ के मन में बहुत गहरे उतरकर अपनी सामाजिक स्थिति को लेकर हीन भावना उत्पन्न हुई।" (नि० सा० सा०–३५०३८)

यहाँ डॉ० शर्मा ने आचार्य शास्त्री की उक्ति का पूरा अंश उद्धृत न कर उतना ही उद्धृत किया है जितने से आचार्य शास्त्री के ही साक्ष्य से वे अपने मन की बात पाठक के सामने तथ्य रूप – प्रस्तुत कर सकें। 'स्मृति के वातायन' में उल्लिखित प्रसंग इस रूप में वर्णित है :—

"पिताश्री ने अपनी विद्या और प्रतिभा की शक्तिमत्ता को स्वीकार कर यदि नागरिक जीवन बिताया होता तो आज उनकी आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति उच्चतर होती; किंतु तब उनका मानसिक विकास महत्तर होता या नहीं कहा नहीं जा सकता; फिर भी उन्होंने जान-बूझकर 'महत्तर' के लिए 'वृहत्तर' या 'उच्चतर' का त्याग किया;··· अनकी प्रशंसा इस अंश में की

जा सकता है कि जब रोज-रोज दिल दहला देनेवाली परिस्थितियाँ पैदा होती थीं, जिनसे एक अशान्त, अधीर व्यक्ति को केवल आत्महत्या की प्रेरणा मिल सकती थी, तब उन्हीं विषम स्थितियों में भी न जाने कैसे वह आत्म-विकास करते गये।" (पृ० १२४–१२५)

'महत्तर' के लिए 'बृहत्तर' या 'उच्चतर' का त्याग; विषम परिस्थितियों में भी नित्य-नित्य आत्म-विकास करते जानेवाले शान्त और धीर पिताश्री की प्रशंसा करते हुए शास्त्री जी की उक्ति से यहाँ आत्मगर्व का भाव छलक रहा है। क्लासिक संस्कृत को 'गले पड़ी चीज' और 'रटन्तविद्या' कहकर डॉ० शर्मा ने शास्त्री जी को उपहासास्पद बनाना चाहा है। उसी संस्कृत विद्या ने भारतीय विद्वद्परम्परा को इतना आत्मचेतस् बनाया है कि वह अपनी दरिद्रता पर गर्व कर सके, संस्कार विद्या और आत्मसंयम को सबसे बड़ी विभूति मानकर भौतिक सम्पन्नता को तृणवत् ठुकरा सके, विषम परिस्थितियों में भी शान्त और धीर रहकर निरन्तर आत्म-विकास करता जाय। ऐसा नहीं है कि भारतीय विद्वद्परम्परा के इस वैशिष्ट्य का अवबोध डॉ० शर्मा को नहीं हो। फिर भी, वे शास्त्री जी के आत्म-वर्ग से उच्छल कथन के एक अंश कोउद्धृत कर उन्हें एक ऐसे व्यक्ति के रूप में चित्रित कर रहे हैं जिसके मन में 'गहरे' ही नहीं, 'बहुत गहरे' उतर कर अपनी सामाजिक स्थिति को लेकर हीन भावना उत्पन्न हुई हो। क्यों ?

डॉ० शर्मा शास्त्री जी के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अपनी अगली स्थापना 'पितृदेव' शीर्षक संस्मरण में ही वर्णित गाँव की एक विधवा से सम्बन्धित प्रकरण को आधार बनाकर प्रस्तुत करते हैं। लिखते हैं—"उनके (शास्त्री जी के) विकास में गाँव की एक विधवा की भूमिका महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई।"
(नि० सा० सा० ३– पृ० ३८)

गाँव की इस विधवा के सम्बन्ध में शास्त्री जी लिखते हैं—"उसके कोई न था, भरी जवानी में पति परलोक सिधार गए थे, चलते-चलते उसकी गोद में एक दुध मुँहा छोड़ गए थे, वह भी, लाख-लाख प्यार पाने के बावजूद, माँ से मुँह मोड़कर पिता के पास ही चला गया था और गाँव वालों ने सम-वेदना प्रकट करने के स्थान में यह प्रचारित कर रखा था कि उसने अपने पति और पुत्र की बलि देकर 'डायनविद्या' सीखी है।……अचानक अपने इकलौते बच्चे को खोकर जो उसकी अतृप्त वात्सल्य-वासना, उत्कट-उन्मद, प्रगाढ़-प्रगल्भ हो गई थी, जिस कारण वह किसी स्वस्थ-सुन्दर शिशु को

प्यासी आँखों से निर्निमेष निहारने लगती थी; भूखी भावना से झपटकर दामन में छुपा लेना चाहती थी उसका वह अतिरिक्त मातृत्व सम्पूर्ण लोक-कोष के टकसाली शब्दों को चुनौती देनेवाले 'डायन' विशेषण के बिना किस प्रकार विश्लिष्ट हो सकता ! सगी माँ से बढ़कर जो वह प्यार करती थी वह उसके डायन होने का नहीं, तो किस बात का सबूत था।"

(स्मृति के वा० पृ० १२७, १३०)

आचार्य शास्त्री के विकास में गाँव की इसी विधवा की भूमिका के महत्त्व को रेखांकित करते हुए डॉ० शर्मा लिखते हैं—वह इन्हें अपने घर ले जाती और (i) "रूखे-सूखे वदन को चिकना-चुपड़ा बना मुझे चुचकार कर चूमती और अपने गोरे-गोरे गालों को आस्फालित कर मुझे भी चूमने को कहती" (ii) "वह गोबर की लीपी हुई जमीन पर ताड़ की चटाई डाल (पृ० १२६) अस्त-व्यस्त सोई हुई थी। अचानक चौंककर जगीतो मुझे झपटकर उठा लिया और माथे का पसीना पोंछ ताबड़-तोड़ दुलारने लगी (पृ० १२६) (iii) "फिर उसने मेरे दाँतों के बीच अपनी उँगली उलझा, होठों से गाल गुदगुदाकर कहा—'अब एक बात मैं भी पूछूँ' ?... मेरे अलावा तुम्हें और कोई प्यार करता है क्या ? (पृ० १३?)

उपर्युक्त अनुच्छेद में तीन उद्धरण हैं। तीनों तीन अलग-अलग पृष्ठ से लिये गये हैं। तीनों संदर्भ से विच्छिन्न करके प्रस्तुत किये गये हैं। संदर्भ विच्छिन्न वाक्य, वाक्यांश कितने अनर्थकारी और भ्रामक हो सकते हैं—इसका अन्दाजा इन्हें इनके संदर्भ के साथ देखने पर सहज ही लग जायगा।

उद्धरण सं०—(i) संदर्भ निम्नत: है—"मैं चार-पाँच बरस का मातृ-हीन बालक लगभग चालीस वर्ष के प्रौढ़ पिता की गोद को टुकुर-टुकुर ताकता खड़ा हूँ, जिसमें चार-पाँच महीनों की बहन सुमित्रा रोते-रोते सो गई है और जिसकी नींद की ओर आँखों की कोर से इशारा कर पिताजी मुझे शांत रहने की मौन-मूक शिक्षा दे रहे है, मगर मैं जोर-जोर से समझ रहा हूँ कि उनकी व्यस्त गोद में अब मेरे लिए आमोद-प्रमोद की सुविधा संभव नहीं, मुझे और कहीं अपनी गुंजाइश के लायक जगह खोजनी चाहिए।

तब मैं दूनी सूनी आँखों से उदासी और मन हूसियत बरसाते, सहमे चौंके से मकान के कोने-कोने को ताक-झाँककर साँस साधे रह जाता। वहाँ कहाँ पाता मैं त्राता ? उसी समय पड़ोस की एक विधवा मुझे अपने घर

उठा ले जाती; रूखे-सूखे बदन को चिकना-चुपड़ा बनाकर मुझे चुचकार कर चूमने को कहती और अपने गोरे-गोरे गालों को आस्फालित कर मुझे चूमने को कहती।"—

(ध्यातव्य है कि आचार्य शास्त्री की उम्र उस समय चार वर्ष थी।) और उद्धरण सं०—(ii) का संदर्भ निम्नलिखित है—

"और मरने से कुछ ही दिन पहले उसके अंतिम दर्शनों का दुर्भाग्य प्राप्त हुआ था मुझे। मैं अपने मन से उसके घर शायद उसी दिन पहले-पहल गया था। बैशाख जेठ की लपट भरी दोपहरी थी। एक बकरी का बच्चा मेरे ओसारे चढ़ आया था, उसी के साथ खेल रहा था। कुछ देर बाद वह छलांग मारता भागा, मैं उसे खदेड़ता हुआ दौड़ा। और आनन-फानन में वह उसी झोपड़े में घुस गया। "तब वह गोबर से लीपी हुई जमीन पर ताड़ की चटाई डाल अस्तव्यस्त सोई हुई थी। अचानक चौंक कर जगी तो मुझे झट-पट उठा लिया और माथे का पसीना पोंछ ताबड़-तोड़ दुलारने लगी।"—(पृ० १२६)

उद्धरण सं०—(iii) की पंक्तियाँ उद्धरण सं० (२) के संदर्भ की ही अगली कड़ी है। आचार्य की उम्र उस समय सात वर्ष थी। वे उस विधवा से पूछ बैठते हैं कि तुम्हें लोग डायन क्यों कहते हैं। अतृप्त वात्सल्य-वासना की मूर्त्ति विपत्ति की मारी वह विधवा अपनी व्यथा-कथा सुनाती-सुनाती लेखक से पूछ बैठती है—"मेरे अलावा तुम्हें और कोई प्यार करता है क्या?" (पृ० १३२) इस मुलाकात के एक-डेढ़ हफ्ते बाद ही उस विधवा की मृत्यु हो जाती है। (पृ० १३२)

इसी 'कौशल' से और भी कई उद्धरण जुटाकर अंत में डॉ० शर्मा निष्कर्ष निकालते हैं—एक ओर जीवन की अतृप्त यौनाकांक्षाएँ, दूसरी ओर हीन सामाजिक स्थिति—इन सबकी पूर्ति का एक ही साधन था संस्कृत की शिक्षा।" (नि० सा० सा० ३ पृ० ३६)

आचार्य शास्त्री ने इस संस्मरण में एक स्थान पर लिखा है—"जब भी मैं उजले-धुले कपड़े पहने होता और वह बालों में नौ-मन धूल भरे, तो बड़ी मुश्किल से उसकी पकड़ में आता था, ऊपर से करारी फटकार भी बतला देता था। तब वह बलपूर्वक मेरा मुँह चूमकर तत्क्षण रो देती थी कि अगर मैं बड़ा होने पर अपनी कमाई से उसके लिए अच्छे खाने-कपड़े का बन्दोबस्त कर सकूँगा तो वह क्योंकर राजा-बेटे की माँ होकर भिखारिन का बना पहनेगी?

शास्त्रीजी ने अपने साहित्य में करुण रस को जितना स्थान दिया है, शायद ही किसी आधुनिक साहित्यकार ने दिया होगा। शास्त्रीजी ने अपने

जीवन के उस कठोर घड़ी को किस साहस, किस सहिष्णुता और किस संकल्प के साथ अपनी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा से निरन्तर प्रगति की ओर बढ़ाया है, यह हमारे जातीय साहित्य की विस्मृत होनेवाली स्मृति नहीं है। उनकी कुछ करुण किन्तु तथ्यपरक स्थापनाएँ पढ़ें—

(१) "माँ का अभाव मेरे जीवन का वह भाव है जिससे मेरी प्रत्येक भावना ओत-प्रोत है।"

(२) दुःख मेरे जीवन में सभी भाव-भावनाओं की अपेक्षा अधिक स्थायी है प्रकृति के साथ हृदय और आत्मा का समन्वय न हो सकने के कारण बादवान खोलने डांड चलाने, पतवार संभालने में मुझसे चूक नहीं हुई. बस फेनाकार ज्वार समक्ष शुष्क बालुका-राशि में नाव खे ली गई।

(३) मेरे जीवन-काव्य का प्रधान रस करुण है, अन्यान्य रस समय-समय पर प्रकाशित और तिरोहित हो-होकर लाइट और शेड के संयोग को ही उजागर करते रहे हैं। मेरा मन कहता है कि इस मरुभूमि में करुणा की स्रोतस्विनी सरस्वती का आकस्मिक अन्तर्धान ही लक्ष्य करने योग्य है।

शास्त्रीजी ने अपने पिता के प्रसंग में उनकी कठोरता का जो बिम्ब खींचा है, वह उनके दैन्य का नहीं अपितु पिता के हृदय मे छिपी उस पवित्र भावना का प्रतिरूप है जो अपनी अगाध विद्वता और अप्रतिम प्रतिभा के बावजूद किसी अमीर-उमड़ाव के दरबार में राजपुरोहित अथवा राजमंत्री होने की अपेक्षा अपने बच्चों के लिए रोटियाँ सेकता है, पानी भरता है, गाय पालता है और जागरुक इतना कि अपने एकलौते बेटे को एक कुम्भकार की तरह गूँध गूँध कर इस प्रकार चिकना लसीला और कोमल बनाकर जीवन के आवे में तपाया है कि वह ठोस, सुडौल और मजबूत बन सके।

निराला के साथ कई लोग आए। शिवपूजनजी आदरणीय बनकर, कुंवर चन्द्र प्रकाश नन्ददुलारे वाजपेयी प्रिय बनकर, सुमन और शांतिप्रिय जैसे लोग प्रशंसक बनकर. केदारनाथ अग्रवाल अनुयायी बनकर, रामबिलास शर्मा उनके शुभचिंतक और साहित्यिक हितैषी बनकर, लेकिन निराला के स्वाभिमान, उनका अनगढ़ दार्शनिक व्यक्तित्व रामकृष्ण परमहंस देव और शारदानन्द-विवेकानन्द के अभिनव वैदान्तिक रूप और जीवन की तरल संवेदना का मानवीय आकार बनकर सिर्फ एक साहित्यकार ही आए—जानकीवल्लभ।

इसलिए नहीं कि निराला पर सर्वप्रथम उनकी ही कविता आयी। इसलिए नहीं कि संस्कृत का एक उद्भट विद्वान, निराला की हिन्दी कविता का पारखी बना, अपितु इसलिए कि जिस जीवन से भारतीय मूल्यों का निर्धारण होता है, उस मूल्य का एकमात्र प्रतीक शास्त्रीजी, मात्र शास्त्रीजी ही बन सकें। अस्तु, एक ऐसा प्रतीक जो

आकर्षक और कभी-कभी तो जिन्दगी और मौत के सवाल की तरह लगता है।"—(दस्तावेज अंक—४५/५०—पृ० ११)

निराला और शास्त्री जी के बीच की ये सब अपनी आँख से इतिहास को देखने-परखने का माद्दा रखते हैं वे इन तथ्यों को अपने ढंग से ही देखेंगे समझेंगे। वे यह भी देखेंगे कि जिस व्यक्ति को डॉ० शर्मा निराला विरोधियों की पंक्ति में खड़ा करना चाहते हैं उसको निराला ने अपने साहित्यिक जीवन में सर्वाधिक (१०६) पत्र लिखे। निराला अबोध बालक नहीं थे। उन्हें अपने-पराये की पहचान थी, समर्थक और विरोधी की नब्ज की उन्हें गहरी समझ थी। इसलिए उन्होंने इन सबको शुद्ध साहित्यिक स्तर पर ही लिया— कहीं भी उनके व्यवहार या पत्राचार में वैयक्तिक राग-द्वेष का रंग नहीं आया।

डॉ० शर्मा ने यहाँ जो कुछ लिखा है उसके पीछे उनकी निराला-संबंधी शुभ-चिन्ता की प्रेरणा बिल्कुल नहीं है। 'निराला के पत्र' तो यहाँ उस मेज की तरह है जिस पर केहुनी टिकाकर वे आचार्य शास्त्री का पंजा मरोड़ना चाहते हैं। आचार्य शास्त्री के पूरे कर्त्तृत्व को, उनके साहित्यिक जीवन को दर किनार कर यहाँ डॉ० शर्मा दो-एक आरंभिक लेखों को आधार बनाकर उन्हें निराला-विरोधी, प्रगति-विरोधी, रीतिवादी सिद्ध करने पर तुले हुए हैं। क्यों?

इतने सारे क्यों का एक ही कारण है। डॉ० शर्मा को जानने वाले इस कारण से भलीभाँति अवगत हैं। डॉ० शर्मा ने लेखकों की दो (ही) कोटियाँ बना रखी हैं—प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी : प्रगतिशील अर्थात् वरेण्य : प्रतिक्रियावादी अर्थात् त्याज्य। "मार्क्सवाद के अनुसार कोई वस्तु (या समाज) बिना अंतविरोध के नहीं हो सकता इसलिए जब (ह०) किसी लेखक का मूल्यांकन करना होता है, तब हम पहले उस-एक काल-खण्ड के भीतर-काल के साथ जोड़कर देखते हैं। फिर उस काल के अंतर्विरोध से लेखक की स्थिति जानते हैं और तब उस लेखक की मूल प्रवृत्तियों और इन प्रवृत्तियों के आपसी सम्बन्धों का अध्ययन करके किसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रस्तावित लेखक यह है। वरेण्य और त्याज्य-तारीफ या निन्दा का *मसला यदि आता भी है तो इसके बाद में आता है। रामविलास शर्मा इस पद्धति से नहीं चलते।" (डॉ० रामवक्ष--साम्य पुस्तिका–१ पृ० १५)*

अर्थात् डॉ० शर्मा वस्तुगत आधार पर किसी लेखक को प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी नहीं सिद्ध करते—। यदि कोई प्रगतिवाद के विरोध में,

उनके प्रिय लेखकों के विरोध में, उनकी समीक्षा-पद्धति के विरोध में कहीं छींक भी देता है तो वे बुरा ही नहीं मानते हैं, नाराज हो जाते हैं और इस नाराजगी के नगद भुगतान के लिए आकाश पाताल के कुलावे एक कर—जबतक उसे प्रतिक्रियावादी रीतिवादी घोषित नहीं कर लेते हैं, चैन नहीं लेते हैं। 'निराला के पत्र' की भूमिका से पंक्तियाँ उद्धृत करते हुए डॉ० शर्मा लिखते हैं— "प्रगतिवादी आलोचकों से उन्हें (आचार्य शास्त्री को) नाराज होना ही चाहिए क्योंकि शास्त्री जी के अनुसार इन लोगों ने निराला की पृथिवीस्थानीय, अन्तरिक्ष स्थानीय और द्युस्थानीय जीवनानुभूतियों को "मिट्टी में मिलाकर प्रगतिशील समीक्षा की खाद" तैयार की थी। (नि० के० पत्र पृ० ४) इन लोगों ने 'सरोज-स्मृति' कविता के संदर्भ में सरोज की सामान्य चिकित्सा न हो पाने, प्रकाशक से रुपये न मिलने, निराला के अर्थकष्ट की बातें की थी। शास्त्री जी कहते हैं— "यह कसक वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था में आग लगाकर मार्क्सवाद की दुन्दुभी बन जाती तो निराला को विरज की बुलन्दी से मिट्टी में घसीट लाना क्या बुरा होता; किन्तु गीते मेरी तज रूप नाम ...... लिखने वाले को दमदार पीड़ा तूफानी पीड़ा या दम दिलासे की नहीं हो सकती।" (उप० पृ० १३)

आचार्य शास्त्री ने प्रगतिवाद विरोध के अतिरिक्त भूमिका में बहुत-कुछ लिख दिया है जो डॉ० शर्मा को नागवार गुजरा होगा— जैसे

कि (i) "डॉ० रामविलास के अक्खड़पन में निराला की फकीराना मस्ती नहीं है।" (पृ २)

कि (ii) "डॉ० रामविलास शर्मा ने दिन-दहाड़े निराला की आग का धुआँ देखा-दिखाया, तभी रात के अंधेरे में धधकती हुई आग की लपट अनदेखी रह गई।"—(पृ० १३)

कि (iii) "निराला की साधना" के पृष्ठ ३५५–५६ पर ऊपर लिखे हुए प्रसंग को गलत ढंग से प्रस्तुत किया गया है।—(पृ० ५४)

कि (iv) "डॉ० शर्मा ने 'निराला' कविता के संदर्भ में जिस टोन में मेरा नाम लिया है उसी टोन में जवाब न दूँगा। दरअसल विद्वत्ता मेरी मौरुसी जायदाद है भी नहीं।" (पृ० ५५) आदि-आदि।

और इन सब का जो परिणाम घटित होना था—वही इन २६ पृष्ठों में घटित हुआ है। डॉ० शर्मा की, प्रगतिवादी समीक्षा की कोई आलोचना करे और प्रतिहत नहीं हो तो यह आठवाँ आश्चर्य ही होगा।

अंततः

डॉ॰ शर्मा के साहित्यालोचन का क्षेत्र मार्क्सवादी प्रतिवादिता के कारण विस्तृत और वैविध्यपूर्ण नहीं है। उन्होंने अपना उद्देश्य इतना स्थूल और सीमित कर लिया कि आलोचन तो रहा, लेकिन इसमें से साहित्य गायब हो गया। प्रगतिवादी आन्दोलन की तात्कालिक आवश्यकताओं के दबाव में उनकी समीक्षा-दृष्टि शुद्ध सामाजिक उपयोगिता परक ही नहीं हुई, कवि-कर्म पक्ष शून्य ही नहीं हुई, राग-द्वेष परक भी हो गई। सीमित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर, उनका अधूरा उपयोग कर, यादृच्छिक उपयोग कर—साहित्य और साहित्यकार का भ्रामक रूप पाठकों के समक्ष रखा है। इससे डॉ॰ शर्मा को तात्कालिक लाभ भी हुआ, हानि भी हुई। लाभ यह हुआ कि प्रगतिवादी खेमे में अपना चक्रवर्त्तित्व स्थापित कर लिया, सभी प्रमुख योद्धाओं को प्रतिहत किया। लेकिन युगावसान की बेला पर ही आज उसी खेमे में उनकी समीक्षा-दृष्टि और समीक्षा-पद्धति की प्रासंगिकता पर प्रश्न-चिह्न लगने शुरू हो गये हैं।

समय की मार सचमुच बड़ी निर्मम होती है। पुष्टिमार्गी शिष्यों का संकीर्त्तन इसकी काट नहीं है। प्रतिभा, वैदुष्य, श्रम करने की ईर्ष्येय क्षमता के बावजूद समय की कसौटी अंततः डॉ॰ शर्मा को प्रज्ञापराधी लेखन का पुरोधा ही सिद्ध कर रही है।

—आचार्य एवं अध्यक्ष,
स्नातकोत्तर केन्द्र, हिन्दी-विभाग,
अ॰ मे॰ कॉलेज, गया।

★

गाथा : परिशीलन

—प्रो० बिहारी लाल मिश्र

गाथा : परिशीलन

—प्रो० बिहारी लाल मिश्र

'गाथा' आचार्य महाकवि जानकी वल्लभ शास्त्री द्वारा लिखित कथा-काव्य है। इसमें 'दो आँखें', 'आँधी', 'सुहागरात', 'हरिहर क्षेत्र का मेला', 'कलियुग के कृष्ण', कल्कि अवतार' और 'क्लाइमेक्स' शीर्षक सात पद्यबद्ध कहानियाँ हैं जिनमें से प्रत्येक ही एक न एक सामाजिक समस्या सामने रखती है।

'दो आँखें' दारिद्र्य-दुःख से पीड़ित एक निम्नवर्गीय परिवार की अरुन्तुद कहानी है।

'आँधी' एक निम्नवर्गीय नारी के नारीत्व-अभिमान की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है।

'सुहागरात' दो सखियों के अटूट प्रेम और हतप्रणया परिणीता के आहत हृदय के हाहाकार की कहानी है।

'हरिहर क्षेत्र का मेला' में कथा तत्त्व कम है, परन्तु इसका अन्तिम भाग अन्धविश्वास पर आधारित एक दुःखान्त नाटक बन गया है जो कवीन्द्र रवीन्द्र के 'देवतार ग्रास' से होड़ लेता है।

'कलियुग के कृष्ण' में अनगिनत 'बूझी पहेलियों' वाले कलियुगी कृष्ण के घृणित चरित्र की मधुकश कहानी है जिसमें यह दिखलाया गया है कि गलित-नख-दन्त होने पर भी आदमखोर कङ्कण का लोभ दिखाता ही है।

'कल्कि अवतार' एक ढोंगी की कहानी है जिसमें दिखलाया गया है कि इस देश में जो बार-बार एक अवतार की अफवाह फैल जाती है उसका कारण लोगों का अन्धविश्वास है, यह एक सामाजिक अभिशाप है कि सत्य-पथ पर चलनेवाले को जीविका चलाना मुश्किल होता है और ढोंगी माला-माल हो जाता है।

और 'क्लाइमेक्स' तो बस क्लाइमेक्स ही है। इसमें कुलटा नारी की कामार्तता का यथातथ्य चित्रण है। यहाँ दिखलाया गया है कि कामार्त

कामिनी पराकाष्ठा पर पहुँचकर ही नहीं रुकती, वह उसे भी पार कर जाती है। अधिकतर घटनाएँ रात में होती इसलिए दिखलाई गई हैं कि तथाकथित श्रीमन्त और दूध के धोए 'महन्त' सभी कुकृत्य लुक-छिपकर रात के अँधेरे में ही किया करते हैं, और 'गाथा' में वैसा ही दिखलाने का प्रयास किया गया है जैसा समाज में होता है।

तो 'गाथा' में मानव-मन की सबसे बड़ी दुर्बलता, काम-पिपासा, का चित्रण किया गया है; दिखलाया गया है कि यह दुर्बलता कुछ लोगों में इतनी प्रबल होती है कि वे पशुओं के स्तर से भी नीचे उतर जाते हैं। नारियाँ, अपवाद को छोड़कर, पुरुषों से अच्छी हैं। 'गाथा' तीव्र स्वर से नारी के स्वत्व और सतीत्व की हिमायत करती है।

'गाथा' के पात्र समाज के प्रतिनिधि हैं। ये व्यक्ति नहीं, व्यक्तियों के प्रकार हैं। ये उन्हीं परिस्थितियों में रहते हैं जिनमें हम रहते हैं। ये हमारे चिर परिचित हैं। अतः इनके साथ हम तादात्म्य-सम्बन्ध का अनुभव करते हैं; हमें इनसे सहानुभूति होती है। गरीबी का नाजायज़ फायदा उठाकर आँधी-सी अभागिनों पर बुरी नजर टालनेवाले मनचले बूढ़े अकेले बिरजु बाबू नहीं हैं। शराब पिलवा-पिलवाकर उम्र भर बलात्कार करते रहनेवाले और वक्त पड़ने पर—

"यह संक्रामक रोग ! बाप रे ! भाग यहाँ से जल्दी;

अगर-मगर की तो पिलवा दूँगा मैं चूना हल्दी।" कहकर तथाकथित प्रियाओं को बेलौस निकाल देनेवाले स्वार्थी, सूदखोर एक वही नहीं हैं। ढूँढा जाए तो हमारे समाज में ऐसे नृशंसों की कमी नहीं होगी। कवि के शब्दों में ऐसे 'जीवन की जीवनियों से' हमारा देश भरा हुआ है—

"ऐसी कितनी आँधी आती रहती बारह मास।"

इसी तरह 'कलियुग के कृष्ण' के श्री कृष्णचन्द्र जैसे अनेक व्यक्ति हैं जो क्रूर कामी होने पर भी स्त्रियों के लिए बलात्कार-रहित साक्षात् वशीकरण-मंत्र हैं जिसके कारण लक्ष्यीकृत ललनाएँ आप-से-आप खिंची चली आती हैं। उन्मद मंदन वाले ये सभी कृष्ण अतृप्त वासना के प्रतीक हैं। 'सुहागरात' के महाराज जैसे भी अनेक माँइयें हैं जिन्हें कोई थाह नहीं सकता, जिनमें ऊपर-ऊपर प्यार छलकता है, भीतर-भीतर वासना की आग सुलगती है।

इसमें दोष न बिरजू बाबू का है न कृष्णचन्द्र का, न मद्यप महाराज का। दोष तो उस ढोंगी समाज का है जिसके विषाक्त वातावरण में पलकर

इनकी वासनाएँ उभर आई हैं। समाज अगर रूढ़ियों और अन्धविश्वासों से जकडा न होता तो 'कल्कि अवतार' के उत्तेजनारहित व्यक्तित्ववाले स्थिर-गंभीर, सरल-निश्चल, सौम्य बालक में 'बहनों के हित माताओं का आह्वान' करने के लिए अवतार का स्वांग करने की निर्भयता होती ? दारुण दारिद्र्य-दुःख की व्यापकता न होती, तिलक-दहेज की बेरहम मांग न होती तो संभवतः अनेक भ्रष्टाचरणों का तिरोभाव आप-से-आप हो जाता। तब न किसी निर्दोष ब्राह्मणी को खिस्तानी धर्म की शरण लेनी होती न हृदय में निर्दोष सरलता और होठों पर निष्पाप मुसकान लिए किसी क्रिश्चियन कुमारिका की अकलंक अनौपचारिकता पर तेज निगाह डालने की नौबत आती। 'कल्कि अवतार' की कुमारिका का आचरण जोर-जोर से शोर करता है कि देखो, तुम जिसे पुँश्चलीत्व का प्रतीक मानते हो उसके भीतर सरल स्नेह की वह अच्छोद झील है जिसमें हास-परिहास, आमोद-प्रमोद के सत्त्व-विशद अमल कमल खिलते हैं। उसका चरित यदि आविल-धूमिल हुआ भी है तो समाज द्वारा आरोपित विवशताओं के कारण।

'गाथा' में यह प्रतिपन्न हुआ है कि नारी के विपथगमन में पूर्णतः सामाजिक-आर्थिक प्रतिकूलता का हाथ रहता है। गलत रास्ते पर चलने की प्रेरणा पुरुष को अपनी कामुक वृत्ति से मिलती है। किन्तु स्त्री ऐसे रास्ते पर तभी आती है जब वह सामाजिक निरोधों और निष्पीडनों अथवा आर्थिक असहायता से बाध्य होती है। कवि का यह प्रश्न कितना उचित है कि—

जो कुछ किया कबुतरी ने है उसका जिम्मेदार—

कौन ? नहीं क्या उसका बेकस जीवन बे-घर-बार ?

(पृष्ठ–३५)

'सुहागरात' की बिन्दो, 'आँधी' की आँधी और 'दो आँखें' की युवती, तीनों, सामाजिक विषमता और अन्याय एवं आर्थिक संकट की विवशता से भ्रष्ट हुई हैं। निसर्ग-चञ्चल, स्नेहल, बिन्दो अपनी निम्न सामाजिक स्थिति और स्वभावगत सरलता के कारण राजा के फ़रेब में फँसी और 'कभी की न सोची' भूल कर बैठी, न कामुकता के कारण न लक्ष्मी से विशसघात करने की नीयत से। तभी उसे यह पछतावा होता है कि—

डुबा चुकी जब नाव, दिखी तब मुझे हाय पतवार।

और तभी यह ईमानदार अभिव्यक्ति भी निकलती है कि—

होड़ न की थी चेरी ने अपनी प्यारी रानी से :

'दो आँखें' की युवती विवाहिता होकर भी जो अपरिचित आगन्तुक से सटकर बैठ जाने और प्रेमालाप करने का अनौचित्य प्रदर्शित करती है वह परिस्थिति से प्रेरित होकर। एक तो वह दरिद्र है, दूसरे दारू-ताड़ी का खर्च जुटाने के लिए स्वयं उसकी मायाविनी माँ सिखलाती है—

जा, सो जा उनके संग, उनका हृदय न दुखने पाए,
ला देंगे साड़ी, तेरा तन किसी तरह ढँक जाए।
......जा, सो जा, तू फिजूल शरमाती,
पुरुष नहीं, लख नार पराई जिसकी तने न छाती !

इतना ही नहीं, आज्ञोल्लंघन के अपराध में उसे कलछी से दगाने का डर भी है। फिर भी उसमें इतना सोचने का शील तो था ही कि—

कभी की नहीं देखादेखी, कभी की न पहचान,
सोचेंगे, ये माँ-बेटी औरत है या हैवान !

आँधी इन दोनों से न्यारी है। गरीब होते हुए भी वह इस्मत की अभिमानिनी है। उसे पैसे से ज्यादा प्यारी इज्जत है। अतः उसने इज्जत उतरवाने वाली अपनी माँ कबूतरी की खूब खबर ली है। शराब पिलवा-कर जब उसकी इज्जत उतार ली गई तब फूट-फूट कर रोई ही नहीं, आत्म-हत्या पर भी उतारू हो गई, और जब उसमें असफल हुई तो बीमार पड़ गई; फिर उठी नहीं। उसकी इस्मत गई तो उसकी पुँश्चली माँ के षड्-यंत्र से।

कुछ पात्र अत्यन्त मर्यादित हैं। 'सुहागरात' की लक्ष्मी एवं 'दो आँखें', 'आँधी' और 'क्लाइमैक्स' के युवक पूर्णतः मर्यादावादी हैं।

प्रतिकूल परिस्थितियों में पड़कर भी लक्ष्मी ने अपना सतीत्व नष्ट नहीं होने दिया; अपने पतित पति के आचरण से क्षुब्ध होकर भी वह स्वयं विपथगामिनी न हुई। वह मानिनी परिणीता है। परगामी पति की सेज पर जाना उसने पाप माना, यद्यपि उसमें स्नेह और त्याग की मात्रा भरपूर है। वह अपनी दासी-बिन्दो—को भी जी-जान से प्यार करती है। इतना ही नहीं, वह उसे अपना जीवन-सर्वस्व भी सौंप देती है। किन्तु अनौचित्य को न वह प्रश्रय दे सकती न क्षमा कर सकती है : अतः सौभाग्य सौंपकर उसने बिन्दो को एक प्रकार से उसके किए की सजा भी दे दी है। वह जानती है,

बिन्दो उसका सौभाग्य छीनकर हृदय से सुखी नहीं रह सकती। और बिन्दो का दण्ड ही उसके पति का दण्ड भी हो गया। एक पति के लिए इससे बड़ी सजा क्या हो सकती है कि सुहागरात को उसकी परिणीता उसके पास अपने बदले अपनी दासी को भेज दे? लक्ष्मी का व्यक्तित्व विषमताओं का बण्डल है। उसके मुख पर प्रसन्नता का पुञ्ज है, हृदय में आवेशों का आकर। कुल मिलाकर वह त्याग की प्रतिमा है। उसके त्याग की पराकाष्ठा वहाँ पहुँची है जहाँ वह बिन्दो से सुख की कल्पना में विभोर हुई है—

लक्ष्मी सोच रही कुमार कर रहे बिन्दु का चुम्बन!
सिहर रहे हैं रोम-रोम उसके, आँखें हैं बन्द,
पड़ी गोद में होगी उनकी निरानन्द निष्पन्द!
और लगी लक्ष्मी के होने तत्क्षण पुलकन-सिहरन।

यद्यपि कुछ ही क्षण पहले कुमार के चाँटे से मर्माहत होकर उसने बिन्दो को यह नसीहत दी थी कि—

लक्ष्मी थप्पड़ लगते बाहर तुरत चली जाती है,
बिन्दो जैसी दासी अपने आप छली जाती है।

'दो आँखें' का परदेशी लज्जालु, संकोची, शीलवान् और शिष्ट है। उसकी भावुकता, निष्पाप है; वह निष्कपट प्रेम का पुजारी है। तभी भोंड़ी मोदियाइनों की साज़िश उसे नहीं भायी।

'आँधी' का युवक संयमी है, काम, क्रोध, मोह पर उसे काबू है। गरीबों, बेकसों, उसे हार्दिक सहानुभूति है जिससे प्रेरित होकर उसने शीतला निकलने पर भी जमींदार द्वारा निष्कासित अशरण आँधी को बेहिचक शरण दी और अन्त तक उसकी तीमारदारी की। स्वभावतः वह सरल, शान्त है, पर आततायियों के विरुद्ध आवाज़ उठाने में वह नहीं हिचकता। वह कहता है—

ऐसा आज समाज हमारा! ऐसा कैसा जीवन?
दिलबहलाव के लिए दिलदारों के दीन बने तब?

'क्लाइमेक्स' का युवक भावुक, कुतूहलपूर्ण और उत्साही है। वह सरल, सच्चरित्र है। उसका उद्देश्य पवित्र है, उसका निश्चय दृढ़ है, उसका सिद्धान्त अटल है। इसी अस्खलनशील व्यक्तित्व के बल वह विधवा के 'बाहुपाश में बँधकर भी स्वतन्त्र' रहा। वह 'पावन प्रेम' का पुजारी है।

अतः उससे वासनामय कुत्सित प्रेम की आशा करना विधवा के लिए बालू से तेल निकालने जैसा हुआ।

विधवा अपवाद है। स्खलित नारियों में से अधिकांश जबकि परिस्थिति-प्रतिकूलता से बाध्य होकर ही भ्रष्टाचरण में प्रवृत्त होती है तब यह विधवा स्वभावतः भ्रष्टा और दुराचारिणी है, कामार्ता ऐसी कि उम्र का विचार भी खो बैठी है, निर्लज्जा ऐसी कि वेश्याओं के कान काटती है। डोरे डालने में कुशल यह व्यभिचारिणी लोभी और गँवार इतनी है कि किसी पुरुष में वह अपने लिए वितृष्णा ही उत्पन्न कर सकती है। वह अन्ना-कारेनिना से भी गई-बीती है। कवि के शब्दों में—

सच्चरित्रता की तो इसने तभी लगा दी थाह,
जब अनजान जवान मर्द की निधड़क पकड़ी बाँह।

विशृङ्खल जीवन की त्रुटियों और जर्जर और समाज की दुर्बलताओं का दिग्दर्शन और उनका परिहार 'गाथा' का मूल उद्देश्य है। इसकी पूर्ति दार्शनिक विवेचनों और नैतिक प्रवचनों से भी हो सकती थी। किन्तु उसका प्रभाव इस युग के मस्खशुदा माहौल में उतना तेज नहीं होता। कवि के शब्दों में "जीवन की जटिलताओं के भार को केवल दार्शनिकता के सहारे वहन नहीं किया जा सकता। उसके लिए व्यंग्य-विनोद का भी सहारा लेना पड़ता है। प्रतिभा-सम्पन्न कवि केवल चिन्तक ही नहीं रहता; उसमें मानव-जीवन के अनेक स्तरों के साथ समरस होने की शक्ति भी रहती है। तभी उसका काव्य सहृदय श्रोताओं अथवा पाठकों के लिए अनवरत आनन्द का स्रोत बनकर चिर-काल तक जीता-जागता रहता है।"

फलतः 'गाथा' के कवि ने नैतिक-दार्शनिक वसीलों के साथ व्यंग्य-विनोद का प्रयोग प्रचुरता से किया है; हालाँकि विनोद की अपेक्षा व्यंग्य अधिक उजागर हुआ है। स्पष्टतर शब्दों में, 'गाथा' की शैली मुख्यतः व्यंग्यात्मक हो गई है। 'अन्तश्शाक्ता बहिश्शैवाः' पर यहाँ व्यंग्य-बाणों की वर्षा की गई है। अत्यन्त तिरस्कृत वाक्य ध्वनि के सम्यक् प्रयोग द्वारा जात-पाँत, वंशाभिमान, विकृत साहित्यिक रुचि आदि सभी सामाजिक गिरावटों पर चोट की गई है। यथा—

(१) जात-पाँत पर—

कितनी लाशों के टीले पर गड़ा जाति का केतु।

(२) वंशाभिमान पर—

कंस कृष्ण का मामा, उनका उचित करें सम्मान।

(३) विकृत साहित्यिक रुचि पर—

श्रेष्ठ किताबें हिन्दी लिट्रेचर की कितनी आईं !
गुलबकावली से ले तोता मैना के सब भाग,
सिंहासन बत्तीसी, प्रेम छतीसी, शीशीकॉर्क,
और चन्द्रकान्ता—बाइबिल की बच्ची, मनु की ताई !

(४) अमार्जित काव्य रुचि पर—

कच्चे बंगाली कहते, रवि सा कवि हुआ न पहले,
मैं कहता, पहले वे राधेश्यामी सीरिज पढ़ लें।

(५) भ्रष्ट नाटक-प्रेम पर—

नमक मिली मुरियाँ वहाँ, क्या यहाँ न नान खटाई ?
'शॉ' हाँकेंगे डींग, दिखा जबतक न 'भिखारी नाई' !

(६) कला-विमुखता पर—

चीर कलेजा कलाकार दिखलाता है, यह देख
जग कहता, छिः, मांसपिण्ड पर खिंची रुचिर की रेख !
प्राण देखनेवाला तन पर होता कब मोहित है !
कला पारखी होते कितने यह तो भुवन विदित है !

(७) नारी की उद्दण्डता पर—

हुई इकट्ठी थीं, स्टेशन पर टिकट दिखाना मुश्किल,
पुरुषों पर थीं चढ़ी आ रही, उन्हें सिखाना मुश्किल।

(८) ढोंगी साधु-सन्तों पर—

आविष्कार उदार हो रहा नए-नए पन्थों का !
देखो, वह अड्डा तगड़े-तगड़े साधु-सन्तों का !

(९) पंडों के औपचारिक आचार पर—

भरद्वाज, अङ्गिरा, कपिल, गौतम, कणाद-सत्र आगे,
ध्यान लगाए बैठे थे, कुछ सोए थे, कुछ जागे।
केन्द्र बिन्दु था बना हुआ मैं, वैसे किया न था तप—
बन जाता मैं स्वयं हाय, जिससे वसिष्ठ या कश्यप !

(१०) लोभी ब्राह्मण और अन्धविश्वास पर

बाँभन चिउड़ा-दही न खाता था, जो ढोकर लाई,
भगवतिया थी त्रस्त, दक्षिणा हाय, कहाँ से पाती,
ताने देती सास, साधकर साँस रही शरमाती,
कठिनाई थी, आई थी वह लेकर ग्यारह पाई !
बड़ी देर तक कड़ी बहस के बाद हुआ 'जेवनार',
फिर बकरा-संकल्प, दक्षिणा आधी रहीं उधार,
बकरी का बच्चा मेमियाता, कैसी गंगा माई !
लेतीं नहीं हुलस गोदी में ? भगवतिया घबराई !

(११) व्यापारी वर्ग की द्रव्यासक्ति पर—

सेठ बुहारूमल की आई कपड़ों की दूकान।
झँगरू-मँगरू मार रहे झख, इन्हें न फुर्सत इतनी
पानी पी लें, खा लें थोड़ी जवाखार की बुकनी
परेशान हैं रुपए गिनते-गिनते कर हैरान !

(१२) वेश्याओं के रूप-गर्व पर—

वह गुलाब, वह जवाकुसुम, वह चम्पा और चमेली,
वह नरगिस, वह ताज, नाजनी, आलमआरा वह है,
कृष्णा, वीणा, शशी, सोहनी, श्यामा, तारा वह है,
उस चुड़ैल का नाम हसीना, वह बुढ़िया अलबेली;

(१३) कर्कशा सास के दबदबे पर—

भगवतिया है नाम, सास से हरदम रहती डरती,
उम्र हुई चौदह की, लेकिन लड़का हुआ न पैदा,
सास बनाती उसे इसी से मार-मारकर मैदा,
आखिर मारे डर के बच्चा जना, और क्या करती ?

(१४) निकृष्ट संगीत-प्रेम पर—

कृष्णा औ' वीणा, कहते सब, हैं उस्ताद गवैया,
× × × ×
पर ठाकुर ओंकारनाथ गाने लगते जब— 'मैया ऽ
मैं माखन नहिं खायो तब सब कहते—'यही गवैया ?'

(१५) आलोचक की क्रूरता पर—

आलोचक कम्बख्त जहाँ, हो कैसे बगला भक्त ?

(१६ 'हिन्दुस्तानी' की असंगति पर—

'गीता बेगम' याद हुई औ' याज्ञवल्क्य जी 'नायब' !

× × × ×

'सीता बेगम' याद आ गई औ' लक्ष्मण जी 'नायब' !

(१७) समाज की दुरवस्था पर—

जहाँ आदमी सस्ता, महँगा बैल न क्यों हो जाए ?

× × × ×

इतने लोग कि क्या गुलाम नर-मादों की भी बस्ती,
इतने पैसे, जाय खरीदी मानवता भी सस्ती !

× × × ×

ऐसा आज समाज हमारा ! ऐसा कैसा जीवन !
दिल बहलाव के लिए दिलदारों के दीन बने तब ?

× × × ×

अरी रसिकता, तूने बेकस ही को गले लगाया ?
ऐनक की हरियाली से देखा मरु का मैदान ?
किसी रूपरानी के शव का सुना अरस आख्यान ?
मरघट के निष्प्रभु प्रसून पर अलि बन मन मँडराया ?

स्पष्ट है कि 'गाथा' के व्यंग्यों का परिपाक जीवन की व्यापक मनोभूमियों को स्पर्श करनेवाली भावधारा के रूप में हुआ है। कवि ने जीवन के सभी क्षेत्रों की अवांछनीय परम्पराओं और प्रगति-विरोधी रूढ़ियों पर चाबुक कसकर चलाया है, पर आघात हल्का ही होने दिया है। वह उस माहिर सवार जैसा है जो अपने घोड़े को अच्छी चाल से तेज भी चलाना चाहता है, उसे बेहद प्यार भी करता है। अत: उसके व्यंग्य करारे हैं और उनमें कटूक्ति की गन्ध भी नहीं हैं। इन व्यंग्यों से घुला-मिला एक हल्का-सा पुट विनोद का भी है। इनमें सहानुभूति है निष्ठुरता नहीं, इनमें उल्लसित अन्तर की प्रसन्नता है, उद्विग्न मन की झल्लाहट नहीं, इनमें प्रेम-भाव का कौतुक है, द्वेष-भाव का अनियन्त्रित आस्फालन नहीं। अत: जहाँ खुली चुनौती देकर धज्जियाँ उड़ाई गई हैं वहाँ भी शालीन व्यंग्य की मर्यादा का उल्लंघन कर उपहास-गर्भता का आश्रय नहीं लिया गया है। सीमा का उल्लंघन कर खीझ और झल्लाहट से भरे भद्दे-भोंड़ें आक्षेपों का सृजन करने वाले कवि साधारण कवि होते हैं। यहाँ तो उपालंभ भी सौम्यता के रस

(१०) लोभी ब्राह्मण और अन्धविश्वास पर

बाँभन चिउड़ा-दही न खाता था, जो ढोकर लाई,
भगवतिया थी त्रस्त, दक्षिणा हाय, कहाँ से पाती,
ताने देती सास, साधकर साँस रही शरमाती,
कठिनाई थी, आई थी वह लेकर ग्यारह पाई !
बड़ी देर तक कड़ी बहस के बाद हुआ 'जेवनार',
फिर बकरा-संकल्प, दक्षिणा आधी रही उधार,
बकरी का बच्चा मेमियाता, कैसी गंगा माई !
लेतीं नहीं हुलस गोदी में ? भगवतिया घबराई !

(११) व्यापारी वर्ग की द्रव्यासक्ति पर—

सेठ बुहारूमल की आई कपड़ों की दूकान।
झँगरू-मँगरू मार रहे झख, इन्हें न फुर्सत इतनी
पानी पी लें, खा लें थोड़ी जवाखार की बुकनी
परेशान हैं रुपए गिनते-गिनते कर हैरान !

(१२) वेश्याओं के रूप-गर्व पर—

वह गुलाब, वह जवाकुसुम, वह चम्पा और चमेली,
वह नरगिस, वह ताज, नाजनी, आलमआरा वह है,
कृष्णा, वीणा, शशी, सोहनी, श्यामा, तारा वह है,
उस चुड़ैल का नाम हसीना, वह बुढ़िया अलबेली;

(१३) कर्कशा सास के दबदबे पर—

भगवतिया है नाम, सास से हरदम रहती डरती,
उम्र हुई चौदह की. लेकिन लड़का हुआ न पैदा,
सास बनाती उसे इसी से मार-मारकर मैदा,
आखिर मारे डर के बच्चा जना, और क्या करती ?

(१४) निकृष्ट संगीत-प्रेम पर—

कृष्णा औ' वीणा, कहते सब, हैं उस्ताद गवैया,
× × × ×
पर ठाकुर ओंकारनाथ गाने लगते जब— 'मैया ऽ
मैं माखन नहिं खायो तब सब कहते—'यही गवैया ?'

(१५) आलोचक की क्रूरता पर—

आलोचक कम्बख्त जहाँ, हो कैसे बगला भक्त ?

(१६ 'हिन्दुस्तानी' की असंगति पर—

'गीता बेगम' याद हुई औ' याज्ञवल्क्य जी 'नायब' !

× × × ×

'सीता बेगम' याद आ गई औ' लक्ष्मण जी 'नायब' !

(१७) समाज की दुरवस्था पर—

जहाँ आदमी सस्ता, महँगा बैल न क्यों हो जाए ?

× × × ×

इतने लोग कि क्या गुलाम नर-मादों की भी बस्ती,
इतने पैसे, जाय खरीदी मानवता भी सस्ती !

× × × ×

ऐसा आज समाज हमारा ! ऐसा कैसा जीवन !
दिल बहलाव के लिए दिलदारों के दीन बने तब ?

× × × ×

अरी रसिकता, तूने बेकस ही को गले लगाया ?
ऐनक की हरियाली से देखा मरु का मैदान ?
किसी रूपरानी के शव का सुना उरस आख्यान ?
मरघट के निष्प्रभ प्रसून पर अलि बन मन मँडराया ?

स्पष्ट है कि 'गाथा' के व्यंग्यों का परिपाक जीवन की व्यापक मनोभूमियों को स्पर्श करनेवाली भावधारा के रूप में हुआ है। कवि ने जीवन के सभी क्षेत्रों की अवांछनीय परम्पराओं और प्रगति-विरोधी रूढ़ियों पर चाबुक कसकर चलाया है, पर आघात हल्का ही होने दिया है। वह उस माहिर सवार जैसा है जो अपने घोड़े को अच्छी चाल से तेज भी चलाना चाहता है, उसे बेहद प्यार भी करता है। अत: उसके व्यंग्य करारे हैं और उनमें कटूक्ति की गन्ध भी नहीं है। इन व्यंग्यों से घुला-मिला एक हल्का-सा पुट विनोद का भी है। इनमें सहानुभूति है निष्ठुरता नहीं, इनमें उल्लसित अन्तर की प्रसन्नता है, उद्विग्न मन की झल्लाहट नहीं, इनमें प्रेम-भाव का कौतुक है, द्वेष-भाव का अनियन्त्रित आस्फालन नहीं। अत: जहाँ खुली चुनौती देकर धज्जियाँ उड़ाई गई हैं वहाँ भी शालीन व्यंग्य की मर्यादा का उल्लंघन कर उपहास-गर्भता का आश्रय नहीं लिया गया है। सीमा का उल्लंघन कर खीझ और झल्लाहट से भरे भद्दे-भोंड़े आक्षेपों का सृजन करने वाले कवि साधारण कवि होते हैं। यहाँ तो उपालंभ भी सौम्यता के रस

में घुलकर स्वच्छ व्यंग्य की मधुरता पा गए हैं। 'गाथा' का सन्देश समाज की शुद्धि और उद्देश्य सम्पूर्ण सन्तुष्टि की प्राप्ति है। इसके अन्त में किसी प्रकार की जलन शेष नहीं रह जाती। इसके व्यंग्यों में समाज का हित सन्निहित है; इनमें किसी को नीचा दिखाने की नहीं ऊँचा उठाने की प्रवृत्ति है। इसके द्वारा रोगी समाज की शल्य-चिकित्सा की गई है। अतः इनके खिलाफ उठी हुई आवाज़ चिकित्सित रोगी की चीख जैसी निष्फल होगी, कोई रोष-आक्रोश वैसा ही होगा जैसे स्वयं ठोकर खाकर गिरे शिशु का भूतल अथवा अपने संरक्षक के प्रति होता है।

'गाथा' के व्यंग्य शाब्द और आर्थ व्यञ्जना से विशिष्टीभूत हैं—वे ध्वनिविशिष्ट सूक्ष्म आक्षेप है। कवि ने यहाँ आक्षेप, विनोद और करुणा के संयोग से एक नई व्यंग्य-शैली का सृजन किया है जिसके फलस्वरूप आँसू भी हँसने लगे हैं। जैसे आनन्दातिरेक की उमंग से अभिभूत हो कभी-कभी हम अपने प्रियजन को हँसी-हँसी में चिकोटी काट लेते हैं वैसे ही तन्मय कवि ने अपने प्रिय पात्रों को कहीं-कहीं चिकोटी भी काट ली है जिसका उद्देश्य और परिणाम आनन्द का सृजन-संचार ही है। यहीं यह सिद्ध होता है कि रिसता हुआ व्यंग्य होठों से हलाहल का प्याला लगाए नियति की ज्वाला से जलते जीवन की मुसकान है। कालिदास के व्यंग्यों की तरह 'गाथा' के व्यंग्य गुदगुदाते भी हैं, रुलाते भी हैं, कड़वापन नहीं आने देते। दर्प से स्फीत, झकझोर डालनेवाली, पण्डितराजी व्यंग्योक्तियाँ यहाँ नहीं हैं।

प्रायः यह समझा जाता है कि मृदु व्यंग्य के ईषद् हास्य की परिधि में अतिक्रान्त हो जाने के फलस्वरूप एसे व्यंग्यों में गंभीरता का अभाव होता है। किन्तु शास्त्री जी की गंभीर प्रकृति की शालीनता ने 'गाथा' के व्यग्य प्रवाह में गंभीरता का सहास्यन्दन भी संभव कर दिया है। स्पष्टतर शब्दों में, इनमें तरुण हास्य का ओछापन नहीं, वयस्क विनोद की रस-सृष्टि है जिससे मन का अवसाद मिटता है, मस्तिष्क को ताजगी और स्फूर्ति मिलती है—एक अनिर्बंच आनन्द का संचार होता है। कवि-हृदय के ऋतम्भर यज्ञाग्नि के ताप से द्रवित हो विचित्र वाग्भङ्गिमा और वचन-वक्रता के साँचे में ढले इन व्यंग्यों की मार्मिकता सहृदय-संवेद्य होते हुए भी सामान्य पाठक के हृदय को छू लेती है। कारण भावों में सहज मिठास होने पर उक्तिवक्रता और आनन्ददायक हो जाती है। विवाहोत्सव में बारात-स्वागत में कहे गए सुन्दरियों के सस्वर व्यंग्य-वचन बारातियों के लिए विनोद के विषय बन जाते हैं। और 'गाथा' का कवि व्यंगों की लपेट में उत्तम, विनोद का पुट

देने में माहिर है। सरस व्यंग्यों से पूर्ण वाग्-विदग्धता उसका निजी अवदान है।

जैसा कि पहले कहा गया है, कहीं-कहीं सीधी चोट भी की गई है; किन्तु वहाँ भी हार्दिक सहानुभूति उपस्थित है। वह क्रूर समाज, जो अपनी उच्चता के अभिमान में चूर हो बेकसों को नीच-से-नीच कामों में प्रवृत्त होने को बाध्य करता है, किस प्रकार अपने मिथ्याभिमान के प्रति चले इस सनसनाते चाबुक का निशाना बन गया है!—

मानवता का अहंकार, हुंकार जले धू-धू कर!
माँ थी सिखा रही बिटिया का फटा वस्त्र छू-छू कर,
"जा, सो जा उनके सँग, उनका हृदय न दुखने पाए,
ला देंगे साड़ी, तेरा तन किसी तरह ढँक जाए।"

'किसी तरह ढँक जाए' प्रतिध्वनि हुई अशब्द गगन में!
'किसी तरह ढँक जाए!' आँखें झपकीं, खुलीं न मेरी,
'किसी तरह ढँक जाए!' भहरी धूल-राख की ढेरी!

'किसी तरह ढँक जाए' कह वह गई पवन निर्जन में,
'किसी तरह ढँक जाए!' धिक्-धिक्! यह भारत की माता।
'किसी तरह ढँक जाए!' जय हे भारत-भाग्य विधाता!!

'किसी तरह ढँक जाए!' घुमड़ी काली घटा न मन में!
'किसी तरह ढँक जाए' कह वह गई पवन उपवन में!

बहनों के प्रति कृपण भाई की निष्ठुरता पर कसा गया यह व्यंग्य भी सीधा प्रहार ही है—

हाय! किन्तु प्राकृत यौवन को ढँकती कृत्रिम सज्जा?
और पतित भाई था कहता बहनों को निर्लज्जा!

रूढ़ि-ग्रस्त निराधार पातिव्रत्य पर किया गया यह वज्रप्रहार—

रुधिर वमन कर मूर्च्छित पत्नी हुई भूमितल-लुण्ठित
था अखण्ड मण्डलाकार बस पातिव्रत्य अकुण्ठित!

तथाकथित संभ्रान्त-कुल के खोखलेपन पर अभिरामा के शब्दों में किया गया यह कशाघात—

इस सम्भ्रान्त भ्रान्त कुल को धिक्, वह घसियारिन होती!
गले-गले मिल जिस घर की दीवारें हँसतीं - रोतीं!!

कलापारखियों की हृदय-हीनता पर प्रकट किया गया यह आक्रोश—

कवि के हृदय नयन का जलकण दीख किसे है पड़ता ?
जग का पाटल-पुष्प चाहिए, कांटा गड़ता, गड़ता !

बंगालियों की तंगख़याली पर किया गया यह आक्षेप—

बंगवासियों के अन्तर में उठती तरल-तरङ्ग—

बंग-प्रान्त में ही उदात्त आत्माओं का अवतार
होता रहता है, केवल यह सकल सत्य का सार !

बंगाली घुड़की पर किया गया यह अधिक्षेप—

बूढ़े बोले—क्या है ? क्योंकर मचा यहाँ हंगामा ?
चलो पुलिस के पास चलें हम, ज़रा पहन लें जामा।'

पीछे से बूढ़े बंगाली गाली बकते भागे।

और धर्म-कर्म के पोलापन पर किया गया यह कुठाराघात—

ईश्वर और धर्म ! पौ बारह, फिर किसकी परवाह ?

बेचा जाता धर्म यहाँ ताँबे के कुछ टुकड़ों पर !
ईश्वर फुसलाए जाते दोने भर 'दही-बड़ों' पर !

पर मन्दिर के फाटक पर भूखे मर जाएँ आह,
उन पर दृष्टि पड़े न, धर्म औ' ईश्वर की यह चाह,

सब एक पर एक हैं।

व्यंग्यों के सृजन में कवि ने सामान्य व्यंजनावृत्ति का आश्रय तो लिया ही है कहीं-कहीं गूढ़ व्यंजना लोकोक्ति, उद्धरण आदि का भी सहारा लिया है जिससे उनमें सन्दर्भशीलता आ गई है। निम्नोद्धृत पंक्तियों में गूढ़ व्यंजना के प्रयोग की कुशलता देखी जा सकती है—

पहुँचे कुछ 'मैरिस कालिज' के सिद्ध गायनाचार्य,
जो बोलें वह मींड़-मूर्च्छना लिए राग अनिवार्य,

'मशक समान रूप ! - मैं बोला 'अर्पित तन लें काट।'
टाँगें फैला दीं, कर जोड़े, पिछड़े शिवि सम्राट्।

यहाँ कवि को कहना केवल इतना है कि मच्छड़ काटने-भनभनाने लगे। परन्तु उसने जो रूपक बाँधा है तथा 'मशक समान रूप' का उद्धरण और सम्राट् शिवि का सन्दर्भ (allusion) दिया है उसका एकमात्र अभिप्राय

कालित्र-प्रशिक्षित गायनाचार्यों के मीड़-मूर्च्छना-संभृत रागप्रधान संगीत की प्रभावहीनता पर चुटकी लेना ही है। इसी प्रकार "गाएँ अन्धे सूर कि 'मो सम कौन कुटिल खल कामी' के उद्धरण द्वारा चुटीले व्यंग्य की सृष्टि की गई है। और "शुक्राचार्य बने बैठे हैं, यद्यपि हम हैं कवि की स्वसृष्ट लोकोक्ति के सहारे ऐसे तीखे व्यंग्य का सृजन किया गया है जो उर्दू की इस व्यंग्योक्ति से आगे निकल गया है—

बुद्धू मियाँ भी हज़रते-गाँधी के साथ हैं,
गो गर्दे-राह हैं मगर आँधी के साथ हैं।

व्यंग्य-प्रकृति की गहराइयों में उतरे हुए कवि ने व्यंग्य के माध्यम से अपने कथ्य को अत्यन्त प्रभावशाली बना दिया है; क्योंकि उसने दुष्टा, दुश्चरित्रा, नारियों को विद्रूपित ही नहीं किया है, उनके रतिभाव की प्रबलता पर वज्रप्रहार ही नहीं किया है, घोर दरिद्रता का कार्टून ही नहीं बनाया है, व्यंग्य-तरङ्गित नैसर्गिक भावाभिव्यक्तियाँ भी दी हैं। 'गाथा' में सधे-शब्दों से कसे हुए सात्त्विक व्यंग्यों की जो निर्मल, निष्कलुष धारा प्रवाहित होती है वह व्यक्त करती है कि कवि की व्यंग्य-प्रतिभा अपने चूडान्त चढ़ाव पर है! संक्षिप्त, सारगर्भ, सरल, सरस, कवित्वपूर्ण, पर नुकीले, पैने व्यंग्यों का ऐसा सबल, सफल निदर्शन अन्यत्र दुर्लभ है।

कला-साहित्य में, विशेषत कथा-काल में, सूक्तियों का महत्व अकथनीय है। इनसे कहानी में रोचकता ही नहीं आती, भावों को बल भी मिलता है। इनके द्वारा कहानी के पात्रों और पाठकों के बीच तादात्म्य भी स्थापित होता है। किन्तु सूक्तियों का सन्धान सबके लिए संभव नहीं है; केवल चिन्तनशील विद्वान् और प्रचण्ड प्रतिभावाले दक्ष महाकवि ही इस कार्य में सफलता प्राप्त कर सकते हैं। 'गाथा' के कवि ने सैकड़ों जीवनव्यापी सूक्तियाँ और पंक्तियाँ दी हैं। इनमें से कुछ नीचे उद्धृत हैं—

(क) घिसी रूढ़ि का उल्लंघन करना ही मौलिकता है।
(ख) लक्ष्मी थप्पड़ लगते बाहर तुरत चली जाती है।
(ग) नित-नित कटता ही जाता दुख मुखर हँसी की असिसे।
(घ) सबका मत भरमाकर 'इसवर' हँसता है मन-ही-मन।
(ङ) ···जीवन और चरित्र बनते हैं अपने-आप।
(च) बक मराल की चाल चला, कौए ने छेड़ी तान!
(छ) मरु-मरीचिका की छलना को कैसे समझे प्यासा?

कतिपय प्रचलित लोकोक्तियाँ भी उक्ति-वैचित्र्य के साथ कही गई हैं। जैसे—

(क) भोजू तेली भोजराज बनने की करता शान।

(ख) लात चाहनेवाले होते मुदित बात से हैं कब ?

(ग) सुन-सुन बीन भैंस पगुराए, भड़कें बैल निगोड़े।

(घ) जिसके लिए करी : चोरी सोई है चोर बताता।

ये और ऐसी सन्दर्भशीलताएँ, जैसे—

(क) ऋष्यशृंग को वारनारियों ने क्या लोभ दिखाया सो तो कहना कठिन, जनानी बात एकदम ठहरी।

(ख) बोपदेव की गप्प, गोपियाँ वृन्दा में बसती थीं।

(ग) माइकेल मधुसूदन का वामादल तो न वहाँ पर !

कवि की पैनी सूझ और विस्तृत अभिज्ञता की परिचायक हैं बल्कि समग्र 'गाथा' व्युत्पन्नमतित्व का प्रमाण उपस्थित करती है। इसमें वाग्वैदग्ध्य-जनित युक्ति-चमत्कारों का बाहुल्य है जो मात्र चमत्कारकारी वाग्वैभव के नहीं, रससिद्ध अभिव्यञ्जना के भी प्रत्यायक हैं। जैसे—

कुर्बानी कि छुआ उनने औ' मुँह पर पकी चपाती।

में मात्र उक्ति-वैचित्र्य नहीं है; यहाँ सुकुमार हाथों से मुँह पर चपाती (चपत) पकवाकर बड़ी दक्षता से शृंगार को रौद्र की ओर बढ़ा दिया गया है।

स्फुरणशील कल्पना और सूक्ष्म निरीक्षण की शक्ति से सज्जित कवि ने स्थान-स्थान पर ऐसे प्राकृतिक दृश्यों की योजना की है जिनसे यथातथ्य वर्णन का सौष्ठव भी संघटित होता है, अन्तःस्थ भावों की छटा भी छहरती है। कवि प्रस्तुत वर्णन केवल वर्णन के लिए नहीं करता; वह वर्णनीय वस्तुओं की तालिका नहीं तैयार करता, उन्हें सावयव, सप्राण बनाता है। उसका आनुपातिक बोध (sense of proportion) सजग है; अतः वह एक स्थल पर उतना ही वर्णन करता है जितना प्रसंग माँगता है। फलतः एक दृश्य की पंक्तियों के लिए उत्तरोत्तरता के सूत्र में गुँथ जाना अनिवार्य नहीं होता; वे व्यवहित भी रह सकती हैं। हाँ, यदि उन्हें एकत्र संकलित कर लिया जाए तो जिग-सॉ-फिट (jig-saw-fit) के न्याय से सम्पूर्ण दृश्य अविकल रूप में गठित हो जाएगा। यथा—

सन्ध्या थी हो चली........

× × × ×

दीख रहा था स्थान न बाहर पथिकों के रहने का।

× × × ×

डाला है पुआल कोने में.... ....

× × × ×

वह सुनसान फूस का घर, वह बिखरे हुए पुआल !

कारण, कवि दृश्य-वर्णन का कथावस्तु से अलग कोई अस्तित्व नहीं मानता। प्राकृतिक वर्णन का उपयोग वह कहीं कथा के आरंभ में वस्तु-निर्देश के रूप में करता है; कहीं सुन्दर, सुरुचिपूर्ण, परिसमाप्ति के लिए, कहीं आलम्बन रूप में भावों के उद्दीपन के लिए। यथा—

(क) 'आँधी' के आरंभ में—

बहुत - बहुत था शान्त साँझ का वातावरण गभीर;
कहते थे सब लोग,— आज निश्चय आँधी आएगी !'

जहाँ आँधी आने के पहले की विश्रुत शान्ति (lull before storm) का वर्णन करने के मिस कथा की नायिका 'आँधी' का निर्देश भी कर दिया गया है।

(ख) 'आँधी' के अन्त में—

आसमान फिर भासमान हो रहा नित्य रवि-शशि से

× × × ×

झुका विन्ध्य का सिर, फिर चमके हिमगिरि पर दिनमान !

जहाँ संक्षिप्त, सार्थक, प्रकृति वर्णन के द्वारा परिसमाप्ति में चमत्कार लाकर उसे आकर्षकत्व ही नहीं अरपा गया है, बल्कि जटिलता से कुण्ठित जीवन के लिए यह उपादेय सन्देश भी दिया गया है कि दुःख की अनिवार्यता के उपरान्त भी जीवन का असली उद्देश्य हँसी-खुशी होना चाहिए।

(ग) 'दो आँखें' में—

उठा, गया कुछ दूर घूमने, शिशिर समीरण मस्त—
लगी बदन में, होते थे रवि पश्चिमगिरि पर अस्त,
चुभे हृदय में रक्तवर्ण उनके कर के कुछ बाण,
सान्ध्य - समीरण ने खींचा फिर निशागमन का ध्यान !

जहाँ 'युवक' के मन में छिड़े द्वन्द्व के आलम्बन के रूप में सन्धिकाल के वर्णन की उपयुक्तता आप से-आप सिद्ध हो गई है। प्रकृति यहाँ कथा-प्रवाह में इस प्रकार घुल-मिल गई है कि उसका अलग अस्तित्व ही नहीं रह गया है। वस्तुत: 'गाथा' के किसी भी प्राकृतिक वर्णन-चित्रण को कथा काया से न अलग हटाया जा सकता है न अलग से निरखा-परखा जा सकता है।

खालिस दृश्य-वर्णन भी मिलते हैं, विशेषत: 'हरिहर-क्षेत्र का मेला' में, जो केवल दृश्यों के रूप में भी मनोरम हैं। कपड़ा-बाजार, किताब-बाजार, बर्तन-बाजार, रूप-हाट, पशु-पण्य, संगम-स्नान, अखाड़े, मज्मे, सबके दृश्य अपनी ताजगी और अनूठेपन में एक-पर-एक हैं, सब-के-सब सोद्देश्य और आह्लादक हैं। कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

(क) हाथी थे चिग्घाड़ रहे, हिनहिना रहे थे घोड़े,
बब्बर सिंह दहाड़ रहे थे, गरज रहे थे शेर,
रेंक रहे थे गधे सधे - सीधे सबके ढब छोर,
किटकिट करते बन्दर, फोंफियाते भालू के जोड़े।

(ख) चिड़ियों का बाजार इधर, तीतर, बटेर औ' मोर,
हारिल, बुलबुल, बत्तख, रंगबिरंगे मुर्ग, कबूतर
चें-चें, चों-चों, किरकोकों औ' टें-टें, टों-टों, टर-टर
सुन - सुन मुश्किल यही समझना, साँझ हुई या भोर !

(ग) यह बाजार बर्तनों का, काँसा, पीतल औ' फूल
उतनी चमक न उन पर फैली, जितनी फैली धूल
टं-टं, ठ-ठं, झं-झं कितना तन्त्र-मन्त्र का जोर !
सुन-सुन मुश्किल यही समझना, गूँगे करते शोर !

किन्तु प्रकृति-वर्णन या किसी तरह के वर्णन के द्वारा कवि ने विविध चित्रों की उद्भावना की है जो जीवन और जगत् का सच्चा स्वरुप खड़ा करने में पूर्णत: समर्थ हैं। इस कार्य में कवि इतना दक्ष है कि उसे कर्म वस्तुओं और परिस्थितियो का तफ्सीली ब्योरा देने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह संक्षिप्त विवरणों के द्वारा ही पूर्ण बिम्ब-ग्रहण कराने में समर्थ है—वह दो-दो, एक-एक पंक्ति द्वारा ही भव्य और विराट् चित्रों का निर्माण कर लेता है। जैसे—

(क) सुनता, जो मर्मर करते थे पथ के तरु के पात,
ठिठुर ठंढ से काँप रही थी थर-थर आधी रात।

(ख) लाल मुँह किए निकला सूरज, काँव-काँव कर काग।

(ग) लौटा जब तमतमा रहा था मध्य गगन में अर्क।

यहाँ तक कि कभी-कभी वह एकाध पंक्ति में ही अरूप अन्तर्वृत्तियों को भी साकार, सरूप कर देता है। जैसे—

सुलग उठी वासना कि जो छल्लों में रही धुआँती।

इन चित्रों के निर्माण द्वारा कवि ने सिद्ध कर दिया है कि प्रकृति-वर्णन या किसी भी प्रकार के वर्णन में जितनी कारगर वस्तुओं और व्यापारों की सन्तुलित और संश्लिष्ट योजना होती है उतना और कुछ नहीं। 'गाथा' में जो सूक्ष्म, संक्षिप्त, संश्लिष्ट, रूप-विधान का संयोजन हुआ हैं तथा मानव और प्रकृति के बीच जो एक अविच्छेद्य सम्बन्ध स्थापित हुआ है उसके फलस्वरुप इसका प्रकृति-चित्रण कथा-काय का अंगीभूत तत्व बन गया है। नीचे का उद्धरण इस बात के निर्देशन के लिए पर्याप्त है—

नीरव नील-निशीथ चाँदनी की झीनी सी चादर
ओढ़े पौढ़ा था शबनम से टँके मृदुल शाद्वल पर
औ मैं था पर्यंक-अंक में बंद निलय के अन्दर।
सुधा-धौत दीवारों को विद्युत् प्रकाश था सादर—
सविनय झुक-झुक निरख रहा। फूलों की मादक गन्ध
सौध-द्वार से फिर-फिर जाती। गन्ध-अन्ध निर्बन्ध
भीतर सेंट-लवेण्डर के पहुँचे सब बन्धु-बिरादर।
मैं लिहाफ़ सोने का ओढ़े, निशि चाँदी की चादर।

यहाँ निशीथ के मानवीकरण तथा बाह्य-आभ्यन्तर वातावरण के पारस्परिक व्यतिरेक (Contrast) के द्वारा जो सम्बन्ध-संयोजना, मानव और प्रकृति की सह-अनुभूति, संभावित की गई है उसके फलस्वरूप इस प्रकृति-चित्रण को, मूल भावों और अनुभूतियों में अनपेक्षित विकलता लाए बिना, कथा-काय से अलग-विलग कर नहीं निरखा-परखा जा सकता। यही बात संग्रह के तमाम वर्णनों पर लागू होती है।

प्रकृति-वर्णन या दृश्य-प्रघटन के कारण कहीं भी न घटनाओं को रुकावट मिलती है न भावना-प्रवाह को व्याघात पहुँचता है! कारण, कवि की कल्पना यों ही अनियंत्रित उड़ान भरती, भटकती नहीं चलती, वह संयत भावनाओं और परिणत अनुभूतियों के आदेश से शासित है। 'गाथा' के वर्णनों की अर्थवत्ता का यही रहस्य है।

एकान्त तन्मयता के कारण मानवीय प्रकृति का रूपायण भी प्रकृत, स्वस्थ, सजीव उतरा है। गँवई जोड़ी का यह यथातथ्य चित्र कितना सटीक है !—

गँवई जोड़ी एक, साथ मेरे, डिब्बे से उतरी,
फटी मिर्जई, रुक्ष-ऋक्ष-सा लोमश कर्कशकाय—
पति, मानों निकला था लेकर लट्ठ चराने गाय !
और कामिनी 'कनक छरी', 'कटि छीन', जवानी उभरी !

'गाथा' में नर-नारी दोनों का रुप-चित्रण हुआ है। किन्तु पुरुष का वह आदर्श, उदात्त रुप यहाँ नहीं देखा जा सकता जो रामायण-महाभारत के चरित नायकों का है। यहाँ न उसका अवकाश है न विषय वस्तु को उसकी माँग है। यहाँ तो यह दिखलाना इष्ट है कि पुरुष के किस विकृत, निकृष्ट, पुरुषार्थहीन व्यक्तित्व ने समाज को भ्रष्ट किया है। अनास्था के मुनदिर माहौल में पड़े इन व्यक्तियों के दुर्गुणों को व्यंग्य-वाणों से चीथकर सुधार की प्रेरणा देना इस रचना का एकमात्र उद्देश्य है। अतः यहाँ ऐसे ही कर्कश, रुप उभरे हैं जैसे—

नशे और गुस्से से डगमग-पग श्रीकृष्ण उठे जब
चौखट में टकराया सिर, फिर हुआ गर्म यों पारा—
थप्पड़ से, घूँसे से, जूते से पत्नी को मारा—

ऐसे दिव्य, दीप्त रुप भी मिलते हैं, जैसे—

सुन्दर था भी बहुत, केश लम्बे, काले, घुँघराले !
पहने मुकुट, मुकुट में कलँगी-सी मयूर की पाँख,
सूर्य-रश्मि-सा अंग-रंग, परवल की फाँक न आँख,
कानों में मणि-कुण्डल, मोती-माल गले में डाले।
दन्त-पंक्ति दाड़िम के दानों-सी उद्दाम दमकती।
पीट-पटी रेशम की चमचम चंपक-चारु चमकती।
'देवि' कहे वृद्धा को, नवयुवती को 'सुन्दरि' 'बाले' !
दिव्य दीप्ततर अंग-रंग, केवल कुन्तल थे काले !

किन्तु ऐसे स्थलों पर भी कवि हमें सतर्क-सावधान ही करना चाहता है कि ऐसे 'दीप्ततर अंग-रग' के भीतर भी काले कारनामों की जड़ जमी हो सकती है।

इसके विपरीत नारी का मृदुतर, शालीन, निश्छल, निरीह रुप ही उसने अधिक उरेहा है; उससे उसे अधिक सहानुभूति है। नारी की दुर्दशा देख उसका हृदय दया से द्रवित हो जाता है और वह अपने प्रभु से पूछ बैठता है–

बे-घर-बार मनुज का जीवन ! तिस पर भी जो नारी !
हे प्रभु ! तुमने देखी है कोठे पर उठी अटारी ?
औ' मोरी के पास घास पर रोती औरत लेटी ?

आँधी का यह रुप इसी सहवेदना का परिणाम है--

मुखड़े पर आषाढ़, दृगों में भरा सावनी पानी,
वक्षःस्थल पर उमड़ी थी भादों की भरी जवानी !

यहाँ तक कि नारी का रौद्र रुप भी इस सहानुभव से संपृक्त है। आँधी का ही यह रौद्र रुप देखिए—

पत्थर से ज्यों घिसी हिना, ज्यों किंशुक-कली खिली हो,
था तमतमा रहा मुखड़ा आँधी का खूनी लाल,
भरी-भरी आँखें कैसी लगती थी मदिर विशाल !

× × ×

झुकी-झुकी गर्दन, उसाँस ऊँची, भ्रू ऋजु, दृग बाँका !

कवि नारी को हृष्ट-पुष्ट, स्वस्थ देखना चाहता है। उसकी दृष्टि में स्वास्थ्य के बिना ऊपरी चाकचिक्य बेकार है। अस्वस्थ नारी को देखकर उसका आक्रोश इस प्रकार प्रकट होता है—

चाकचिक्य रहता बाहर, पर रक्तप्रदर की रोगिन,
पिचके गाल, धँसी आँखें, ऊमस की तपी वियोगिन।

स्पष्ट है कि कवि को नखशिख वर्णन में कोई दिलचस्पी नहीं है। वह कुछेक विशेषताओं का संकेत भर कर देना पर्याप्त समझता है। वह इस तथ्य को भली-भाँति जानता है कि जातीय समानताओं के भीतर कोई दो-एक विशेषताएँ ही भेदोत्पादक होती हैं जो सामान्य को विशेष बना देती हैं। नीचे के ध्वन्यात्मक रूपाँकण से इसका निर्देशन हो जाएगा—

स्वर्ण-वर्ण कोई, तो कोई ताम्र आम्र की कोंपल,
कहीं चन्द्रमण्डल मानस का, कहीं शरद्घन श्यामल !

ऐसी गिनी-चुनी विशेषताओं के सहारे ही वह अलौकिक रूप-सौंदर्य तक सिरज लेता है, जैसे—

उसके चल लोचन कहते वह अपुलिन जलनिधि तरने !
केश-पाश कहते थे यों क्यों सहज छुटे जाते हो ?
मिट्टी के पुतलो ! मिट्टी पर व्यर्थ लुटे जाते हो !
उभरा वक्ष:स्थल कहता था दृढ़ बाँहों में भरने !

किन्तु इस अपार्थिव सौन्दर्य पर कवि लट्टू नहीं होता। आगे वह स्पष्ट कहता है—

जिसे नरक का भय हो, जाए वह वैतरणी तरने।

उसने तो यह रूप-विधान मात्र आगामी पार्थिव सौन्दर्य के वस्तु निर्देश रूप में किया है। आगन्तुक, साधु-चरित्रा, क्रिश्चियन कुमारिका के आगमन का पूर्वाभास नायक को स्वप्न की परी के रूप में मिल जाता है, बस। और ऐसा अनेक बार अनेकों के जीवन में होता है। अत: यह रूप-कल्पना स्वाभाविक तो है ही, साथ ही यह भी बतलाती है कि जिन घटनाओं तक साधारण कवि-कलाकार की दृष्टि भी नहीं जाती उन तक कुशल, प्रतिभा-सम्पन्न, महाकवि अनायास पहुँच जाता है। ऐसे कवि के लिए 'आँधी रूपवती युवती थी खड्ग-फलक सी लक् लक्' जैसा चित्रण तो बाएँ हाथ का खेल है।

कवि ने नर-नारी के विविध व्यापारों और भाव-भंगिमाओं को भी बड़ी स्वाभाविकता से आँका है। रूदन के तुरत बाद हँसी आ जाने की यह भोली भंगिमा मँगरी-बुधनी-बिफनी हँसने लगीं पलकदल मलते। और लज्जा से सिकुड़ी-सकुची नारी की यह अनमोल मुद्रा—

वह तेरी तस्वीर सिकुड़कर बनी एक थी रेखा।

सहृदय संवेद्य है। मरे-मुर्दे की कहानी सुन सोए व्यक्ति के सपने का यह मनोवैज्ञानिक, प्रयोगवादी, चित्र भी दर्शनीय है—

निद्रा आई नहीं, अलस तन्द्रा छाई पलकों पर।
देखा, छप्पर उड़ा जा रहा, मुड़ा जा रहा बाएँ।
और एक कंकाल खड़ा है हुआ निकट आ दाएँ।
गड्ढों में हैं धँसी-धँसी उसकी आँखें। गालों पर—
कई चकत्ते छिले-छिले हैं। दाढ़ी बढ़ी हुई है।
खायँ-खायँ करता खखारता, अँतड़ी सड़ी हुई है —
बदबू फैला कफ़ निकालता मटमैले कपड़ों पर।
निद्रा आई नहीं, अलस तन्द्रा छाई पलकों पर।

कुछ क्षण बाद लगा कि छू रहा है वह मेरे अंग।
गर्म-गर्म वह स्पर्श ! हो चला मेरा लोहू पानी।
लगा, बोलता दाँत कटकटाकर स्फुट-अस्फुट वाणी।
देख नुकीले नाखूनों वाले दो पंजे संग—
प्राण न कैसे निकले, अब तक भी मैं समझ न पाया।
ब्रह्म समझना सरल, समझना महाकठिन है माया।
चिल्लाया मैं बड़े ज़ोर से, छिड़ी हुई थी जंग;—
मेरा सिर था अलग नाचता और अलग थे अंग।

इसी के जैसा सपने की चिल्लाहट का यह शब्द चित्र भी है—

"अभी आप थे चीख रहे ज्यों भाँड़ी में मुँह रखकर।"

प्रेत का भ्रम हो जाने पर मानव-मन की जो दशा होती है उसका, उपमा-उत्प्रेक्षा के सहारे, कितना सहज, सुन्दर चित्र उतारा जा सकता है यह नीचे के उदाहरण में देखिए—

गोंद-लगी पृथ्वी से जैसे सटे हुए थे पैर,—
डग भर भी मैं सरक सकूँ इतनी थी शेष न शक्ति।
औ' ज्यों बिजली सड़े ताड़ पर प्रकट करे अनुरक्ति—
'डिबिया' रख वह बढ़ी इधर ही। भूली सारी सैर।
मैंने चिल्लाना चाहा, पर स्वर कढ़ता भी काश !

अचानक उचटकर जगे आदमी की मनःस्थिति की यह सच्ची तस्वीर भी कम स्वाभाविक नहीं है—

इधर अचानक जगने से दिल तो करता था फक्-फक् !

भावातिशयता के ऐसे स्पष्ट, साकार, सजीव चित्र अनमोल होते हैं। भावों, मुद्राओं और व्यक्तित्वों के अलग-अलग चित्रों में अलग-अलग विशेषताओं का आधान कर कवि ने काव्य-चित्रों की आकलन-कला के क्षेत्र में अपने लिए एक स्पृहणीय स्थान बना लिया है।

'गाथा' के छन्द के विषय में अलग से कहने की आवश्यकता नहीं; 'मुक्त' जी ने अपने 'क्षेपक' में इसका विश्लेषण किया है। किन्तु इससे जो निष्कर्ष निकलता है वह महत्त्वपूर्ण है। वह यह कि इसका प्रत्येक पद अपने-आप में एक स्वतंत्र गीत है—गेय गीत जिसकी पहली और अन्तिम पंक्तियों का साम्य टेक का स्थान ले लेता है। गीति-तत्व की और-और विशेषताएँ भी

प्रत्येक पद में मौजूद हैं जिनकी व्याकृति यहाँ अपेक्षित नहीं है। आशय यह कि 'गाथा' केवल पद्य-बद्ध गल्प नहीं है। गीति-तत्व के सुरस से शराबोर होने के कारण इसे गीति-गल्प कहना उचित होगा। कवि को प्रारम्भ से ही जो गीतकार घोषित किया जाता रहा है सो उसने अश्रान्त साधना की सिद्धि से प्रमाणित कर दिया है कि गीतकार महज़ गीतकार नहीं होता; यदि वह प्रतिभा-सम्पन्न हो तो गीतों के ढाँचे में लघुकथा, नाट्य-प्रबन्ध, महाकाव्य, सबको ढाल सकता है। 'पाषाणी' (गीति-नाट्य) से लेकर 'राधा' (महाकाव्य) तक की अनेक रचनाएँ गीति-तत्व से ओत-प्रोत हैं। बल्कि यह कहना उचित होगा कि गीति-तत्व कवि की शिरा-शिरा में व्याप्त है. वह कहीं उससे छूटा नहीं हैं; 'हंस-बलाका' जैसे गद्य-प्रबन्ध में भी नहीं। निश्चय ही कवि ने गीत के आयाम अनन्त कर दिए हैं।

रीति-शास्त्र का अप्रतिम और अधिकारी विद्वान होकर भी कवि ने अपने काव्य में अलंकारों को कम स्थान दिया है। कारण स्पष्ट है; वह ध्वनि काव्य का पक्षपाती है। परन्तु जहां उनका प्रयोग आप-से-आप हो जाता है वहाँ वह परहेज भी नहीं करता। प्रयोग यादृच्छिक होने के कारण इन उपस्करों से न भावनाओं और न अनुभूतियों को व्याघात पहुँचाता है, न कथा-प्रवाह को रुकावट होती है; बल्कि भाषा का उचित शृंगार होता है और भावाभिव्यक्ति को अतिरिक्त बल मिलता है। निदर्शनार्थ उत्प्रेक्षा के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

(क) हुआ तनिक निश्चिन्त हृदय, वह चली गई जब हाट,
लगा जोहने ज्यों प्रभात नव-निशागमन की बाट।

(ख) तनिक तुनककर 'नहीं' कहा तूने तब चलते-चलते,
मैंने देखा, दीप बुझ गया जैसे जलते-जलते !

(ग) एक बार फिर लार टपककर गिरी, पड़ी गृहिणी पर,
उल्कापात हुआ जैसे दृढ़-पाश-बद्ध हरिणी पर !

तीनों क्रियोत्प्रेक्षाएँ हैं, और तीनों की भाव-व्यंजनाएँ बेजोड़ हैं।

पहली का सीधा अर्थ तो यही हुआ कि 'मैं" 'उसकी' बाट यों जोहने लगा जैसे प्रभात नई निशा के आगमन की प्रतीक्षा करने लगा हो। किन्तु यहाँ जो प्रभात के बाट जोहने की सम्भावना की गई है उससे इसमें असाधा-

रण मार्मिकता आ गई है। यहाँ ध्वनि यह निकलती है कि प्रभात यदि सचमुच रात की प्रतीक्षा करने लगे तो क्या उसकी प्रेयसी-निशा-उससे मिल सकेगी ? दोनों एक रफ्तार से एक ही दिशा में चलते चले जाएँ और मिलन भी हो जाए, यह कैसे हो सकता है ? निशा आयेगी तो परदेशी प्रभात होगा वहाँ पर ? ऐसा ही परदेशी यह नायक भी है। वह नायिका की प्रतीक्षा में तो है, पर क्या वह उसे मिल सकेगी ? क्या वह उसे स्वीकार सकेगा ?

दूसरी का आशय यह है कि जो नायिका अभी-अभी बिना बुलाए आकर उच्छल प्यार जता रही थी वही एकाएक तुनककर 'नहीं' कह चल दी। कैसा अभिमान जगा कि प्रेम की जो लौ अभी उसके हृदय में जोर से जल रही थी वह पल भर में गुल हो गई। यह तो ठीक वैसा ही हुआ जैसे हवा के एक झोंके से जलता दीपक सहसा बुझ गया हो। यहाँ दीपक के आकस्मिक निर्वापण की संभावना से प्रेम-निवेदन का आकस्मिक तिरोभाव सफलतापूर्वक अभिव्यक्त किया गया है।

तीसरी में कलियुगी कृष्ण की पत्नी की मुसीबत पर पाशबद्ध उल्का-दग्ध हरिणी की तड़प, छटपटाहट की सम्भावना आरोपित हुई है। यहाँ कृष्णचन्द्र के कामान्धत्व की निःसीमता व्यंजित है। वह जब किसी सीमन्तिनी पर मुग्ध होते तो जाल-फाँस का दुष्कर दायित्व अपनी पत्नी पर डाल देते। सोचें, पत्नी पर कैसी गुजरती होगी ? बात मानती तो अधर्म, न मानती तो पातिव्रत्य भ्रष्ट; लात-जूते-घूँसे ऊपर से। वह दृढ़-पाश-बद्ध हरिणी नहीं तो और क्या थी ? ऐसे में इस बार जो पुत्री की सहेली अभिरामा को देखकर उनके मुँह से लार टपकी सो क्या जमीन पर गिरी ? वह तो उसी अभागिन पर गिरी ! वह तो उसी का आँचल मैला करेगी। फिर वह लार थी कि उल्का ? सचमुच यह वैसा ही तो हुआ जैसे मजबूत जाल में फँसी हरिणी पर उल्कापात हुआ हो ! बेचारी जान छुड़ाकर भाग भी नहीं सकती !

इतने सूक्ष्म भावों की इतनी-इतनी व्यंजनाएँ क्या इन यादृच्छिक उत्प्रेक्षाओं के बिना संभव थीं ? निस्सन्देह इससे भावाभिव्यक्ति को अकथनीय बल मिला है। मनोभावों के चारु चित्रण में ये पूर्णतः समर्थ हैं। यही भावोत्प्रेरकता नीचे की उपमा—

> उस तस्कर-सी दशा उस समय थी मेरी जो पागल—
> तीव्र क्षुधा से होकर चोरी करने को चल पड़ता,
> लेकिन जिसका सात्विक उर तामस-मति-मग में अड़ता।

इस और लुप्तोपमा—

चारू चन्द्र को देख रहा था स्थिर-दृग-कोर चकोर !

में है। इसी तरह कालिदास के—

न षट्पदश्रेणिभिरेव पंकजं
सशैवलासंगमपि प्रकाशते ।

से होड़ लेती हुई—

नन्दन वन की बिकी पिकी मरु-तरु पर भी गाती है।

और—

नीर-नीर हो गए तीर, पिच्छिल पलकों की कोर।

जैसी सानुप्रास, वैचित्र्यपूर्ण काव्यात्मक उक्तियों, व्यञ्जनाओं और ध्वनियों के सहारे कवि ने अरूप भावों को रूप दिया है। सुख-दुख संकलित मनोभावों को सम्प्रेषित करना उसका अन्तिम उद्देश्य है। हमारे लिए वह मानव-मन की अगाध गहराइयों में पैठकर भावनाओं और अनुभूतियों की मूल्यवान्, मुक्तासहित सीपियाँ बटोर लाया है। भावनाओं के सजीव चित्रण आन्तरिक घात-प्रतिघातों की सुन्दर, सशौर्य अभिव्यक्ति के नमूने के तौर पर राजलक्ष्मी के मन का यह द्वन्द्वात्मक हाहाकार देखें,—

आग लगे इस रंगे दिवस के इतने बड़े बदन में,
अंगारे उड़-उड़कर नभ से जुड़कर बनें सितारे,
कोलाहल हो शांत, श्रांत पंछी निज नीड़ पधारें,
वाणी का व्यापार बन्द हो जाए भवन-भवन मे,
आज राजलक्ष्मी के मन में मचा हुआ है द्वन्द्व,
उज्ज्वल-प्रतिभा, तीव्र दृष्टि होती जाती है मन्द,
परिवर्तित हो रहे भाव हैं कितने ही क्षण-क्षण में,
आग-आग है लगी लग रही सारे सौध सदन में।

यद्यपि नीचे का संक्षिप्त द्वन्द्व-चित्रण—

कहता हृदय, मिलूँ खुल; कहती बुद्धि, अलविदा माँगूँ;

अथवा नारी-हृदय का यह स्वाभिमानात्मक विजयोद्घोष—

पुरुष ! तुम्हारा प्यारा पथ तुमको ही मिले सदैव,
नारी भटकेगी, अटकेगी, उसका रक्षक दैव,
लेकिन वह पहले पहुँचेगी, यह नितांत निर्भ्रान्त !

भी कम प्रभावशाली नहीं है।

'गाथा' में नारी का विद्रोह, पुरुष का अहंकार, नारी की विवशता पुरुष का दमन; नारी की मृदुलता पुरुष का पुरुषत्व; सब अपने प्रकृत रुप में चित्रित हुए हैं। समस्त संग्रह विविध भाव-भूमियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। इसमें माया की कमनीयता नहीं, 'प्राणों का मोल' आंका गया है। यहाँ निम्न वर्ग की निरुपायता और उच्च वर्ग के दमनचक्री अत्याचारों की दर्दनाक तस्वीर खींची गई है। यहाँ तथ्यातथ्य के सक्षम विश्लेषण की टाँकी से खोदकर जीवन के व्यावहारिक धरातल की—कृत्रिम शील की कीचड़ से ढँकी-उच्चावचता के ऐसे बहुप्रेक्ष्यीय, बहुरगे ब्लॉक-चित्र तराशे गए हैं जो सामाजिक चेतना का वास्तविक स्वरुप मनोबिन्दु (Macula) पर स्पष्टता और पूर्णता के साथ बिम्बित कर देते हैं। सामाजिक चेतना में आज कितनी गिरावट आ गई है, यह कोई 'गाथा' में देखे।

ये कथाएँ आधिभौतिक धरातल पर मानवीय ह्रास-रुदन के ताने-बानों से बुनी गई हैं। इनमें मानवीयता अपनी सारी सीमाओं और दुर्बलताओं के साथ साकार हुई है। 'क्लाइमेक्स' और 'कल्कि-अवतार' में थोड़ी अति-मानवता की अवतारणा हुई है; पर वह कन्ट्रास्ट (Contrast) द्वारा मानवता की स्थापना के लिए है—

'गाथा' का कवि तमाशाई नहीं है, वह विश्व-मंच पर खेला जा रहा नित-नया नाटक देखने नहीं निकला है, वह स्वयं उसमें दानिशमन्दी से भाग लेता है। इन कहानियों में वह स्वयं उदात्त उत्तम पुरुष के रुप में निजी भोक्तृत्व के लिए शंकराचार्य की सारी निर्लिप्तता के साथ प्रविष्ट होकर बेदाग निकल आया है। यही इनकी स्वाभाविकता और प्रभावोत्पादकता का प्रधान कारण है।

'गाथा' कवि की प्रचण्ड प्रतिभा, दुर्दान्त पाण्डित्य, गम्भीर चिन्तन और व्यापक अनुभूति की प्रकृष्ट परिणति है। तभी उसने कर्मठता के ऐसे व्यावहारिक जीवन-दर्शन की अनुस्यूति की है.——

मुक्ति की न की कामना कभी, मोह से न विद्रोह,
पुण्य का न नैपुण्य प्राप्त, औ' पाप का न सन्ताप,
सोचा जीवन औ' चरित्र बनते हैं अपने-आप ?

तभी उसने विषम-से-विषम परिस्थितियों में भी जीने की प्रेरणा दी है—

इतनी जल्दी तुम्हें उचित है नही ऊब मर जाना,

× × ×

धर्म नहीं मालूम तुम्हें, वह है—कुछ और जिओ तुम
प्यास हो न हो, रुधिर-अश्रु के ही दो घूँट पिओ तुम···

हो सकता है कुछ लोग फ़ाहिश उर्यानी का आरोप करें। तो ऐसे लोगों से आचार्य नलिन विलोचन शर्मा का अनुसरण करता हुआ निवेदन करना चाहूंगा कि 'गाथा' में 'घेरे के बाहर' की तरह 'सस्ती शोहरत पाने के लिए' किया गया वस्तुवादी-यथार्थवादी वर्णन नहीं है, यह मर्मज्ञ कलाकार की स्पष्टोक्ति' मात्र है। यहाँ तो यह बतलाने भर की चेष्टा की गई है कि सहज प्रवृत्ति का विरोध कर अधःपतन से बच निकलना ही सयानापन है। देश और समाज के प्रकृत स्वरुप के साथ जिनका हृदय सहानुभूत है उनके लिए 'गाथा' उदात्त भावों का भण्डार है, जिनकी रुचि भ्रष्ट हो गई हो, जिन्हें पनाले की गन्दगी को साफ करने के बदले पत्थरों से पाट देने की नागरिकता ही भाती हो, उनके लिए चाहे इसमें अश्लीलता के सिवा और कुछ न हो। मैं तो कवि के शब्दों में यही कहूंगा कि--

प्राण देखने वाला तन पर होता कब मोहित है ?

और यह कि समस्त जागतिक अस्तित्व से एकीभूत कवि में विलास-कला' का 'कुतूहल' नहीं, आर्य कवियों की आर्ष चेतना है।

शास्त्री-सदन
गया कॉलेज के पश्चिम
गया–८२३००१ (बिहार)

तीर-तरंग : एक अध्ययन

—बिहारीलाल मिश्र

तीर-तरंग : एक अध्ययन

—बिहारीलाल मिश्र

'तीर-तरंग' महाकवि जानकीवल्लभ शास्त्री की दूसरी काव्यकृति है। इसकी भंगिमा रूप-अरूप' की-सी होकर भी उससे भिन्न है। इसमें कवि के अन्तरंग की कुछ जड़-चेतन प्रवृत्तियों की प्रतिच्छाया है। इसके गीतों में भक्ति और अध्यात्म, प्रेम और शृंगार, जीवन और जगत्, की सजल अभिव्यक्ति है। दार्शनिक चिन्तन इसकी रचना-प्रक्रिया का मेरुदण्ड है। कवि की दार्शनिकता अत्यन्त उदार है। इन गीतों में उसने न सम्प्रदाय-विशेष के दार्शनिक विचारों का खण्डन किया है न मण्डन। उसने भिन्न-प्रकृति भिन्न-प्रवाह, दार्शनिक प्रणालियों को इस प्रकार आत्मसात् कर उपस्थित किया है कि वे उसकी अपनी हो गई हैं। उसे न अद्वैत-दर्शन से सविशेष आसक्ति है न बौद्ध-दर्शन से नितान्त अनासक्ति। उसकी भास्वर काव्य-प्रतिभा के अलोकसामान्य संस्पर्श से तरलीभूत जीवनोपयोगी निष्पत्तियाँ निराडम्बर होकर गोमुखी से झरती दुरित-भय-भगा गंगा की तरह आप-से-आप निर्झरित हो गई हैं। अतः 'तीर-तरंग' में कहीं अद्वैत-दर्शन, कहीं बौद्ध-दर्शन, कहीं कर्मयोग-दर्शन और कहीं अष्टांग योग-दर्शन की झांकी मिलती है।

दार्शनिकता से कवि-सुलभ भावुकता कहीं भी आच्छादित या अभिभूत नहीं हुई है। वर्त्तमान को भूत में विलीन होते, प्रकाश को अन्धकार से दबुचते, मनुष्य को काल का ग्रास बनते और अविद्या-ग्रस्त आदमी को अस्मिता से आक्रान्त होते देख, मर्माहत होकर, कवि कहने लगता है—

किरण रही घन-अन्तराल में,
वर्त्तमान चिर भूतकाल में,
दुर्दिन में झर मुरझाने को
मेरा विषम विकास रहा!
पूर्ण समझ बैठा अपने को,
ठोस सत्य दिन के सपने को,
रहा देखता तू अनन्त भ्रम
पर न कभी भी पास रहा!

(पृष्ठ–७८)

मनुष्य के दु:ख-दर्द, रोग-शोक, परीताप, जर्जरता, मृत्यु आदि से कवि का मन व्याकुल हो उठता है और वह निदान ढूँढ़ने में तत्पर हो जाता है। वह हमें इन दुःखों के प्रति सावधान करता है तथा सत्कर्मों के प्रति आस्थावान् बनाता है। वह दिन-दिन निकट आते बुढ़ापे की चेतावनी देता है और उसके प्रति सजगता उत्पन्न कर सर्वशक्तिमान्, सर्वनियामक अदृष्ट के प्रति निष्ठावान् बनाता है —

लो आ रहा पतझार है !
तरु-पत्र थर-थर कर उठे,
वन-बाग मर-मर कर उठे,
यह तो छुरी की धार उर पर
चल रही, न बयार है !
कितनी अँधेरी रात है,
हर चरण पर आघात है,
जीवित शवों का स्वर्ग ! क्या
सचमुच यही संसार है ?
संसार पारावार है,
जिसकी प्रखरतर धार है;
मैंने तरी दी खोल,
तेरे हाथ में पतवार है।
(पृष्ठ–७५)

कहना न होगा, दु:ख की विद्यमानता, दु:ख के कारण, और कारण के निरोध को आर्यसत्य की तरह मानकर भी कवि अनीश्वरवादी या वेद-निन्दक नहीं है। बुद्ध ने बार-बार कहा है कि जिस स्वप्निल सुख की कल्पना में मनुष्य भूला-भटका रहता है वही दु:ख का मूल कारण है और जिस (धन-जन के बिछोह) को दु:ख समझता हुआ आँसू बहाता है वही सुख का वास्तविक साधन है। कवि भी लगभग वही कहता है—

कितना निठुर उपहास !
जो अजाने ही गया वह
था मधुर मधुमास !
अश्रुकण कहकर जिसे
मैंने बहाया हाय

सूक्ष्म रूप धरे वही था
हृदयहारी हास !
स्वप्न-सुख की आस में
सोया रहा दिन-रात,
वह गया नित लौट
शत-शत बार आकर पास !

(पृष्ठ-७६)

किन्तु दुःख और पीड़ा के प्रति मनुष्य की सहज असावधानी बताते हुए कवि ने अश्वघोष की तरह बुद्ध के आदेशों की आवृत्ति या अनुवृति नहीं की है। उसने जो कुछ कहा है वह उसका अपना है; और यह अपना-पन विविध धर्म दर्शनों के प्रभाव-मुक्त परिशीलन का परिणाम है। दोष-मुक्त होकर लक्ष्य की ओर निर्द्वन्द्व बढ़ने की प्रेरणा वह किस आजादी से देता है, देखें—

मन्थरतर तरणी !
एक रेख रख चल जीवन पर
बना रही सरणी !
निरख रहे हम दूर-कूल से,
सब अपने को गए भूल से,
जीवन के हैं विलग मूल से,
धरे धूल, धरणी !

(पृष्ठ—८)

अभिप्राय यह है कि हम से अच्छी तो वह जड़ नाव है जो अपना गन्तव्य जानती हुई लोल लहरों से कल्लोलित जलतल पर एक दिशा रखती हुई, एक रेखा-सी सीधी राह बनाती चली जाती है। जल की तरलता के कारण उसका पिघला सरण-चिह्न मिटता जाता है। अतः प्रत्येक नाव को अपने लिए अपना पथ आप गढ़ना पड़ता है, उसे दूसरी नावों का अनुसरण करते हुए भी उनकी लीक नही पकड़नी पड़ती। कवि कहना यह चाहता है कि जीवन भी जीवन (पानी की तरह तरल है; अतः हमें भी न ऐसे रास्तों का निर्माण करना चाहिए जो दूसरों के लिए लीक बन जाएँ न मार्गों का ऐसा अनुसरण करना चाहिए कि वह मात्र अनुकरण रह जाए।

हम इसके ठीक विपरीत हैं। हम भव सागर को ठोस भूमि मानकर परिदृढ मार्गों का निर्माण करते हैं जिनमें नाम्यता का अवकाश नहीं होता। फलतः हमें अनुसरण की अपेक्षा अनुकरण अधिक करना पड़ता है; और कभी कभी विभिन्न मार्गों का अवलम्बन करते हुए भटककर लक्ष्य-भ्रष्ट भी हो जाना पड़ता है। तब मिट्टी का मोह हमें अधिक सताता है; तब हम तरल जीवन के सरल स्रोत से अलग-विलग होकर ऐहिक जीवन की जड़ता से जुट जाते हैं, और अंत में धूलि-धूमिल पगडंडियों की भूलभुलैया में ही दिग्भ्रमित होकर रह जाते हैं। अविद्या का ऐसा तरल रूप अन्यत्र नहीं मिला।

अज्ञान-तिमिर को तिरोहित किए बिना श्रेय-मार्ग पर आरूढ नहीं हुआ जा सकता। अतः सभी अपने-अपने ढग से इसे दूर करने की चेष्टा करते हैं। किन्तु प्रातः यह देखा जाता है कि लोग दूसरों का अज्ञान दूर करने में ही लग जाते हैं; अपना अज्ञान उन्हें सूझता हां नहीं। कवि को यह मान्य नहीं है; वह कहता है—

पहले अपने घर दीप जला।
तम-तोम-भरा आकाश किसे
दे सकता सोम-प्रकाश भला!

(पृष्ठ—८६)

कवि सतत आत्म-विकास का विश्वासी है। उसका उद्देश्य निश्चित है। अतः ऐहिक प्रलोभन उसकी गति को रोक नहीं सकते। उसका विश्वास है—

मेरा भी अपना देश है।
मैं लक्ष्यहीन चल रहा नहीं
मेरा निश्चित उद्देश्य है।

(पृष्ठ—६०)

किन्तु माया-ममता के याग, मिट्टी के तन के प्रति अनासक्ति—के बिना आत्म-विकास की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। अतः '..........संहारे चापि यस्या जगदिदमखिलं क्रीडनं.........' से समानता रखती हुई उसकी प्रसन्न चित्तवृत्ति कहती है—

रोज बिगाड़ो, रोज बनाओ।

× × ×

अपने को सब कुछ कह लेता
मानव, जग को धोका देता
एक रूप रहने न इसे दो
रोज बिगाड़ो, रोज बनाओ।

(पृष्ठ—४४)

सुन्दर दिखनेवाली नश्वर काया के प्रति आकृष्ट होना, बचपने का अर्थ विस्तार है; क्योंकि अंग-लावण्य तो शरीर से पहले चला जाता है। कवि कहता है—

टिकनेवाली न लहर होती,
सुन्दरता ? वह न अमर होती,
निष्ठुर उर मुक्ता हारों के
फिर पो जाने में भी क्या है ?

'सुन्दरनन्दी' अविद्या पर प्रहार करनेवाले अनेक और गीत हैं जिनसे 'मृत्यु-मूकता' को 'जीवन की झंकार' और 'घोंसले' को असली आवास' न समझने की प्रेरणा मिलती है; जैसे अश्वघोष के—

सूत्रेण बद्धो हि यथा विहंगो
व्यादर्तते दूरगतोऽपि भूय:
अज्ञानसूत्रेण तथावबद्धो
गतोऽपि दूरं पुनरेति लोक: ॥

(सौन्दरानन्द—११/५६)

पर हावी यह उद्बोध-गीत—

बना घोंसला पिंजड़ा पंछी !
अब अनन्त से कौन मिलाए
जिससे तू खुद बिछड़ा पंछी ?
सुखद स्वपन लख किसी सुदिन का
चुन-चुन पल-छिन तिनका-तिनका
रहा मूल' से दूर-दूर पर
'डाल-पात' तो झगड़ा पंछी !

अग्नि जले तब विफल न इंधन
मुक्ति कर्म का मर्म, न बन्धन,
उड़ा, हाय, जो सबसे आगे
वह अपने से पिछड़ा पंछी !

(पृष्ठ—४३)

अभिप्राय यह है कि घोंसले के मोह के कारण ही पंछी पिंजड़े में कैद होता है। तिनकों या शावकाहार के लिए भटकता हुआ वह वह पकड़ा जाकर सीखचों में बन्द हो जाता है। यह मोह न होता तो वह अनन्त आकाश में स्वच्छन्द विचरता होता। ठीक इसी प्रकार पिछले संस्कारों के फलस्वरूप मनुष्य, मूल से बिलग हो, भौतिक शरीर से जुट जाता है। मोहवश वह शरीर को ही सब कुछ समझ बैठता है और उसी के साज-शृंगार, ऐश-आराम, की चिन्ता से अभिभूत हो जाता है। स्वकल्पित सुख की खोज में डाल-डाल, पात-पात, अटकता-भटकता वह अधिक से अधिक दु:ख की ही पकड़-जकड़ में आ जाता है; जंजाल इतना बढ़ जाता है कि छुटकारा असंभव हो जाता है; उसका अपना ही शरीर उसके लिए पिंजड़ा बन जाता है ! अगर देह से ममत्व न होता तो इन्द्रियों को इंधन बनाकर वह ऐसा आत्मतेज उकसाता कि 'आत्म-दीप' तो हो ही जाता, अपनी इस आत्म-दीप्ति से संसार को भी प्रकाशित कर देता और निर्द्वन्द्व भाव से घोषित करता—

मैं अतिथि, कौन मेरा घर है ?
इस ठौर आज, कल कहीं और
चलता रहता बस यही तौर;
मैं समझ सका कब, कौन यहाँ
निज है औ, कौन यहाँ पर है ?

दृग साफ रहे, जाना सुख है,
भर गए, विचार लिया, दुख है,
जब सुख–दुख दोनों में चलना,
दृग मूँद लिए, फिर क्या डर है ?

(पृष्ठ—८२)

और तब वह निज-पर की लघु-चेतस् गणना से ऊपर उठ लोक-मंगल की कामना से स्वच्छन्द विचरता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने दार्शनिक गीतों में कवि ने काम-विमोहित विश्व जो आत्मसंयम का संदेश दिया है। और 'मिट्टी की मूरत को प्यार' करनेवालों को विस्मय से देखते हुए वह गीता के कर्मयोग की उद्घोषणा करता है जिससे निष्काम कर्म को प्रेरणा मिलती है—

तू देखता व्यर्थ असमर्थ आकाश !
तेरे करों में भरे हैं चमत्कार,
तेरे दृगों में परम-ज्योति संभार,
तू क्यों रहा कर समय का वृथा नाश ?
बढ़ सामने देख वह कर्म का क्षेत्र,
वह कर्म का क्षेत्र ही धर्म का क्षेत्र,
जो भीरु काँपे उसे देख बन वेत्र
फिर सर्वदा वह सहे व्यंग्य-उपहास।
क्या देखता ? चुभ रहे पैर में शूल !
क्या देखता ? चढ़ रहे शीर्ष पर फूल !
क्या देखता ? जय-तिलक बन रही धूल !
धिग् जीव-स्वामी बना देह का दास ?

(पृष्ठ – ९०)

योगेश्वर का-सा यह ओजस्वी उद्बोधन किस सीदित-गात्र, परिशुष्क-मुख, रोम-हर्षित, वेपथुमान, विषण्णवदन गुडाकेश का सँसरता गाण्डीव पोख्ता पकड़ में नहीं ला देगा, किस प्रिया-प्रमत्त 'नन्द' की आँखें नहीं खोल देगा ?

अस्तु; एक ओर जहाँ वह 'आँसू की धार' से मुक्त होकर समस्त भव-बन्धन को तोड़ने का आग्रह करता है, 'वह मेरा अन्तिम प्रकाश था' जैसी निर्वाण-सन्दर्भित भावनाएँ उद्भावित करता है, 'विश्व-व्यापिनी एक ज्योति से तुम अपने को भिन्न न मानो जैसी अद्वैतवादी प्रतिपत्तियाँ प्रस्तुत करता है, और 'सब घट भर-भर कर लौट चले, मैं हूँ पथ पर पछताता ही जैसी निराशात्मक भावनाओं को अभिव्यक्ति देता है वहाँ दूसरी ओर उत्साह-संवलित सत्य प्रतिष्ठित, सम्मान-सज्जित, कर्म-संकल, सशक्त, निर्भय जीवन की कामना भी करता है—

हो न हमारी मरी जिन्दगी।
कर्म, कर्म फिर कर्म करें, हो
भूख-प्यास से भरी जिन्दगी।

श्रम का उचित मूल्य हम पावें.
कुछ विश्राम-समय में गावें
हम श्रम से भी नहीं चाहते—
बने स्वर्ग की परी जिन्दगी ।
वृथा न हम अपमान सहेंगे,
सच को तो प्रण ठान कहेंगे,
चिकनी-चुपड़ी को प्रणाम, हो—
अभय हमारी खरी जिन्दगी ।
(पृष्ठ—६२)

और यह कहकर युग-धर्म-बोध की प्रेरणा भी देता है कि—

निज युग का सम्मान करें हम ।
नित नव वसन बदलती संसृति,
परिवर्तन ही प्रकृति की प्रकृति,
यह प्रत्यक्ष प्रमाण मानकर,
अन्ध-रूढि अवसान करें हम ।
(पृष्ठ—६१)

इसी प्रकार—

नव प्रकाश भर आया आज,
खोलो द्वार, खोलो द्वार,
सजो अरुण किरणों का साज,
खोलो द्वार, खोलो द्वार;
(पृष्ठ—२६)

जैसे उद्बोधन-गीतों से भी नवयुग के स्वागत के साथ कर्मपणा और जागरूकता का ही मंगलमय संदेश मिलता है।

'तीर-तरंग' का कवि भक्त भी है। उसके भक्ति गीत आराध्य के प्रति उसकी अनन्यता के द्योतक हैं। उसकी भक्ति नितान्त निष्काम है। यहाँ तक कि उसमें आराध्य से मिलने की भी अभिलाषा नहीं है। उसका काम केवल साधना में लीन रहना, सम्यक् प्रयत्न करना, है —

मत पहुँचूँ तुझ तक,
पथ में मेरी चरण-निशानी हो !
(पृष्ठ—५३)

कवि भौतिक सुख का अभिलाषी नहीं है, क्योंकि वह जानता है कि इससे दुःख ही बढ़ता है। वह ऋत काअन्वेष्टा और अनृत का तिरस्कर्ता है। ऋत उसका आराध्य है। वह उसी की उपलब्धि की साधना करता है, उसी के गीत गाता है; यही उसका मूलमन्त्र है, दुनिया इसे उसकी नादानी कहे तो कहे—

मैं गाऊँ तेरा मन्त्र समझ,
जग मेरी वाणी कहे, कहे !
× × × ×
इस जीवन में जो मधुर और
जो कटु कषाय या क्षार,
चाँदनी रात की हँसी, अमा की
छल-छल आंसू धार,
तेरे अलक्ष्य चरणों पर अर्पित,
हो तुझको स्वीकार।
मैं रहू साधना-लीन, उसे
दुनिया नादानी कहे, कहे !
(पृष्ठ—१०-११)

किन्तु वह निष्प्राण मूर्त्ति का नहीं, सप्राण प्रतिमा का उपासक है। वह मूक, निरुत्तर पाषणी को संबोधित कर कहता है—

क्या प्राण न तुझमें ? तू छाया ?
क्यों तेरा अहृदय रूप, हाय,
मेरी आँखों में भर आया ?
(पृष्ठ—३१)

वह उस कारुणिक विराट् का उपासक है जो भूतमात्र के दुःख से द्रवित हो जाता है। किन्तु आकाश की ओर ताकते हुए वह पृथ्वी को भूल नहीं जाता। वह अपने आराध्य से सभी धरती वासियों के कल्याण की प्रार्थना करता है। वह स्वर्ग को पृथ्वी पर उतारना चाहता है, पृथ्वी को स्वर्ग ले जाना नहीं चाहता।

अध्यात्म और भक्ति के साथ प्रेम और शृंगार के गीत 'श्वानं युवानं मघवानमाह' नहीं हैं। प्रेम और शृंगार दोनों को अनेक भारतीय-अभारतीय कवि-लेखकों ने भक्ति का पर्याय सिद्ध किया है। फिर, कवि कोई नवधा

भक्ति का प्रचारक और षड्दर्शन का व्याख्याता तो होता नहीं ! उसे तो जीवन की गहराइयों में भी उतरना पड़ता है; और जीवन में प्रेम और शृंगार का महत्त्व कम नहीं है। और भी, हमारे कवि के शृंगारिक गीतों में नख-शिख वर्णन नहीं है, उनमें मानवहृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं की ही सजल अभिव्यक्ति हुई है। नारी के बाह्य सौन्दर्य का वर्णन कवि का अभिप्रेत नहीं है। उसने उसकी स्थूल मांसलता, पिच्छिल पृथुलता, नहीं आँकी है, 'ज्ञानभरी, जयगानभरी' प्रतिमा ही गढ़ी है। उसे उसने वासना की पुतली नहीं बनाया है। देखिए—

तेरी प्रतिमा है जानभरी है प्राणभरी !
सखि, बड़ी-बड़ी काली पांखों वाली वे
आँखें हैं लघु-लघु मानभरी, अभिमानभरी !
कारीगरी भरी है कितनी इतने में,
ऐसा सुडौलपन मिलता है कितने में ?
मुखड़ा टुकड़ा-सा शरत्पूर्णिमा-विधु का,
कोंपल-सा सुन्दर अधर उत्स-सा मधु का !
वह पृष्ठ-बाहुओं पर फैला इतराता
टुक उलझ-सुलझ वक्ष:स्थल पर लहराता
ज्यों नग्न कनक कुच पर आँचल घनश्यामल,
वह अंग-रंग से मिली रेशमी सारी
मलयानिल में लहराती केसर-क्यारी !
सखि, मधु-घोली वह तेरी भोली बोली
कितनी मीठी मुस्कानभरी, लय-तान-भरी !
तेरी प्रतिमा है ज्ञानभरी, जय-गान-भरी !

यहाँ एक पंक्ति 'ज्यों नग्न कनक कुच पर आँचल घन-श्यामल' पर शायद किसी को आपत्ति हो। तो निवेदित है कि एक तो यह उक्ति सखी की है, दूसरे पूर्वापर प्रसंग वासना का उदय नहीं होने देते। वैसे तो वासना को क्षार कर चुकनेवाले अनेक भक्तों ने अशेषजननी जगदम्बा को भी 'नव-यौवना', 'तुङ्गकुचा' आदि कहा है ! अतः कवि के शृंगारिक गीतों के अध्ययन में इस बात का ध्यान रखना होगा कि वर्णन वह जैसे भी करे, प्यार उसे प्राणों से है, देह से नहीं। जैसे—

मैं यह न चाहता, निकट, निकटतर आओ,

या मुझे देखकर रुक जाओ, झुक जाओ,
तुम जाओ, जिधर कहे मन, द्रुत पद जाओ,
मैं यन्त्र नहीं, चाहता मन्द्र झंकार हूँ।

में स्थूल से अनासक्ति और सूक्ष्म में सूक्ष्म के लय की भावना उकसायी गई है। यहाँ स्वत्वत्याग की भावना भी अन्तर्निहित है; क्योंकि इसके बिना वह अश्रुत गान नहीं निकल सकता जिसे कवि सुनना चाहता है। अहंकार त्याग-पूर्वक काकबन्ध में साँस सान्द्र किए बिना अगीत संगीत की वह 'मन्द्र-झंकार' उठ कैसे सकती है ?

स्पष्टतर शब्दों में, 'तीर-तरंग' के प्रीत-गीत आत्मोत्सर्ग की भावना को सबल अभिव्यक्ति देते हैं और इस उत्सर्ग भावना ने संग्रह के शृंगारिक गीतों को भी भक्तिभरी आध्यात्मिकता में विलीन कर दिया है। फलतः प्रायः सभी प्रणयगीतों में एक साथ प्रेम, शृंगार, भक्ति, अध्यात्म आदि के बहुवर्ण पारदर्शी चित्रों की झाँकी मिलती है। भक्ति और अध्यात्म की दार्शनिकता से ओत-प्रोत प्रेम-शृंगार और प्रिय-विरह के इस गीत-चित्र में देखिए--

कैसे लौट चलूँ ? पद-पद पर प्रिय-पद रेखा री !
आज मिलें शायद, अदृष्ट को किसने देखा री ?
अलि अब निकल पड़ी हूँ,
क्या चिन्ता, वे रुकें या नहीं, मैं भी तो न खड़ी हूँ !
आवश्यक कर्त्तव्य-मार्ग बढ़ते चलना री !
आशा, स्नेह रहे, दीपक को केवल जलना री !
बतला और अपर क्या ?
सबदिन सूना विपिन ही भला, प्रियविहीन री घर क्या ?
पहुँचूँगी जब, जहाँ न कोई मेरा-तेरा री
एकाकार दिशाएँ सब, घनघोर अँधेरा री
थककर गिर जाऊँगी
निश्चय ही उस छन अपने को प्रिय-पद पर पाऊंगी।
(पृष्ठ—१३)

किस प्रकार प्रिय-मिलन की अभिलाषा सर्वेश-मिलन की साधना में समा गई है, किस प्रकार भाग्य की रेखा अदृष्ट में प्रविष्ट हो गई है।

संग्रह में सुन्दर, सजीव, प्राकृतिक वर्णन भी मिलते हैं। जैसे—

पावस की नीर-भरी बदरी !
पिच्छिल पथ पर डगमग-डगमग
हो जाते मृदु-मृदु लघु-लघु पग,
वह पवन-पख से उड़ आई
सुकुमार, सुन्दरी श्याम-परी !
पावस का रस-सागर अनन्त
उमड़ा, डूबे सब दिग-दिगन्त,
निष्पन्द, मन्द मन्थर-मन्थर
तिरती नीलम की नील तरी !
झुलसे मरु में झंझा-झकोर,
ज्यों मूक हृदय में स्वर-हिलोर,
उजड़े जड़ नभ में तरल-चपल
लहराई नव-जीवन लहरी !
सावन की नीर-भरी बदरी !
(पृष्ठ—३३)

किन्तु कवि के वर्णन वर्णन मात्र नहीं होते, उनमें कुछ और भी होता है है जो उन्हें सप्राण बना देता है। उपर्युक्त उदाहरण में मानवीकरण और नवीन प्रतीक-प्रतिमानों के विधान द्वारा बादलों का दिगन्तव्यापी गत्यात्मक चित्र आँका गया है। ऐसे ही अन्य प्राकृतिक वर्णनों के साथ भी विविध-वर्ण, विविधायाम चित्र ही अनुस्यूत होते हैं। किन्तु ये चित्र भी चित्र-मात्र नहीं हैं। इनमें देह ही नहीं, आत्मा भी होती है। ये प्राकृतिक रमणीयता के सहज उपादानों में मानवीयता की प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं। मानव-जीवन से पृथक, विच्छिन्न, इनका कोई अस्तित्व नहीं है। अतएव मानवीकृत प्रकृति का गत्यात्मक चित्रण कवि का अभिप्रेत है। निम्नोद्धृत पद्य ऐसे सप्राण चित्रणों का प्रतिनिधि उदाहरण है—

सुरधनु की सतरंगी चुनरी
झंझा के झोंकों पर फहरो;
पग-पायल की धुन छूम-छनन
रिमझिम-रिमझिम रुनझुन-रुनझुन !
उसकी बिजली की धुली हँसी
नभ को छूकर क्षिति पर छाई !
(पृष्ठ—३४)

परदेशी घनश्याम आज
आँगन में आए री !
ढाल कुसुम के मधु के प्याले
डाल-डाल में झुला डाले
भौंरों ने सावन के गाने
गुन-गुन गाए री !
अश्रु नयन, मुस्कान अधर धर
जलधर ने सुख-दुख के घर-घर
स्वर्ग-देश से उतर सजल
सन्देश सुनाए री !

(पृष्ठ—३६)

किस प्रकार यहाँ पृथ्वी आकाश के स्वागत में सज-धजकर रानी बनी है और किस उत्साह-उमंग से आकाश कण्ठाश्लेष में तत्पर है ! फूलों की मिठास से माते भौंरे किस प्रकार इस मिलन पर रँगरलियाँ मना रहे हैं ! दोनों के सुख-दुःख का कैसा अन्तरंग विनिमय हो रहा ! निस्सन्देह, 'तीर-तरंग' की प्रकृति मानवीय सुख-दुःख की सवेग अनुभूतियों की सस्वर अभिव्यक्ति है।

तो, कवि ने प्रकृति के माध्यम से भी मानव-मन के मिलन-विरह-उच्छवास को ही शक्त अभिव्यक्ति दी है। उसके गीतों में मानव-जीवन अपनी अखण्ड सम्पूर्णता के साथ व्यक्त हुआ है। प्रेम, भक्ति, अध्यात्म, श्रृंगार, सब में, अन्ततः जीवन की विविध भगिमाएँ ही चित्रित हुई हैं। विशुद्ध जीवन संगीत की भी अवतारणा की गई है, जैसे—

जीवन मन अनुकूल नहीं रे !
मृदुल-डाल पालने हिले जो,
चुपके-चुपके खुले-खिले जो,
फिर चुपके धूल में मिले जो,
जीवन वन का फूल नहीं रे !
भँवर-तरंगों से घिर-घिरकर,
जीर्ण तरी से सागर तिरकर,
जहाँ रुकें हम थककर, गिरकर,
जीवन कोई कूल नहीं रे !

प्रकाश ही मानों उसकी आँखें हों। हंसों की पाँत, मानों उसकी करधनी हो। इस प्रकार शृंगार-भार से लचती, बल खाती, वह अपने कमल-सरीखे सुकुमार राग-रञ्जित, अरुण चरण रख झलमल करते झील-सरोवरों के प्रदेश पर छा जाती है। फिर तो विशेष वन्दियों के रूप में झुण्ड के झुण्ड भौंरे मँडलाने और झपताल पर 'हंसकिङ्किणी' में उसकी विरुदावली गाने लगते हैं—

०		३			+		२		
ब	दऽ	ल	ती	ऽ	छ	वि	वे	ऽ	श
गॅं	रेगॅं	रे	सा	ऽ	ग	ग	ग	म	प
०		३			+		२		
न	व	नि	मे	ऽ	ष	नि	मे	ऽ	ष
ग	म	प	प	मग	निँ	निँ	सा	ग	ष

पूनो की रात आती; चञ्चल जल के हृदय में सिहरन भर, लोल लहरों पर झूलती, निरभ्र आकाश-रूपी श्यामल केश-राशि को खोलकर, अतिविस्तृत पृष्ठप्रदेश पर बिखेर-फैलाकर चाँदी-सी चमकती चन्द्रकिरणों की डोर घर प्रेङ्खित लहरो पर पैगें भरने लगती है।

इतना ही नहीं, वह विश्व भर के प्राणों के प्रकाश में वास करती है। काश के फूलों का विकास उसकी हँसी है। वह निर्मल, पवित्र, विलास से लसित है। वह अपलक आँखों देखती और विश्व की रक्षा करती जाती है। उसके प्रकाश से सारा जग अशेष रूप से सजग हो जाता है; क्योंकि वह दृग है, उसकी देख निष्फल नहीं हो सकती।

कितना दिक्काल-व्यापी, उज्ज्वल, सप्राण संगीत-चित्र है यह! कितनी निष्कलुष, स्वर-रेख-विकल काया में कितनी उन्नत, उदात्त आत्मा का आधान हुआ है यहाँ!

वस्तुतः इन प्राकृतिक चित्रणों द्वारा कवि ने अमर मर्त्य में, आकाश और पृथ्वी में, कल्पना और वास्तविकता में सामञ्जस्यपूर्ण एकता स्थापित की है। नीचे का गीत देखिए—

उमड़-घुमड़ घन घेर-घेर
अम्बर भर छाए री!
पहन वसन सुरधनुषी धानी
बनी अहा, अब अवनी रानी

'नभ को छूकर क्षिति पर' छानेवाली बिजली से धुली इस धवल हँसी के आँके-बाँके प्रसार-विस्तार की प्रशस्ति तो देखिए ! कैसे यह नाचती-थिरकती, उमंग भरी, पावस-बाला के इतने विराट् चित्र को मानसपट पर चटपट अंकित कर देती है !

तमाम प्राकृतिक चित्र मानवीय उमंग से उच्छ्वसित और आध्यात्मिक उदात्तता से अनुप्राणित हैं। 'क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' से प्रेरित कमल पर अचल खड़ी, चन्द्रकिरणों की डोर धर पैंग भरती, शरत्-सुन्दरी के अमलनिर्मल सौन्दर्य के इस विराट ज्योतिरुज्ज्वल चित्र की पवित्रता देखिए—

बदलती छवि–वेश
नव निमेष-निमेष !
उदित वासर-मुख सुखाशय
ज्योति-पृथु उर, नयन तन्मय,
हंस किङ्किणि, पद कुशेशय—
रख खड़ी सर-देश !
भ्रमर वन्दि-विशेष !
रजत-राजित रश्मि निशि धर
चपल-जल-उर सिहर भर-भर
भर रही पैंगें लहर पर
मुक्त नभ के केश !
वितत पृष्ठ-प्रदेश !
विश्व-प्राण-प्रकाश-वासिनि
काश-विकल-विकास-हासिनि
शरद-सुन्दरि, शुचि विलासिनि,
सफल दृग अनिमेष !
सजग-जगत अशेष !
(पृष्ठ—३८)

रूपवती शरद-सुन्दरी अपना लावण्य-वेश क्षण-क्षण बदलती, नया करती जाती है। उसका छवि-वेश प्रातः कुछ, सन्ध्या कुछ और रात कुछ होता है।

सुखद, सुखाशय, उषा का उदय होता और सुन्दरी का हृदय प्रकाश से भर जाता है। उसकी आँखें मानों उसी प्रकाश में लीन हो जाती हैं।

उर की ज्वाला किसे जलाए ?
किसे अश्रु-जल-धार बहाए ?
कोई कैसे उसे भुलाए ?
जीवन अपनी भूल नहीं रे !

(पृष्ठ—३०)

जीवन को कवि न वनफूल (वन्य विकास) मानता है न कटकर जुटने वाला तरु-मूल (जड़-काष्ठ); उसे वह न अपनी भूल मानता है न यात्रा का अन्त करनेवाला भव-सागर का किनारा (सान्त)। वह तो उसे एक अखण्ड, अविनश्वर, शाश्वत, सातत्यपूर्ण, चेतना-प्रवाह मानता है। और हम हैं कि ऐसे अनन्त जीवन के एक सूक्ष्म अंश (वर्त्तमान जीवन) का भी सम्यक् उपयोग नहीं कर पाते।

जीवन विविधताओं की समष्टि भी है। अतः उसके समुचित विकास के लिए अनेक भौतिक और मानसिक उपादानों की आवश्यकता होती है। देशभक्ति इनमें से एक है। हमारे कवि ने इसकी भी उपेक्षा नहीं की है। उसने अपने काव्य-साहित्य में देशभक्ति और राष्ट्रीयता को भी उचित स्थान दिया है। अवश्य उसकी देशभक्ति का दायरा संकुचित नहीं हैं। स्वदेश भक्ति को ओजस्वी अभिव्यक्ति देते हुए भी उसने कहीं पर देश-भर्त्सना या देश-विद्वेष की बू नहीं आने दी है। उसकी देश-भक्ति भी विश्वव्यापिनी है। उसके निर्द्वेष राष्ट्रीय गीतों के भाव किसी भी देश के हो सकते हैं, नाम भले भारतीय हों। उसके राष्ट्रीय गीतों में विश्व सद्भावना के अंकुर हैं। नीचे का गीत प्रत्यायक है—

जन्मभूमि जननी !

भूले अपने सुख-दुख
देख-देख तेरा मुख
नित-नित कितने बीते
मेरे दिन, रजनी !
बनी स्वर्ग तज धन्या
गंगा तेरी कन्या
हिमगिरि-सम उन्नतशिर
सुत-सन्तति भरणी !
विश्व तिमिर सिन्धु-मग्न

होता जब, त्रास लग्न
तिरती तू मन्द-मन्द
ज्योतिर्मय तरणी !
पृष्ठ — ८५)

कवि की राष्ट्रीय भावना भी, इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय भावना में अन्त-र्भूत है। उसकी जन्मभूमि 'तिमिर-सिन्धु-मग्न' विश्व के लिए 'ज्योतिर्मय तरणी' है। वह स्वयं 'सुत-सन्तति-भरणी' है; उसे अपने वत्सों के लिए स्वर्ग लूटने की आवश्यकता नहो पड़ती।

भारत की आत्मा गाँवों में बसती है। अतः कवि की विशाल काव्य-कृति में ग्रामीण परिवेश ही नहीं, ग्रामीण जीवन भी प्रतिच्छायित हो गया है। वह कहती है—

कजली का कल आलाप सुनो,
केका का ललित कलाप सुनो,
पिक के वसन्त में जो न सुना,
चातक का विकल विलाप सुनो।
धानी खेतों की ओर धान के
चलो, बुलाती पुरवाई !
(पृष्ठ — ३५)

अब यदि वह 'जय किसान' का नारा नहीं भी लगाता तो क्या कमी होती है ?

दार्शनिक गहनता, कव्योचित व्यञ्जना, ध्वन्यात्मक सूक्ष्मता के बावजूद 'तीर-तरंग' की शैली सापेक्षतः सरल है। किन्तु इसमें अभिधात्मक ऋजुता नहीं, प्रसादात्मक प्रसन्नता है। सरल शैली में सबल अभिव्यक्ति देने की क्षमता ने कवि को बहुत ऊपर उठा दिया है।

'तीर-तरंग' में मानव-हृदय की सूक्ष्म से सूक्ष्म भावनाओं को स्पष्ट अभिव्यक्ति मिली है। इसके गीत शुद्ध हृदय के अकपट उद्गार हैं—तीव्र-तर अनुभूतियों के यादृच्छिक प्रवाह हैं। ये विवशता की आवेगपूर्ण अभि-व्यक्ति हैं—प्रेम—विह्वलता सजीव, सप्राण चित्रण ! अपनी अटूट आस्था और अडिग विश्वास से कवि पाठकों को असीम आपदाओं में स्थिर रहने, विघ्न-बाधाओं से निपटने, का बल देता है।

इतर भाषओं की दृष्टि मे कवि ने हिन्दी का सिर ऊँचा किया है, अपना विराट् व्यक्तित्व अरपकर उसे स्पृहणीय आस्पद दिया है। भारती-मंदिर

को सजाने के लिए त्याग-त्यागकर नि:स्व हो जाने में भी उसे अपार आनन्द मिलेगा। पर जिसके लिए उसने अपने-आप का अर्पित कर दिया है वही यदि उसे अकिंचन, नि:स्व, नि:सार बताए तो उसके लिए यह बताना आवश्यक हो जाता है कि 'ऐसी हेय दृष्टि से न हेरो; यह तुम्हारी ऋद्धि-समृद्धि मेरी अकिञ्चनता की नींव पर खड़ी है'—

मेरी शिथिल मन्द गात ही क्यों,
गिरि, वन, सिन्धु-धार भी देखो !
पीले पत्रों में बसन्त के
लाल प्रवालों का दल सोता,
काले, जड़ पाषाणों में
रहता उज्ज्वल जीवन का सोता,
आँखों का खारा जल ही क्यों,
उर का मधुर प्यार भी देखो !
बरसाकर अपना रस सारा
नि:स्व हो गई नीरद-माला
वन-वन रँग-रूचि मधु-सौरभ भर
कलियों ने खुद को खो डाला;
ऊपर सूनी डाला ही क्यों,
नीचे हरसिंगार भी देखो !
नभ के शून्य नयन भर आएँ
तो अवनी का ताप भला रे,
शीतल हो जो हृदय किसी का
तो कोई ले मुझे जला रे;
साने का तपना ही क्यों,
तुम अपना कण्ठ-हार भी देखो !

(पृष्ठ—५)

शास्त्री–सदन
गया कॉलेज के पश्चिम,
गया (बिहार)
823001

संस्मरणालोचन : हिन्दी की एक नयी विधा

डा० ब्रजकिशोर प्रसाद, डी० लिट०

संस्मरणालोचन : हिन्दी की एक नयी विधा

☐ डा० व्रजकिशोर प्रसाद, डी० लिट०

संस्मरण साहित्य हिन्दी में प्रचुर-पुष्कल है। परन्तु विश्वस्तरीय सार्वभौम मानदण्ड का अनुप्रयोग हमें तीन-चार गौरव ग्रन्थों की ओर ही दृक्पात से अधिक अध्ययन-मनन की प्रेरणा देता है। संस्मरणों को कहानी के ऊँचे सोपान तक ले जाने का श्रेय महादेवी को है। प्रसाद और निराला को भी स्व-संपादित 'हिन्दी की उत्तम कहानियों' में स्थान न देने वाले शीर्ष्य कहानीकार तथा गल्प-आलोचक आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने "बदलू" को समाविष्ट किया है। दूसरी ओर शास्त्रीजी ने साधारणों या विद्वानों के संस्मरण लिखते समय अपना विश्लेषक-आलोचक रूप ही विशेष प्रकट किया है। इसीलिए उनकी रचनाएँ एक नयी विधा—संस्मरणालोचन-के प्रतिमान हैं। बेनीपुरी की अधिकांश 'माटी की मूरतें' मात्र शब्द चित्र रह गई हैं जबकि उनके सामने महादेवी का मानक-आदर्श प्रस्तुत था। शास्त्रीजी के संस्मरणालोचनों को कलात्मक-काव्यात्मक दृष्टि से देखने पर पता चल जाता है कि वे मात्र जीवनी या विगत अथवा वर्त्तमान का इतिहास नहीं लिखना चाह रहे।

यदि अरस्तू ने प्रायिक असंभावनाओं को अप्रायिक संभावनाओं से श्रेष्ठतर और साहित्य में अधिक ग्रहणीय माना है, तो आनन्दवर्द्धन की भी स्पष्ट उक्ति है—

नहि कवेरितिवृत्त मात्र निर्वंढणेन किंचित्प्रयोजनमितिहासादेव तत्सिद्धेः

वास्तव में, जीवन के जखीरों को साहित्य में स्थानान्तरित नहीं किया जा सकता। केवल इसके कि पं० आत्माराम दूबे गोस्वामी तुलसीदास के पिता थे, सामान्य लोग उनके बारे में और अधिक क्या जानते हैं? शास्त्रीजी के पितृदेव विद्यावारिधि पं० रामानुग्रह शर्मा मात्र मनुष्य नहीं, एक चरित्र के रूप में सुस्थापित हुए हैं, एक व्यक्ति न रहकर व्यक्तित्वसम्पन्न पात्र, वह

भी त्रासदी के जिन्होंने महत्तर के लिए कभी वृहत्तर किंवा उच्चतर को पास भी नहीं फटकने दिया।

साहित्य से आनन्द कोई जीवन-खण्ड नहीं देता, वह खण्ड जिसमें भय, यथार्थ, नृशंसता, सभी अपने जोर और उफान पर हों, इसके उल्टे आनन्द की प्राप्ति होती है मनन-चिंतन के द्वारा जीवन के विरलीकरण से। कलात्मक चिंतन-मनन और यथार्थ के निवेड़न-चुनाव की अपेक्षाकृत श्रमसाध्य परिपाटी के द्वारा तथ्य-कथ्य से ऊपर उठकर उसके कल्पित होने का ज्योनार परोसना बहुत ही कठिन है। किन्तु कलात्मक परिष्कृत प्रस्तुति से नि:सृत होता है साधारण प्रसन्नता नहीं, वह आनन्द जो सामान्य-साधारण से दूर हटा होता है, सादृश्य के अभाव में हम उसे लोकोत्तर कहते हैं। अत: तथ्य को कल्पित की भाँति चला देना महत्वपूर्ण कलाकार का नियत कार्य है। अगर शेक्सपियर में है।

.........and gives to airy nothing
A local habitation and a name,

तो मेरे तर्कों का मण्डन ही होता है। पं० रामानुग्रह शर्मा गाँव के एक नहीं-कुछ रह जाते, यह शास्त्रीजी का कौशल और भाव है जो रस देता है, सर्वजन को आह्लादित करता है "पितृदेव' का पाठ कराकर।

"सजीवता के संयम का आभास मिलता है। दुर्दैव का वह साहसी प्रतीकार, दैन्य का वह कर्मठ अस्वीकार, उत्तरदायित्व का वह मौन चैतन्य मेरे व्यक्ति-वाचक पिता की भाव वाचक संज्ञा है"।[1] यही हंसबलाका में हो जाता है, सजीवता के अतिरिक्त संयम का आभास आदि (पृ० 66)

ऐसे विधुर पिता उन्हें "रौद्रवात्सल्य" देते थे। कुल्ली भाट में जो निराला के पिता का चित्र उभरता है करीब-करीब वैसा ही। पर शास्त्रीजी के पितृदेव किसी दूसरे का, पाठशाला के गुरू तक का भी, पीटना बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। हंसबलाका में लगभग दो पृष्ठ जुटने पर शास्त्रीजी का 'पितृदेव' अब पूर्ण हुआ है। प्रत्येक संस्मरणालोचन पुस्तक में उन्होंने जो अपने पिता का थोड़ा-थोड़ा स्वरूप निखारा है उससे स्पष्ट हो जाता है उनसे वे कितना जुड़े रहे हैं! उनके पिता अवश्य ही इसी तथ्य—

'माता शत्रु: पिता वैरी येन बालेन पाठित:' से परिचालित थे, खूब रग-रेशे से समझते थे, श्लोक में "पालित:" नहीं है। इसी कारण जब शास्त्रीजी ने

1. स्मृति के वातायन, पृ० 118

अपने सोलहवें वर्ष में एक पत्र में आत्मनेपदी-परस्मैपदी रूप के चक्कर में क्रिया की एक अशुद्धि कर दी तो इकलौते बेटे की बीमारी का रंच भी ख्याल न करते हुए उनके पिताजी ने लौटती डाक से ताड़ना ही दी, शुद्ध प्रयोग बताते हुए। उन्हें सदा-सर्वदा यही मथता रहा था कि उनके पुत्र को कोई दूसरा न कहीं किसी चीज में, आचार-व्यवहार से लेकर मेधा पाण्डित्य में, गलत साबित कर दे।

एक असाहित्यिक की डायरी में यह स्थल है : "जब मैंने घर छोड़ देने का निर्णय ले लिया, वह फफक कर रो पड़े और फिर कभी धुलाई न करने की प्रतिश्रुति से मेरे पाषाण प्राणों को पिघलाने लगे।" "पितृदेव" का सबसे मोहक रूप तब उजागर होता है जब डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी निराला-निकेतन में पधारे थे। हंसबलाका के पृ० 337 पर है :

"पिताश्री ने एक झटका दिया : क्या देख रहे हैं ? वह केवल कवि न थे, परमहंस भी थे। मैं उनके साथ दारागंज में रह चुका हूँ त्रिवेणी स्नान कराने ले गए तो रास्ते भर मुझसे संस्कृत में ही बोले, कालिदास के त्रिवेणी संगम वाले श्लोक (क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैः)……… …सुनाते रहे। मेरे लिए नए घड़े में गंगाजल भरकर ले आए। अपने हाथों चौका धोकर, बर्तन माँजकर, "और चावल परोसिए, दाल में यह पूरा घी छोड़ दीजिए" कहते रहे। मैंने लाख मना किया, नहीं माने। वैसा इस युग में और कौन होगा ? जब उनका स्वर्गवास हुआ, जानकीवल्लभ ने अपने इस उपवन-भवन का का नाम निराला निकेतन रख दिया और तभी से यहाँ उनकी नियमित पूजा होने लगी। क्यों न हो, वह क्या किसी भी देवता से घट कर थे ? आप तो स्वयं विद्वान हैं, शिवस्वामी का सूर्यास्त वर्णन अवश्य पढ़ा होगा ?

प्रणतिपरायणा परिकल्प्य दिनापचये
परिणतिमीयिवांसमभिध्यमशीतकरम्
करपुटकुड्मलानि नियमेन को जगता ?
न हि महतां क्षीयते गुणगौरवमेति हतिम्।

सायं सान्ध्योपासना में कमल की पंखड़ियों सी जुड़ी हुई प्रणतजनों की हथेलियाँ जगत को जैसे यही जताती हैं कि सूर्य जैसे महान तेजस्वी का अस्त होने पर भी उसके गुण गौरव में अन्तर नहीं आता। वस्तुतः भारतीय संस्कृति केवल उगते सूरज को ही नहीं नमस्कार करती।"

यहाँ पर पितृदेव और निराला दोनों ही के वे कई-कई गुण एवं आयाम सुस्पष्ट करते हैं। निराला में कुछ अतीन्द्रिय [1] था, वे अतिथि और श्रद्धेय को आदर देते थे, कालिदास को काफी पढ़ चुके थे, रघुवंशम् के त्रयोदश सर्ग के श्लोकों की पहचान उनका काव्य पारखी तथा आलोचक रूप भी बता रहा था, और अंत में यह कि हिन्दी-बंगला की ही भाँति संस्कृत अबाध गति से बोलते थे।

पितृदेव केवल क्रोधी नहीं थे, गुणग्राही और संवेदनशील (विनोदप्रिय भी) उससे बढ़ कर थे, उचित आदर देने की विवेकात्मक क्षमता थी उनमें अन्यथा टंगे चित्र की नियमित पूजा की भर्त्सना भी करना उनके लिए दूर नहीं था, और सबसे बढ़कर भारतीय संस्कृति के अन्तस्तल तक जाते थे, जानते थे यहाँ मात्र उगते सूरज की नहीं, डूबते-डूबे की भी पूजा होती है।

शास्त्रीजी के संस्मरणालोचनों में यह श्लाघ्य है कि एक पुस्तक में उठाई हुई बात का समाधान उसमें नहीं तो दूसरी में हो जाता है। 'स्मृति के वातायन' में उदयशंकर भट्ट के सवाल का जवाब देते हुए उन्होंने लिखा है : "जीवन ही नहीं, कविता में भी निराला औघड़ हैं.........।" यदि उनकी अतीन्द्रियता की चर्चा डायरी में है, तो उनके इतर स्वभाव की अष्टपदी में—"निराला ने ढेर सारी सब्जियों पर एक नजर डाले बगैर ही मीटवाला कटोरा खाली कर दिया।

मैं यहाँ आठ साल से रह रहा हूँ। इतने लम्बे अन्तराल में एक भी ऐसा नहीं आया था जिसका यहाँ सामिष भोजन से स्वागत हुआ हो। निराला के माध्यम से आज जाना, बाबू साहब किसी अन्धजाल में फँसनेवाले प्रकाश विहग नहीं हैं। वह उस स्थिति को उपलब्ध हो गए हैं, जहाँ मन अपनी आत्यन्तिक गहराइयों से जुड़ जाता है, सतही झिलमिली उसे नहीं चुँधियाती" (पृ० 252)

इतने पर भी शास्त्रीजी के ये संस्मरणालोचन न जॉनसन के लाइव्ज ऑव द पोएट्स हैं, न मीर तकी मीर का निकातुश्शोरा। इनमें संस्मरण प्रधान हैं (बहुत सारे व्यर्थ प्रचार का खंडन हो जाता है), आलोचना संस्मरणात्मक स्थलों प्रसंगों से फूटती है। यहाँ न जीवनी लिखना और न साहित्यालोचन करना ध्येय है, दोनों को मिलाने की कारयित्री प्रवृत्ति है। सबसे बड़ा खंडन यह नहीं है कि प्रसाद कभी कहीं नहीं जाते थे, न कविता ही सुनाते थे, बल्कि यह कि निराला की "जुही की कली" 1916 की वसंत पंचमी को ही लिखी गई थी

1. एक असाहित्यिक की डायरी पृ० 4 पर और स्पष्ट

बावजूद इसके कि डा० राम विलास शर्मा पंत के दिये नाम को चरितार्थ करते हुए कुछ भी यहां तक कि निराला को सरासर झूठा—लिख जाने की तकलीफ गवारा करते रहे।[1] मुझे बहुत डा० शर्मा को बताने की जरूरत नहीं कि उन्नीस-बीस की कम उम्र में बहुत ही महत् रचना करने वाले न केवल विदेश में हो सकते हैं बल्कि अपने यहां भी। अब लोग भले ही शोध प्रबन्धों के द्वारा यह सिद्ध कर दें कि रिमबाँ इक्कीस की अवस्था तक लिखते रहे पर इस प्रथम श्रेणी के कवि ने उन्नीस के बाद कविता करना छोड़ दिया था। अंग्रेजी में भी शेरिडन-जैसे नाटककार ने चौबीस-पच्चीस के भीतर-ही भीतर सबकुछ महत्वपूर्ण लिख डाला था और रिमबां की तरह ही दशाब्दियों पहले कांग्रीव ने तीस के बाद नाटक लिखना श्रेयस्कर नहीं समझा था। और यही भी है कि ये तीनों काल की इस निजी लक्ष्मण रेखा के बहुत आगे तक शक्त और जीवित रहे थे। अगर स्वयं शास्त्री जी पर डा० शर्मा ध्यान देना हतक-इज्जती समझते हैं तो षोड्स वर्षीय कवि देव बहुत पहले से प्रसिद्ध हैं।

इन संस्मरणालोचनों के एक-एक अनुच्छेद में नयों को काफी जानकारी मिल जा सकती है। उदयशंकर भट्ट कभी वैद्यभूषण उदयशंकर शास्त्री "हृदय" थे, काफी कमलोग जानते रहे हैं, "और निश्चय ही यह कोई विश्वरथ के विश्वामित्र होने जैसी घटना नहीं है और न इसे सूरज प्रसाद तिवारी अथवा सूर्य्य कुमार त्रिपाठी के सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', अथवा गुसाईदत्त पंत के सुमित्रानन्दन पंत के रूप में परिवर्त्तित हो जाने जैसा अर्थ-गौरव प्राप्त है,—फिर केदार पाण्डे से राहुल सांकृत्यायन तक के विकास का इतिहास भी इसमें कहीं निहित नहीं है।"[2] यह वाक्य सामान्य ज्ञान बढ़ाने को अलम् है।

शास्त्री जी किसी को छोड़ते नहीं हैं और तब उनका व्यंग्यकार उनका सदा साथ देता है बशर्ते धराशायी करने की कोशिश विपक्षी की तरफ से शुरू हुई हो :

कश्चित् : "निराला और पन्त में कौन बड़ा है ?"

शास्त्री जी—"निराला"

कश्चित्—"आपको सेब ज्यादा पसंद है या नारंगी ?

शास्त्रीजी : "खट्टे अंगूर" (कहकहा)[3]

काशी के मेरे मित्र, कबीर साहित्य के आधिकारिक विद्वान और नये

1. द्रष्टव्य अष्टपदी पृ० 238-241 पुन: 247
2. स्मृति के वातायन पृ० 118
3. हंसबलाका, पृ० 260

आलोचकों में उच्चस्तरीय डा० शुकदेव सिंह ने, सम्भवतः, अपने गुरू का ख्याल ज्यादा किया है, सत्य का उद्घाटन कम।" नयी कहानी की पहली कृति "भेड़िये" में उनका वाक्य यह है।[1]

"आम तौर पर नामवरजी इस तरह की बातें अपने बुजुर्गों से भी नहीं करते। अपने विद्यार्थी से—एक अदना विद्यार्थी से—ऐसा कहना न केवल आकस्मिक था बल्कि उत्साहवर्धक भी था।" शायद इसी का जवाब पहले से तैयार किये बैठे थे शास्त्रीजी मेरे लिए।[2]

"डा० नामवर सिंह विचार गोष्ठी के प्रवर्तक थे. डा० नगेन्द्र परिश्रम से तैयार किया हुआ पेपर पढ़ रहे थे, इधर दाईं ओर बैठे मोहन राकेश और डा० निर्मला जैन से मुसकिराती आँखों मेरा निःशब्द नमस्कार चमत्कार चल रहा था। इतने में डा० नगेन्द्र ने पेपर समाप्त करते हुए बिना किसी पूर्वापर प्रसंग के मेरा नाम पुकार दिया कि अब इस विषय पर मैं अपने विचार व्यक्त करूँ।

मैं अचकचा कर उठा और असमंजस में पड़ा-सा अधीर स्वर में बोला :

"इस, किस विषय पर ?

प्रश्न का अटपटापन पूरे हाल को हँसाने में कामयाब हो गया। नामवर जी ने विषय बताया : "परम्परा, परिवेश और प्रगति।" मैंने कहा—निकले थे हरि भजन को ओटन लगे कपास"—इसे ही कहते हैं शायद। मैं तो यहाँ व्यास जी से अर्थ प्राप्त करने आया था, परिवेश ने मुझे नाजायज ढंग से शब्द-सम्प्रदान कम्पनी में शरीक कर लिया। बहरहाल मेरे भाषण से हाल बेहाल रहा। खूब तालियाँ पिटीं, श्रोताओं ने भरपूर रस लिया। करैला नीम चढ़ा। प्रवर्तक डा० नामवर सिंह ने यह कह कर सही वकलम खास कर दिया कि हाथी के पाँव में सब पाँव समा जाते हैं। "सर्वे पदा हस्ति पदे निमग्नाः।" अब उन्हें और कुछ कहना नहीं है।

हाल तालियों की गड़गड़ाहट से भर गया। जटायु ने जैसे रावण पर चोंच चलाई और डैनों से झपट्टा मारा—डा० नगेन्द्र के साथ शिक्षा और संस्कृति लपेटे सत्यदेव चौधरी थे। वह रोष आक्रोष से भरे-भरे से कुछ कह रहे थे। जैसे डा० नगेन्द्र के बराबर मैं किताबें न छपा सका तो……… तो मुझे साहित्यार्णव के विलोल हिल्लोलों से हँसते हँसते खेलने का साहस कैसे हुआ ?

1. हंस—मई 1991, पृ० 14।
2. हंसबलाका, 1983, पृ० 403।

मैं चौधरी जी या डा० नगेन्द्र को किस विधि समझाता कि मुझ सा निर्जल बादल पलभर को नील गगन के निर्मल अन्तस्तल को निनादित, प्रकाश से चुंधिया भी दे, रस बरसना उसकी नियति नहीं है। मेरा दम्भ दर्प उन्हीं के अथर्व गर्व-गौरव पर निर्भर है।

छात्र-छात्राओं का दल हस्ताक्षर के लिए उमड़ा पड़ रहा था कि मोहन राकेश ने गले-गले मिलकर कहा : "आषाढ़ का एक दिन" आपकी सी परम्परा की अपरम्परित व्याख्या का ही परिणाम है।

मैंने निषेध में सिर हिलाया, नहीं, अपरम्परा का नहीं, वह "वाणभट्ट की आत्मकथा" की परम्परा का है। वहाँ जैसा बाण, यहाँ वैसे ही कालिदास हैं।

भाषण में मैंने परम्परा के स्टेटिक रूप का तर्क-युक्ति-प्रमाण-समेत परिहार किया था।"

अज्ञेय का आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के साथ काफी दोस्ताना सलूक रहा करता था। इनकी ओर से पर्याप्त सम्मान। पर जब अज्ञेय ने कहा—

"जानते हैं, मेरी साहित्यिक गति-विधि का आरम्भ एक तरह से, इसी जब्बलपुर शहर से हुआ था। हितकारिणी सभा हाई स्कूल के वार्षिकोत्सव के लिए मैंने एक अभिभाषण ......

हाँ-हाँ मैंने पढ़ा है। "त्रिशंकु" का वही तो पहला निबन्ध है।

हाई स्कूल के स्तर से बहुत ऊँचा है वह लेख। आप बुरा न मानें तो उसके सम्बन्ध में कुछ निवेदन करूँ।

अज्ञेय जी की मद्धम आवाज और नरम और मुलायम हो गई।

मैंने कहा : उस निबन्ध में आपने लारेंस का लम्बा उद्धरण दिया है, रवीन्द्र नाथ का कहीं नाम तक न लिया। उनके शिक्षा सम्बन्धी मौलिक विचारों का आपका निबन्ध ऋणी है।

उन्हें मेरी बात पर विस्मय हो रहा था तो मैंने हँसाने के अभिप्राय से बताया कि बीस तक कालिदास और बीस से पच्चीस की उमर तक में मैंने रवीन्द्रनाथ का सारा साहित्य पढ़ डाला था।"

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की यही सत्यासक्ति है। परन्तु अज्ञेय का शील उन्होंने कैसा उभारा है। वे मात्र आश्चर्य में पड़ गए, तिनके-पिनके

1. हंसबलाका, पृ० 416।

नहीं और मित्र की तरह शास्त्री जी से मित्रवत व्यवहार किया।[1]

"उन्होंने झटपट अपना बिस्तर लपेट लिया, उन्हें दिल्ली के लिए गाड़ी बदलनी थी। मुझे चुपचाप बैठे रहने के लिए कहा और आप तेज कदम चलकर भीड़ में खो गए। कुछ देर बाद लौटे तो हँसते हुए मेरे हाथ में पटना तक का एक टिकट थमाया :

आपकी यात्रा सीधी है बैठे-बैठे इसी से पहुँच जाएँगे।

"शुभास्ते सन्तु पन्थान:"। फिर हौले-हौले खिसकती हुई गाड़ी से अपना सामान उतारते बोले।"

शास्त्री जी में तथ्यातथ्य वर्णन के लिए प्रयुक्त शब्द—

आज, पीछे चलकर, इस साल, फिलहाल, आदि-शेक्सपियर या दॉस्तोवेस्की का समय चिह्न हो जाता है जहाँ व्यवधान और अन्तराल परिष्कृत गद्य से फूटते कवित्व में तिरोहित हो जाते हैं। अंथेलो की शंका डेसडिमोना पर होती है। वह ऐसी-ऐसी बातें करता है मानो क्लॉडियो के साथ कई वर्ष के सम्बन्ध रहे हों उसकी पत्नी के जब यथार्थता यह है कि मात्र पूरे चौबीस घंटों का भी बिछोह नहीं हुआ है पति-पत्नी में। उसी तरह करमाजोव-बन्धु में कुछ सप्ताह की घटनाएं भावनाओं की गहनता के चलते वर्षों पुरानी लगती हैं। काल-खण्ड को दिक्कालातीत भाव दे देना शास्त्री जी के लिए भी कहीं कठिन प्रतीत नहीं होता।

डा० बच्चन के, क्या भूलूँ, क्या याद करूँ (आत्मकथा) के खण्डों के अलग-अलग नाम हैं। स्मृति के वातायन (1968) पन्द्रह वर्षों बाद हंसबलाका (1983) तथा समुचित क्रम से कर्म क्षेत्रे मरू क्षेत्रे (1985) एक असाहित्यिक की डायरी (1988) और अष्टपदी (1992) सभी के लिए एक उपयुक्त शीर्षक दिया जा सकता है। डा० बच्चन में फलक बहुत बड़ा है। देश-विदेश सभी समाहित हैं। पर चरित्रों के संस्मरणालोचन उतने हृदयग्राही और तटस्थ नहीं। माना वे डा० अमरनाथ झा के उपकृत सदा-सर्वदा रहे, पर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के विद्वान प्रो० देव का उनके द्वारा हिजो मचाना कुछ जंचता नहीं। प्रो० देव सिर्फ किताबों के बंडल नहीं ढोया करते थे, प्रज्ञान्ज्ञान भी रखते थे। यही कारण है ऑक्सफोर्ड कम्पैनियन टु इंगलिश लिटरिचर के नवीनतम संस्करणों में उन्हें सम्पादक प्रशस्ति और कृतज्ञताभार मिले हैं। डा० बच्चन की आत्मकथा के कई संस्करण हो चुके हैं, पर कथ्यों क्या भाषा, व्याकरण, वर्ण-

1. एक असाहित्यिक की डायरी, पृ० 14

विन्यास के शुद्धि-संस्कार की ओर प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय लेखक ने ध्यान नहीं दिया है। इतना लिखने का कारण मात्र यह है कि कुछ दिन पहले एक अंगरेजी साप्ताहिक में तबके-"धर्मयुग"—सम्पादक डा॰ धर्मवीर भारती ने उस पुस्तक को कुछ लम्बे वर्षों के दस उल्लेख्य ग्रन्थों में रखा था। यह नहीं समझा जाना चाहिए कि प्रो॰ देव की आलोचना कभी हो ही नहीं सकती, सप्रमाण खूब ही अपेक्षित होनी चाहिए थी और सहृदयों को भाती भी, लेकिन महज मजाक उड़ाना थोड़ा अशोभन लगता है। शास्त्री जी ने वैसे पूरी विनम्रता दिखायी है सभी के साथ पर साहित्यिक, रूचि सम्बन्धी असंगतियों-विसंगतियों के लिए किसी को भी छोड़ा नहीं है भले वे राहुल सांकृत्यायन हों, डा॰ द्विवेदी, अज्ञेय या और कोई। कभी-कभी तो उनके आतंक से डा॰ नामवर सिंह को अपना भाषण करना अच्छा नहीं मालूम पड़ा। शास्त्री जी के सभी के साथ जूझने में एक बलवती प्रेरणा है—"निराला ने उच्छवसित स्वर से प्रशंसा का सेतु बांधते हुए कहा" :

"मैं किसी एक ही रूचि का कायल नहीं हूं। कभी मैंने भी कुमार—सम्भव, मेघदूत, नैषध, विद्या-सुन्दर आदि पढ़े थे। पिछले बारह वर्ष युद्ध करते बीत गए। मुझे हिन्दीवालों का संस्कार दुरूस्त करना पड़ा। नहीं तो वे अपने ही कुएँ के मेढ़क बने रह जाते। सिर्फ लिखना ही काफी नह होता। समझ पैदा करना जरूरी है।[1]

"सिर्फ लिखना ही काफी नहीं होता। समझ पैदा करना जरूरी है।" इस दृष्टि से भी महान्, निराला को शास्त्रीजी ने अपना बहुत-कुछ गँवा कर साथ दिया है और पाठकों का रूचि-परिष्करण उनका ध्येय रहा है। इसी संदर्भ में उनका कितना व्यंग्यपूर्ण पर करूण वाक्य है—"अब जो जानने की तरह संस्कृत नहीं जानता, उसे वाल्मीकि रचेंगे।" एक असाहित्यिक की डायरी, पृ॰ 7

'आनन्द आया कि उसकी (बाणभट्ट की आत्मकथा) सबसे मुखर समीक्षा उन्होंने की जो न वाणभट्ट को (मूल में) तब पढ़ सकते थे, न अब पढ़ सकते हैं।[2]

कभी कलीम साहब (उर्दू के अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि के दिगार तनकीद के कलीमुद्दीन अहमद, तथा मेरे मानने वाले प्रोफेसर, कक्षा-क्रम संख्या याद रखनेवाले) ने झट-झट और ज्यादा-ज्यादा उद्धृत करने वाले कई अंग्रेजी-उर्दू

1. एक असाहित्यिक की डायरी, पृ॰ 14 2. हंसबलाका, पृ॰ 370

प्रोफेसरों-आलोचकों को एक सभ्य चुनौती दी थी कि वे जेम्स ज्वाएस से कुछ स्थल बिना किसी 'कुन्जी' की मदद के समझ कर सिर्फ अर्थ कुछ बतावें।

"महादेवी जी का "सप्तपर्ण" समीक्षार्थ मिला था डा० नगेन्द्र द्वारा सम्पादित दिल्ली विश्वविद्यालय प्रकाशन के किसी त्रैमासिक के लिए। मेरी समीक्षा से महादेवी जी से सम्बन्ध बिगड़ जाने का जोखिम उठाना पड़ता उन्हें। मैंने निबन्ध मंगवा कर रास्ता साफ कर दिया। वेद और संस्कृत क्लासिक और पालि-प्राकृत से अनूदित "सप्तपर्ण की प्रशस्ति दिनकर जी ने लिखी।

हिन्दी की यह त्रिकुटी लोक वेद की सर्वविदित संगम-भूमि रही है। "परस्परं भावयन्तः श्रेयः परम-वाप्स्यथ"—गीता ने झूठ कहा है, पद पर 'प्रेयः परमवाप्स्यथ' का चमत्कार अवश्य प्रत्यक्ष होता रहा है।"[1]

"परस्परं भावयन्तः श्रेयः" को ही मानस पर खिला कर शास्त्रीजी समझदारी पैदा करना चाहते रहे हैं। यहीं वे एलियट और डा० लीविस के Common pursuit (सामूहिक अनुसरण) से तदाकार हैं। कहना न होगा यह सामूहिकता की बात किसी शिविर वाली नहीं है बल्कि, निष्पक्षता और प्रतिभा की पहचान की तलबगार है। यह भी द्रष्टव्य है कि वे अपने-देखने के लिए अच्छे थियेटर सिनेमा को भी त्याज्य नहीं मानते। अष्टपदी में तो सिर्फ 'रामशास्त्री का जजमेन्ट सुनाया जाने वाला हो।"[2] हंसबलाका की "अजन्ता की ओर" में राजकपूर की कला पर विशद चर्चा है, श्री दिलीप कुमार से तुलना भी। ऐसे स्थल आलोचक की विशाल हृदयता, वीक्षण विस्तार, मुख्य-गौण पद समझ-बूझ देख-सुन कर ही कुछ लिखने-बोलने की आंतरिक आस्था का समा उपस्थित करते हैं। एलियट ने जासूसी उपन्यासों के अध्ययन से भी मुँह नहीं मोड़ा था, और मेरी ल्वायड-जैसे लेखों में लिटल टिच का भी जिक्र करना उनकी कलात्मक जागरूकता ही उजागर करता है।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के लिए शास्त्रीजी को ही नहीं, निराला को भी यह भान होता था कि डा० द्विवेदी की चर्चा जरूरत से ज्यादा होती रही

1. हंसबलाका, पृ०-370
2. अष्टपदी, पृ०-178

है और सम्मान सफलता के अनुपात में कहीं अधिक मिलता रहा है। मुझे भी निराला-दर्शन का सौभाग्य 1948 में केवल आध-पौन घंटे के लिए प्राप्त हुआ था। उनसे आशीर्वाद बरसे। मैं समीप ही बैठा था। वे चुप। फिर बुदबुदाने लगे बिना किसी प्रयोजन "हजारी प्रसाद हजारी प्रसाद सुनते-सुनते कान पक गए।" मैंने तब तक हिन्दी साहित्य की भूमिका थोड़ी पढ़ी थी। तो, डा० द्विवेदी से शास्त्रीजी को संस्कृत वाङ्मय के ज्ञान-सम्बन्धी अधिक अपेक्षाएँ थीं। उनके सम्बन्ध में यह लागू नहीं होता :

"संस्कृत की बंजर धरती पर मोती की खेती उगानेवालों की हिन्दी में कमी नहीं है। बाबू गुलाब राय से लेकर डा० रामविलास शर्मा तक ने इस सिलसिले में पण्डितराज की प्रख्यात परिभाषा उद्धृत की है और रमणीयता का अर्थ—"क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति" बताया है। हिन्दी में बिच्छू का मंतर न जाननेवाले भी साँप के बिल में बेधड़क हाथ डालते हैं।"[1]

किन्तु शास्त्री जी विदग्ध वक्तव्य देते हैं : "उनके लिए संस्कृत साहित्य के क्षेपक—जैसे विषयों पर आचार्य द्विवेदी का प्रवचन कर्णामृत है; किन्तु जहाँ उसकी शास्त्रीय दुरवगाहता है वहाँ उनका मौन अट्टहास ही गूँजा है, पंत जी को कालिदास कहकर उन्होंने "लालित्य योजना" के भारी श्रम को "घड़ी में तोला घड़ी में माशा" कर दिया है, फिर इस उजली कसौटी पर निराला का सोना चमकता तो कैसे ?

समाजशास्त्रीय अथवा ऐतिहासिक कसौटियाँ साहित्य की समग्रता की परख न रखें तो इसमें दोष किसी का नहीं है। फालूदा खाते दाँत टूटे तो बला से। द्विवेदी जी पर आचार्य चन्द्रवली पाण्डे-जैसों के आक्षेप पूर्वाग्रहयुक्त नहीं हैं।"[2]

डा० द्विवेदी किस प्रकार रटी हुई चीज से रोब गालिब करने और अपने अंग्रेजीदाँ होने का आतंक प्रो० महेन्द्र प्रताप—जैसों पर जमा देने में माहिर थे, इसका व्यंग्य भरा चित्रण दर्शनीय है।

"उन्होंने आपसे आगम पर कुछ प्रश्न किए और आप अंग्रेजी में धारा-प्रवाह बोलने लगे तो मैं स्तब्ध रह गया।" ...... कभी "शक्ति एण्ड शाक्ताज तथा सर्पेन्ट पावर पढ़ते समय मुझे इस बीहड़ से गुजरना पड़ा था, तभी आपकी भाषा हलक के नीचे उतरती चली गयी थी।"[3] "यह वैसा ही है जैसा

---

1. हंसबलाका, पृ० 258 2. तथैव, पृ० 340 3. हंसबलाका, पृ० 337

अज्ञेय को रवीन्द्र की याद करा देना। इतना ही तहीं शास्त्री जी कुछ और कहना चाहते हैं।" मुझे कहने दीजिए कि द्विवेदी जी संस्कृत के अच्छे जानकार हैं, उनके (गुलेरी जी)—जैसे प्रकाण्ड पण्डित नहीं। 19 वीं शदी की देन के रूप में महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा और महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्मा अभी कल तक हमारे जयस्तम्भ थे। एक ने अंग्रेजी में दूसरे ने संस्कृत और हिन्दी में अपनी विद्या का वैभव विश्व भर में प्रकट किया है। निबन्धावली में संकलित शर्मा जी के निबन्ध उस युग के माइल्स्टोन जैसे हैं।[1]

डा० द्विवेदी के कथन "हिन्दी साहित्य एक हतदर्प पराजित जाति की सम्पत्ति है "वह एक निरन्तर पतनशील जाति की चिन्ताओं का मूर्त्त प्रतीक है" मैं इन बातों का प्रतिवाद करता हूँ, यह कहने का साहस करता हूँ, जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।"[2]

दिमाग खपाने पर इतना अवश्य लगता है कि, माना, डा० द्विवेदी के अर्थानुसार, हिन्दी हिन्दुओं का भाषा-साहित्य है, पर पर्वत से समुद्र तक, पूरब से पश्चिम तक सभी हिन्दू हिन्दी के कहाँ हैं। और जिन्हें मुसलमान अधिकृत नहीं कर पाये थे, उनका साहित्य क्या हिन्दी साहित्य से आमूलचूल भिन्न है ? फिर भी इतना मानना पड़ेगा कि शास्त्री जी और डा० द्विवेदी दोनों में सत्य भिन्न प्रकार का है। हिन्दी साहित्यिक इस्लामी या अंग्रेजी ताकतों से लड़ते-जूझते रहे, जागो फिर एक बार करते रहे, पर हिन्दू जाति ऐसी गिरी हुई जाति है जो इस्लाम से धराशायी होने के बाद उठने का नाम नहीं लेती। देश को बाँट कर आज फिर अपनी हरकतों से दुबारा बाँट के लिए राजी मिनटों में हो जा सकती है, बशर्त्ते उसे विगत स्वतंत्रता प्राप्ति-जैसा ही कोई शब्जबाग दिखला दिया जाय।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की चिन्तामणि को प्रथम स्थान न देना एक बात है, पर शुक्ल जी के नाम पर बसाई जानेवाली कॉलोनी का नाम "रवीन्द्रपुरी करा देना डा० द्विवेदी का ही कमाल था—तुर्रा यह कि उस इलाके का नाम—लेवा एक भी नहीं था सिवा द्विवेदी जी थे। शास्त्री जी का वाक्य और भी हृदयग्राही है—"वह कभी पाणिनि-पतंजलि से प्रमाण नहीं देते थे, मैक्समूलर

---

1. तथैव, पृ० 351   2. तथैव, पृ० 354

से ग्रियर्सन तक को उद्धृत करते थे। इतिहास पर उनका अखण्ड विश्वास था।" जिस हिन्दू जाति को डा० द्विवेदी पतनशील कहते हैं, उसका प्रमाण खुद उपस्थित करते हैं हरदम पश्चिम का मुँह जोह कर, अपने को अनादृत कर भी।

एक और नमूने से अन्त करना चाहूंगा : "अवश्य द्विवेदीजी मौखिक ही धारा प्रवाह बोले जा रहे थे, किन्तु कैसा इन्द्रजाल कि छपे हुए भाषण से एक बिन्दु-विसर्ग का भी कहीं अन्तर न था[1]।"

डा० द्विवेदी की सर्वग्राही शैली को उद्घाटित करते हुए शास्त्रीजी के पाण्डित्य और वैदग्ध्य के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं [2] :

"एक अकेले, अशोक के फूल" में पन्त, प्रसाद निराला वाले

कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन
वह सुवर्ण का काल ?
भूतियों का दिगन्त छवि - जाल,
ज्योति - चुम्बित जगती का भाल ?

—पन्त

चिर किशोरवय, नित्यविलासी—
सुरभित जिससे रहा दिगन्त
आज तिरोहित हुआ कहाँ वह
लघु से पूर्ण अनन्त वसन्त ?
अब न कपोलों पर छाया - सी
पड़ती मुख की सुरभित भाप
भुज-मूलों में शिथिल वसन की
व्यस्त न होती है अब माप।

—प्रसाद

---

1. हंसबलाका, पृ० 368 2. तथैव, पृ० 373

बता, कहाँ अब वह वंशीवट ?
कहाँ गए नटनागर श्याम ?
चल चरणों का व्याकुल पनघट
कहाँ आज वह वृन्दा - धाम ?
कभी यहाँ देखे थे जिनके
श्याम विरह से तप्त शरीर,
किस विनोद की तृषित गोद में
आज पोंछती वे दृग - नीर ?
—निराला

—छायावाद का भरपूर आस्वाद भी है ।

कहीं-कहीं ज्योतिषाचार्य डा० द्विवेदी-जैसों से भी शास्त्री जी दो-टूक कहने में नहीं हिचकते : "उस भाषण में कल्प शब्द का निर्वचन निर्णायक तत्व था कि सृष्टि के पहले कल्प (द्विवेदी जी के अनुसार कल्प अर्थात् कल्पना) आवश्यक है । ....आपकी अन्तरात्मा विधायक तत्वों से ओत-प्रोत हो गई, निषेधात्मक को भी विधेयात्मक दृष्टि देने में आपका कोई जोड़ नहीं । मैं अब तक "संवर्तः प्रलयः कल्पः क्षयः कल्पान्त इत्यादि" के साक्ष्य से कल्प का अर्थ प्रलय समझता था अथवा "शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—वेद के इन षडंगों में उसे एक विधि या कर्मकाण्ड—जैसा शास्त्र विशेष । आपका कल्पना वाला अर्थ मुझे अत्यन्त चमत्कारी प्रतीत हुआ । पूरा भाषण मौखिक होने पर भी ऐसा सिलसिलेवार, कहीं लक्ष्य से चूके नहीं, करारेपन को दाग न लगे, कहीं लीपापोती की कोशिश नहीं—मजा आ गया ।"[1]

डा० द्विवेदी पर लिखा हुआ संस्मरणालोचन इस अर्थ में भी महत्वपूर्ण है कि इसमें शास्त्री जी के अपने आलोचनात्मक सिद्धान्त और विनिमय—विनियोग के अंश सर्वाधिक हैं । सूक्ष्म शाब्दिक विश्लेषण को अपना आलोचनात्मक उद्देश्य बनाकर चलनेवाले शास्त्री जी इलियट ग्रेव्ज लीविस से घटकर कहीं नहीं लगते । परन्तु वे एमरसन की भाँति अर्थों के निकालने की कलाबाजी में विश्वास नहीं करते । इसी सन्दर्भ में डा० द्विवेदी से अपने हिन्दू

1. हंसबलाका, पृ० 382-83

विश्वविद्यालय के जीवनकाल का ही एक वार्तालाप प्रस्तुत करते हैं:—
"... ...निराला की "तुम और मैं" और पन्त की "छाया" पाठ्यक्रम में निर्धारित थी। मेरी पढ़ाई पर रीझ कर दोनों ने "भैया" से मेरी तारीफ की, तब तक मेरी 'काकली' भी छप चुकी थी और चांद-माधुरी आदि में भी चांदमारी जारी थी। इस बार 'भैया" बनारस आये तो मुझसे जी खोलकर मिले, दरअसल भाइयों की सिफारिश पुरअसर साबित हुई थी। पूछा कि कैसे पढ़ाता हूं? मैंने कहा—आप आलोचक किसी छोटी-मोटी रचना की जाँच-पड़ताल किसी विशाल पट पर—ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में करते हैं, मैं सिर्फ कविता पढ़ता-पढ़ाता हूँ कि अपने आप में वह किस हद तक बनी-बिगड़ी है। मिसाल के तौर पर आप छाया-वाद और रोमांटिसिज्म की सृष्टि, स्थिति और प्रलय पर, दोनों की समता—विषमता पर, प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत करेंगे, तब मैं केवल यह सोचता हूंगा कि निराला ने "तुम तुंग हिमालय शृंग" की जगह यदि "तुम अचल हिमाचल शृंग और मैं चंचल गति सुर सरिता" लिखा होता तो व्यतिरेकी सौन्दर्य अधिक स्पष्ट होता या वह अभी है? फिर अचल और चंचल का विभेद मेटकर अपने आप कहूँगा, कवि यहाँ तुम और मैं' में विभेद नहीं, आन्तरिक एकता दिखाना चाहता है। ऐसे में तुम और शृंग के नाद से जो उदात्त, सहस्र शीर्ष का सहस्रार सौन्दर्य उभरता है वह अन्यथा असम्भव होता। ब्रह्म की निश्चलता से चंचल माया, प्रशान्त शिखर से बह चली चंचल नदी की-सी ही तो होगी।[1]"

कभी ऐलियट ने भी कहा था कि समकालीन समीक्षा जो कुछ भी रही हो, वह साहित्यालोचन नहीं थी। और यह भी कि प्रेषणीय बनायी जानेवाली वस्तु अपनी समग्रता में पूरी कविता ही हो सकती है।

अब एक व्यक्तिगत उद्‌गार। मैंने 'बाणभट्ट की 'आत्मकथा' सामान्यतः पसन्द की थी, पर कहीं-कहीं मन झुँझला उठता था, यों तब तक मैंने 'कादम्बरी का अनुवाद' यत्र-तत्र ही पढ़ डाला था। कुछ अच्छे संस्कृतज्ञों ने मेरा तब भ्रम निवारण किया था। और जब शास्त्री जी के निम्नलिखित स्थल को वर्षों बाद पढ़ा, तो चमत्कृत रह गया:

"इसीलिए उनका बाण आवारा घूमने वाला, नाटक-नौटंकी का प्रेमी, एक प्रगल्भ प्रौढ़-युवक है जो ग्रीक हीरो-जैसा दुरन्त दुःसाहसी चाहे न हो,

---

1. हंसबलाका, पृ० 359

किन्तु किसी ऐतिहासिक स्टण्ड पिक्चर के सकल-कला-प्रवीण नागर नवल नायक-जैसा जरूर है। वह और जो हो, कम-से-कम, वह बाण तो हर्गिज नहीं है जिसने 'भुजंग' कहने पर महाराज हर्षवर्द्धन को वही आलिमाना ढंग का मुँह तोड़ जवाब दिया था और जिसकी तारीफ में कहा गया है कि अधिक ओजस्विता और प्रगल्भता प्राप्त करने के लोभ से लिंग-विपर्यय कर स्वयं वाणी (सरस्वती) बाण बन गई थीं—

'प्रागल्भ्यमधिकमाप्तुं वाणी बाणो बभूवेति।'

आचार्य द्विवेदी की यह उपलब्धि है कि बाण के इस राष्ट्रीयकरण को ही लोगों ने बढ़कर लिया, बाण का हिन्दी में यही 'इमेज' बन गया। संस्कृत साहित्य के 'नैवेद्य से सुस्वाद' बाणभट्ट की आत्मकथा 'बाणोच्छिष्टमिदं जगत' को झुठलाकर हर सहृदय के हृदय में घर कर गई। हर्षकालीन भारत की धूम-धूमिल अमराइयों में प्रश्वास-खींचते और आत्मा की गहराइयों से निःश्वास छोड़ते हुए प्रतिभा, उदात्त विचार, अदम्य इच्छा और सम्पूर्ण योग्यता को जिन हल्की-नीली छाँहों से गुजरनेवाली गुलाबी पगडंडियों पर आचार्य द्विवेदी ने घुमाया-फिराया है वह एक विशिष्ट चेतन शैली बनकर हिन्दी-उपन्यास के सर चढ़कर बोली[1]"।

इतना अधिक लिखकर ही नहीं, कभी-कभी मात्र एक पृष्ठ से किसी को शास्त्रीजी अनभूला बना देते हैं। ब्रह्मदेव जी पर सिर्फ सत्ताइस पंक्तियाँ हैं हंसबलाका के ही पृष्ठ 276 पर। किन्तु स्वरुप कितना प्रखर और बहुआयामी होकर निखरा है।

कभी-कभी तो एक छोटे अनुच्छेद से लक्ष्यवेध कर डालते हैं: उन्होंने (राहुल जी) पूछा था कि इस बाल-जाल को सुलझाने-संवारने में मैं कितना वक्त बरबाद करता हूँ? ऐसे वक्त मैं ब्रह्मास्त्र (संस्कृत) का प्रयोग करता था। बोला :

'कालं कलयितं नालम्, समर्थं गमयामि प्रायो न ततोधिकं,
पूर्वंज में छान्दोग्वरारण्येकयावानवितथमनायि।'

भाषा ने जान बचाई। उनका स्वर सहज हो गया। फिर ऐसा ऊट-पटांग सवाल न पूछा। 'सरोज' ने मेरा इतिहास-भूगोल ही नहीं बताया, रोजमर्रा की जिन्दगी के हालात से भी उन्हें वाकिफ कराया और वह यह

1. हंसबलाका, पृ० 359

कहने में भी न चूका कि अभी कुछ ही रोज पहले 'निराला' इन्हें ढूँढ़ते हुए होस्टल में आए थे।[1]

शास्त्री जी की आचार्य शिवपूजन सहाय के प्रति कितनी अटूट सात्विकी श्रद्धा है इसका उल्लेख मैंने अन्यत्र एक निबन्ध में किया है। संस्मरणालोचन का क्रम तो उन्होंने 1968 में 'स्मृति के वातायन' से शुरू किया और नलिन जी वाले अंश में उन्होंने यह अवश्य लिखा है "निराला, नलिन और पृथ्वीराज मेरे सबसे करीब आनेवालों में रहे", किन्तु हंसबलाका में ही नहीं अन्य पुस्तकों में भी उन्होंने यह साभार स्वीकार किया है निराला, नलिन और शिवजी मौके-बे-मौके उनके नाम-यश का आस्फालन करते रहे। कर्मक्षेत्रे मरुक्षेत्रे में उन पर सविशेष लिखा है।

अनेक स्वदेशी-विदेशी भाषाओं के मर्मज्ञ, शास्त्री जी के ही शब्दों में "अंग्रेजी भाषा और साहित्य के धुरन्धर विद्वान" प्रो० कामता चरण श्रीवास्तव के यहाँ जब इन्हें साथ ले नलिन जी भेंटने गये तो कामता बाबू ने कहा—"हम अँगरेजी वाले मुँह धोकर ईलियट का नाम लेते हैं, पर स्टाफ में हिन्दीवालों को अक्सर उस पर बुरी तरह बहसते देखा है।

कि जहाँ तक उनकी जानकारी है, अँगरेजी-साहित्य का नलिन जी के ऐसा क्रमिक और गहन अध्ययन कदाचित् ही किसी हिन्दी के विद्वान का होगा। अँगरेजी ही क्यों, नलिन जी तो फ्रेंच, जर्मन आदि में भी दखल रखते हैं।

कि "विब्बो का बिब्वोक"—ऐसे वेश्म-नाट्य की अधुनातन उपलब्धि का श्रेय नलिन जी को मिलना चाहिए।"

मैंने कहा, मुसीबत यह है कि नलिन जी जिस स्तर के स्रष्टा हैं, उस स्तर के आलोचक भी एकमात्र वही हैं।[2]"

प्रसाद-प्रेमचन्द को यदि शास्त्री जी ने इन संस्मरणालोचनों में अपार आदर दिया है, तो यह जानकर नहीं कि वे अति महत्वपूर्ण विश्व लेखक थे, बल्कि इसलिए भी कि वे जितने बड़े रचनाकार थे उतने ही ऊँचे मानव। किन्तु कम प्रख्यात-विख्यात लोगों-लेखकों को भी उसी सहृदयता और समग्रता से देखा-परखा और स्नेह दिया है।

कवित्व और नाटकत्व की अपेक्षित संश्लिष्टता पर बल देते हुए शास्त्री जी

---

1. हंसबलाका, पृ० 346 2. स्मृति के वातायन, पृ० 86

अपनी अद्भुत प्रज्ञा के अनुसार उन्हें उचित ही पृथक् मानते हैं। गीति-नाट्य की वापसी के आतुर कुछ कवि नाटककार अपनी आलोचकधर्मिता में यह कहते रहे हैं (ऐसों में एलियट प्रमुख थे, पर उनसे अधिक मुखर उनके अनुयायी आलोचकगण) कि दोनों अविच्छिन्न हैं ही मूलतः। शास्त्री जी ने काव्य-नाटकत्व संयोग की आदर्शस्थिति की ओर इंगित कर भवभूति की त्रुटि के बारे में लिखा है : "शब्द और अर्थ की रम्य रचना में रम जाते हैं तो परिसंवाद की सहजता की चिन्ता ही छोड़ देते हैं। कवित्व नाटकीयता पर यों चढ़ जाता है कि उनके प्रत्येक पात्र को पण्डित होना आवश्यक है। पण्डित भी निरा वैयाकरण या मीमांसक नहीं, गद्य-पद्य की रूचिर रचना को प्रौढ़ि एवं विदग्धता के साथ शाब्दिक प्रस्तुति देनेवाला।[1]"

प्रतीयमानतः, शास्त्री जी के विचार कुछ पुरानपंथी घोषित किए जा सकते हैं। मेरे कुछ अंगरेजीदां मित्रों ने इस पर क्रूर कटाक्ष भी किए, तब मुझे कहना पड़ा कि सत्य का जादू तो सर चढ़ कर बोलता है और वह बोला है एलियट के ही मुख से भले ही वे सेकरिड वुड से लेकर पोएट्री एण्ड ड्रामा तक ही नहीं अपनी अनुप्रयुक्त आलोचनाओं में भी कहते रहे हैं कि किसी नाटक के सबसे कवित्वपूर्ण स्थल नाटकीयतम होंगे ही और विपर्यय से भी यही स्थिति रहेगी। किन्तु वस्तुस्थिति उनके अनजानते ही प्रकट हो जाती है :

"Heywood's versification is never on a very high poetic level, but at its best is often on a high dramatic level."[2]

गीत गीति में भी अन्तर बताने के लिए लोग कहाँ-कहाँ न चले गये हैं और कैसे-कैसे न बिम्ब ला रहे हैं। शास्त्री जी ने यह विषय प्रसिद्ध किया है :

"आधुनिक कविता का आयात असंदिग्ध रूप में पाश्चात्य साहित्य से ही हुआ है। नयी गीति-कविता भारतीय परम्परा की उपज कदापि नहीं है। स्वयं रवीन्द्रनाथ इस स्वतंत्र काव्य विधा के बंगला में आदि उद्‌गाता बिहारीलाल चक्रवर्ती को उद्‌घोषित कर चुके हैं। हाँ, रवीन्द्रनाथ में उसका सर्वाङ्गीण विकास हुआ और फिर "गीतांजलि" पर नोबेल प्राइज मिलने से उसे प्रसार में थोड़ा भी विलम्ब न हुआ।"

"बिहारीलाल चक्रवर्ती का नाम पहली बार सुन रहा हूँ।

---

1. अष्टपदी, पृ० 167. 2. Selected Essays. P. 110

"सम्भव है। रवि की प्रखर किरणों में यह उर्व्वतर नक्षत्र कभी पूर्ण प्रकाश में न आया।

"किन्तु भारतीय भाषाओं में गीतिकाव्य का बीजवपन इन्हीं ने किया था। इस दिशा में ये रवीन्द्रनाथ के भी गुरु थे। इनका बनाया हुआ "सारदामंगल" आधुनिक गीतिकाव्य का आदि ग्रंथ है।

"माइकेल मधुसूदन ने "मेघनाद वध" नामक अपने अप्रतिम महाकाव्य में हिन्दी के "प्रियप्रवास" के समान संस्कृत की समास बहुल भाषा का सफल प्रयोग कर एक अपूर्व साहसिक निदर्शन प्रस्तुत किया था। बिहारीलाल ने अपने काव्य में सूक्ष्म और धारदार, सरल और निराडम्बर भाषा का प्रयोग मात्र नहीं किया, अपनी निज की अनुभूति को ही नये रूप रंग में सजाकर प्रस्तुत किया है। गीति कविता में महाकाव्य की भाँति वस्तु गौरव नहीं होता, भाव भावनाओं की गहराई होती है और अनुभूति का सहज प्रकाश होता है। शास्त्री जी की जगह बिहारीलाल को कल्पनाएँ जितनी अपनी है, उनकी भाषा और छन्द में भी वैसी ही ताजगी।"

"सारदामंगल" नाम तो महाकाव्य जैसा है, शायद सरस्वती पर लिखा गया है।

"नाम पर न जाइये। यह सारदा पौराणिक सरस्वती नहीं है। यह गौडस ऑफ विजडम" ही नहीं, ' स्पिरिट ऑफ नेचर" भी है। विश्वव्यापिनी सुन्दरता की प्रत्यक्ष लक्ष्मी। तभी इन्हें कवि ने कभी देवी के रूप में कभी माँ की प्रतिमा मानकर, कभी प्रेयसी समझकर, और कभी कल्याणी कहकर सम्बोधित किया है। यह सब बहुत कुछ पन्त जी में भी है:

"देवि, माँ, सुन्दरि प्राण।"

× × ×

तुम्हारे छूने में था प्राण,
संग में पावन गंगा - स्नान
तुम्हारी वाणी में कल्याणि,
त्रिवेणी की लहरों का गान।

"यह सौन्दर्यरूपिणी सारदा विश्व के अन्तरतर में विराजमान है। यह वर्ड्सवर्थ की प्रकृति रूपिणी विश्वचेतना नहीं है। शेली की रूपातीत

रूपमयी प्रेम-सौन्दर्य लक्ष्मी भी नहीं है। यह सारदा वस्तुतः, मनुष्य की स्वाभाविक प्रीतिप्रवाहिनी है।

"कवि का मानस ही इस सौन्दर्य का अधिष्ठान है। मिस्टिक अपने ही अन्तस्तल में सौन्दर्य की ध्यान-धारणा करता है। उपलब्ध सौन्दर्य को बैखरी की प्रखरता नहीं दे पाता। आप इसे सौन्दर्यतत्व की अवर्णनीयता कहें या फिर अभिव्यक्ति की सीमा। मिस्टिक का बिगाड़ा हुआ हिन्दी रूप "छायावादी" हो सकता है। और सूक्ष्म सौन्दर्य को ही धुन्ध, कुहेलिका आदि शब्दों से अपमानित किया जाता रहा है तथा शब्द-शक्ति के मानदण्ड के अभाव में जो सतही या सपाट हो उसे प्रसाद गुण सम्पन्न बताकर अनपढ़ और साहित्यिक संस्कार से कोरे लोगों पर अपनी प्रखर मुखरता की धाक जमायी जाती रही है।" (कर्मक्षेत्रे मरुक्षेत्रे पृ० 93-94)।

कई तथाकथित समर्थ आलोचकों के विपरीत बिना अपने को ही खंडित करते हुए शास्त्री जी 'एक असाहित्यिक की डायरी' में रामप्यारेजी से कहते हैं।[1]

"ऋग्वेद को काव्य की कोटि में लाना गुरुतर अपराध न हो तो ऋग्वेद गीतिकाव्य ही है।

गीतिकाव्य में व्यक्तित्व की....... आरपार दिख जाने वाली अभिव्यक्ति अभीष्ट है।.........गीतिकाव्य भारतीय साहित्य में भरा पड़ा है, अवश्य यह नाम यहाँ के आचार्यों द्वारा नहीं दिया गया है।"

प्रबन्ध काव्यों से फूटने वाला गीति कवीतर मुख से निःसृत होता है। रामचरित मानस में एक अजान तापस का अचानक आ जाना और जयद्रथ वध में अर्जुन के मुख से व्यक्त भाव कवियों के निज के हैं। कुछ विशेष अवधि में "मैं, वर्जित रहता है, तब स्विफ्ट जैसे शास्त्रीयता पर मरने वाले अपने बारे में कविता करते हुए मैं (आई) नहीं वह की शरण जाने को बाध्य होते हैं इसकी चलन आज भी भारी भरकम निमंत्रण पत्रों से परिलक्षित होती है जहाँ "मैं के बदले अधोहस्ताक्षरी रहता है।

शास्त्रीजी अपनी माँ को याद करते-करते ईश्वर तक पहुँच जाते हैं।

दुःख यदि इतने दिए, दो शक्ति मेरा मन न हारे !

पालने पौढ़ा मुझे माँ ने न हलराया, झुलाया,
धूलि धूसर रह निरन्तर मलिन अन्तर, कठिन काया

बाल्य से वात्सल्य का अनुभव किया न कभी, पढ़ा ही
प्यार इस संसार में पाया नहीं, मन में गढ़ा ही !
कल्पनाओं में हँसा, जीवन जला घन-नयन-जल से,
और क्या संघर्ष ! टकराई उमंग न कब अचल से ?

सिन्धु की मझधार में मधुधार बरसाओ, मुझे क्या
किन्तु अन्तर्देव, कर फैला रहा आगे तुम्हारे—
दुख कितने भी मुझे दो, ठान कर प्रण मन न हारे।

काव्य के भीतर से अपने व्यक्तित्व की इतनी स्पष्ट अभिव्यक्ति को ईलियट पंथी सैद्धान्तिक दृष्टि से वरेण्य नहीं मानते।"[1]

शास्त्रीजी का व्यंग्य एलियट पर नहीं उनके अर्द्ध-अंध अनुयायियों पर है। एलियट को कम-से-कम शास्त्री जी को या किसी संस्कृत से थोड़ा भी साबका रखनेवाले को बताना नहीं था कि कवि और मनुष्य दो हैं। कोई पैंतालीस साल पहले श्री राम खेलावन पाण्डेय (अब प्रो० डा०) के गीतिकाव्य की समीक्षा लिखते हुए मैंने स्पष्ट करना चाहा था कि उनका कविता में 'मैं' से केवल एक और "हम" से अनेक का तात्पर्य ग्रहण करना महज व्याकरण साधन हैं। 'मैं' अखिल-निखिल विश्व तक के लिए हो सकता है।

उपर्युक्त कविता दुःख पड़ने पर कोई भी गाकर या, गुनगुनाकर दोहरा सकता है। जरूरी नहीं सभी कवि हों, पर भावनाएँ तो रहती है। और विमान से चलने वाले को कभी बैलों की सवारी—वह भी वियावान में—काफी तकलीफदेह हो सकती है, खासकर अगर उसने ब्रजभाषा भी थोड़ी पढ़ ली है तो पूरी सहचारिता भी सामने आ जाएगी। तब इन दो शब्दों 'हलराया,' 'झुलाया' पर वह और रो पड़ेगा। माँ उसके होगी भी अगर, मगर प्रेयसी प्यार का प्रतिदान नहीं कर रही, तो 'कल्पना में हंसा'' पर तो वह न्योछावर हो जाएगा। यदि नास्तिक होगा, तब भी "अंतर्देव" पर ऐंठेगा नहीं, वहाँ तक आते-आते वह कॉलरिज से नहीं अपनी इच्छा के अनुसार ल्युकस या एलियट के ही "आस्था का स्थगन" से बल ग्रहण करेगा।[2] वह

1. हंसबलाका, पृ० 61

2 ... ...the religious spectator of a tragic drama requires also a suspension of belief—Lucas : Tragedy 1927 P-45

... ...necessary to appreciate the poetry of the Purgatorio is not belief but suspension of belief, Eliot: Dante 1929 (Selected Essays, P-259)

समझेगा जो कुछ व्यक्त हो रहा है, उसका पुरजोर सम्बन्ध उससे है, यह सारा उसका ही है, उसका अपना नहीं भी है। और तभी वह काव्यानन्दित हो जाएगा। उसे देखकर कोई अधुनातन आलोचक भी विवश हो जाएगा विश्वनाथ को दुहराने के लिए :

परस्य न परस्येति मामेति न मामेति च
तदास्वादे विभादेह परिच्छेदो न विद्यते
(साहित्यदर्पण 3, 11)

हाँ, गीत में गेयता अनिवार्य है "जिसे राग-ताल का सम्यक् ज्ञान नहीं, वह जयदेव या सूर-तुलसी के समान महान् गीत स्रष्टा नहीं हो सकता। साहित्य के साथ-साथ संगीत तथा दूसरी कलाओं की शिक्षा से परिमार्जित रूचि ही मधुर कोमलकान्त गीतों की सृष्टि कर सकती है।[1]

"सप्त स्वर सामवेद में भी हैं। निश्चय ही वहाँ उनका नाम निषाद, ऋषभ, गान्धार आदि न होकर उत्कृष्ट, प्रथम, द्वितीय आदि है। ...... यह तो हुआ, पर लगे हाथ आपको यह भी बताऊँ कि गीत को काव्य रस का विघातक मानने की भी एक परम्परा है, 'काव्यं गीतेन हन्यते' बहुत पुरानी उक्ति है। नई चाहिए तो एजरा पउउंड से सुनिए।"[2]

मेरे दिवंगत मित्र डा० रामचन्द्र प्रसाद की पुस्तक लिटररी क्रिटिसिज्म इन हिन्दी पर उनसे बातचीत के दरम्यान नजर जा पड़ी थी। चर्चित किताब थी। उलट-पुलट कर देखने की उत्सुकता हुई। शास्त्रीजी के बारे में एक अच भी नहीं था। मैंने कहा, खुद दिनकर जी ने उनके साहित्य-दर्शन पर लिखते हुए भूरि-भूरि प्रशंसा की है, आप तो स्वयं राजा से बढ़कर राजभक्त निकले। उन्होंने छूटते ही एक चुनौती की ललकार गुंजायी कि शास्त्री जी पर मोटा ग्रंथ ही अंग्रेजी में लिख मारूँ। मेरा जवाब छोटा था—हाँ, पहले उनके साहित्यालोचन पर ही। आपको समर्पित कर दूँगा। (ठहाका)

इधर हाल में निधन से कुछ ही महीने पहले उन्होंने एक छोटा लेख "भ्रमर की गीतिकला : एक मूल्यांकन" लिखा था।[3] पर विचित्रता कहिए

---

1. एक असाहित्यिक की डायरी पृ० 68
2. हंसबलाका, पृ० 236-37
3. ज्योत्सना, मई-जून 1993, पृ० 25

1948 में आनन्दित था कि कविवर जानकीवल्लभ शास्त्री पर प्रथम स्वतंत्र आलोचनात्मक निबन्ध मैं लिख सका। 1993 में आकर एक

कि स्वयं गीत और गीति के भेद को परिभाषित न करते हुए मेरे एक और मित्र डा० कुमार विमल से काफी उद्धृत किया है : "गीत की भाषा समास और व्यास की विलग-विलग अथवा युग्म शैली पर चल सकती है, किन्तु गीति की नहीं। गीति की भाषा में ऐसी व्यास शैली अपेक्षित है, जिसमें समास की शक्ति समाविष्ट हो। कारण यह है कि गीतकार कई पत्थर फेंककर तालाब के जल को हिल्लोलित कर सकता है, क्योंकि वह सांक्षेप्य की लक्ष्मण-रेखा से बरी है, किन्तु गीतिकार एक ही ढेला फेंककर सहृदय की कल्पना का तब तक स्तम्भन किये रहता है, जब तक जलतरंग वृहत से वृहत्तर होकर अपर कूल का स्पर्श न कर ले। अतः गीतिकार की शब्दशक्ति में भाव प्रसार के लिए "ईथर" जैसी त्वरा चाहिए। जो गीतिकार समास शैली का अनुसरण करता है, वह दुरूहता के कारण अपनी गीति को "नारिकेल" बना देता है : क्योंकि गीति के भावन में एक क्षिप्रता चाहिए, जिसे समास का आयास बिलमा देता है। समास की सायास साधना से ही निराला की कई कविताएँ उत्कृष्ट गीतियाँ बनने से बच गईं। सचमुच समास का खुरदुरापन गीति के आनन्द में "बाधित रति की खीझ" भर देता है।"

डा० विमल समयाभाव के रहते भी मेरे वैसे हितैषी मित्र हैं जिनसे असहमत होना खेदजनक प्रतीत होता है। पहले तो मुझे यही नहीं लगता कि यह अनुच्छेद उनकी परिमार्जित परिष्कृत मेधा का है। उनके ढेला फेंकने वाले विम्ब में चाक्षुष जो भी हो, प्रेषणीयता नहीं है, क्योंकि गीत में गीति समाहित हो जा सकता है, अधिकांश हो जाता ही है। अगर गीतिकार में "ईथर-जैसी त्वरा होगी तो एक प्रकार की दुर्गन्ध भी व्याप्त होगी। अस्पताल

उपलब्धि-सी हुई, एक कवयित्री को हिन्दी के लिए पहचान सका।

डा० भ्रमर दत्ता-चौधरी सरकारी कालेज में अँगरेजी की उपाचार्या हैं, लिखती हैं बंगला में। डा० प्रसाद ने उनके बंगला रूप पर ही प्रकाश डाला है।

मुझे उनकी हिन्दी कविताओं को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैंने Striking Hindi Poems of Three Generations शीर्षक से शास्त्री जी, डा० केदार नाथ सिंह और डा० भ्रमर की कुछ कविताओं के अनुवाद किए हैं।

या बीमार कमरे का दृश्य सामने नाच जाता है। लगता है ह्विटमन की इस पंक्ति :—

Flames and ether making a rush for my veins पर उतना नहीं, जितना इलियट की प्रसिद्ध :—

Like a patient etherized upon the table पर मुग्ध हो डा० विमल अभिव्यक्ति के नयेपन के लिए वहीं दौड़ गए। अँगरेजियत का ऐसा चस्का रुचिकर नहीं लगता। आगे चलकर डा० विमल और भी उलझे हुए लगते हैं। उल्टी गंगा बहा रहे हैं। उपमा को पसन्द करनेवाले कालिदास और शेक्सपियर प्रवाह में आने पर अर्द्धोपमा या (Pseudo-simile) उपमाभास देते हैं। यह समासों से ही सम्भव है। गीति में ही नहीं, किसी भी लेखन की शैली में वस्तु की अनुरूपता, उसका औचित्य वांछित है। निराला की गीति नहीं, सम्बोध गीति से ही है यह : —

वीक्षण अराल

साम्राज्य-सप्त-सागर-तरंग-दलदत्त माल।

उनके प्रबन्ध में निहित गीति में भी नाद सौन्दर्य से ही अर्थ निस्सृत हो जाता है, समास की छटा न केवल देखते बनती है, कर्णमधुर होकर सम्प्रेषणीय भी हो गई है :

देखा, शारदा नीलवसना
हैं, सम्मुख स्वयं सृष्टि-रशना
जीवन-समीर-शुचि-निःश्वसना, वरदात्री

डा० विमल फिर लिखते हैं, "उत्कृष्ट गीतियाँ बनने से बच गई है", मानो उत्कृष्टता कोई खतरा था या हादसा जिससे बचना धन्य हो जाना हो। शायद गुप्त जी के "नील नभस्सर से डा० विमल चौंके हुए हैं, आतंकित हैं।

अन्ततः, अधुनातन बनने की ललक में जो यौन सम्भोग बिम्ब वे ले आये हैं—वह भी किसी से उद्धृत कर, वह तो शैली के लिए और भी घातक है। लगता है "बाधित रति" को समर्थ योजना-घटक समझ लिया है डा० विमल ने। किन्तु यह अभिव्यक्ति में अशक्य "खुशवंती" लहरी है। स्पष्ट नहीं हो पाता क्या कहा-जा रहा है। रति बाधा के अनेक कारण हो सकते हैं : अवांछित का औचक आगमन, सम्पूर्ण अथवा तात्कालिक या

क्रियात्मक क्लीवता, साथिन की शीतलता अथवा असहयोग ही। पुनश्च, "बाधित रति की खीझ" का फल विस्फोट भी हो सकता है, या ग्लानि भी। श्री कमलेश्वर की चर्चित कहानी "मांस का दरिया" में बाधित रति की खीझ की प्रतिक्रियाएँ अच्छी तरह वर्णित हैं।

प्रतीत होता है निराला के पंत के प्रकृति चित्रण की आलोचना के समय प्रयुक्त "विपरीत रति" जैसी सुस्पष्ट सप्रेषणीयता की नाहक नकल ने प्रयोक्ता को हास्यास्पद बना दिया है। अस्तु।

अपने गीतों के बारे में शास्त्री जी लिखते हैं: "मेरे गीतों में वेदना है, वह छायावाद का युगीन उपहार नहीं, मेरे कष्ट-क्लिष्ट जीवन की अश्लिष्ट ध्वनि ही है।"[1] पर वे मनुष्य को मानते हैं, समझते हैं; वे पुराणों और मानस-जैसे ग्रंथों का विरोध करते हैं कि उन्होंने मनुष्य की महिमा की उपेक्षा की है। उन्हें यह विश्वास नहीं कि—

'गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि
न मानुजाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्।

(एक गुप्त ज्ञान बोल कर तुम पर खोलता हूँ कि मनुष्य से बड़ा कुछ नहीं है।[2])

इतना होने पर भी आलोचकों की दृष्टि वक्र ही रही। इसका विस्तार शास्त्री जी यों करते हैं:

"भाव-भाषा के क्षेत्र में जितने भी प्रयोग किए, पेशेवर आलोचकों की चिलचिलाती धूप ने सबको छायावाद कर दिया। यों किन्हीं दो आलोचकों ने छायावाद के बारे में कभी एक-सा स्थिर और आरपार दिखनेवाला विचार नहीं दिया। अक्सर उन्हें जो न रुचा, उसे 'छायावाद' कहकर छुट्टी पा ली।"[3]

पर वे अपने पथ पर अडिग रहे और स्पष्ट व्यक्त किया: "कविता में स्वर समानान्तर सार्थकता गढ़ते हैं। कोरा एहसास कविता नहीं है।"[4]

और वे जानते हैं कि :—"ऐसे गीतिकाव्य भी कम नहीं हैं जो कवि व्यक्ति की अभिव्यक्ति मात्र न होकर जातीय, सामूहिक भावों की प्रतिध्वनि

---

1. अष्टपदी, पृ० 254 2. तथैव, पृ० 90
3. हंसबलाका, पृ० 182 4. अष्टपदी, पृ० 217

होते हैं। सामूहिक चेतना की स्पष्ट अभिव्यंजना राष्ट्रीय गीतों में देखी जा सकती है जो कवि के वैयक्तिक उद्गार न होकर सामूहिक अनुभूति की समवेत वाणी-से हुआ करते हैं।

व्यक्ति जीवन की भाँति जातीय जीवन में भी उतार-चढ़ाव की ऐसी घड़ियाँ आती हैं जब व्यक्ति और व्यक्तित्व की निजी भावनाओं को एक ओर छोड़ कर सामान्य अनुभूतियाँ सिर उठाने लगती हैं। गीत में जातीयता और सामूहिकता की समवेत अभिव्यक्ति की भी वैसी ही एक क्रान्तिकारी घड़ी होती है।[1] उनके काव्य पर संगीत का कितना उचित और अभीष्ट प्रभाव पड़ा है उसको जानने के लिए "मैं गाता हूँ" संस्मरण नितान्त पठनीय है। संगीत के साथ ही-साथ किसी वस्तु को उपस्थापित करने की भंगिमा उनकी अपनी है: वैसा कौशल, वैसी दक्षता विरल है। साहित्य-संगीत की संपृक्तता के निदर्शन उनकी रचनाओं से कहीं भी हो सकते हैं। कहना है उनके जीवन में कोमल कुछ नहीं मिला, और तब "मैं गाता हूँ" का पहला वाक्य इस प्रकार रखा जाता है। पूरा वह छोटा अनुच्छेद ही स्मरणीय हो गया है: "मेरा जीवन-संगीत "केदारा" के स्वरों की वक्रता लिए हुए है। वह सहसा षड्ज से मध्यम पर पहुँच गया है। ऋषभ और गान्धार अधबीच में ही कैसे छूट गए – यह कभी सचेष्ट होकर नहीं देखा-भाला गया।"[2]

शास्त्री जी की शैली के कुछ कटु आलोचकों का कथन है कि उनमें बिम्बातिशयता रहती है और यही प्रमाण है कि वे एक नियंता बिम्ब पर हाथ नहीं धर पाते, इसलिए गद्य में तो अस्पष्ट हो जाते हैं। पर समझकर पढ़नेवालों को तुरत पता चल जाता है हर बिम्ब, प्रत्येक वाक्यांश एक ही तथ्य की पुनरावृत्ति नहीं करता, विभिन्न बातें एक सरस वाक्य में पिरोता है। "चन्द्रोदय के समय पूर्व दिशा-जैसी अपूर्व प्रभावपूर्ण हो जाती है, कस्तूरी केवड़े की गंध से ठाकुरबाड़ी जैसी प्रशान्त और चित्तपावन प्रतीत होती है, नीरोग काया प्रात बात के कौशेय स्पर्श से जैसी उत्फुल्ल हो उठती है, सदाचार से मेधा जैसी सबल और प्रज्ञा जैसी सुदृढ़ हो जाती है, सत्पात्र को पाकर विद्या जैसी प्रसन्न हो उठती है, शिव-संकल्प से आत्मा जैसी आनन्दमयी हो जाती है, कहते हैं, माँ उन दिनों वैसी ही दिखाई देती थीं।[3]

1. तथैव, पृ० 63 2. हंसबलाका, पृ० 193

3. हंसबलाका, पृ० 12

सरस ढंग से एक मामूली बात को भी कहने का ढंग है एकदम अनोखा और अनूठा। तात्पर्य है किसी अवस्था में बड़े का अपने से छोटे को प्रणाम करने का, पर अभिव्यक्ति कितनी आह्लादिनी। "साधो सिंह अब भी हैं, योग-क्षेम के विचार से पहले की अपेक्षा अत्यधिक अभ्युदयशील, फिर भी महर्षि वसिष्ठ के ब्रह्म-दण्ड से प्रताड़ित विश्वामित्र की भाँति "धिग् बलं क्षत्रिय-बलं ब्रह्मतेजो महद् बलम्" की महिमा ग्राम्य सरलता से स्वीकार कर अपनी दूनी उमर और चौगुने आकार-प्रकार को मुझे देखते ही भूल जाते हैं, जब-जब दो-दो चार-चार वर्षों में जन्मभूमि के साक्षात्कार का अपरोक्ष सुख प्राप्त होता है मुझे !"[1]

उनकी शैली की यह पहचान है कि विभिन्न स्तरीय वस्तुओं को एक साथ समेट लेती है : "ऐसे में भला कौन देखता कि दिशाएँ निर्मल थीं या धूलि-धूसर, आकाश में प्रकाश था या काली घटा घिरी थी, सुरहर नदी का जल कल-कल कर बह रहा था या धार में रेत पड़ गई थी, कमल-कुमुद खिले थे या पाला पड़ जाने से जल-झुलस गये थे, सुर्ख-जर्द फूलों पर भौंरे गुंजार रहे थे या उनकी पंखुड़ियों से ओस की बूँदें टपक रही थीं, शीतल-मन्द-सुगन्ध बयार बह रही थी या हड्डियाँ कंपा देनेवाली बर्फीली हवा।

जल्दी-जल्दी मुझे चमारिन के हाथों बेचा गया, नाक छेदी गई और ढेर सारे टोटके किए गए, तब कहीं मैं चमारिन की अमानत की तरह पोसने-पालने के लिए माँ को सौंप दिया गया।"[2]

इसी तरह के, इससे भी अच्छे उदाहरण मिलेंगे 'एक किरण : सौ झाइयाँ' में जिसका सारांश भी सही-सही न लिख सकनेवाले कुछ-एक आलोचक ने लिख मारा था उनकी शैली के बारे में कि रुमानी है। वह रूमानी-रोमेण्टिक नहीं, विभिन्न स्तरीयता को आत्मसात् कर आगे चलनेवाली है। उनके बिम्बों का महत्व यह है कि वे प्रगति की प्रक्रिया में अनुभूतियों का आकलन और मूल्यों का आग्रह साथ-साथ करते हैं।

अन्ततः, शास्त्री जी ने हिन्दी कवि की विद्वत्ता का लोहा मनवा लिया है। यह विडम्बना ही है कि डॉ० नगेन्द्र इस-किस भी विषय पर बोलने के लिए एक कवि को, शायद कलई खोलने की नीयत से, औचक आमंत्रित कर देते हैं मंच पर। अन्यथा, वही थे जिन्होंने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की तुलना डा० आई० ए० रिचार्ड्स से करते वक्त लिखा था कि वे

1. हंसबलाका, पृ० 39 2. तथैव, पृ० 13

डा० ब्रैडले—जैसे निष्णात से जूझ रहे थे तो शुक्ल जी के विरोधी कुछ छोटे-मोटे कवि थे। मानों कवि विद्वान होता ही नहीं या उसका बड़ा होना कोई त्रासदी हो। यह भी था कि निराला-प्रसाद-महादेवी की कौन कहे, उनके आदर्श पंत तक भी उतने न छोटे न मोटे बल्कि लम्बे व्यक्तित्व थे।

हिन्दी सीखने वाले सभी को, विशेषकर अहिन्दी भाषियों को शास्त्री साहित्य विशेष रूचिकर होगा; इसलिए कि उनकी गद्यशैली बंगला, उर्दू, तेलगू (संशोधित "अजन्ता की ओर" प्रमाण है), भाषाओं से भी पूरी शक्ति लेने वाली ठेठ हिन्दी, आधुनिक अंग्रेजी, और विशेषत: संस्कृत की पृथक् विशिष्टताओं का परिपाक हैं। यों शास्त्री जी ने स्मृति के वातायन में ही नहीं, अन्यत्र भी शिवपूजन सहाय और नलिन विलोचन शर्मा को दो प्रकार की शैलियों के आदर्श रूप माना है, फिर भी यह अत्युक्ति नहीं कि उन्होंने स्वयं दोनों सरणियों का शोभन मानक उपस्थित किया है। आलंकारिक अथवा संस्कृतनिष्ठ शैली के लिए जितनी अपेक्षाएं हो सकती हैं वे सारी-की-सारी उनके कभी प्रथम श्रेणी में भी द्वितीय न होने वाले शास्त्राचार्य में सन्निहित हैं। एतदर्थ चाहने पर पंडित राज जगन्नाथ या बाणभट्ट की छटा दिखाकर अपने को रोक लेते हैं। महादेवी या वियोगी हरि उस ऊंचाई या गहराई तक नहीं पहुंचते। दूसरी ओर आचार्य नलिनविलोचन शर्मा, अज्ञेय, जैनेन्द्र, डा० बच्चन, निर्मल वर्मा, कृपानाथ मिश्र अंग्रेजी की अच्छाइयों को पचाकर हिन्दी लिखनेवाले शैलीकार हैं। किन्तु इधर के कुछ वर्षों में ही नहीं प्रारम्भ से अंग्रेजी का अपनी तरह गहन अध्ययन करने वाले शास्त्री जी ने अपने को शॉ, सींग, यट्स, लॉरेंस, एलियट, ग्रेब्ज, हेमिंग्वे, फॉक्नर, वर्जीनिया वुल्फ तथा रूसी उपन्यासों की अनुवादिकाओं को खूब-खूब पढ़ा किया है। निबन्ध का नाम है "निष्क्रमण" पर उसकी भाषा-शैली से ही स्पष्ट हो जाएगा मेरा कथन :

"तभी जैसे छिगुनी में शीशे की कनी चुभ गई हो, गुलाब का किधर से भी छिटक कर आया हुआ कोई कांटा खुप गया हो या कि फिर सुरों की कठिन कोमलता ने ही डंक मारा हो, मैंने टिहुक कर हाथ हटा लिया, सांप था घबराहट में दीवार से कूद पड़ा। डलिया उलट गई। ओस-भींगी घास से जैसे जुगनू चिपक गए। मेरे अथक श्रम को, अब तक, तलाशने पर ऐसी ही सार्थकता मिली है। उस वक्त की बेचैनी को अरथानेवाले शब्द कहाँ,

1. हंसबलाका पृ० 100-101

किस नि:शब्द निर्गुण आकाश में, मिलेंगे ?

चीख न सका कि कोई भागा आता यह मुँह अंधेरे कौन फुलबगिया में घुस आया। निशावसान की घोर कुज्झटिका में कौन सा आत्मविभोर तारा टूट गिरा।

शिव-शिव। मुझे पीने लपका जहर मर गया। दरअसल वह जहर न था। लतर की पुरानी गांठ पर उभरी कोई नुकीली टूड़ी होगी जो कुन्द सुई की विषबुझी चुभन लिए छू गई थी, शिव का शृंगार हार तो बड़ा प्यारा होता होगा।

सच तो यह कि बूढ़े महादेव को अपने टुटरूट बच्चे की मुँह-अंधेरे फूल लोढ़ने की टेव छुड़ानी थी। अब और टिरकिस की गुंजाइश न थी। चींच-पड़ करना मना था। मन मान गया। अनुभूति के हलक के नीचे उतरी वास्तविकता को मैं सत्य नहीं तो और क्या कहूँ।"

क्रियाओं के सुरम्य और विशेषणों के अनिवार्य प्रयोग में ही शैली की महत्ता निर्भर रहती है। शास्त्रीजी ने अधिकांश स्थलों पर विशेषणों को गुणवाची न रहने देकर विधयात्मक बनाया है, जिससे वे मात्र वर्णन-चित्रण न लगे, कथात्मक हो जाएं। ऐसे स्थलों में उनकी बिम्ब प्रणाली देखने ही योग्य रहती है। उनकी कल्पना में स्मृति का कितना योगदान रहा है, हर जगह दिखाई देता है "विद्या ने सरलता को अंक लगाया, मगर उस अनभिप्रेत प्रेत की रूप-राशि टेढ़ी गांसी-विद्या के सीने में यों गँस गई जैसे ठस बुनावट वाले ताने में कोई गॉडर की गाँठ।"[1] इस बिम्ब को बलवान बनाने के लिए ठेठ देशज-भदेस शब्दों के जोड़ पर यमक और अनुप्रास, रूपक और उपमा सभी लगाए गए हैं और तब पूरा बिम्ब डान्टे की याद कराता है जब उनका बूढ़ा दर्जी सूई में धागा लगा रहा होता है। किसी भी बड़े कथाकार में केवल रूपक या बिम्ब नहीं होता, पर वास्तव में दोनों ही रहते हैं, सिर्फ पहचान की जरूरत है। स्विफ्ट भी अवश्यमेव अपवाद नहीं हैं, न हो सकते।

फलावेय ने स्पष्ट कहा था कि सुन्दर शैली को सांस-क्रिया की आवश्यकताओं की पूर्ति करनी ही होगी। ध्यातव्य है कि स्विफ्ट अपनी रचनाएँ कम पढ़े-लिखे लोगों को पहले सुनाते थे, मॉलचर का धोबी उनके नाटकों का प्रथम श्रोता होता था। जिन्हें ऐसी सुविधाएँ नहीं हों, उन्हें स्वयं अपनी

1. हंसबलाका पृ० 27

पाण्डु या टंकितलिपि जोर-जोर पढ़ लेना चाहिए। शास्त्रीजी ने साहित्य दर्शन में बड़े ही आदर से पोप के कथन :—

The sound must seem an echo to the sense

को एकाधिक बार उद्धृत किया है। नाद-सौन्दर्य और अर्थवत्ता की संश्लिष्ट अभिव्यक्ति के लिए नितान्त आवश्यक है लयात्मकता जिसे पुष्ट करती हैं शास्त्रीजी की नियंत्रित-मर्यादित भावनाएँ-संवेदनाएँ।

कीट्स के शब्द-युग्म अथवा वाक्यपद अपने-आप में छोटी-छोटी कविताएँ लगते हैं, वैसे चमत्कारी पदों का शास्त्रीजी के संस्मरणालोचनों में बाहुल्य है। "सरापा सादगी" (स्मृति के वातायन) "सरापा" शुद्ध फारसी का शब्द है जिसका अर्थ होता है नखशिख। यह अजातशत्रु शिवजी के लिए उतना ही उपयुक्त है जितना हंसबलाका के सरापा हुस्न (पृ० 3, बूड़ा वंश कबीर का) "नृम्ण और तेज के काव्य पुरूष" (स्मृति के वातायन) नृम्ण इन्दिन्दिर। (गुरू गोविन्द) की भांति ही अतिकठिन शब्द है सही और जैसे इन्दिन्दिर के अर्थ को जानने के लिए कुछ लोगों ने उन्हें विद्यार्थी-जीवन में बुलवा भेजा था, वैसे ही डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी को नृम्ण के सम्बन्ध में कुछ शंका हो गई। काव्य में तेज के साथ नृम्ण का सुप्रयोग भाव झलका देता है। नाद में ही ऐसी शक्ति होनी चाहिए कि अर्थ थोड़ा भी ध्यान देने पर हृदयंगम हो जाए। "अगस्त्यी प्यास" "सुरसाई भूख" विम्ब तो है ही, हिन्दी की एक कमी की अपेक्षित पूर्ति करते हैं। अंग्रेजी में कोई भी बड़ा लेखक बाईबिल या यूनानी और रोमी मिथकों से माल-मसाला अपनी शैली के लिए लेता है। अतः अंग्रेजी का अध्येता धर्म-ग्रन्थों तथा प्रागैतिहासिक तथ्यों को जानने के लिए बिवश है। हिन्दी वाले संस्कृत से नाता तोड़ने-छोड़ने में ही अपना धर्म निरपेक्षी रूझान जाहिर करते हैं। शास्त्रीजी की शैली पाठकों को अपनी संस्कृति के अतीत की ओर भी निराला, प्रसाद गुप्त, महादेवी की तरह ले जाती है। इसी संदर्भ में उनके एक असाहित्यिक की डायरी (पृ० 7) में दिए गए कथन को पुनः उद्धृत करना अनावश्यक है। निराला की तरह इन्होंने भी समझ पैदा करना अपनी शैली के द्वारा ही विशेष महत्वपूर्ण माना है।

प्रसाद यदि संस्कृत के आग्रही रहे, तो प्रेमचन्द उस वाङ्मय से कुछ लेने या लाने में असमर्थ थे। शिवपूजन सहाय, निराला, महादेवी, उग्र उर्दू से परहेज न करते हुए भी संस्कृत-हिन्दी के ही पक्षधर रहे। तत्पश्चात् अंग्रेजी गद्य से विशेष लाभ उठाने, कभी-कभी उसी में सोचने की प्रवृत्ति

भुवनेश्वर से ही शुरू हो गई थी। अंग्रेजी से लाभ उठानेवाले गद्यकारों में नलिन, अज्ञेय, जैनेन्द्र, कृपानाथ मिश्र, निर्मल वर्मा, डॉ० कृष्णनन्दन सिन्हा, डा० बच्चन, कमलाकान्त वर्मा प्रमुख हैं। अंग्रेजी साहित्य के मूर्धन्य विद्वान डा० कृष्ण बलदेव वैद ने अंग्रेजियत से फायदा उठाते, अपने को हिन्दी का रखते हुए भी एक देवनागरी लिपि में लिखनेवाला उर्दू अफसानानिगार-जैसा झलकाया है। प्रेमचन्द में सादगी है, प्रवाह भी, फिर भी वे सपाट हैं, उनमें किशनचन्दर की रंगीनी और ताजगी और बिम्ब-विधान नहीं है, मेरी दृष्टि में किशनचन्दर प्रेमचन्द से अच्छे शैलीकार हैं, पर वे हिन्दी के नहीं हैं भले ही उनकी पुस्तकों के अनुवाद की भरमार हो। शास्त्रीजी में तत्सम, तद्भव, देशज-विदेशज, भदेस, किसी भी शब्द से परहेज नहीं है। कई प्रकार कई स्तर के विभिन्न भाषाओं से आये शब्द का वे एक ही अनुच्छेद में क्या, एक ही बन्द, एक ही पंक्ति में प्रयोग करते हैं—अपने को दिखलाने के लिए नहीं, रचनाधर्मिता की अनिवार्यता, इतर शब्दों के असामर्थ्य के कारण। भाषा सीखनी हो, रस लेना हो, लेखकों की चुनौती स्वीकार कर उनका अतिक्रमण करना हो, उन्हें उत्तर देना हो, तो सभी दृष्टियों से शास्त्री साहित्य का अध्ययन-पारायण नितांत आवश्यक है। उनका यह विश्लेषण कितना प्रामाणिक है, प्राय: उतना ही निर्भीक।

"प्रसाद और प्रेमचन्द से कुछ छोटी-मोटी मुलाकातें हो चुकी थीं। यथार्थ साथी होकर भी सृजन के क्षणों में ये दो सीमान्त होते थे। निराला ये दोनों पहलू बचा जाते थे। दोनों के समानान्तर थे। गद्य में पद्य में समाभ्यस्त। 'कफन' की भाषा ज्यादा जोरदार है या 'चतुरी चमार' की, कहना कठिन है।"[1]

भाषा और अभिव्यक्ति की दृष्टि से 'कफन' 'चतुरी चमार' से ही नहीं, भुवनेश्वर के "भेंड़िये" से भी कुछ नीचे स्तर की है। यह भी नहीं भूला जाना चाहिए कि "गोदान"से पहले की रचना है 'अलका''।

और इसी जगह शास्त्रीजी के छायावाद संबंधी विचार भी स्मर्तव्य हैं। उन्हें उन तर्कों की आवश्यकता नहीं है जिनकी विरोधियों-व्यंग्यकर्त्ताओं को उत्तर देते समय प्रसाद को थी। प्रसाद ने छाया का अर्थ मोती आदि बता कर उस काव्यान्दोलन तथा नाम को मजाक से बचाने की भरपूर चेष्टा की,

'या देवी सर्वभूतेषु छायारूपेण संस्थिता'

1. हंसबलाका, पृ० 182।

को भी उद्धृत कर छाया का अर्थ "संतापनाश" बताते हुए और भी बहुत-कुछ सिद्ध करते तो श्रेयस्कर रहता। पर उस कालखण्ड तक छायावाद की पूरी शक्ति प्रकट न हो पायी थी।

छायावाद की कटु आलोचना अब भी लोग प्रस्तुत करने से अपने को नहीं रोकते-यह सर्वथा भूल जाते हुए कि आधुनिक हिन्दी के गौरव ग्रन्थ शुद्ध छायायुग के ही हैं। बाद में वैसी पुस्तकें नितांत कम ही निकली। प्रेमचन्द प्रसाद, रामचन्द्र शुक्ल, निराला, शिवपूजन सहाय सभी तो एक साथ ही लिख रहे थे। संस्कार सँवारने का काम इस युग में सबसे अधिक निराला ने किया और पुस्तकों के संशोधन का आचार्य शिवपूजन सहाय ने। स्वयं मैथिलीशरण गुप्त ने छायावाद से लाभ उठाकर 'यशोधरा' के ही नहीं अपने 'साकेत' के भी परिष्कृत स्थल लिखे। संस्कार, समझदारी, रूझान का परिष्करण बहुत बढ़ी चीज है। इसके कारण ही यदि रोमांटिक पुनरागमन का युग वर्ड्सवर्थ का युग कहलाया, तो हिन्दी में छायायुग निरालायुग से ही अभिहित होना चाहिए। लैन्डर और जेन ऑस्टिन तरह के लोग थे वर्ड्सवर्थ के समय, निरालायुग में प्रेमचन्द-कौशिक का होना कुछ असंभव नहीं है। छायायुग के लक्षण महाकाव्यों में जमाने से चले आ रहे थे, वे स्पष्ट हुए निराला युग में वैसे ही जैसे "रोमांटिसिज्म" प्रवृत्ति और भावनाओं के पुनरूत्थान के लिए वर्ड्सवर्थयुग में, यों रोमांटिक शब्द विभिन्न परिवर्तन के साथ अंग्रेजी भाषा में मध्य सत्रहवीं शताब्दी में आ चुका था।

अवकाश प्राप्त आचार्य
मिथिला विश्वविद्यालय
दरभंगा

1. कर्मक्षेत्रे मरू क्षेत्रे, पृ० ९०-९३ विशेषतः।

जीवन ज्योति जले !

Life's Flame

Life's flame, may it glow !

May shifty darkness, the Realm of Light
Vex not, even for a moment O !
Nor thorn the flower-body pierce ;
Nor fragrance fail when the tempest tears ;

May camps be pitched, the traveller rest awhile ;
Then onward may he go'
Life's flame may it glow'

May ardour not cool at half the way !
May the price not fall when the market thins away !

May the jewel not sell at the rate of the cowrie O !
The Jewel of the Day declining if it will may go
Life's flame, may it glow !

Mayn't the breath of life alone life's standards be
Nor Heaven alone all enveloping passion be

In fashioning the image of the soul
Let the body, gold-like, melting go
Life's flame, may it glow !

—Translated by Prof. K. C. S.

Acharya Janki Vallabh Shastri : Melody of India's Soul

Prabhat Chandra Mishra

Acharya Janki Vallabh Shastri : Melody of India's Soul

Prabhat Chandra Mishra

It was the year 1935. 'Chhayavad' had been declared dead. Preparations for its postmortem were afoot 'Pragativad' came hurriedly at its back to hammer out a new formula and reap a rich harvest of the preceeding trend. At this critical juncture stood bewildered a teenager with a vast treasure of pure poetry and heavenly music which he could pour forth in fullthroated ease. Which way to take was the question. He had miles to go in a world where no body was known to him. He sang :—

Door Desh hai Jaanaa
Jahaan na koyee bhi mera apna
jaana pahichaana

Then what was the way out ? He found an answer within himself :—

Tapna Tanik Dhoop men
Pal bhar chhanw dekh se jaana
Dheerey Dheerey dhoop-chanwa se
Aji Paar ho jaana.

And on he went through sun and shower hills end meadows At times his confidence shook. The more he raised his voice the more the heavens receeded. Hiseyes fixed on the polester, he continued his journey until he caught the glimpse of dawn. He exclaimed with joy :—

Ghor tam men dhruva nirakhta chal raha thaa
Aur ab to bhor hota jaa rahaa hai

He was none else than Acharya Jankivallabh Shastri the noted scholar poet of all India repute.

Born in the year 1916 at Maigra, a small village in the district of Gaya, he got his early education under the strict suardianship of his father Pandit Ramanugrah Sharma who in spite of being a poor Brahmin was a man of high learnings. While still a boy in his teens he left his father (mother had left for the other world when he was only four) to join Benares Hindu University where he came, he saw and he conquered all by his Sanskrit Poems set to his own captivating tunes. His 'Kaklee' the first collection of his sanskrit songs came out with a bang and took all the great scholars of the time by surprise, who with one accord of their voice called him "Abhinava Jaideva."

One day Nirala, the Himalaya of the Hindi poetry, drawn by his poetic genius appeared before him in his small hostel room. Shastriji has recalled this event in vivid details in his 'Mahakavi Nirala'. Getting the Nirala touch, the genius of the Sanskrit poet turned to Hindi literature in general and poetry in particular. His poems and critical essays began to find place in Madhuri and Saraswati the leading literary magazines of the day. His literary activities brought him in contact with Prasad, Pant, Nand Dularey Vajpayee and several other topnotchers. They all had a lusture of their own, but it was Nirala who influenced him most, so much so that he adored Nirala he Praised Nirala, and he criticised Nirala wherever he (Nirala) went wrong. Shastriji's 'Nirala-ke Patra' bear testimony to the fact that Nirala needed him most in the dark moments of doubt. He used to call him Acharya. Shastriji, who never stood second in any of the Acharya examinations of Bihar, Bengal, Assam and Orissa University holds that the Acharya degree conferred on him by Nirala,

(who was a University in himself) is the unbreakable shield which he can use against all sorts of concerted attack on him.

Yes, Acharya J. V. Shastri is the name of a brave man struggling hard against degeneration of ideals and erosion of values.

Friends he has few, for he never accepts any compromise formula in life or literature. K. N Mishra 'Prabhat' in one of his article written sometime in the year 196 says, 'Shastriji should have been thoroughly studied and widely discussed in the interest of the language in which he writes if not for anything else.

But crammers masquerading as critics and peuagic peadlers follow a different custom in Hindi.''

True, the critics, owing allegiance to different groups and camps and committed to anything other literature have struggled hard to isolate this man who never follows what other people begin and in this effort they have remembered most the name Jankivallabh Shastri Perhaps it would be more accurate to say that J.V. Shastri, by virtue of his unbending physique and nature isolates himself from the crowd you can point out at him in the million as easily as you locate the venus in the star-studded sky. So is his poetry. "In Shastriji's poems we find appaleseence of light, coral groves, cadenced waters. mountainous waves, pearl strewn bowets, enamelicu flowers, glow of golden weather star bajewelled skies, dark and deep mysteries of the blue expanse, immaculate moonlight, starlit silence pelfumed lovely hours, plaintive sobs, melancholy note of the fiute and ringmg in the golden dells of rhyms ... Janki Vallabhjee repregents the melody of Indian's Soul'' observes K. N. Mishra Prabhat.

Nalin vilochan Sharma the fore-rner of modern-criticism in Hindi, held that Shastri hees name was among the first five poets. with whom his mind was preoccupied.

Shastriji shot into prominence with his lvrics. Rich in variety of shades and tones, form and content, subtle use of words and modes of expression, they on different occasions sound like Saam-Gann of the Saamveda renimds us of Valmiki, Vyasa and Kalidas exhibit the influence of Pernian poetry, display the delicacy and tenderness of Ravindra and last but not the least inherit some of the charactics of Nirala And still Shastriji has identity of his own. He has his own conception of beauty and art for which he has been fighting unceasingly. His poetry creates spirit to endurs and even to rejoice in endurance. He never allows commercialism to lay its ugly fingers on his works. With passage of time he has gone on making experiments with lyrics making it able to cover all aspepts of life—personal social and even political, but nowhere at the cost of beauty and art One can eaten a glimpse of his poetry in totality in "Aadhunik Kavi" Jonki Vallabh Shastri", the latest publication of the series

Poetro apart his critical essays collected in Sahitya darshan, Prachya Chintadhara, Trayee, Maha Kavi Nirala and Nirala kepatra have been inspiring the elder and the younger crities alike

Foually good in his operas, travellogues, btography, autobiography and plavs he has excelicd all in his epic Radha, where in Hindi poetry has reached a haight unattained even by Kamayani.

As regards his career. Shastriji, while it his early twenties was appointed Rajkavi in the State of Raigarh, But his

genius felt fettered and so he gave up the job. Then he joined aslecturer in Sanskrit College at Muzaffarpur. While he was head of the department there, he was picked up for lecturership in Hindi and Sanskrit in Ram Dayalu Singh College, Muzaffarpur under Bihar University. Of late the Bihar Government in recognition of Shastriji's high learnings and valuable contributions to Hindi literature appointed him as visiting Profassor of Patna University and there by did a commendable job. But not contented with what he has given he still sings—

'Meraa gaan na ab bhi shesh-Jeevan ke din to do chhar
Unhe bacha loon, kya adhikar
Ab bhi path par rath ki leek
Ab bhi barhne ka aadesh
Meraa gyan ns ab bhi shesh

Suprabhatam
Acharya Janki Vallabh Shastri Path
Muzaffarpur-1

Tradition and the Text of the Poetry of Acharya Janakiballabh Shastri

Prof. Ashok Kumar Jha

Tradition and the Text of the Poetry of Acharya Janakiballabh Shastri

□ Prof. Ashok Kumar Jha

For a poet so conscious of what constitutes the nature of expression in his poems as Acharya Janaki Vallabh Shastri, it is the essential ambiguity of poetic speech as against mere clarity of statement, its resistant manifestation of a complex network of the innate and the acquired currents of feelings, emotions and attitudes (accounting for the whole process of how they begin, get acknowledged and introspected before) attaining the impersonality of created objects, that becomes a cause for continued preoccupation with the medium. An avid reader of the poetry of Kalidasa, Bhavabhuti and Jayadev, from the outset of his career as a poet, he has responded in depth to the various accessories of speech in the poetry of these poets drawing on these responses as possible influences to forge expression for his own songs and lyrics It appears that Shastri's interest in Sanskrit poets precedes his interest in Poetics, making it possible, thus, for him to participate in that live process of creative communication which is the tradition of Sanskrit poetry.

His exposure to Sanskrit poetics along with poetry out of such a tradition could have perhaps authenticated his struggle to come to terms with the medium. His zest for using the two side by side speaks of the kind

of confidence he discovered in his experience of the earlier tradition and the ease with which certain Living values of such a tradition could be inculcated into Hindi. When he was still responding to the poetic expression of Kalidasa, Bhavabhuti and Jayadev, he came face to face with the personality and works of Nirala. In the continuity of the Benares tradition he had to measure in his own young poet's self certain living values out of the poetry of the past in Sanskrit to how Nirala had already mattered on whomwhat different terms aspects of a tradition in Hindi.

The Niralan variation on his training as a Sanskrit poet proved to be a vital pull. Not that Nirala himself was immune from influences and interactions from the parental traditions of the Indian literature in Sanskrit as his poetic diction at its best vibrates with some of the values underlying the Vedic-upanishadic tradition of experience as it may still by relevant for a contemporary poet who could communicate with poets in the Sanskritic tradition as well as what came from the west. Tagore's organic absorption of poets from within the Indian tradition and use of experience of living tradition was a concrete illustration of how the past still lived on in contemporary terms for the Indian poets together with their response to and contact with influences from the west. Nirala's stay in Bengal led him to respond to the perceptions of Sri Ramkrishna Paramhansa as well. His translation of Ramakrishnavachanamrita from Bengali into Hindi is proof how readily does he absorb the perceptions of Sri Ramkrishna together with a kind of communication of the Vedantic experience in the songs of Tagore as he sang them with relish. Mystical apprehension of feeling as thought and thought

as feeling as it constitutes the Upanishadic tradition becomes as easily the main trait of the meditations of Ramkrishna as in the songs of Kabir. It is, again, the presence of such a unity of vision that actuates the later poetry of Tagore. An interest in Nirala perhaps takes Shastri to Tagore as well as Ramkrishna's meditations, and later on to Vivekanand.

This is not to undermine Shastri's initiation into the Vedantic tradition from other sources as well. At Benares itself at an early stage of growth he was led to an acquaintance with the perceptions of Sri Aurobindo, apart from how his Sanskrit teachers might have led him to respond to certain ideas in the tradition of Indian thought. His deeper study of the Vedanta together with the shastras and poetics follows serving as the ground of anchonage of some of his beliefs and ideas. From these to his poems is an interesting evolution of a poet's mind to the demands of his art at different phases of his practice as a poet.

Although quite a large volume of his creative output remains unpublished, Shastri remains a poet first and fore most His reflections on the nature of poetry in prose being a statement of his position as poet in criticism serves as a centre for reviewing the literary scene arising out of an awareness of the home tradition and certain values manifested in literature and thought accruing from an interaction with the west His learning is often charged with insights arising out of his creative experience, and it is in this that such prose creates a creative ambience which may be of use against a certain recalitrance in receiving and opaqueness in the way perception may activate young minds. When contemporary experience tends to dissipate creative energy into superficial and trendy creations, he sticks to a care for

form, an appropriation of word and rhythm characteristie of good poetry.

If interaction with Jayadev makes him in Kakali compose verse lines such as,

"कोमल किसलयकुसमाकलित कदम्ब कदम्ब धनम्"

or

"कोमलकमलकलापकलित-कल-सलिल सलील समीर"

He writes do differently in response to Kalidasa,

ग्रीष्मो वर्षारशरच्छिशिरहेमन्तास्तथा वसन्तः,
ऋतवः कुत आयान्ति, यान्ति किमु दृश्यन्तो न वसन्तः ?"

At his beginning in his simpler preoccupation with language and rhythm in a poem such as Ritusamhara. He can, however, draw more purely on Jayadev in inducing such qualities into Hindi poetry,

"सुमन-भार-नत तरु बल्लरि-वन, सौरभ-भार अधीर समीरण,"

or,

झलमल-मुक्तादल-नव-जलचर-कुन्तल जाला/
कज्जल-कल चपला-चल-लोचन, भोरोचन रुचि माला"

Writing verse lines in a sort of diction appropriated first by Jayadev, in Hindi, was an advance in application on the music and assonance of words in verse lines in Sanskrit with which he begins. Niralan variants to such music shows Shastri's capacity to experiement verse music of different kinds in his poetry:

साधों ने बांधे नव बन्धन।
मुझे मुक्ति प्यारी न, शुक्ति मैं,
गुप्त अभी मेरे मुक्ता-गण।
मुद्रित-मुख बालारुण-उन्मुख
हृदय-पद्म चल सजल सद्म सुख,

मत असङ्ग हो भृङ्ग ! अभी सब
जन्मजात अज्ञात सुरभि-घन !

or,

शक्ति हे भ्रू-क्षेप-भव सञ्चारिणी,
अन्ध-तामस-सिंधु-तरणी, तारणी !
दे मुझे साहस विषम, विद्रोह का
कर सकूँ मैं रामन मन के मोह का
अ पतर संकल्प भू पर स्वर्ग का
लोकहित निश्शोक प्राणोत्सर्ग का
प्रिय प्रकृतिके, मातृ-जाति-प्रशन्तिके !
सर्वतो भद्रानुशासिनी, स्वस्तिके !

Interaction with the poetry of Nirala helps to bring to the fore, beyond the influences of Sanskrit poets, some of his own latent powers as a poet. As with Tagore and Vidyapati, howeever, a close acquaintance with music and metrics helps him to achieve profoundly original effects out of how he comes to exploit certain musical aspects of his preoccupation with words of Sanskrit origin in his poetry :

मेघ - रंध्र में मन्द्र - सांद्र ध्वनि
द्रिम-द्रिम द्रिम उन्मद मृदंग की !
भाद्र समुद्र - भद्र - रव रशना
नाच रही कस - दिशि - वसना

× × ×

मुक्त केश सरका नीलाम्बर !
हरित सस्य अंचल चंचलतर !!

× × ×

प्रतिपद-गति नति जल - तरंग की !
तड़िद् भंगिमा अंग-अंग की !!

This is not being daunted by the Kalidasan achievement, but to extend the creation of rich auditory effects of the same class in another language deriving from Sanskrit as is the case with Tagore or Vidyapati. Nirala himself draws by turns on words of Sanskrit origin and such images as well as words of a more common and colloquial sort coming from other sources. In his insatiable quest for expression Shastri too, like Nirala, comes to use words of the other class in some of his poems. He writes thus :

टुसिआए पाकड़ पर
बैठ कर भुजंगा
बोल रहा ठाकुरजी
देख रहा दंगा ।

or, the more frequently cited :

गयी काटने गेहूँ अम्मा,
बाप गया बेगारी में है
खा अफीम घर के कोने में
बच्चा पड़ा खुमारी में है

to take only some obvious examples.

What is more Nirala in a sense helps this Shastracharya of a poet to come out of the cocoon of a poetic tradition of Sanskrit verse to strike up with more inclusive and experimental tendencies and attitudes accruing from the spirit of a new age not only in interacting with a great tradition of linguistic and literary use—extending from the Vedic times to the modern age, but as to actual experience which goes into its making. Drawing on the Bengal tradition of nineteenth century humanism as in Tagore—a humanism not divorced from religion altogether, Nirala comes to include the upliftment of the common man as part of an honest

preoccupation with an adequate future for the down trodden and oppressed. Such a feeling in Nirala as in Tagore does not, however, conflict with faith in the positive and abiquitous aspects of experience as it is manifested on the human plane. A variant of vedantic mysticism underlies the reprresentation of life in the poetry of Tagore and Nirala. And this is also true of the poetry of Janaki VallabhShastri.

So we find Shastri expressing a certain impatience with an old and dated tradition, "क्या पुरानी बीन में रत" in verse as well as in life. This however, does not mean a wholesale rejection of the past. As with Nirala his rjection of certain things in the past is a critical and Qualified attempt to incorporate what is of use to his needs in the present and with respect to a meaningful future. A constituent of the theistic humanism of both Shastri and Tagore, is anti-racism, :"माना प्रथम तुम्हीं आए थे",

The Vedantic experience which had come to eschew ritualism, in favour of an adjustment of experience to reality, beyond the limits of such a practice, under the influence of Shankaracharya, is subjected to an affirmative interpretation—deriving directly from the Upanishads—by these poets. The more positive attitude to life that is lived is characteristic of the Uponishadic Vedanta before it is subjected to a Shankertie extreme in interpretation even as Shanker leads us on to a 'yes' for life as against the 'no' of the Buddhists. With fresh strength coming from the 19th century humanism, an anxiousness to define tradition, close to the original intention of some of the Upanishdic texts, makes the perception of writers like Vivekanand, Tilak and Aurobindo, not to speak of these poets in question.

II

The Romantic preoccupation with the uufamiliar, fresh and strange character of a perception of reality underlying even its known and familiar aspects suits the vedantic realisation of what must remain indefinable in any attempt to grapple with the ultimate character of such an experience. The latter, thus, entcrs into a live relationship with the former in the verse of a poet such as Rabindranath Tagore. For forced as he is to the extreme privacy of his beliefs and experience by the opposing character of an increasingly more industrialized society, its prosaic and vulgar beliefs, the Romantic individual comes to substitute the more shared and stock modes of living beliefs of his people with these. It is here that 'Nature' offers him a temporary respite from such a hostile process, serving as a symbol of translendence in his subjective consciousness against a sea of contrary experiences.

The case of the Indian poet, whether of the last quarter of the 19th or the first half of the 20th century in Bengali, Hindi or English, has curious affinities to offer with some of the Romantic poets in English, and yet, it must be said, they have not been estranged to such an extreme from the society of their time. Nature does not become such a symbol of transcendance in their poetry, nor is it used to substitute religious faith with the discovery of certain new aspects of experience. Even as they respond to the very individual voice of poets coming from the west, of poets who sing

of man and 'Nature', their poetry is an expression of their unique identity as poets, a large part of which unfolds gradually in terms of the matrix of a home tradition. Even in the case of Tagore, who was more exposed to the poetry and culture of the west, responce to ideas and beliefs coming from the west does not supplant his more basic attitudes and beliefs originating from his growth along the matrix of a home tradition.

The attraction of a living tradition of thought and belief as these characterize a pan-Indian literature in Valmiki and Vyas, the Upanishads and Kalidasa offer a more coherent vision of man and 'Nature' than what the spirit of a new age had to contribute. This is not to deny seminal interactions with the spirit of a new age—its love of indiviualism and certain nationalistic and democratic tendencies, as these interactions are visible in the poetry of Tagore and the so called Chayavadi poets. They are obviously poets in a phase of transition, and hence it should not be inpossible to find in the poetry of these poets certain echoes and analogues to certain lines of verse in poetry coming from the west as well. This is, of course, preceded by an influence of certain ideas coming from the west which comes to constitute an aspect of the milieu of these poets, part of the received and derived experience that becomes an aspect of a new cultural ethos during a phase of transition.

There is interaction with the poetry and ideas from the west to be met with in the poetry and other writings of Tagore, and Shastri too is no exception For example, when he says, that with Jung he holds every experience to be explicable in terms of a deeper logic as to what constitutes its making rather than the occident of its origin. An application of the Jungian understanding of certain amimistic ima-

ges no less than the presence of defea and death as the experience of his poetry, has made us understand the poetry of Nirala better. The presence of an anima figure as a symbol is a source of strength in the poetry not only of Nirala, but Tagore as well before Nirala, till we come to the poetry of JanakiVallabh Shartri who comes to exploit such a strength to his best, (the full glare of the Jungian enlightenment in these areas not with standing).

III

As in Tagore's Manasi or in Nirala who too can draw the cult of the woman as the muse and goddess, an archeypal feminine figure in accordance with beliefs and values in the Indian tradition in a poem such as Ram Ki Shaktipuja, Shastri goes on to use different layers of sueh a composite experience in his poems, Shyama-Sangeet and Radha. In doing so he draws on a living tradition of faith in the manner of Shankaracharya, Vidyapati, Tagore and Nirala. In spite of self-consciousness of a kind accruing from his knowledge of Jungian researches, he can put his deep knowledge of the Indian tradition to use in composing these poems. He is able to actualise his experience with the help of a living tradition in a manner, a poet like Robert Graves cannot inspite of his wide knowledge of such beliefs in several traditions. Graves's knowledge of archetypal cults of the woman as Muse and Goddess is put to a limited use in his poetry compared to how Shastri responds to motifs and notations of such a use within a specific tradition.

Conscious of how even beliəf in one's powers may serve as a source of strength in subjecting experience to shape in

regulating personal energy to a hard core of achievement, the poet in Shastri comes to invoke the mother figure upon terms in consonance with a pride in achievement, "अहंकार मेरा चिरायु हो" of a sort, which may be benign after all, "कल्याणी प्रतिभा हो मेरी" and may not end up as mere verbal music hunuility, and decorous arrangement of words. A heightened impulse is only the right kind of prayer in this process. Utter however, in the face of experience, "मैं गाऊँ तेरा मंत्र समझ / जग मेरी वाणी कहे कहे" as in the poetry of Nirala, "तुम्हीं गाती हो अपना गान,/व्यर्थ मैं पाता हूँ सम्मान" is proof of how impulses have been mastered to such an end in faith.

The heightened music of Shyama-Sangeet yet tends to a stillness of effect as experience comes to a kind of reconciliation with certain images in a tradition. In Radha Shastri tries to break through his poise of faith and his close training of a Sanskrit poet in the early poems to a release of certain vital impulsions in keeping with the spirit of a new age. This suits his epical aim as well as the more popular temper of the age as something coming from the classical poise of the poet of faith in Shyama-Sangeet.

But between the poise of faith in Shyama-Sangeet and expression of a number of impulses and appetencies in Radha, an ambitious long poem – constituting of a series of lyrics and songs, which subjects the original myth to include historicism out of a contemporary interpretation of experience in the manner of Prasad's Kamayani or Aurobindo's Savitri, lie some of his other poems. Although he appears to be the type of a Sanskrit poet out of the past in accordance with, say, Coomaraswamy's view of oriental art as the expression of a self-sufficient vision of life within the limitation of the art object, on closer examination of his poems one finds that he has responded to the spirit

of the age as well not in a faint echo of certain Romantic tendencies, but in holding a different mirror to the past as he subjects even old myths to novel interpretation.

For Shastri the poet such a fusion of the past and the present can only take place in the personality of the poet. A certain pride in putting oneself to such a task gives a certain philosophic edge to his performance as a poet. The final impersonality of the poem, thus, to him is the triumph of the poet's personality not in the narrow sense of the Romantic individualism coming from the west, but coming as it does in the line of such masters of the craft of poetry as Tagore and Nirala.

If in composing Shyama-Sangeet he had experienced the sort of adequacy to be attained between the priority and poise of faith and the artifice and accesories of linguistic communication which could help him express the same, he comes to understand that, as per the basics of Indian poetics, such a pure experience of a prayer must be transcended in art, as it is not in the nature of life to stop and get arrested in unmeaning silence. Although writing as a contemporary poet, Shastri seems to hold with the great acharyas of Sanskrit poetics that human appetencies (vasanas) constitute the perennial subject-matter of poetry.

This explains the keenness of his experimentation in verse and prose to get to a suitable use of the medium for his urges and impulsions From the versification of Gatha (1944) to his prose stories and poems such as Tir-Tarang (1939-43), Roop-Arup (1939), Shipra (1935-45), Megh-Geet (1950) and Avantika (1953) he seems to be exploring the adequacy of the medium for achieving his aim, which is indeed a difficult one,

"नित्य सत्य बरसे सुन्दर स्वर
लय - कौशल - अभ्यास न केवल"

But inspite of the spontaneous appearance of poems on the volumes above and the occasional character of their publication it will be an error of judgement to presume that his poems are no better than a mere flow and recoil of a subjectivised consciousness. Assertion of an individual pride in artistic performance involves, of course, great tribulation and sacrifice. This may indeed be the chief shield of a man of exceptional sensibility to protect him from certain contrary areas of public experience. (His love of animals—cats, dogs, cows and bulls—may be another sort of a preoccupation to ward off overwhelming alienation from the quotidian rounds of life in a moffasil town—in a provincial context. Practising the anonymity of poets in the classical Indian tradition has not been that easy even for such an ardent admirer of such a culture as this poet. Feeling for the past in evoking it to bear upon the present in a use of myth and literature, a certain love of the community as nation are some of the other traits manifested in his poems.

It is not the unguarded moment of lyrical freedom, sudden impulse which is, unconnected with the rest of the poet's perception of reality, but a philosophic apprehension of the reality of the lived experience in the manner of Tagore's poetry, which seems to guide him along his explorations as to the value of the experience. Before he goes over to grapple with the reality of felt and lived experiences in feminine images in Shyama-Sangeet, he tries to seize at these perceptions as part of the unhoused, the indefinable aspects of an experience of reality. He turns to use such satisfactoriness as part of how the senses respond to beauty in Tagore only to discover the kind of a transuendence which

takes place in such an effort. As in Tagore the tone and mode of communication coming from Vidyapati in turning sensuous experience to non-sensuous and spiritual end,

"सजल नयन सखि निरख न पाती,
तब तक निर्दय जाता"

is put to a more impersonal use than it is with Vidyapati,

"कैसे रोक रखूं,
जब सब का वह अनिकेतन है"

IV

An impatience with outworn form is inherent in the poet's belief in his own powers,

'पीले पत्तों में वसन्त के—
लाल प्रवालों का दल सोता"

and the sort of hard application which may justify his end,

"सोने का तपना ही क्यों,
तुम अपना कण्ठहार भी देखो !"

Even as he seems to balance the pull of his impulsions with a possible application of the same, he is seized with the amoral nature of the value of an engaging experience for the poet as an artist :

तुम दिखलाते, मैं दिख जाता,
तुम सिखलाते, मैं लिख जाता,
कोई सच या झूट कहे, पर—
मैं न गलत हूं, मैं न सही हूं।

If philosophic belief helps Shastri to apprehend immediate experience as part of his more wholesome experience of reality, examination of literature and myths out of the past takes him to draw upon certain symbols within the tradition to express certain quintessential values as the stuff of his experience for poetry. His education and training as a poet helps him to shape his experience in terms of the continuing attraction of these images from the racial psyche rather than stray wanderings along naturalistic routes to grapple with the raw material of his poems. There has not been merely a simplification of experience in terms of available philosophic belief, but of choice of images too in the light of such an experience :

जटिल कर्म-पथ पर थर-थर-थर
काँप लगे रुकने पग,
कूक सुना सोए-सोए से
हिय में हूक जगाई !

The ecstasy due to an indefinable perception of reality as per Vedanta comes to the poet in an exceptional moment of a response to certain aspects of a myth of long standing in the pan-Indian tradition. Culturation of aspects of experience in terms of various facets of a legend too as it adjoins such myth, giving a living continuity to the experience, is a power he has come to possess in his close familiarity with poets such as Kalidasa. Poems in Shipra (1935-45) express exploration of such authentic sources of strength for the poet through a process of self-struggle revealing unusual powers of growth and persistense for which he uses the symbol of a sturdy bunyan in a garden of delicate and fragile plants. Such persistence of course involves a lot of stamina to withstand the buffets of

experience, "वे थोड़े, जो सहते झञ्झा के झोंके, ulike those tender and fragile plants, 'कारण, वह खुद न बढ़े थे, गए बढ़ाए.' Mere contemporaneity has not been the whole or his preoccupation as a poet,

"जो भी पौदे सम-सामयिक रहे इसके
वह एक कर अब सब के सब खिसके !"

A comparison with Toru Dutt's Our Casuarina Tree brings home to the reader how Shastri has bypassed the mere pressure of individual personal experience in imbuing these images in his poem with more than the localised appeal of private experience as the basis of communication.

In Chanakya exploration of the past takes him to an assertion of certain integrating values essential for the survival of a polity and culture,

"व्यक्ति नहीं चाणक्य, एषण, राष्ट्र-चेतना,
जीर्ण-शीर्ण पथ छोड़ काटता नई लीक है।

Even art values leading to degeneration and decadence must be discarded in bringing thought and action together to get out of such an impasse, "ज्ञान-कर्म की प्रकट प्रीति है।"

If Tulsidas is the symbol of a kind of enlightenment in art for Nirala, Shastri turns to Kalidas for a representation of integrating values in life. There is false enlightenment,

"अन्धकार का तना चँदोवा था जन-भू पर,
दीप उजलते जलते थे बस ऊपर-ऊपर !"

of a kind. Deprived of the finer values, " गया शील, शालीनता गई, हृदय स्वार्थ से अन्ध,/प्रेम बना व्यवहार, कला दुखान्त यौन सम्बन्ध।" of life art can only take us to an exploration of insular appetencies devoid of heroic participation,

"द्रुत गति से चल रहा उर्वसी के अन्वेषण का क्रम,
पर पुरुरवा का न गगन-धन भेदी कहीं पराक्रम।

To Shastri mere sensuous ecstasy cannot even be a substitute for love or the quest of a durable experience underlying activation of the senses to more durable fulfilment.

As against the integrating balance of values in the Kalidasan texts, something which to him represents the strength of a culture in its rootedness, the poverty and misery of his people, indeed the very insensitiveness of a pseudo-scientific culture to all pain and fratricidal tendencies in humanity, speak of fragmentariness and disintegration in a state of society. Against such an inert presence of an impoverishment of values, Kalidasa to him is the very type of a master creator who can so integrate the temporal with what endures as to have a perennial appeal against a sunken and depressed present.

Poems in Shipra appear to distinguish themselves among Shastri's creations not so much for what they achieve by way of ihe finality of expression as a certain critical manner to experience with respect to the present and what the past may have to bequeath to the present in a phase of a crisis of values. Anxiety as to the worth of the sufficing value makes him question available modes of a cultural regeneration,

"मिट्टी नहीं हुई ? मत हो; नभ तो आलोकित !
यही कम हुआ, हवा हो गई अहा, सुगन्धित !!"

Tending to ironical delivery now and then he can draw on a critical manner in poetry too, which is a clear departure from the school of poets he begins with :

नई हो गई पुन: पुरानी अपनी संस्कृति !
छायापथ-सी नई बन गई ज्योतिर्मय सृति !!
नाड़ी ली है पकड़ ज्योति की, क्या निदान है !
आसमान में स्थापित होता कीर्तिमान है !!

Feeling for a culture which can integrate the well-being of the common man with values that sustain life as per the great Indian tradition makes him look askance at contempraneous experiencc emanating from the Indin condition as it bears upon India coming from elsewhere. From the more restrained manner of a classizing poet in his early poems, he has moved over to a sort of critical experimentation with poetic expression which includes a feeling for the common man and recreation of certain enduring values out of the past.

VI

Poems in Megh-Geet (1950) combine something of the ironical attitude to experience that one finds in poems in Shipra with a flourish of auditory effect which accompanies songs about the way clouds behave in the poetry of Kalidasa, Vidyapati and Tagore. Shastri, however, seems to have come to a finality of effect and expression in these songs which mark the independent and unique character of what has been achieved. A poet in the learned tradition he does not merely succeed with the musical phrase, rhythm and metrics, put can turn his experience of clouds to act as symbols in a comment on the available democratic experience,

"ऊपर-ऊपर पी जाते हैं, जो पीने वाले हैं,
कहते : ऐसे ही जीते हैं, जो जीने वाले हैं।

He goes on to sing, again, of the quality and kind of leaders of the new nation,

"कुपथ-कुपथ रथ दौड़ाता जो, पथ निर्देशक वह है;
लाज लजाती जिसकी कृति से, घृति उपदेशक वह है।"

Lack of self-criticism makes them appear as cheap and vulgar demogogues to a satric poet :

दम्भ गढ़ने उठता है शील-विनय परिभाषा,
मरण रक्त-मुख से देता-जन को जीवन की आशा !
जनता धरती पर बैठी है, नभ में मञ्च खड़ा है,
जो जितनी है दूर मही से, उतना वही बड़ा है !

His satiric manner of expression calls to one's mind Pound's use of songs and lyrics as an instrument of critical expression in the Cantos and elsewhere often in disapproval of prevailing situations and the bane of certain contemporary values. As he is not in the main a satirist in verse such 'crookedness' of speech in verse as an exercise in 'Vyanjana-vritti' enahaces the net effect of the poetic appeal of these lines. It makes possible for him to sing of the reality of the obtaining experience in how hopes and expectations of the larger community have been belied in its leaders. The gap between what was expected and the bareness of the experiential situtation has been dramatised in terms of desertification of the context in question and possible regeneration and growth of life in such an arid zone in terms of certain vegetative symbols,

उतर रेत में आक-जवासों-भरे खेत में,
शून्य गगन में व्यर्थ मगन मँडलाता है।

which reminds one of the poetry of The Waste Land.

A bibliographical statement as to the composition and publication of each of Shastri's poems in a chronological order must be a great help for a proper response to the different stages of his growth as a poet. As it is, poems in the Shipra volume or in Avantika reflect a simultaneity of influences and echoes. These influences and echoes being in the nature of literary interaction with prevalent themes in Romantic and post-Romantic poetry do not surprise the reader in following one another in the way he comes to

explore different themes and corresponding modes of expression in different poems. Where as Van-Suman is a typical Chayavadi poem as it holds forth the ultimate value of a withdrawl from the crowd, a certain love of privacy which may survive still in the context of 'Nature', Do Chiriyan expresses a Wordsworthian mystique of the unknown as to the possible value of indefinable utterance of two birds in flight as against the arrogance of human knowledge,

"कौन कहे, मुँह खोल रही, क्या बोल रही है।

In re-calling the beloved one in Tumhari Yad, however, the reminisced contents of experience attain unusual wholeness of a balance and Poise in effect in how the value of the realised experience is 'mastered in terms of the spoken word,

"हृदय को मानो बना मस्तिष्क,
भावना को शुद्ध बुद्धि सचेत।"

Prabodh, on the other hand, carries ahead the defiance of the democratic man against an explotative social order, a humanistic legacy he inherits from Nirala and the spirit of the new age,

"गत प्रमाद की निशा, दिशाएँ नव प्रकाश में बिखरी,"

or the more vigorous protest of a Romantic humanism in,

"'जागो आततायियों के सम्मुख ज्यों शतमुख क्रोध,
अवमानित धूमिल आत्मा में ज्वलित अनल प्रतिशोध।"

In the same volume in Avantika, he returns as in the poem Shipra to juxtaposition of a rich past against a sunken present. If in Shipra the fugue for evocation is a river, the city of Kalidasa is itself the context of such an evocation here,

"पतझर-मर्मर में चिर-वसन्त की रानी।"

A bankruptcy of those higher values and presences

informing a culture in its existence accounts for what obtain,

अब शून्य भित्ति है, मूक खड़े छवि-ज्ञानी !"

The inner vacuity of a degenerate culture comes of a human failure, which is the result of a deadening of the human soul itself to the finer values of life,

"धूसर अञ्जल पर धुन्ध."

Memory of the past of this eternal city, however, is the source of a perennial spring for the poet, who hopes to build on its ashes,

"नव निर्माण करेंगे हम इस भव शव का।
रहे नीव में भस्म तुम्हारे वैभव का!"

More than it is so in Pound, who too is evoking the past for its values in poetry, Shastri looks with hope to a resurgence of new values coming out of such a perennial source to fulfil the deep cultural need of a people :

नया सबेरा जन्म ले रहा, चहल-पहल है
वन-प्रान्तर सब मुखर, मर्मरित और गुंजरित;
पत्र-पत्र में स्पन्दन; कम्पन कली-कली में;
नए रक्त का है यह मांसल शिशु प्रकाश का !

In Hans-kinkini he comes to a less heightened use of the poetic voice to a more adroit and picturesque phraseology,

"यह शरद की धूप तेरे रूप का अङ्गार,
प्रेम हेम तपे; बने कुन्दन, बने शृङ्गार !"

But what is more significant, there is perception of the continuing feel of the spring not in memory associated with a place as in Avantika, but the way it seems to emanate from one's own self in what it suffers,

"गन्ध की अनन्त वेदना वसन्त है।"

In the process he is aware of having activated a whole tradition of lyrics and songs,

"गीत था अतीत बुझे द्वीप-दीप का"

and the distance he has to cover,

"थके-थके पाँव, अभी बहुत दूर गाँव री"

against a vociferous and wil ful present,

धूल धूल वर्त्तमान धूप-तपा तीखा,
चीख-चीख कर हँसना, रोना है सीखा!"

The confidence of early poetry has deepened in a perception of the possibilities of art as against the given terms of harmony obtaining from certain contexts in Nature,

"ऋतु सम पर है; असम छेड़ सुख, कवि उर-अगम अपार !"

Asthesis in such a phase of experience becomes a realisation of the finer satisfactions inherent in an experience, the poet's 'intuition' to use a word out of Croce's poetics, as per the poet's dispassionate expression of the same,

"केसरिया पट पर अन्तर की छवि-मधु गई उलीची।"

In Shishir Kiran he directs simple vedantic perception to a scrutiny of the apparatus of poetic language itself,

"है वही सब कुछ नहीं जो सुन रहे तुम,
अर्थ समझ ही बिना सिर धुन रहे तुम।"

and an unbearable haul of experience bordering on mysticism In Sursari a statement from Vivekanand could be the point of an apprehension of experience,

"अभिव्यक्ति जीवन है जिसकी, मरण उसी सत्ता की सिकुरण।"

A Tagorean sensitiveness to the infinite has indeed come to characterise his experience,

"हार या जीत संगीत में पग रही !
लाज अनजान को जान कर लग रही !!"

And what is appropriate to such experience in a use of certain key words such 'प्राण' as out of the still older

tradition of Vedanta contributes vitality and richness to his use of the tradition,

"आज तक प्राण के गान गाता रहा।"

As a poet Shastri has avoided the dry asceticism of the puritans as well as the extreme tolerance of the saints,

"मैं न आत्मा का हनन कर जिया,
और न अमृत कह कर विष पिया।"

drawing on human appetencies qualified by his perception of values as per a tradition. Indeed he has come to believe that even freedom of the liberated self must be yoked back to participation in life, howsoever trivial or transient the process of the lived experience,

"क्या उड़ान हारिल की ही जीवन ?
मुक्ति को आज प्राण देने दो !"

and, further, when he says,

"साँस बन बाँसुरी बजे क्षण भर,
तुच्छ को आज मान देने दो !"

VII

In a tradition in which there is no dearth of poets who claim a major status for having written a long poem, Shastri comes to writing his long epic rather late in his career as a poet. The restraining influence of his Sanskrit experience, the acquired early discipline has at last finally merged with a desire for vital participation not only in a variety of effects in the spoken language of a people, but in terms of the obtaining and contempraneous values of his society. And it is in such a context that he goes in for the Radha aspect of an old tradition and values to express himself in a long poem.

As in Ram Ki Shakti Puja or Sri Aurobindo's Savitri, it draws on an anima figure as a symbol of cultural experience in a heightened exploit of the same to redress a balance of experiences as it were in a deeper and wider organization of the same in art experience. Whereas the Rama myth stands for the faith of his people, the Radha-Krishna myth expresses the various layers and strata of an ancient and composite culture for this poet of contemporary India. But for Shastri the poet of contemporary India even the classical age of Indian polity and culture was not without its limitations,

"युग सामन्त गया, हाहन्त, अवन्तिके ।
कलंक-डाल में लाल प्रवाल नहीं टिके !"

He can see an alteration in the quality of the ideal experience in the new context,

"जभी जगी जनता, सामन्तकि सो सके ।"

In choosing the symbol of RADHA he treats of the various layers of this experience as different strata of a complex feeling. Such an ANIMA figure, thus, arising out of his own appetencies becomes a persona, a mask, and a myth to express certain aspects of a heightened perception of the real as he comes to prize this experience as a poet. Apprehending the infinite on its own was perhaps too, much for him. So he comes to exploit a more ardent approach to the reality of experience as per the bhakti cult in Vedanta rather than the dryer apprehension of the real as knowledge as in Shankerite Vedanta. His is obviously a poet's preference, and in drawing upon such a use of ANIMA figure he is not alone among poets in the tradition —Nirala and Aurbindo being two immediate predecessors.

Thus, in drawing on such a symbol he combines the best of a hope for the common man with the highly

changed traditions of belief and participation of Vedantic monism of a more urgent kind. The collquial ease with which he can recreate such an experience derives at once from life in the common, as it may suit a nascent democracy, and the pastoral tradition of Indian poetry in Sanskrit in poets such as Kalidasa and Bharavi and Hindi poets like Surdas. Even the stock images of the poised experience of faith in SHYAMA-SANGEET appears to be somewhat ossified with respect to a playful treatment of language and experience in the other context.

VIII

For Shastri a poem in its release of appetencies into expression becomes in the process—a living, organism, to use a Coleridgean phase. To him, as to Paul Valery, and ACHARYAS of Sanskrit POETICS such as Anandavardhan and Abhinavagupta, a poem is a process effecting an adequacy of correspondence beetween the acessories of language and the raw material of a poet's experience. Once a poem begins in terms of an image carried along the tide of rising feeling or emotion which the poet tries to apprehend in words, the original impulse leads to other impulses and their accessories coming from how it begins in terms of the impulsion of the poet's will. To Shastri, thus, as to Coleridge and Valery the processes involved in the making of a poem are no less important than the poem as a complete object in itself.

It is in this sense he comes to value the personality of the poet—as in Coleridge's criticism—as the real vehicle of that complex organlzation of experience, partly expressed in a poem. Face to face with such complexity of

experience ih his later poetry he seems to have come to know better of simplistic theories of betterment and progress. His Vedantic experience is authenticated now, as monism of a certain kind in the poetry of Eliot and Valery, in a final vision of the reality of a single experience, of something perceived in the steadiness of a vision of the underlying movement, "स्थिति में गति दिखलाई देती यहीं है।"

The Vedantic experience, then, for Shastri does not remain part of a stock situation in thought in an old tradition, as it is authenticated in terms of his critical attitude to movement in experience and the situational unity of pattern underlying all experience of such an order. He eomes to question, thus, at the same time the old Upanishadic dictum that one must move forward, 'चरैवति' with the mechanical notions of progress, which have become respectable in the wake of an industrial and scientific civilization,

"केवल चलना ? ऐसी भी क्या प्रगति ?—पार करना पथ केवल !"

In his later poetry, as in Tagore's later poetry, Shastri shows more often an ability to draw on certain transparent states of the mind. This may be the result of a clear grasp of certain fundamental values and attitudes underlying a tradition. But such transparence of attitude notwithstanding this will be too much to say that he turns out to be out and out the prototype of a philosophical poet. A certain human limitation seems to qualify his approach to life still, contributing a certain opaqueness and subtlety to his artistic presentation of experience in poems.

Having perceived the ubiquitous character of the experience of reality in many guises, he does not succumb to naturalistic cravings obtaining from his age, but seems

to hold a more tolerant attitude to how it fares,

'कभी भरमता, रमता कभी कहीं है।'

This to him is its natural course as it goes ahead. A philosophic scrutiny of experience in the light of Vedanta, rather than a coherent presentation of Vedantic philosophy, becomes the poet's end,

"आए जो आनन्द न आत्म-निरीक्षण का प्रकाश में—
तो दीपक निःसार कि निष्फल उसका जलना !"

Whereas in PASHANI he goes out to dramatise certain aspects of the human mind in verse within the limitation of a mythic experience as it is interpreted with the help of a new psychology and humanism in unravelling a part of the racial psyche, he keeps himself limited to a philosophic scrutiny of experience in the manner of modern poets such as, Eliot or Valery, in this poem. Within the limits of a metrical composition he comes to dramatise his perception with the help of a sort of idiom which has come to serve more than a lyrical purpose. Already the mossy and archetypal images of SHYAMA-SANGEET appear to give way to the barer demands of a colloquial speech rhythm in how he draws upon his verse for dramatic communication. Sense in communication being uppermost in such a poem it is emotive discourse expressed with the help of a deft and demonstrative use of a poetic rhetoric which helps him to quintessential synthesis of experience. In doing so he has indeed covered a long distance in steering himself clear of a post-Romantic inheritence in Hindi poetry, and in turning it to a mature and more down-to-earth amalgamation of experiences in the manner of some of the best poets of the present age anywhere.

But to turn his Vedantic perception not only in attu-

ning rhythmic discourse to poetic communication in a contemporary manner, but draw on the quintessence of use of themes and images speaks of unusual mastery not only of experience finally understood in its ultimate wholeness, but also in terms of tenable inclusiveness not far from the experience of the average reader of poetry,

"पर यथार्थ सर्वथा विषम है : अक्रम क्रम है !"

With characteristic energy and hope he refers to a resilient exercise of experience in different contexts of the year only to lead us to a renewal of life from fatigue and death-like stupor back to meaningful participation,

'अभी जूझना होगा जग-जीवन को !

मृत्यु गेह से थकी देह को लौटाने को— !'

With such an apprehension of thought and feeling as the subject matter of poetry, there is shift in his poetry to exploit experience more closely in the emergent form of a poem He had tried his hand at the more limited form of GAZALS too, a test for his powers as a poet in restraining himself to verbal effects in a small measure besides his early preoccupation with a figurative use of poetic language and quantitative measure in metrics. He turns now such a restraint to a meticulous use of the form of the lyric imbuing his symbols with the contents of felt thought in the manner of a modern poet

But modernity for Shastri is not merely participating within the limits of a sterile and decadent mode of perception and a flaccid and overdone verbal medium. His transition to the later lyrics of his has been a slow one, as he has passed over from the shadowy Romantic content of some of his earlier poems to an apprehension of even such context in terms of the more realised symbols of his experi-

ence of age. There is now a sober acceptance of the contrasts of life, its love of light and the fog that appears to have surronded it,

"धूप-तरी तिरती कुहरी की झील में।"

He is aware that there is a gap between the promise of hope as at the top of summit, meaning what is new and the large mass of an old and inert sea of experiences. Belief in his individual talent as a poet has still led him on to a cheery optimism—a faith in his long vocation as a poet—against the contrived success of so many who cannot stand the test of time :

डूब गए जलयान हजारों
    कश्ती की क्या हस्ती ?
फिर भी मौजों के सर चढ़ कर
    हँसती मेरी मस्ती ;
मैंने अपने हाथों खेई,
    मेरा न था खिवैया !

For an aging poet he shows convincing vitality as he finds himself still absorbed (मगन) in the midst of a stream. A playful question addressed to the reader after the break in the verse line,

"मैं मगन मझधार में हूँ, तुम कहाँ हो ?"

is not without humour, relieving in the process the reflexive lyricism of the poem. The poet's self, however, is rooted in a perception of the infinite, which is ever a process rather than a result, allowing him to remain amused in exploiting these contrasts of experience even as he is carried along.

If Vedantic experience constitutes the core of such an aesthetic belief, another poem 'जिन्दगी की कहानी' expresses

the struggle of such an indefinable perception of the lived experience with the terms of such struggle,

"द्वन्द्व पलता रहा, पीर पलती रही।"

The poise of the Vedantic perception cannot abnegate vital involvement of the poet's mind and body in what is essentially an artist's quest for the power of the lived experience in his songs,

"चाहता गान में झलक प्राण की।"

Submlimation of 'VASANAVRITTI' to such an intensity for the high values characterises his mature vision, whether in terms of his more conscious and deliberate preoccupation in prose, or in the satisfying value of a fresh experience of beauty :

शिकन फुनगियों पर दूर्वा की,
पुरवा की अलमस्ती
पिए हिचकियाँ ठूँठ, तने में
जकड़ी जड़ की पस्ती।

recalling the critical and adroit use of the technique of expression at the outset of THE WASTE LAND,

"जर्द फिजा में खिले गुलमुहर
फिर भी डरते डरते !"

What literary history does to a poet like Shastri in a mere statement that he has written GEET of the old CHAYAVADI and POST-CHAYAVADI kind and of a novel kind too, is perhaps not fair to his continued and varied preoccupation with the poet's task. With unfailing energy he has continued to compose a variety of creations in verse and prose which speak of a certain etan vital, an epiphanic compulsiveness in their creation and gaiety characterising the work of a fine and manysided creator. This

includes poems born of varied moods of fatigue, defeat and even death and power to come out of any such mood with an energy capable of a renewal of enduring strength. As with Tagore and Nirala, two other poets who express significant areas of the traditional and the contemporary experience, Shastri's cultivation of the medium has not failed the demand made upon it. A certain liveliness and vitality, ease and felicity in delivery, actualization of certain realised and understood states of epiphany in terms of his wide experience of literature in more than one tradition and music give him a pre-eminence among poets.

Even in 1953 the late Nalin Vilochan Sharma, trying to evaluate his poetry midway in its journey to other creations, found his poetry to be part of a valuable corpus of verse composed by poets such as Prasad, Nirala, Mahadevi and Pant. The rest of his work not only fulfils and justifies the early promise, but contributes in a substantial manner to the engaging character of his performance and growth beyond the achievement of poems of the early and the middle phases It is safer to respond to the engaging and enduring poetry of a good and developing poet whose works span over six decades, for those other things as well that his poetry comes to be, than to judge him precisely in terms of a bygone school of poetry.

□

Flat No 6, Khabra Road
University Campus, Muzaffarpur-842001
Phode No.—244704

Among dogs and cats

By—PHILIPS

(Co-editor : Hindustan Times)

Among Dogs and Cats

—by Philips

Strange are the ways of poets. Stranger still is the case of the noted Hindi poet, Janki Vallabh Shastri, who is known as much for his eccentricities as he is for his poetic diction.

A few months back, Shastri was suddenly taken ill. His wife had to summon a doctor. When the physician, who was new to the Shastris, arrived, the poet was in his bed He felt a little irritated when Shastri did not acknowledge his greetings. Nevertheless, he took the 'insult' in his stride and went ahead with his work.

The doctor lost his patience when despite his repeated requests, Shastri did not show him his right hand. Unable to feel the patient's pulse, the doctor sternly told him: "If you don't want to co-operate with me, I am going". For once, Shastri realised that he himself was to blame for the unpleasant situation.

"Okay, here is my hand". retorted the poet throwing away the blanket. No sooner the blanket was removed than half-a-dozen dogs which were smugly sleeping along with

Shastri in his bed rose up and started barking. The poor doctor who had not bargained for this took to his heels, never to return again. The dogs were angry because the doctor had disturbed their sleep. "I could anticipate their reaction and that is why I was not willing to show my hand which was under a dog", explained Shastri.

Although his dogs are legionary, one evening when I got the gate of his house opened and drove in, there was not a single dog to bark at me. My colleague had warned me in advance to be wary of offending the sensibilities of his dogs. "What! Have they all died?". I thought as I stepped into his house.

"Most of them have died and I am now left with only five or six" said Shastri who was sitting cross-legged on a **divan** in the verandah of his double-storied house. Sleeping on his lap were four cats. Two kittens, which were in a playful mood, were climbing up his sweater and jumping down from his head.

Sitting beside him on the **divan** were two pariahdogs one of which was reclining against Shastri's leg. It was a very old dog, which had lost most of its skin and which seemed to be waiting for the day of deliverance. It had sores all over its body from which blood was oozing. And to worsen its plight, it had a bad cough. Every time it coughed, some mucus came out from its mouth and the dog rubbed it against his **dhoti**.

"They did not bark at you because they could make out that you all are gentlemen", answered Shastri. We could only have been pleased by the "certificate" given by them. "But do they consider every visitor a gentleman?". The poet said "No" and then narrated a recent incident.

Three persons had called on the poet to invite him to a cultural function. The moment they stepped inside, the dogs surrounded one person and started barking incessantly at him. When no one else in the household could control the dogs, the poet had to intervene. He asked the person concerned to leave the campus and ushered the rest into the house. As they were about to depart, Shastri asked them what that person's background was.

"I was not at all surprised when th y told me that he was in jail and at that time he was on parole. See, how right my dogs were!" prided the poet. By then, the kitten, whose number had increased to three, seemed to have got bored climbing up and down his body. They were now jumping from one dog to another and vice-versa without the dogs as much as raising their heads in protest.

"My cats and dogs never fight between themselves and they are good friends", explained Shastri. I suddenly remembered the English phrase, "lead a cat and dog life" which means to quarrel The English lexicographers would have removed the phrase if only they had heard about our Shastri and his pet animals.

Shastri has also a theory to explain the bond of love that binds his dogs and cats. "I don't give them meat or fish and they have to subsist on cow's milk. It is the milk which has made them "humane", argued the poet.

To feed nearly two dozen cats and half-a-dozen dogs with milk is not an easy proposition. "I have 14 or 15 cows for this purpose. You may wonder why I am a little vague about the numbers. I have never counted them", said Mr Shastri. He was not bluffing as sitting there itself I could see all the cows. They were being fed by a servant.

Believe it or not, despite so many cows, Shastri was not at that time getting even a drop of milk from them. His diminutive, bespectacled wife Chhaya Shastri said, "We buy milk from the market. When we get milk from our own cows it is a problem consuming it because we get several bucketfuls of it. When we don't have it, we don't have even a drop. A few cows are now "in the family way" and we hope our problem will soon end".

Left to herself, Mrs Shastri would not have allowed the dogs and cats to share her husband's bed. But she had little say in the matter. Says the devoted wife, 'When I came in, I did not like his fondness for the four-footed Of course, he was not prepared to listen to reason. But gradually, I also developed a love for animals".

To prove her point that she was not far behind Shastri she showed me a colour photograph. It depicted Mrs Shastri planting a 'lips-to-lips' kiss on a cow. Having realised her attachment to animals, it was pointless to ask her whether she felt uncomfortable in the company of animals in her bed. "We had at one time over 25 dogs", she suddenly remembered.

Most of them are pariah-dogs which Shastri had picked up from the streets. "Whenever I notice an abandoned dog or a cat on the road, I bring it home", said Shastri, a **Vaishnava** by faith. The people of this faith are known for their deep attachment to all living things.

Shastri is also a lover of trees and there are quite a few rare species of them around his house. The trees provide the one-acre compound known as Nirala Niketan the look of an **ashram**. Right in front of the house is a temple-like structure which houses the miniature statue of his father, the late Pandit Ramanugrah Sharma.

PROLIFIC POET

It is not without reason that Janaki Vallabh Shastri has named his house '**Nirala Niketan**'. In fact, it has two reasons. One, it is to commemorate his abiding friendship with the great poet, Pandit Suryakant Tripathi '**Nirala**'. Two, in Hindi '**Nirala**' means unique and Shastri believes his house is 'unique" in many respects

Shastri, who was born in Maigra village in Gaya district recalls his association with **Nirala**. "Initially, I started writing in Sanskrit, known as the language of the gods. It was **Nirala** who pointed out the futility of writing in that language because there were few readers and fewer publishers to lap up my creative endeavours".

If Shastri felt at home in Sanskrit, there was a reason for it He learnt the first lesson of Sanskrit from his father who himself was a Sanskrit scholar of repute. The liking he developed for the ancient language and its rich literature concretised his descision to master the subject. For that he had to go to Benares Hindu University from where he took the highest degree in Sanskrit. **Shastracharya.**

"At that time the VC of BHU was the late Pandit Madan Mohan Malviya". Shastri got an opportunity there to present a citation to Mahatma Gandhi who was then on a visit to the university. A brilliant student who never stood second to anyone in any examination that he appeared for, Shastri was around this time in dire straits.

The death of his father had a crippling effect on him and he was on the look out for a suitable job. Thus, when

he was given the post of **Rajkavi** by Raja Chakradhar Sinha of Raigarh in Madhya Pradesh, he did not think twice before accepting it.

"The Raja was fond of arts and he had on his payroll artistes like Achen Maharaj. My job was to accompany him and compose poems. For instance, one day he went on a hunting spree and took me along. On the way he told me that the sky was very beautiful He then asked me to recite a poem describing the beauty of the sky."

The Raja was an eccentric who used to give costly gifts to anyone who could drink a bucket of milk. He was fond of things extraordinary and anyone who could do such things got his patronage, recalled Shastri.

As Shastri was describing the situation in the Raigarh palace, I could not but remember my own visit to the palace about nine years ago. As I was wandering in the building, a descendant of the Raja approached me and asked for some money. A few weeks before, as he told me, a foreign journalist had visited the palace and photographed it and he was given a hundred-rupee note. I had to pay a small amount to drive him away.

When I narrated this incident to Shastri, he said. "It could not be Raja Chakradhar Sinha because he died long ago".

Shastri knew that the comforts he had in the palace could not last forever and he had to search for a gainful employment.

His dream came true when he got a job as a lecturer in Bihar University from where he retired in 1980 after a distinguished service of over 25 years. He also had a short stint as Visiting Professor of Patna University.

Shastri took to writing when the **Chayavad** movement was reigning supreme in Hindi literature. "Many people thought I also subscribed to this line of poetry but I never wanted to be identified with any particular movement. Some people call me a progressive writer while others see in my poetry mysticism but I don't want to be classified in any particular category" said Shastri.

Ever since he took to writing, he has not looked back. There are few branches of literatuie in which he has not tried his hand although poetry has always been his passioon. He has 35 published books of poems to his credit besides, short stories, one-act plays and what not.

Shastri considers his epic on Radha as his magnum opus "The **mahakavya** deals with the love of Radha and Krishna. What is special about the work is my interpretation of the ancient story. Lord Krishna sacrificed his love for Radha for a universal cause". It is not the interpretation of the love alone that has made the epic peculiar.

Spread over 1,000 printed pages, no other poem can beat it in sheer size. As a result, Shastri has till today not been able to publish it in full. Only five volumes of the epic have come out so far. "I hope the sixth volume, which is the last, would come out soon",

His rewarding literary pursuits have enabled him to lead a care-free life. Asked whether he had any problems with his publishers, he said. They all cheat". He then narrated an incident. Poet Sumitranandan Pant had called the bluff of his publisher when he visited his godown where he found 5,000 copies of a particular book when the publisher was supposed to print only 1,000 copies.

Shastri who can write poems without pausing even for a moment utilises all his spare time for writing so much so

that there are dozens of manuscripts waititing publication. "I am not in a hurry. My only son is no more and my daughter is married off and well settled in life".

Though a loner. Shastri had struck up a lasting friendship with the late Prithviraj Kapoor. "The friendship lasted till his death We had exchanged hundreds of letters and on several occasions he had come down to Muzaffarpur to spend time with me", remembered Shastri.

When the great actor died, Shastri brought out "**Natyasamrat Prithuiraj Kapoor**" which is a collection of the letters they had exchanged. Hardbound and printed on costly paper, the book carries several pictures of the two together.

It was at a function in Calcutta that they met each other. The function was being presided ove by the then principal of St. Xaviers College, who was an American. "The theme of my speech was "Hindi is the most beautiful language". Kapoor who was there met him later and they became friends.

Shastri is also a publisher-cum-editor of sorts. He brings out **Raka** and **Bela**, which he claimed to be the only Hindi llterary magazines published from Bihar. "Since we don't get any advertisement, we have to depend entirely on the subscription income. It is my commitment to literature that has enabled me to publish them regularly". He has narrated all the major events of his life in his autobiographical work. **Ek Asahityik Ki Diary**.

He has not been lacking in honours and awards though Sahitya Academy is yet to notice him. While history alone will judge his placc among the poets of the country, both living and dead, few others can claim to be as prolific as Janaki Vallabh Shastri is.

LIVING LEGEND

—by Dr. Amitabh Jha

As one enters Nirala Niketan, the home of one of the India's foremost contemporary literary figures, Acharya Janaki Ballabh Shastri, the first thing one notices is the huge herd of cows and bulls to the right of the entrance. The main house is a two-storey structure. A pillar like structure, which is actually a temple constructed in the memory of the father of the poet and on which is inscribed the word **pitrideva**, stands in front of the house. The Acharya explains, "I got this temple to him built exactly where he used to sit every day.

The Acharya, also known to the people of Muzaffarpur as Shastri, was sitting as usual in the verandah on a simple **chowki** with a little kitten in his lap. In spite of a failing eyesight he sensed the wonder of a stranger, who expecting to find this literary celebrity with pen in hand, brooding over the next stanza of his new poem, instead found him fondling a **desi billi** and enjoying the fresh morning breeze.

He explains, "This is an ashram and nature has free play here." As an example he points to the row of Ashok

trees lining the road from the entrance to the house and says, "Do not be mistaken by the neat column they form. None of them have been planted. All have grown at their respective places naturally." One glance towards the tree tops corroborates his statement. The height of the trees and hence their ages are different. Just below the steps slightly to the right is a tender mango sapling. A fresh brick and mortar wall runs around it and it has been left to grow where it was born as is the rule at Nirala Niketan.

Certainly the world within Nirala Niketan is strikingly different. Most refreshing is the grove of trees to the right of the main building. Roughly in the centre stands a banyan tree around which a cement platform has been made. Here the Acharya sits and writes. There are scores of other trees around the big banyan and within the grove stand two little temples. One is the temple of Sankat Mochan, the holy Hanuman and the other is a temple to his sister who was "like a mother" to him. In another corner of the grove there is a square concerete platform meant for special cultural functions

But the flora constitutes only one part of the world of Nirala Niketan. No less important are the fauna. Some animals have been immortalised by the Acharya through his writings.

Amajor part of his income is spent on the **goshala** which he has named Krishnayatan. Each animal of the ashram has a name and each of them is like a child to him. For example Banphool, Alka, Mona, Munni and Sashank are cats, while Uma is the name of one of the cows.

The Acharya said, "When an animal comes to my ashram and decides to stay here I provide for it." The

latest example is Banphol, the male kitten which sat comfortably in his lap throughout the interview. It was sent to him by someone from the Marwari locality of the town. It was just a few days old then. The Acharya fed it with milk and has been a mother to it since then: He said, "It has developed a special liking for rasogullas and whenever it sees one it simply forgets that these sweets can be eaten by others too."

So involved is he with these animals, whom he does not consider as mere pets but as members of his own extended family, that the first thing he does after his customary morning walk is to give some grass to each cow and bull at the ashram.

Unfortunately it was on one such morning in 1985 that Uma, then a small heifer, in an affectionate gesture pushed him sideways making him fall. In the accident his femur suffered irrepairable damage, and till today he has to walk with the aid of a stick.

But this incident did not diminish in any way his love for animals. They continue to enjoy his bounty. He has had special enclosures built for each "family" of cows and bulls. He explains, "I cannot bear the prospect of seeing a family divided."

For a man who thinks in such terms it would be wrong to expect him to derive pecuniary profit from these animals. In fact even the milk of the cows is not sold. On the contrary at times milk has to be bought to feed calves whose mothers do not produce sufficient milk.

Shastriji said, "I lost my mother when I was an infant. I know what the loss of mother is to a child. I do not want

any being to suffer that agony. In fact keeping these families of animals from splintering is my way of taking revenge on nature, which deprived me of my mother's love.

Another factor that made him seek the emotional support of these mute beings was the fickleness of human beings. Pointing towards the tiled structure to the left of the entrance, he said. "This is the first house I built. But later on when I built a new one, instead of demolishing this one, I put up some students in it and they used to be part of the ashram. But none of them had even the basic courtesy to attend any function here even on invitation after they had settled in life. That is why though students are still provided free accommodation here they have to bear their other expenses themselves."

Though the funds for running the huge establishment comes almost wholely from the Acharya's earnings there have been occasional donors Prithivi Raj Kapoor, one of the all-time greats of Hindi cinema was one of them. "After one of his many visits here he sent a cheque of Rs 500 to me. I returned it, but he sent it back saying it was for the cows," he said.

However large one's heart may be there is a limit to everyone's abilities. A failingeyesight and an impaired leg have curbed his activities to an extent. It is difficult for him to move and he cannot attend Kavi Sammelans, as a result of which his income has fallen. Now he has to fall back on the royalty of his books for sustaining the ashram. But in spite of such difficulties, the Acharya has never sought anyone's help, as in his opinion, asking for something is demeaning.

His knowledge has not been of a sterile sort. His fecund imagination, and the vast knowledge acquired through books as well as imbibed in the school of life, have led to the creation of many a literary masterpiece of enduring value.

All this learning was not acquired during the first peripatetic part of his carecr. Being the son of a great Sanskrit scholar he had already acquired an excellnt grip over the language, which he later on used as a medium of expression for his poetic creations. He was also conversant with Bangla which he picked up from some Bengali settlers in his village.

Armed with the knowledge of two languages he entered Banaras, the holy city, with its reputation as one of the greatest seats of traditional learning in contemporary India. After his stay there for a few years, during which he completed his formal education, he moved on to Lahore. His stay at Banaras was marked by an austere life. Recalling those days, he said, "I wanted to read Tagore's **Geetanjali**. But I had no money to spare. So I went without breakfast for several days and saved the amount."

From Lahore he moved on to Raigadh where he was appointed the court poet in the king's court. But he felt like an alien there. He also came to know of the custom of human sacrifice on the occasion of a certain festival, which caused him great anguish. Moreover his homeland beckoned him and he came back to Bihar soon after, where he went on to become a lecturer at Muzaffarpur and where he has remained ever since.

To say that the corpus of his literary output is impressive both qualitatively and quantitatively would be an understatement. The languages he has used for his literary works include Hindi as well as Sanskrit. Epics, lyrics, memoirs, ghazals, stories, essays, critical essays, you name it and Shastriji's name is there among the all-time greats at the national level. At one time he used to be on the panel of writers of the **Amrita Bazar Patrika, Dharmyug, Saptahik Hindustan** and many other notable literary journals.

He explains his varied output in the introduction of his collection of ghazals Sune Kaun Nagma "Darasal koi ek hi kanta mere seene me nahin uljha tha, so main kisim kisim ki siskion ki swar lipiyan taiyar karta raha". (In fact, there was not just one thorn which had pierced my heart, so I kept rendering in words different types of sobs).

This statement is a typical example of the Acharya's modesty. One is quite liable to miss the significance of his contribution to contemporary literature if one tries to make an assessment of his work on the basis of his own statement. It is possible if one keeps in mind the fact that another great Hindi poet of the modern age, Suryakant Tripathi "Nirala", dedicated to him his only book of ghazals and used adjectives like "Acharya" and "kavivar" (great poet) while referring to him.

Not only has Shastriji written volumes of poetry stories, lyrical dramas, novels, dramas, essays, memoirs, an autobiography and critical essays, but he has also been editing two literary journals **Raka** and **Bela**. The 125th volume of the latter was published recently. Through these journals he

not only gives budding writers an opportunity to express themselves but also publishes literary pieces of universal value.

He is, however, very much confident of his abilities, which is the hallmark of a great writer. He is a writer who knows fully well his position among the galaxy of greats but does not suffer from any illusion whatsoever. In his own words his aim has been to cultivate the qualities of the "universal poet", the poet whose writings have that timelss quality evident in the great masters of any language. Shakespeare and Kalidas are two such authors he is fond of. But if it comes to choosing between the two he would prefer the latter as he feels there is "more poetry" in his dramas. But this liking does not imply any hatred of the English language. In fact he is unhappy about the mindless opposition to the language. He says we should learn from the way the English vernacular has enriched itself over the centuries.

He does not at all endorse the present materialistic trend. He feels that if someone is happy with mundane things, it is his choice. He rather pities such people who do not know what they are missing in a life of simplicity.

Does the atmosphere of a place like Muzaffarpur not stifle his creativity? "No", he says. I am here but simultaneuously I am away from this place", implying that in the creative process detachment is a vital input which helps him transcend spatial and temporal constraints.

He was asked by Prithvi Raj Kapoor to move to Bombay. Jagdish Chandra Mathur too suggested that he should make Delhi his home. But his love for his State proved much and he remained here. He feels, "Merely living in a metropolis does not make anyone a great writer."

The impression that one is left with is that this great son of Bihar is more concerned with achieving perfection in his art than in fame. His attitude is akin to that of a **Sadhak**. In fact a well known Hindi critic, Pal Bhasin has said that only those who attain the state of **Samadhi** can write like he does. The Acharya once quoted **T. S.** Eliot to express his opinion in this regard:

"I said to my soul, be still and wait without hope, for hope would be hope for the wrong thing".

परिशिष्ट

डॉ० राजेन्द्र गौतम
रीडर, रामलाल आनन्द कॉलेज (सांध्या)
(दिल्ली विश्वविद्यालय),
नई दिल्ली–110021.
दूरभाष—670490

बी-226 राजनगर,
पालम कॉलोनी
नई दिल्ली-110045
दिनांक 19-1-1994

पूज्य शास्त्री जी,

सादर चरण-स्पर्श !

आज के 'नवभारत टाइम्स' में पढ़ा कि आपने 'साधना-सम्मान' का गौरव बढ़ाया है। निःसंदेह आपके कृतित्व के समक्ष सारे अलंकरण एवं सम्मान नगण्य हैं, तथापि जब कहीं आपके प्राप्य की सहज स्वीकृति का समाचार मिलता है, तो हार्दिक प्रसन्नता होती है। हिन्दी साहित्य को, कहूँ, समस्त भारतीय साहित्य को आपने जितना दिया है, उसका समग्र मूल्यांकन संभवतः व्यक्ति नहीं, समय ही कर पाएगा क्योंकि व्यक्तियों के बाट-बटखरे आधे-अधूरे हैं, तराजुओं के पासंग बहुत हैं, तो भी समय-समय पर साहित्य-जगत् आपकी पुष्कल रचना-धारा का लोहा मानता रहा है। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि आपकी ऊर्जस्वल सर्जना दीर्घ काल तक हमें आलोक देती रहे; आप शतायु हों, और यह शतक हमारे लौकिक शतक से अधिक, वैदिक परिगणना के अनुरूप शताधिक वर्षों का समाहार हो !

—०—

साहित्य जगत के एक पुरुषार्थ

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

एम०एस०सी० (वनस्पति-विज्ञान)
— मुकेश कुमार

"मैंने अब तक जो लिखा, उसके पीछे मेरी यही मान्यता मेरुदंड-सी रही कि जो कुछ समसामयिक परिवर्त्तन के साथ बदल जानेवाला या तात्कालिक है, उसके साथ न होने से अगर मैं अप्रासंगिक मान लिया जाऊँ तो मेरा कुछ नहीं बिगड़ता। क्योंकि यदि स्थायी और मूलभूत या शाश्वत, जो कहें; के साथ होने से उस सार्वभौम और सर्वकालीन सत्य, संवेदना और आदर्श को मेरे कृतित्व में अभिव्यक्त करने की कोशिश है तो वही मेरे लिए सार्थक और प्रासंगिक भी है। बुद्ध पूर्व से बुद्ध पश्चात के शाश्वत और विश्वजित आदर्शवाद की जड़ें आज भी मनुष्य के आत्मविश्वास को हिलने से बचाती हैं, और आज भी कवि, लेखक या कलाकारों को झुकाने, झुठलाने और उखाड़ देनेवाली परिवर्त्तनकारी झोकों-भरी आंधियों से सुरक्षित रखती हैं। यही मेरी मुख्य काव्य दृष्टि रही है जो साहित्य की तत्कालीन मांगों के युग में मुझे औरों से अलग कर देती है।"

यह कथन उत्तर छायावाद के शिखर काव्य पुरुष आचार्य जानकीवल्लभ जी शास्त्री के हैं, जो उन्होंने अपनी वर्षगांठ के शुभ अवसर पर व्यक्त किया। इतने वर्ष! नित रचनारत, नयी-पुरानी पीढ़ी के रचनाकारों से अहर्निश घिरे, 'बेला' (निराला निकेतन की मासिक पत्रिका) के संपादन-प्रकाशन के उपक्रम में निरंतर जुटे जीवन को कितने वर्ष बीत गए!

शास्त्री जी चौथे आश्रम में प्रवेश कर गए। जीवन और जगत में निरंतर संघर्ष करता रचनाकार आत्ममोक्ष की चिंता में संन्यासी कैसे हो सकता है भला? उनके जीवन और

साहित्य में संन्यास और गृहस्थ हर जगह और हमेशा उपस्थित है। हर क्षण वैराग्य और गृहस्थ की टँगी डोर पर चलते जीवन म संतुलन खोजती अवस्था का ही नाम है—आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री।

लगातार गिरते हुए स्वास्थ्य, गहराते हुए अर्थ संकट; छीजती हुई इच्छाएँ, टूटते हुए मन तथा टीसती उम्र के बावजूद कविता और सिर्फ कविता की चिंता में लीन आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री बिना किसी आशा-प्रत्याशा के सिर्फ चलने के लिए चल रहे हैं। इस अंतहीन यात्रा में अखंडित स्वाभिमान और खण्ड-खण्ड मन उनके सहयात्री हैं। कविता की, साहित्य की, दर्शन की परम्परा को, मूल्यों की, अमृत की साधना कर रहे हैं आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री।

हिन्दी के अप्रतिम रचनाकार शास्त्री जी को समझने का काम, और उनके पांडित्य तथा कवित्व को समझने की ही अधिक कोशिशें हुई हैं। जबकि सच्चाई यह है कि शास्त्री जी की जीवन-साधना साहित्य साधना से अधिक कठिन है। उनकी जीवन-यात्रा कंटीली राहों, फिसलनभरी नुकीली चट्टानों से होकर गुजरी है। यह सर्वविदित सत्य है कि बिहार प्रतिभाओं की उर्वर भूमि रही है। महावीर वर्द्धमान और गौतम बुद्ध की ज्ञान-भूमि और कर्म-भूमि होने का श्रेय इसे ही प्राप्त है। चन्द्रगुप्त मौर्य, आचार्य चाणक्य और प्रिय दर्शी अशोक इसी भूमि की संतानें हैं जिस भूमि के अशोक ने सम्पूर्ण विश्व को मानवता की एक डोर से बांधने का पवित्र कार्य प्रारम्भ किया था। जिन गौतम बुद्ध को गया के निरंजना नदी के तट पर पीपल वृक्ष के निकट वर्षों तपस्या के उपरांत बुद्धत्व की प्राप्ति हुई, जहाँ चार आर्य सत्यों और आष्टांगिक मार्ग का प्रकाश हुआ और फिर वहीं, इतने दिनों बाद उसी स्थल पर आचार्य जानकी बल्लभ शास्त्री के रूप में एक और बुद्ध अवतार ने गया की इस पावन भूमि में जन्म लेकर विश्व साहित्य के क्षेत्र से भी इस भूमि को जोड़ दिया। इनका अवतरण १९१७ ई० के आस पास इसी गया जिले के मैगरा ग्राम में हुआ था।

शास्त्री जी निधन ब्राह्मण परिवार मे जनमे। इनके पिता का नाम स्वर्गीय पं० रामानुग्रह शर्मा था। शास्त्री जी को जीवन साधना को इनके पिता से अलग रखकर नहीं समझा जा सकता। पं. रामानुग्रह शर्मा ने बाल्यकाल में अनाथ होकर पचमह के एक बाबा के सानिध्य में रहकर कुछ दिनों तक संस्कृत का अध्ययन किया। १५ वर्ष की उम्र में ही सारस्वत चन्द्रिका, बाणभट्ट और भर्तृहरि को इन्होनें कण्ठाग्र कर लिया था। बाद में वे काशी चले आए। फिर यायावर संत के सम्पर्क में आकर अपने गाँव चले आए। तदुपरांत इनकी शादी अनुपमा से हुई। दो पुत्री और एक पुत्र ने जन्म तो लिया जरूर परन्तु एक पुत्र और एक पुत्री असमय काल-कवलित हो गए। पुत्र शोक में माता अनुपमा का दिल टूट गया। लम्बी प्रतीक्षा के बाद माता अनुपमा को एक पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई। प्रकृति की भी क्या-क्या विडम्बनाएँ हैं? शास्त्री जी ने मात्र चार वसंत ही पार किए थे कि अचानक ममता रूपी माता का साया बालक के सर से उठ गया। शायद यह वही तात्कालिक कारण रहा जिसने शास्त्री जी की जीवन-साधना को कष्टदायक बना दिया। जीवन की यह प्रभात बेला मातृप्रेम से वंचित बालक जानकीवल्लभ के दुर्भाग्य की तपती दोपहरी बन गयी। तभी तो शास्त्री जी कहा करते हैं— ,'मेरी बेल प्यार की मुस्कानों और दुलार के आँसुओं से कभी नहीं सींची गयी। चढ़ी तो काँटों पर, मुरझाई तो बीरानों में,"

इनका बचपन अनाथ-सा उपेक्षित रहा; मास्टरों की नजरों में ऊचे उठ नहीं पाए। उस पर 'क' को 'त' का उच्चारण करने की भी लत थी। पिता के जोर से ही संस्कृत का अध्ययन किया जिसका परिणाम प्रथमा की परीक्षा में बंगाल, बिहार और उड़ीसा में प्रथम श्रेणी में प्रथम आ कर हुआ जिससे इनमें आत्मविश्वास पैदा हुआ। आगे की शिक्षा के लिए ये काशी चले गए। यहीं रह कर विद्वानों की छाया में साहित्य जगत में प्रतिष्ठित हुए। इनके जीवन में अनहोनी घटना तब घटी जब ये

संस्कृत क उद्भट विद्वान और कृतिकार के रूप में सिद्ध हो रहे थे और काकली, बन्दीमन्दिरम्, लीलापद्मम् आदि कृतियों म उजागर हो रहे थे तभी महाप्राण निराला की पारखी दृष्टि ने इन्हें परख लिया। निराला जी इनसे मिलने स्वयं काशी विश्व विद्यालय के होस्टल में चले आए।

शास्त्री जी की जितनी भी रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं उन सभी की एक-एक पंक्ति को लिखने की क्षमता शायद अभी भी किसी कलम में नहीं है। उनकी रचना की गहराइयों की थाह लगा पाना असंभव है।

शास्त्री जी का एक प्रमुख गीत काव्य "रूप-अरूप" है। इसे संभवतः १९३५ के आसपास लिखा गया। इनके काव्य में "मैं" तथा "वह" की प्रमुखता है। "वह" सुन्दर भी है, अनंत भी; विविध भी है, विराट भी, अव्यक्त भी और प्रकृतिमय भी। उसी प्रकार मैं, अनुरक्त भी है, समर्पित भी, मुग्ध भी, उत्फुल भी। इस प्रवृति का साक्ष्य हमें रूप-अरूप, की इन गीत पंक्तियो से मिलता है---

"कैसे बन्द रखूं चल लोचन,
प्रिय अति सुन्दर है !
कैसे बिकल कलश में भर लूं,
सकल समुन्दर है !!

शास्त्री जी की इस काव्य-प्रवृति की झांकी "तीर-तरंग" में भी सहज द्रष्टव्य है—

"तुम्हें सामने रखकर कहता
कहीं नहीं मैं ? कहां नहीं हूं ?
यों हम दोनों हिले-मिले हैं,
एक डाल पर खुले खिले हैं,
नाम मात्र का अंतर फिर भी
तुम हो "हां" में हाय नहीं हूं !

शास्त्री जी के काव्य की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इनके काव्य में प्रेम की सीमित अथवा बंधी हुई स्थिति नहीं है। इसका लौकिक में अलौकिक विस्तार है। प्राण सहचरी से लेकर ईश्वर तक उसकी व्यापकता है। प्रेम एक दिव्य प्रकाश बनकर आता रहा है। कुंठा की धूल उसमें नहीं है, वेदना की तरलता भले ही न हो। उसका प्रिय से आग्रह है—

प्राणों में प्रिय दीप जलाओ!
जिसकी शिखा न हो धूमाकुल,
सहज शांत वह ज्योति जगाओ।

शास्त्री जी द्वारा विरचित "राधा" विश्व साहित्य की अमूल्य निधि समझी जाती है। इस काव्य की रचना की प्रेरणा उन्हें रायगढ़ में एक नृत्य देखकर मिली। शांति निकेतन की एक छात्रा थी दीप्ति सान्याल। वह रूप की ज्वाला थी। सौन्दर्य उसका दिव्य था लेकिन उसके सौन्दर्य पर गंगा जल का पावन फलाव था। उसकी आँखें समग्र को आकृष्ट करने वाली झील थी। नीले नभ के विस्तार का एक टुकड़ा थी उसकी आँखें। परन्तु कहीं भी कामुकता से कोई लगाव नहीं था। आकर्षण का वह ऐसा ज्वार था, जिसमें कामुकता का कहीं नामोंनिशान नहीं था। अकस्मात उनकी आत्मा के चक्षु में राधा कौंध गयी। उनकी कल्पना ने यह स्वीकार किया कि ऐसी ही रही होगी राधा भी। इस पृष्ठभूमि में सबसे पहले "किसने बाँसुरी बजायी" गीत का सृजन हुआ।

"किसने बांसुरी बजाई ?
जनम-जनम की पहचानी
वह तान कहाँ से आई ?"

यह महाकाव्य सात पर्वों में प्रकाशित हो चुका है। राधा समग्र जीवन का दर्शन है, दर्शन का जीवन नहीं। राधा सामाजिक मूल्यों को अधिक महत्व देती है। उसकी दृष्टि में वैयक्तिक सुख-दुःख की अपेक्षा सामाजिक कल्याण का महत्त्व अधिक है। शास्त्री जी ने अपने इस महाकाव्य में एक स्थल पर बताया है कि जब राधा को होली में अबीर और गुलाब की आवश्यकता थी, लेकिन होली खेलनेवाला उसका प्रेमी उसके वैयक्तिक परिवेश से हटकर दूर चला गया है और विश्व कल्याण के लिए सामाजिक पथिक हो गया है। होली के इस अवसर पर किसी एक का फिक्र शायद नहीं है उसे क्योंकि वह विश्व से गले-गले मिल रहा है। लेकिन अनुरागमयी स्वर्णवर्णा उस आराधिका को इससे असंतुष्टि नहीं, तृप्ति है। तभी तो कहती है—

"घर-घर होली की धूम मची,
घर एक किसी का जला, जला !
तुम मिले विश्व से गले-गले,
यदि एक किसी को छला, छला !"

X X X

राजा यथार्थवाद, आदर्शवाद एवं अध्यात्मवाद का सम्मिलित रूप है।

शास्त्री जी कविता लिखते नहीं हैं, अनुभूति और कल्पना के मधुयोग से रचते हैं। उसमें दुःख दर्द भरे जीवन संगीत की रागिनी झंकृत होती रहती है। शास्त्री जी का गद्य भी कवित्व के राग से ओत-प्रोत होता है। वह जीवन रागिनी होती है। उनके एक गद्य का अंश पठनीय है—

"नयन जल ने मेरा आत्मतेज निखारा है। जो जल जाय वह तेज नहीं होता, ढिबरी होती है। किसी की ईर्ष्या की आग में मेरी सतत साधना की आग और धधकी है। झुण्ड बाँधकर मंडराने वाले शलभ मेरे दीप को बुझाने नहीं आए थे। मेरी बेल प्यास की मुस्कानों और दुलार के आँसुओं से कभी नहीं सींची गयी। चढ़ी तो कांटों पर, मुरझाई तो बीरानों में। आवर्तहीन वर्तमान में अतिशयित भविष्य की धुँधली चमकीली लहरों का अपलक द्रष्टा हूं। मेरी मिट्टी का जिस्म मिट्टी में मिल जाय, मेरी रूह रोशनी को है, जात से जोत मिलेगी ही। मिथ्या से इंतकाम लेते मेरे जीवन का सत्य घिसा है। मिथ्या को नकारने के क्रम में मेरे सत्य ने आत्मशक्ति अर्जित की है।"

इस प्रकार हम पाते हैं कि शास्त्री जी भाषा के महान उन्नायक हैं। उनके जीवन की प्रत्येक घटना ने उनके इन्द्रधनुषी व्यक्तित्व एवं विविधापूर्ण रचनाकार की हैसियत बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। इस सत्य को भी नहीं नकारा जा सकता है कि शास्त्री जी की जीवन साधना-साहित्य साधना से कहीं अधिक कष्टप्रद रही है। अतः शास्त्री जी ने अपनी मंजिल की तलाश खुद की है—

"है अगर अज्म तो खुद ढूंढ़ ले अपनी मंजिल,
क्यों किसी गैर से मंजिल का पता मांगे हो।"[1]

(गया)

कवि जानकीवल्लभ शास्त्री का गद्यकार

—मृत्युंजय मिश्र 'करुणेश'

संस्कृत में एक बहुत प्रसिद्ध और प्रचलित उक्ति है— 'गद्य कवीनां निकषं वदन्ति' अर्थात् गद्य कवियों की कसौटी है। इस उक्ति की तह में जाने पर यही अर्थ खुलता है कि गद्य लेखन, और वह भी कवि के लिए, महान दुष्कर कार्य है, टेढ़ी खीर है, हथेली पर बाल उगाना है। अब, संस्कृत की उक्ति है, गहन चिन्तन और अनुभव के उपरान्त ही गढ़ी गयी होगी, इसे तुरत झुठलाया भी तो नहीं जा सकता। यों भी, कवियों के लिए गद्य थोड़ा कठिन तो है ही, लेकिन यह भी अटल सत्य है कि कोई कवि ही सुन्दर-श्रेष्ठ गद्य लिख सकता है, सफल गद्यकार हो सकता है। एक छूँछा गद्यकार क्या खाकर वह गद्य लिखेगा जो एक कवि लिखता है। जितने भी स्वनामधन्य गद्यकार हुए हैं, जिनके सारे ग्रंथ गद्य में ही हैं, वे कहीं-न-कहीं से प्रारम्भ में कवि रहे होंगे, उनके भीतर कविता कौंधती रही होगी—वे चाहे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हों, डॉ॰ राम विलास शर्मा हों, डॉ॰ विद्यानिवास मिश्र हों या फणीश्वर नाथ रेणु हों।

और जो पूरे के पूरे कवि हैं, 'जिनकी पहचान ही कवि की है,' जो कविता को ही जीते-पीते हैं, वे जब मैदान में आ जाते हैं, जोर आजमाइश पर उतर आते हैं तो उनकी लेखनी के पारस-परस से गद्य निखर-निखर उठता है, एक प्रतिमान खड़ा कर लेता है।

वैसे तो हिन्दी के प्रायः सभी ख्यात कवियों ने गद्य में अपना अवदान दिया है, किन्तु दिनकर-बच्चन की जोड़ी गद्य में भी कम कामयाब नहीं रही। हिन्दी का गद्य-साहित्य इनका ऋणी रहेगा। और, इन दोनों से अलग-थलग, एक अछूती ऊँचाई, गहराई और पहचान लेकर गद्य के उपवन में उतरने वाले दो कवि-व्यक्तित्व हैं—

अज्ञेय और आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री। इन दोनों ने तो हिन्दी गद्य को एक क्लासिक ऊँचाई दी है।

यहाँ, इस लेख में कवि जानकीवल्लभ के गद्यकार पर किंचित् प्रकाश डालना ही मेरा अभीष्ट है। कवि जानकीवल्लभ शास्त्री का गद्यकार इन तमाम गद्यकारों से अपना एक अलग व्यक्तित्व रखता है। वैसे तो, गद्य में आलोचना, निबन्ध, उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी सब आ जाते हैं, सब में जानकीवल्लभ जी का कुछ-न-कुछ योगदान है, फिर भी, संस्मरण और जीवनीपरक उनका जो गद्य-साहित्य है, उसकी खुशबू ही अलग है। अगर जानकी वल्लभ जी की ही गीत-पंक्ति से उसकी खूबी व्यक्त करना चाहूँ तो यही कहूंगा कि--'फूल की पहचान सरस सुवास केवल'।

हंसबलाका, मन की बात, स्मृति के वातायन, कर्म क्षेत्रे-मरुक्षेत्रे, एक असाहित्यिक की डायरी, अष्टपदी—शास्त्री जी की ये कृतियाँ हिन्दी साहित्य की अनमोल धरोहर हैं। इनमें रम जाने पर मन-प्राण खिल-खुल उठते हैं, एक अलौकिक सुख, रोमांचक स्पर्श का ठौर-ठौर अनुभव होता है! यहाँ जो हम पाते हैं, बस यहीं पा सकते हैं, अन्यत्र दुर्लभ है। 'स्मृति के तवायन' म आचाय शिवपूजन सहाय, नलिनविलोचन शर्मा, उदयशंकर भट्ट आदि पर जो संस्मरण हैं, वे पाठक को अभिभूत किये रहते हैं। उन विभूतियों के साथ शास्त्री जी का संग-साथ इस तरह से उमड़-घुमड़ कर आता है कि पाठक उसके साथ-साथ बहता चलता है। बार-बार पढ़ने पर भी बार-बार पढ़ने की ललक बनी रहती है।

'एक असाहित्यिक की डायरी' में शास्त्री जी ने निराला के प्रथम दर्शन और निकट साहचर्य से प्राप्त और अनुभूत सुखमय क्षणों का जो हृदय-स्पर्शी चित्र खींचा है, वह अपूर्व है। निराला का परम-हंसी भाव, उनका निर्विकार संन्यासी रूप का आँखों देखा हाल, अनेक अछूते प्रसंग जब शास्त्री जी प्रस्तुत करते हैं, तो लगता है निराला हमारे सामने सदेह खड़े हैं, हम उस महामानव, महाप्राण का साक्षात् दर्शन कर रहे हों।

निराला को शास्त्री जी ने जिया है, आत्मसात कर लिया है। निराला के बिना वे रह नहीं सकते, जी नहीं सकते।

सच कहें तो वे निराला में ही जीते हैं, निराला को ही—ओढ़ते-बिछाते हैं। शास्त्री जी से निराला प्रसंग को जानने के लिए प्यासे पाठक की प्यास एक घट से नहीं बुझती, घाट-घाट जाकर घट-घट पीने से भी नहीं बुझती। उसे इस घट से उस घट तक बार-बार और बारी-बारी से रुक-रुक कर स्वाद ले-लेकर अपने कंठ को तृप्त करना पड़ता है। उसे हंस बलाका, एक असाहित्यिक की डायरी, निराला के पत्र, महाप्राण निराला, स्मृति के वातायन, अष्टपदी आदि कई घाटों से गुजरना पड़ता है, घाट-घाट का पानी पीना पड़ता है।

'एक असाहित्यिक की डायरी' में ही शास्त्री जी ने अपने पिता-श्री के आदेश पर अपनी छोटी बहन के लिए पंडित पुरा में लड़का देखने जाने और बीहड़ कष्ट झेलते थके-हारे विफल वापस लौटने का जो वर्णन किया है, अत्यन्त सजीव और मार्मिक है। इसी पुस्तक में प्रसंगवश गीत और गीतिकाव्य पर उनकी एक लम्बी और सारगर्भित व्याख्या भी मौजूद है।

शास्त्री जी के प्रांजल, ललित और क्लासिक गद्य का नमूना 'अष्टपदी' का भी कोई सानी नहीं। रायगढ़ से मुजफ्फरपुर आकर रायबहादुर बाबू उमाशंकर जी के यहाँ ट्यूशन से लेकर संस्कृत कालेज में नियुक्ति हेतु साक्षात्कार तक की व्यथा-कथा और संघर्ष-गाथा अपनी खास सहज सजीव शैली में जो चित्रित की गयी है, अद्भुत है। पुस्तक एक बार हाथ में ले लेने पर बिना समाप्त किये मन नहीं मानता। अपने अलग अंदाज और शैली में आज से पचपन वर्ष पहले के साक्षात्कार का वर्णन शास्त्री जी इस प्रकार करते हैं, मानो, आज अभी, दो घंटे पूर्व साक्षात्कार देकर आये हों। उतनी पुरानी घटना की शब्द-शब्द स्मृति सचमुच रोमांचक है।

इसी ग्रंथ में अपने राज्य के सभी समकालीन कवि लेखकों—आचार्य शिवपूजन सहाय, बेनीपुरी, सुधांशु, नलिन, दिनकर प्रभात, नेपाली, वियोगी, हंस कुमार, रामदयाल पाण्डेय, आरसी, नागार्जुन, केसरी, द्विज, रुद्र जी आदि का प्रसंगवश सौहार्द पूर्ण उल्लेख करना भी वे नहीं भूलते। इसी में सुधांशु जी और द्विज जी के

आमंत्रण पर कवि सम्मेलन में भाग लेने पूर्णिया जाते हुए बीच में बरौनी उतरने पर लक्ष्मी नारायण शर्मा 'मुकुर' के विशेष आग्रह पर शास्त्री जी का उनके गाँव पैदल जाने और आतिथ्य स्वरूप उनका मन रखने के लिए भरी ठंढ में किसी-किसी प्रकार परोसे गये माढ़ा और दही को गले के नीचे उतारने और फिर पैदल बरौनी वापस आकर पूर्णिया पहुँचते-पहुँचते जबरदस्त जुड़ैया बुखार में पड़ जाने तथा द्विज जी, के अकथ सेवा-उपचार से कुछ-कुछ भलाचंगा होकर मंच पर जाने और काव्य-पाठ करने लायक बन पाने का उल्लेख जो अपनी सहज शैली में किया गया है, बड़ा ही रोचक और आनन्द दायक है। एक बार पढ़ने पर वह प्रसंग कई बार पढ़ने को विवश होना पड़ता है। इतना मजेदार प्रसंग है कि पढ़ते-पढ़ते बरबस हंसी फूट पड़ती है। शास्त्री जी और 'मुकुर' जी को बरौनी स्टेशन से गाँव जाने और फिर बरौनी लौटने का दृश्य मानो, पाठक स्वयं अपनी आँखों द्रष्टा बनकर देख रहा हो, पुस्तक पढ़कर ऐसा ही महसूस होता है।

'कर्मक्षेत्रे मरुक्षेत्रे' में भी एक ऐसा ही रोचक प्रसंग आता है। और उसे भी कईबार पढ़ने को विवश होना पड़ता है। हँसी वहाँ भी फूटती है तो थम नहीं पाती। प्रसंग हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' का है! छुटपन में दोनों साथ-साथ कहीं संस्कृत पढ़ते थे। गाँव से गया होते शास्त्री जी पटना स्टेशन पर पहुँच कर देहाती बालक के रूप में राह भूले-भटके डरे-घबराये रोनी सूरत बनाये खड़े थे कि हवलदार जी मिल गये और बेलौस फूट पड़—'अरे, तुम अभीतक जिन्दा हो? हम तो समझे थे कब के मर-मरा गये होगे।' शास्त्री जी यह सुनते अवाक् रह जाते हैं। काठ मार जाता है उन्हें। लिखते हैं—"कोई ऐसा भी बोल सकता है! इस विस्मयभरे ब्रह्माण्ड में कुछ भी तो असम्भव नहीं।"

शास्त्री जी ने 'एक असाहित्यिक की डायरी' की भूमिका में लिखा है कि—"पछतावा मैंने नहीं लिखा है। अपना मजाक उड़ाने का एक और ही मजा है।" और सचमुच शास्त्री जी ने अपना मजाक उड़ाने का मजा भी खूब लिया है, जब-जब मौका मिला है। सच तो यह है कि बिना अपना मजाक उड़ाये आत्मकथा,

जीवनो और संस्मरण मे मजा आयगा हा नहीं, उसमें सजीवता और स्वाद लाने के लिए भी यह निहायत जरूरी है। शास्त्री जी का अपना मजाक उड़ाने का एक सजीव-उदाहरण 'हंस बलाका' में यों चित्रित है--

"कल हिन्दू युनिवर्सिटी की तरफ कुछ अता-पता लगाने, दाखिले का सुराग लगाने निकल गया था। इस मसले पर तरकीबें सुझाने वाले की तलाश में था कि होस्टल से खूब सजे-संवरे, बेश-कीमती पोशाक से लकदक दो शाहजादे निकल कर सड़क पर आते दिखे। स शहर में भटक गये एक जंगली देहाती को परेशानियों में घिरा-सा घरघराते स्वर में उनसे कुछ पूछ बैठा। मुझ पूछना था: यूनिवर्सिटी कब खुलेगी? मगर सकत में आ जाने से जबान लड़खड़ा गयी। पूछा: कालेज कब खुलेगी?

लड़के ठठाकर हँस पड़े: 'जब विद्यार्थियां आ जायेंगी।' मैं कटकर रह गया। बलियाटिक या बिहारी बुद्धू का वह विर सुदामा वेश मुड़-मुड़कर निहारते हुए वे तेजी से बोटैनिकल गार्डेन की तरफ बढ़ गये।"

'हंस बलाका' समृद्ध गद्य परम्परा को भेंट भी की है। इसमें विषय क्रम से बूड़ा वंश कबीर का, माँ, पितृदेव, निष्क्रमण, गुरु गोविन्द, में गाता हूं आत्मकथा जीवनी मूलक है, 'अजंता की ओर' उत्कृष्ट यात्रा-प्रसंग और 'धुआं-धुआं दिन के जले अवशेष' से अज्ञेय के साथ' तक का क्रम प्रेमचंद प्रसाद, निराला, हजारी प्रसाद द्विवेदी, जैनेन्द्र और अज्ञेय से सम्बन्धित जीवन्त संस्मरण जिसे शास्त्री जी ने उन विभूतियों के साथ जिया-भोगा है।

सन् 1970 में जब मैं मुजफ्फरपुर में पदस्थापित था, शास्त्री जी के मुहल्ले के सटे पीछे रामबाग मुहल्ले में एक डेरा लेकर रह रहा था। प्रति सप्ताह छुट्टी के दिन उनके पास पहुँच जाता, एकाध-घंटा गपशप-सत्संग कर लौट आता। उसी दौरान एक स्थानीय प्रकाशक उनकी पुस्तक-- 'मन की बात' छाप रहा था। छपाई लगभग पूरी हो चुकी थी, कवर छपना बाकी रह गया था। बिना कवर की सामने धरी पुस्तक जब उलटने लगा तो मैं उसमें डूबता चला गया। अभिभूत हो फूट पड़ा--

'शास्त्री जी, बुरा न मानें, आपका गद्य आपकी कविता से बहुत-बहुत आगे निकल गया है।' स्वीकृति में शास्त्री जी का संक्षिप्त उत्तर था—'तुम बिलकुल ठीक कहते हो।' बारह वर्ष बाद, सन् 1982 में दिल्ली से प्रकाशित 'हंस बलाका' की भूमिका में शास्त्री जी का यह वाक्य पढ़कर कि—"जब ये संस्मरण सन '48 में पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए, मेरे पास बड़-बड़ों के ढेरों पत्र आये। बच्चन, मुक्त, नेपाली, आरसी आदि ने तो यहाँ तक लिखा कि फिलहाल मैं कविता-अविता लिखना बन्द कर दूँ, यह जीवन-स्मृति साहित्य की एक अनमोल निधि होगी", मैं भीतर से खिल उठा।

सचमुच सुकवि, सुकण्ठ, सहृदय, मर्मज्ञ और अनुभव के धनी आचार्य जानकीवल्लभ 'शास्त्री के गद्य का पारायण अपने आप में एक सुखद संयोग है। जिसने भी इस रस का पान किया है, स्वाद चखा है, दिल खोलकर दाद दी है, गुण गाया है, सराहना की है। निराला से पृथ्वीराज तक और त्रिलोचन से नलिन-विलोचन तक सभी एकमत हैं।

शास्त्री जी के गद्य में कथ्य, शिल्प, स्वाध्याय, चिंतन, काव्य, शास्त्र, हृदय, मस्तिष्क, रस, व्यंग, दर्शन, पर्यटन, सुर, संगीत सब एक साथ, एक जगह ऐसे घुल-मिल जाते हैं कि पंचामृत-पान का आनन्द आ जाता है।

निस्संदेह कवि जानकीवल्लभ का गद्यकार अपने आप में अनूठा है--सबसे भिन्न और सबसे अलग-थलग,—अपनी गहराई और अपनी ऊँचाई लिये हुए।

C/209 हनुमान नगर
पटना–800020
(बिहार)

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

डॉ० निशांतकेतु
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
पटना कॉलेज

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का जन्म १५ फरवरी, १९१६ ईस्वी को बिहार के गया-क्षेत्र के अंतर्गत मैगरा में हुआ था। इन्होंने १९३१ ईस्वी तक अपने विद्वान पिताजी के स्नेहयुक्त तथा अनुशासित सन्निधान में स्वाध्याय किया था। श्रवण और पठन बहिर्योग के साथ इन्होंने शेष-शिक्षांग मनन, चिंतन और निदिध्यासन का अंतर्योग भी साधा। १९३२ से ३८ ईस्वी तक अपने काशी-प्रवास में इन्होंने शास्त्राचार्य, साहित्याचार्य तथा अन्य एकाधिक उपाधियां अर्जित की। ये पंडित सूर्यकांत त्रिपाठी निराला के सान्निध्य में भी उन्हीं दिनों आए। उनके साथ शास्त्री जी ने पंडितराज जगन्नाथ की साहित्य-दृष्टि पर प्रांजल वार्तालाप कर उन्हें प्रभावित किया था। इन्होंने उन्हीं दिनों निराला की प्रसिद्ध कविता 'जुही की कली' का संस्कृत में अनुवाद कर सुनाया। निराला ने अनुवाद की प्रशंसा की। एक असाहित्यिक की डायरी' में शास्त्री जी ने इस प्रसंग का विस्तृत उल्लेख किया है। तबसे शास्त्री जी निराला के अंतरंग रहे। इन्होंने अपने निवास का नाम रखा 'निराला-निकेतन।' शास्त्री जी ने निराला के श्रेण्य काव्य 'तुलसीदास' के षट्पदी छंद के समानांतर काव्य-पदों की रचना भी की। और धीरे-धीरे ये निराला-परंपरा के 'रिले-रेगइटर भी माने जाने लगे।

हिन्दी, संस्कृत, अँगरेजी, उर्दू, बँगला भाषाओं के अभिज्ञ-प्रबुद्ध शास्त्री जी का रचना-संसार विशाल है। इनकी कविता-पुस्तकें हैं: बाललता, अंकुर, उन्मेष, रूप-अरूप, तीर-तरंग, शिप्रा, अवंतिका, मेघगीत, गाथा, प्यासी पृथ्वी, संगम, उत्पल-दल, चंदन-वन शिशिर किरण, हंस-किंकिणी, सुरसरि, गीत-वितान

धूपतरी, राधा-३ (दर्शन पर्व), राधा-४ (विनोद पर्व), राधा-५ (विनोद पर्व)। इनकी संगीतिका रचनाएँ हैं: पाषाणी, तमसा तथा इरावती। इनके नाटक हैं: देवी, जिंदगी, आदमी और नीलझील। कवि के साथ शास्त्री जी एक सफल कथाकार भी रहे हैं। इनके उपन्यास हैं: एक किरण सौ झांइयां, दो तिनकों का घोंसला, अश्वबुद्ध तथा कालिदास। इनके कहानी-संग्रह हैं: कानन, अपर्णा, लीलाकमल तथा सत्यकाम। इनके ललित निबंधों के दो संग्रह हैं: मन की बात और जो न बिक सकीं। यात्रा तथा संस्मरण भी इन्होंने लिखे हैं। इन विधाओं के अंतर्गत इनकी पुस्तकें हैं: अजंता की ओर, निराला के पत्र, स्मृति के वातायन, नाट्य-सम्राट् पृथ्वीराज कपूर; हंस बलाका, कर्मक्षेत्र : मरुक्षेत्र।

आलोचक के रूप में

श्रीजानकीवल्लभ शास्त्री हिन्दी के समीक्षा-शास्त्री भी हैं। इनके एतद्विषयक ग्रंथ हैं: साहित्य-दर्शन, त्रयी, प्राच्य साहित्य, स्थायीभाव और सामयिक साहित्य तथा चिंताधारा। एक असाहित्यिक की डायरी इनकी आत्मनन्दिनी है। काकली इनका संस्कृत-काव्य है। इन्होंने 'राका' और 'बेला' पत्रिकाओं का संपादन भी किया है।

इस प्रकार आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, संस्मरण, यात्रावृतांत डायरी, समीक्षा और ललित लेख इन नौ विधाओं में प्रभूत लेखन किया है। इनके बीच इनका रचनाकार व्यक्तित्व कवि कथाकार एवं आलोचक के रूप में इन्हें सर्वाधिक महत्व दिया जाता है। कवि के रूप में शास्त्री जी सर्वोपरि यशोवाक् सिद्ध हुए।

कविता को छंद और संगीत के तीर्थस्थलीय तटों के बीच सरित्प्रवाहित और प्रांजल-जलांजलि-निनादित करने में शास्त्री जी विदग्धवाक् माने जाते हैं। गीतकारके रूप में शास्त्री जी की पाठ्यता और श्रव्यता समान-रूप से लोकप्रिय रही है। 'मधुवाता ऋतायेत मधु क्षरन्ति सिन्धवः' के संगीतज्ञ, गीतकार और कवि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री को आलोचकों ने छायावाद का कवि

माना है। यदि इस स्थापना को मानना आवश्यक होगा तो यह कहना भी आवश्यक होगा कि शास्त्री जी ने छायावाद की चौहद्दी को तोड़कर उसका प्रांगण फैलाया है। कवित्व तथा आचार्यत्व क एकाश्रयण के कारण श्रीशास्त्री मम्मट तथा केशवदास की परंपरा के रचनाकार सिद्ध होते हैं। आचार्यत्व और कवित्व के एकाधान होने से प्राय: कवित्व पर ही खतरा उत्पन्न होता है, परंतु यह एक विरल उदाहरण बना है कि जानकीवल्लभ जी कविता को कभी दबने-दुबकने नहीं देते। इनकी चेतना, चिति और चैतन्य का रमणीय रूपांतरण कविता-काया में संपूर्ण ऊर्जा और अनुभूति-वेग के साथ शिल्पित हुआ है। शास्त्री जी वादबद्ध कवि नहीं हैं। प्रत्येक वाद का प्रतिवाद होता है। आचार्य शास्त्री का काव्य इस विवाद से अलग और ऊपर है।

'राधा' महाकाव्य की दो पंक्तियाँ हैं 'वाम विधु की मधु, अरी दक्षिण पवन की साँस !; यहाँ वाम अवाम नहीं, वामा के रूप में त्रिपुर-सुंदरी बन गया है और दक्षिण अपने दाक्षिण्य के साथ पवन की साँस बन गया है। श्रीशास्त्री सत्य के साधक कवि हैं। भारतीय संस्कृति में यह सत्य सनातन कहा गया है। अध्यात्म-शास्त्र इस सत्य की अनुभूति करता है। विज्ञान इस सत्य का अनुसंधान करता है और साहित्य इस सत्य की अभिव्यक्ति करता है। आचार्य शास्त्री अभिव्यक्ति-समर्थ कवि हैं।

आचार्य शास्त्री का व्यक्तिगत जीवन भी वैलक्षण्य-मंडित है। वे गाएँ, कुत्ते, बिल्लियाँ इत्यादि अनेक पशु पालते हैं। इनके पालन-पोषण में शास्त्री जी का समय, श्रम, वित्त,—सब लगता है। आलोचना हुई, शास्त्री जी पशुओं के साथ जीते हैं। बिहार-विश्वविद्यालय से अवकाश-ग्रहण के पश्चात् जब शास्त्री जी पटना-विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर-विभाग में अतिथि आचार्य के रूप में नियुक्त हुए तो उनसे रोज ही भेंट होती थी। एक बैठक में शास्त्री जी के पशु-प्रेम के सम्बन्ध में मैंने कहा था, 'भगवान् शंकर को पशुपति कहा जाता है। शास्त्री जी आधुनिक शंकर हैं।' इन गोमाताओं में कोई एक शास्त्री जी को उत्खात-तखेलन में पटक भी देती है और इनकी हड्डियाँ भी टूट जाती हैं।

इसको क्या कहेंगे ? फिर भी कोई भूखा, अनाथ या अपाहिज पशु दीख जाए, शास्त्री जी की करुणा उसे अवश्य मिलेगी। ऐसी करुणा आज वस्तुतः कहीं मिलती नहीं। शास्त्री जी मानववाद (मानव तक पहुँचनेवाली संवेदना) और मानवतावाद (मानवेतर प्राणियों तक पहुँचनेवाली संवेदना) दोनों के कवि हैं।

मिथकीय व्यक्तित्व

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री अपने जीवनकाल में ही मिथकीय व्यक्तित्व बन गए हैं। लोग इन्हें श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। बिहार सरकार ने इन्हें राजभाषा-विभाग की ओर से राजेन्द्र सिखर सम्मान से सम्मानित किया है।*

आचार्य शास्त्री एक सुवक्ता भी हैं। मंच पर एक सुकंठ गीतकार के रूप में इनकी सदैव प्रतिष्ठा रही है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का व्यक्तित्व उनके व्यक्ति से और नाम उनके स्वरूप से बड़ा हो गया है। परेशानियाँ हैं। धनाभाव और अन्य अनेक अभाव हैं, शारीरिक अशक्तता और राष्ट्रीय प्रकाशकों का अभाव है, पर जीवन चलता है। चरैवेति में आस्था है। लेखन जारी है। बिहार इनपर गर्व करता है।

—०○—

* अभी-अभी २६ फरवरी '९४ को दिल्ली में इन्हें राष्ट्रीय स्तर का साधना-सम्मान प्रदान किया गया है।—सं०

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री : एक प्रज्ञा-पुंज

श्री सूर्यदेव पाठक 'पराग'
एम०ए० साहित्याचार्य

बचपन में मेरे बाल-मन पर साहित्य के जिस शिखर व्यक्तित्व का सर्वाधिक असर पड़ा, वह आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री जी का ही तेजोद्दीप्त उन्नत व्यक्तित्व है, जो पिछले चार दशकों से चंदन की सुगंध की तरह मेरे मन-प्राणों में रस-बस गया है।

मेरे आदरणीय अग्रज आचार्य चन्द्रदेव पाठक 'सुधाकर' मुझसे चार वर्ष ज्येष्ठ और साहित्यिक-रुचि-सम्पन्न व्यक्ति हैं। अपने गाँव के एक पुस्तकालय में छुटपन से ही हमदोनों का आना-जाना होता था। एक बार वहीं पर आचार्य श्री की पुस्तक 'मेघगीत' के अवलोकन का सर्वप्रथम सौभाग्य मिला। बचपन से ही गीत के प्रति सहज आकर्षण होने के कारण 'मेघगीत' के कुछ गीत उसी समय मेरी हृतंत्री को झंकृत करने लगे। साथ ही आचार्य श्री के कुंचित कुंतल और नुकीले नाक-नक्शवाला नयनाभिराम चित्र भी मेरे बाल-मन को बाँधने में सर्वाधिक सफल रहा। कदाचित् किसी कवि की कमनीय आकृति का चित्र में अवलोकन करने का मेरा यह पहला अवसर था। 'मेघगीत' में छपा वह चित्र कुछ ऐसे कोण से लिया गया था जो शास्त्री जी के कृतित्व की तरह ही उनके व्यक्तित्व को भी आभा-मंडित कर रहा था। मैं उसी समय से मन ही मन आचार्य जी का मौन-मुखर पाठक और जिज्ञासु बन गया। फिर यदा-कदा घर-परिवार में भी आचार्य श्री की चर्चा चलने लगी। एक बार चर्चा के क्रम में ही मेरे पूज्य पिताजी, जो संस्कृत के पण्डित और आयुर्वेद के सफल चिकित्सक थे, आचार्य श्री का एक संस्मरण सुनाने लगे—"घटना शायद सन् १९४०-४२ के आसपास की है। शास्त्री जी बीमार थे। इन्होंने

मुजफ्फरपुर के किसी आयुर्वेद-चिकित्सक से चर्चा की तो उन्होंने मेरा नाम और पता बताकर सम्पर्क करने का परामर्श दिया। उन दिनों मैं कलकत्ते के 'विशुद्धानन्द सरस्वती मारवाड़ी अस्पताल में रसायनशाला का अध्यक्ष था। शास्त्री जी का पत्र पाकर मैंने डाक द्वारा उनके लिए दवा भेज दी। कई महीने तक कोई समाचार नहीं मिलने पर मैंने शास्त्री जी के पास पत्र भेजकर बीमारी के विषय में जिज्ञासा प्रकट की तो शास्त्री जी ने जवाब दिया— "दवा से फायदा तो बहुत हुआ; किन्तु बीमारी नहीं छूटी।" पत्र में आगे लिखा था— "बात ऐसी हुई कि एक पुस्तक आधी ही लिखी जा सकी थी और उतनी ही छपकर प्रेस में पड़ी थी। मनः स्थिति अनुकूल नहीं होने के कारण लेखन-कार्य पूरा नहीं हो पा रहा था। प्रेसवाला अधूरे काम को निपटाने की जल्दी में था। दवा सेवन करने के पश्चात् मनः स्थिति कुछ ऐसी अनुकूल हुई कि मैंने अपनी अधूरी पुस्तक पूरी कर ली। दवा का असर लेखन पर अच्छा पड़ा किन्तु परिश्रम के कारण बीमारी यथावत् बनी रही। इस प्रकार दवा से फायदा तो बहुत हुआ किन्तु बीमारी नहीं छूटी।"

इतना ही नहीं, मेरे पिताजी सोलह-सत्रह की उम्र में शास्त्री जी के संस्कृत गीत संकलन 'काकली' के प्रकाशन, महाप्राण निराला के साथ शास्त्री जी की विभिन्न कवि-सम्मेलनों में सहभागिता तथा काव्य-पाठ के क्रम में निराला जी के द्वारा किसी पंक्ति के विस्मृत हो जाने पर शास्त्री जी द्वारा स्मरण कराया जाना और मुजफ्फरपुर के धर्मसमाज संस्कृत कॉलेज में साहित्य विभागाध्यक्ष के पद के लिए होने वाले साक्षात्कार में युवा शास्त्री जी की प्रखर प्रतिभा से चमत्कृत विशेषज्ञों द्वारा दी गई टिप्पणी आदि की चर्चा किया करते जिसे मैं मनोयोग पूर्वक सुना करता था।

समय की गति के साथ ही आचार्य श्री के गीतों से रू-ब-रू होने का अवसर मिलता रहा। मेरे छात्र जीवन में 'किसने बाँसुरी बजाई' का कवि मेरे मन के किसी कोने से चुपके-चुपके बाँसुरी का मधुर तान छेड़ने लगा तो कभी अविराम गति से जीवन के उच्चावच पथ पर आगे बढ़ने के लिए 'मेरे पथ में न विराम रहा' का अमोघ मंत्र देने लगा और फिर 'जीना भी एक कला है' के माध्यम

मे जीने की कला सीखने के लिए उद्वेलित प्रेरित करने लगा।

सन् १९६२-६३ में सीवान के डी० ए० वी० कॉलेज में आयोजित एक कवि-सम्मेलन में आचार्य श्री के दर्शन और इनके मधुर कण्ठ से 'ताड़ की आड़ से चाँद क्या झाँकता' और 'गागर भरने की बेला हौले बीती जाती है, जैसे—गीतों को सुनकर झूम-झूम उठने का अवसर मिल चुका था। उस समय तक मेरे कवि के दूधिया दाँत निकलने लगे थे, इसलिए आचार्य श्री के मधुर मनोरम गीतों को सुन-सुनकर नोट भी करता गया था ताकि उन पंक्तियों को बार-बार गुनगुना सकूँ।

समय के पंख लगे और कितने वर्ष बीत गए किन्तु आचार्य श्री के सान्निध्य का सुअवसर नहीं मिल सका, फिर भी इनके वैदुष्य और कवित्व की मोहक महक से मेरे मन-प्राण पुलकित होते रहे। फिर एक पुस्तकालय से 'पाषाणी' की प्रति हाथ लग गई और उसका एक गीत अन्तर की वीणा से सुर मिलाकर गहरे उतर गया—'अम्बर क्या, धरती पर स्वर्ग उतर आये।' यह गीत मेरे जीवन की बंजर जमीन में प्रेरणा का पुष्ट बीज बो गया' इसी प्रकार पटना से प्रकाशित होनेवाले अपने समय के सर्वाधिक लोक-प्रिय दैनिक पत्र 'आर्यावर्त[1] के रविवासरीय अंक में आचार्य श्री का एक प्रेरक गीत जो अत्यन्त कलात्मक ढंग से चित्रमय फ्रेम में प्रकाशित हुआ था, पढ़ने को मिला। कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार थीं—

मेरी दूरी कस्तूरी की गंध !

\+ + +

मत मकरंद भरो दोने में,
मैं न रह सकूँगा कोने में,
मेरी किरणें खोज रही हैं रंध्र !

मैं इस गीत से इतना प्रभावित हुआ कि इस गीत को अखबार के पन्ने से काटकर डायरी में सँजोये रहा, कभी-कभार गुनगुनाता रहा और अपनी छोटी-मोटी बुद्धि के बल पर अपने परिजनों-परिचितों के बीच चर्चा भी करता रहा।

यों आचार्य जी को अपनी वात्सल्यमयी गोद में रखनेवाला मुजफ्फरपुर की पावन भूमि मेरे लिए नई नहीं रही है। सन् १९६२ से ही 'निराला निकेतन' के पृष्ठ भाग से होकर गुजरने वाली राम-बाग रोड से धर्म समाज संस्कृत कॉलेज के परीक्षा केन्द्र पर आने-जाने का मौका मिलता रहा, किन्तु एक अज्ञात भय या संकोच के कारण वर्षों तक आचार्य श्री के चरणों का स्पर्श कर अपने को कृतार्थ नहीं कर सका।

मैं छात्र से अध्यापक बना। प्राध्यापक बनने के सारे श्रम और सपने आकाश-कुसुम सिद्ध हुए और अन्ततः मैं एक ठेठ देहाती उच्च विद्यालय में अध्यापक होकर रोटी के जुगाड़ में जुट गया फिर भी अध्ययन, अध्यापन और लेखन को अपना सम्बल बनाकर जिन्दगी से जूझता रहा।

सन् १९८१-८२ के लगभग चैपमैन कन्या उच्च विद्यालय में उतर पुस्तिकाओं के मूल्यांकन के सिलसिले में एक सप्ताह के लिए मुजफ्फरपुर में रहने का अवसर मिला। मेरे एक अध्यापक मित्र से आचार्य जी के दर्शन करने के लिए विचार-विमर्श हुआ और मेरे संकोची व्यक्तित्व को मित्र का सम्बल मिला। हम चल पड़े उस विराट व्यक्तित्व की चरण-धूलि अपने मस्तक पर चढ़ाने जिसकी साध वर्षों से कंजूस के धन की तरह सँजोकर रखी हुई थी।

वह क्षण मेरे जीवन के स्मरणीय क्षणों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था। जब महाप्राण निराला के पावन स्मृति-केतन 'निराला निकेतन' में उनके सच्चे साहित्यिक उत्तराधिकारी, सरस्वती के वरपुत्र आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री जी के विशाल सारस्वत व्यक्तित्व के समक्ष चरणों में नत होकर मैंने उनसे आशीर्वाद लेने का सौभाग्य पाया था।

सन्ध्या का समय! आचार्य श्री अपने उपवन में नगर के दो-तीन प्राध्यापकों के साथ बातें करते टहल रहे थे। परिसर में प्रफुल्लित विविधवर्णी पुष्प आचार्य श्री के काव्यात्मक व्यक्तित्व और सुरुचि सम्पन्नता को रूपायित कर रहे थे तो गायों बछड़ों, कुत्तों और बिल्लियों से भरा-पूरा वातावरण इनके सर्व-प्राणि-समभाव की उदात्त अवधारणा को मुखरित कर रहा था। उस समय मेरे समक्ष महाकवि बाण भट्ट विरचित 'कादम्बरी' में

चित्रित जाबालि के आश्रम का चित्र सजीव हो उठा। गोस्वामी तुलसीदास की उक्ति 'और न काहू सन कर कोई' का ऐसा दुर्लभ उदाहरण अन्यत्र कहाँ सम्भव है ?

आचार्य श्री हमलोगों से संक्षिप्त परिचय और आने का प्रयोजन जानकर पहले से आये प्राध्यापक बन्धुओं के साथ हमें भी बैठाकर बात करते रहे। हम दोनों मात्र श्रोता बनकर आचार्य श्री के ज्ञान-गंभीर अनुभव-अनुस्यूत अमृतमयी वाणी का पान करने में तन्मय थे। इनकी वाग्धारा में प्रवहमान कितने ही संस्मरणात्मक प्रसंग हम जैसे नये श्रोताओं के लिए ज्ञान, उत्सुकता और आनन्द की त्रिवेणी में अवगाहन कराने के लिए पर्याप्त थे। समय-सीमा को देखते हुए हमलोग आचार्य-श्री का चरण-स्पर्श कर विदा हो गये।

व्यक्तिगत वार्तालाप तथा साहित्यिक चर्चा का अवसर उस वक्त नहीं मिल पाने के कारण एकान्त में कुछ बातें करने के लिए मैं पुनः दूसरे दिन 'निराला निकेतन' की ओर चल पड़ा। प्रातः कालीन बाल सूर्य की स्वर्णिम किरणें 'निराला निकेतन' के लता-विटपों पर अपनी अपूर्व आभा बिखेर रही थीं किन्तु वहाँ एक अजीब सन्नाटा पसरा हुआ था। उस सन्नाटे के बीच एक सेवक गायों की सेवा में लगा दिखाई पड़ा जो उन्हें खिलाने के लिए चारे और दाने के लिए आ जा रहा था। मैंने आचार्य जी के दर्शन की इच्छा प्रकट की तो वह अन्दर जाकर पूज्या माताश्री को इसकी खबर दे आया जो संभवतः प्रातः कालीन गृह-कार्य में संलग्न थीं। वे ऊपरी मंजिल से नीचे आईं। मैंने श्रीचरणों में प्रणति निवेदन करते हुए आचार्य जी के दर्शन करने की उत्सुकता जताई तो उन्होंने कृपापूर्वक आचार्य जी के कक्ष तक पहुँचाने का मार्ग निर्दिष्ट कर दिया। आचार्य जी अभी अपने शयन-कक्ष में बिस्तर पर विराजमान हो अनमने-से बैठे थे। मैं श्रद्धा पूर्वक अभिवादन कर आदेशानुसार बगल में रखी एक कुर्सी पर बैठ गया और आचार्यश्री के मनोभाव को मौनरूप में परखने लगा। कमरे में कुछ क्षण तक पसरे सन्नाटे को तोड़ते हुए आचार्यजी ने कहा—"रात ढाई-तीन बजे तक जागना पड़ा है।" इन्होंने पुनः आगे कहना प्रारम्भ किया—"जब इस आश्रम की किसी बिल्ली के सर पर मौत

। र मौत सवार होती है तो वह बाहर सड़क पर निकल जाती है। कल रात आश्रम की एक बिल्ली बाहर निकल गई और बाहरी कुत्ते की चपेट में आ जाने के कारण मारी गई। उसी का अंतिम संस्कार करने में देर रात तक जागना पड़ा।"

आचार्यजी के करुणाप्लावित वचनों से इनके अन्तस्तल में संचित महर्षि बाल्मीकि के 'क्रौंच-वध' की करुण-वेदना विगलित होकर निःसृत हो रही थी। मुझे उसी दिन ऐसा आभास हुआ कि इस महान् विभूति में मात्र कालिदास के काव्य की कमनीयता ही नहीं, बल्कि आदि कवि बाल्मीकि और कवि विभूति भवभूति की करुणा-धारा भी निरन्तर गतिमान है। आज जबकि मानव मात्र में ही मानवीय करुणा का अभाव होता जा रहा है, 'निराला निकेतन' में जीव मात्र के प्रति करुणा का ऐसा दुर्लभ उदाहरण क्या अन्यत्र संभव है? मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य श्री के मुद्रित काव्य 'श्रव्य काव्य' की कोटि में आयेंगे तो 'निराला निकेतन' जीता-जागता दृश्य काव्य है जिसकी संरचना को आचार्यजी ने अपना अकूत अर्घ अर्पित किया है।

'निराला निकेतन' एक साहित्य साधना स्थली है, जहाँ महाप्राण निराला के एक मात्र समर्थ उत्तराधिकारी आचार्यश्री लगभग पाँच दशकों से अविराम साहित्य-सृजन में संलग्न हैं।' 'निराला निकेतन' एक उपवन है, जहाँ हर मौसम में खिलने वाले रंग-बिरंगे फूल आचार्यश्री के उत्फुल्ल व्यक्तित्व और प्रकृति प्रेमी अन्तश्चेतना को मुखरित करते हैं। 'निराला निकेतन' करुणा और प्रेम का मनोरम समन्वय स्थल है, जहाँ मूक प्राणी भी करुणा और प्रेम से सराबोर होकर हिंसा की मूल भावना को भूलकर समन्वय का पाठ पढ़ते हैं। 'निराला निकेतन' साहित्य और संगीत का अद्भुत संगम तट है जिसके मध्य से साहित्य के साथ संगीत की पावन धारा प्रवाहित होती है। और अन्ततः 'निराला निकेतन' एक कल्पवृक्ष है जहाँ आचार्यश्री के हाथों नवलेखन को प्रोत्साहन तथा प्रौढ़-लेखन को आश्वस्ति मिलती है; और सबसे दुर्लभ स्नेह की छतनार छाँव मिलती है परमादरणीया माताश्री के वात्सल्यविगलित सान्निध्य में।

मने प्रसंग को बदलते हुए आचार्य श्री के सम्पादन में प्रकाशित होनेवाली बेला की चर्चा को और सदस्यता शुल्क जमाकर पूर्व प्रकाशित अंक प्राप्त किये और दबी जुबान से अपने लेखन के बारे में भी चर्चा की। आचार्य जी ने अधिकाधिक अध्ययन और तब लेखन के लिए प्रवृत्त होने का सत्परामर्श दिया। मैंने उनके बहुमूल्य विचारों को गुरु-मंत्र की तरह अंगीकार कर तदनकूल आचरण करने का संकल्प लिया और चरणों में नत होकर पुलकित मन 'निराला निकेतन' से निकल कर जन-संकुल सड़क पर आ गया।

आचार्य श्री की कृपा का प्रसाद उस समय के बाद से निरन्तर मिलता रहा। मैं 'बेला-परिवार का सदस्य बनकर इसका नियमित पाठक बना और अपनी काव्य-रचनाएं 'बेला' में प्रकाशनार्थ और विशेष रूप से आचार्य श्री के प्रतिक्रियार्थ भेजने लगा। 'बेला' में मेरे गीत, मुक्तक, समीक्षा और गजलों को स्थान मिलना मेरे लिए गौरव की बात है। 'बेला' आचार्य श्री के श्रम-स्वेदसिंचित प्रखर पाण्डित्य-मण्डित सम्पादन क्षमता की कमनीय कसौटी है। 'बेला' हिन्दी के प्रख्यात और नवजात साहित्यकारों के लिए समेकित सिद्ध पीठ है। 'बेला' किसी भी साहित्यकार को राष्ट्रीय क्षितिज पर चर्चित समर्चित करने के लिए सबल सोपान है। 'बेला' वह साहित्य-दर्पण है, जिसमें वर्तमान हिन्दी साहित्य का सम्पूर्ण आकार यथावत् दृष्टिगत होता है। 'बेला' आचार्य श्री के सम्पूर्ण साहित्य का मधुमय कोष है, जिससे उनके विविध विधागत साहित्य का आस्वाद लेकर हिन्दी का पाठक वर्ग धन्य होता रहा है। 'बेला' के वृन्त पर कभी राधा की रमणीयता की कली कुसुमित होती है तो कभी कविता कामिनी विलास कविकुलगुरु कालिदास के महाकाव्यात्मक जीवन-फूल से हिन्दी साहित्योद्यान सुरभित हो उठता है। 'बेला' की एक एक पंखुड़ी गीत, नवगीत, कविता, कहानी, उपन्यास, संस्मरण, समीक्षा आदि अलग-अलग विधा के रूप में एकीकृत होकर 'बेला' को आकार प्रदान करती है। 'बेला' के शताधिक विकसित फूल साहित्य देवता के सुग्रीव की शोभा-मण्डित कर चुके हैं। इसका सौवाँ फूल तो अपना प्रतिमान स्वयं ही है।

लगभग डेढ़ दशक से आचार्य श्री के व्यक्तित्व को परखने और उनके गद्य- पद्यमय साहित्य का यत्किञ्चित अध्ययन-अनुशीलन

करने का प्रयास किया है, उस आधार पर निस्संकोच कह सकता हूँ कि उनका व्यक्तित्व जितना विराट है, साहित्य उतना ही गुरु गम्भीर। उनका बहुआयामी व्यक्तित्व कैलास की उत्त ंगता धारण कर शिवत्व को प्राप्त कर चुका है, जिससे प्रवाहित साहित्य की मन्दाकिनी छह दशकों से हिन्दी की भूमि को उर्बरता प्रदान करती रही है।

विविध विधाओं में प्रसृत आचार्य श्री के विपुल साहित्य पर जब कभी कुछ लिखने का बिचार करता हूँ, मेरी लेखनी रुकने लगती है और मेरा ज्ञान अल्पज्ञता की सीमा का स्पर्श करने लगता है। आचार्य श्री को सम्पूर्ण रूप से समझने के पूर्व भारतीय साहित्य और दर्शन के गहन अध्ययन-चिन्तन के अतिरिक्त पाश्चात्य साहित्य में पाण्डित्य भी अपेक्षित है। गीत के साथ संगीत की शास्त्रीय पहचान और साहित्य के साथ दर्शन के मर्म को जाने बिना आचार्य श्री के साहित्य का आस्वाद संभव नही है। भारतीय मनीषा के उन्नायक व्यास, वाल्मीकि, भास, कालिदास, भवभूति, रवीन्द्रनाथ और निराला को आत्मसात् करने के बाद ही आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री के श्रेण्य साहित्य पर आधिपत्य का प्रयास श्रेयस्कर होगा। मैं जब भी आचार्य जी के साहित्य-सागर का अवगाहन करने की धृष्टता करता हूँ, कवि कुलगुरु कालिदास का यह श्लोकांश बरवश याद हो आता है—

तितीर्षु दुंस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्!

काश! आचार्य श्री के ज्ञान-गम्भीर ग्रंथ-रत्नों को सम्पूर्ण-रूप से आत्मसात् कर पाता। उनके सद्ग्रंथों को हृदयंगम करने के लिए अपनी चित्त वृत्तियों को उदात्त बनाकर ही यह संभव है। प्रसन्नता की बात यह है कि आचार्य श्री के ग्रंथों के मनन-चिन्तन की प्रक्रिया निरन्तर बढ़ रही है। आज के घिनौने गुटबंदी के बादलों को भेदकर आचार्य श्री का साहित्यसूर्य हिन्दी-काव्याकाश को अपनी प्रखर रश्मियों से आलोकित करता रहेगा दिग्-दिगंत तक—युग-युग तक–इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं है; क्योंकि 'कालोह्ययं निरवधि विपुला च पृथ्वी।

—+—

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री : एक संस्मरण

डॉ० जफर हमीदी
क्लब रोड, मुजफ्फरपुर
अनूवाद डा० मंजर एजाज

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री से पहले-पहल मेरा परिचय पीठ पीछे हुआ, और इस प्रकार कि एक सज्जन ने बताया कि शास्त्री जी संस्कृत के विद्वान और हिन्दी के महान कवि हैं जो उमाशंकर बाबू के रमना में रहते हैं और उनकी बड़ी लड़की चन्दा को पढ़ाते हैं। यह सुनकर मैंने कहा कि रमना काव्य-रचना के लिए उत्तम स्रोत सिद्ध होगा। कुछ दिनों के बाद मैंने अपने हरिसभा चौक स्थित आवास वाली सड़क पर एक लम्बे कद के व्यक्ति को बिल्कुल मस्ताना अन्दाज में पैदल चलते हुए देखा। मैं उस व्यक्ति को देखकर प्रभावित हुआ और मेरे भीतर यह कुरेद उत्पन्न हुई कि यह व्यक्ति कौन है? मैंने पास खड़े हुए एक व्यक्ति से पूछा कि "इनको पहचानते हो?" उसने कहा कि "अरे, यह तो हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि शास्त्री जी हैं।"

ऐसे ही एक बार मैं "चित्रा सिनेमा के मालिक मदन बाबू से मिलने गया था, तो मैं ने शास्त्री जी को उसी मस्ताना अन्दाज में सड़क पर पैदल जाते हुए देखा। इस बार मैंने उनको गौर से देखा और महसूस किया कि यह व्यक्ति अपने आप में मगन और वातावरण से बिल्कुल बेगाना होकर चल रहा है। और फिर मैं ने यह नतीजा निकाला कि यह व्यक्ति एक सच्चा, जेनविन और वास्तविक कवि है और अपने अन्दर आध्यात्मिक प्रभाव रखता है।

कुछ वर्ष बाद कई कवि गोष्ठियों और सम्मेलनों (उर्दू-हिन्दी) में शास्त्री जी का और हमारा साथ रहा। मैंने महसूस किया कि मेरी शायरी को उन्होंने पसन्द किया।

एक दिन मैं ने अपने मित्र प्रो० शमीम अहमद से कहा कि चलिए, शास्त्री जी से उनके घर पर मिला जाय।'' अब वे अपना व्यक्तिगत घर बनाकर स्थानान्तरित हो चुके थे। सर्दी का मौसम था। लगभग आठ बजे रात में हम दोनों उनके आवास पर पहुँचे। सामने वेराण्डा के पास सहन में एक स्टैच्यु बना दिखाई दिया जिसे हार पहनाया हुआ था। शास्त्री जी को अन्दर खबर भिजवाई गयी। उन्होंने जल्द ही हम दोनों को अपने सोने के कमरे में बुलवा लिया। वे खुद रजाई ओढ़े लेटे हुए थे। हम दोनों कुर्सियों पर बैठ गए। फिर विभिन्न सामाजिक, काव्यात्मक और हिन्दू मुस्लिम एकता के सवाल पर हमलोगों में बहुत देर तक बातें होती रहीं। न उन्होंने अपनी कविता सुनाई और न मैंने अपनी शायरी सुनाई। मजाकिया लहजे में उन्होंने अपनी वफादारी और सुघड़पन की तारीफ की। अचानक उनकी रजाई के अन्दर से एक बिल्ली निकली, फिर दूसरी, और फिर तीसरी और फिर यह सिलसिला दस पर जाकर समाप्त हुआ। मैं अचम्भित था कि ये बिल्लियाँ कहाँ से निकल रही हैं? यदि शास्त्री जी स्त्री होते तो मेरा डाक्टर मन कुछ "फ्रीच नेचर" के मानव शरीर से प्रकट होने के बारे में सोचता। मैंने शास्त्रीजी से सवाल किया कि इतनी सारी बिल्लियों को लेकर आप कैसे सोते हैं। जाड़े में तो ये आपको गर्मी पहुँचाती होंगी और आप इनको गर्मी पहुँचाते होंगे। और क्या आपके भारी शरीर से ये दब नहीं जाती हैं? और दब कर काटती नहीं हैं?" शास्त्री जी ने मुस्कुराते हुए कहा "ये सब मेरे बच्चे हैं, कभी दब जाते होंगे। इनका मुझको काटने का तो सवाल ही नहीं पैदा होता है। मैंने कहा कि अगर मेरी गुस्ताखी माफ कीजिए तो एक डाक्टर की हैसियत से मैं आप से अनुरोध करूँ कि साथ सुलाने में इनकी संख्या कम कीजिए। इन में से कोई भी रात को सोते समय आपकी नाक के समीप सो जाय और कहीं ऐसा न हो कि इनके बालों की गन्ध से आपको एलर्जी हो जाय और आप व्यर्थ ही दमा या एक्जीमा के शिकार हो जाये।"

अब चूंकि वातावरण की गम्भीरता टूट चुकी थी इसलिए हमलोगों ने उनसे फुर्सत मांगी और वे न चाहते हुए भी हमलोगों को बाहर विदा करने के लिए मेरी गाड़ी तक तशरीफ लाए। प्रतिमा की ओर संकेत करते हुए हमने शास्त्री जी से मालूम किया कि यह किन महाशय की है?" उन्होंने उत्तर दिया कि "मेरे स्वर्गवासी पिताजी की है। हमारे धर्म में विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा होती है तो मैंने सोचा कि क्यों न अपने पिताजी ही की मूर्ति को ईश्वर का रूप मानकर पूजूं। इसलिए मैं रोजाना सवेरे उठकर उनकी पूजा करता हूं।" मैंने कहा —"यह आपकी सांवेगिक अभिव्यक्ति वास्तविकता से परिपूर्ण है। मेरे धर्म इस्लाम में भी खुदा के इन्कार के बाद माता-पिता की नाफरमानी को सब से बड़ा पाप माना गया है बशर्ते कि वे गलत काम करने का आदेश न दें।"

इस बात-चीत में सब से महत्वपूर्ण बात शायरी के हवाले से जो हुई, वह यह थी कि शास्त्री जी की दृष्टि में निराला हिन्दी का सब से महान कवि है और उसके बाद वैसा कवि कोई पैदा न हुआ। मैंने कहा कि शायरी के बारे में तो मैं कुछ नहीं कह सकता लेकिन आप दोनों का स्वभाव काफी मिलता-जुलता मालूम होता है।

इसके बाद भी विभिन्न आयोजनों में भेंट होती रही। "निराला डे" मनाने के सिलसिले में एक शाम उन्होंने अपने दोमंजिला मकान की ऊपरी छत पर एक कवि सम्मेलन का आयोजन किया जिसमें उर्दू शायर की हैसियत से सिर्फ मुझी को उन्होंने आमंत्रित किया था। गोष्ठी काफी सफल रही और शास्त्री जी लगातार मुझसे कई गजलें सुनते रहे। नाश्ते के बाद चाय की प्यालियाँ छत पर बिखरी हुई थीं, इतने में मैं ने देखा कि दो कुत्ते छत पर प्रकट हुए। दोनों कुत्तों को देखकर मुझे 'पतरस बुखारी' का हास्य-व्यंग लेख "कुत्तों का मुशायरा" याद आ गया। मैं ने सोचा कि हमलोगों के भौंकने के बाद इन दोनों की भौंक से कव्वाली का मुकाबला शुरू होने वाला है। पर हुआ यह कि दोनों कुत्तों ने घूम-घूम कर चाय की प्याली को चाटना शुरू किया। दोनों कुत्तों की हरकतें देखकर शास्त्री जी बहुत प्रसन्न नजर आने

लगे। वे कुत्तों को बुलाकर उनकी पीठ ठोकते जाते थे। मुझे अजीब सा लग रहा था। मैं सोच रहा था कि सारी प्यालियाँ अपवित्र हो रही हैं। मैं ने शास्त्री जी से अर्ज किया कि "प्यालियों को जरा ठीक से साफ करवा दीजिएगा।" उन्होंने कहा—"अरे डाक्टर साहब, ये दोनों भी हमारे बच्चे हैं। अतः जैसे हमलोग प्यालियों का प्रयोग करते हैं वैसे ही इनके प्रयोग से क्या अन्तर पड़ता है।"

मैंने बात को दूसरी ओर मोड़ते हुए कहा कि "ये आपकी रुचि बिल्लियों से कुत्तों की ओर कब फिर गयी?" उन्होंने कहा—"ऐसी बात नहीं है, मेरी बिल्लियाँ तो हैं ही, ये भी हैं। मैं तो सभों को एक समान मानता हूँ और उनके जीवन के हर रूप को बराबर का प्यार देता हूँ।"

शास्त्री जी की यह सार्वभौमिक दृष्टि अर्थात् प्रकृति के सभी जीवधारियों को समान मूल्य प्रदान से मैं बहुत अधिक प्रभावित हुआ। मेरे जीवन में आज तक कोई ऐसा मनुष्य नहीं दिखा जिसका सांवेगिक सम्बन्ध प्रकृति के बाह्य स्वरूप से ऐसा स्वच्छ, वास्तविक और बराबरी का हो!

उस दिन से आज तक मैं शास्त्री जी को केवल हिन्दी का एक महान कवि नहीं, बल्कि इससे अधिक एक महान मानव प्रेमी और प्रकृति का पुजारी मानता हूँ। पिछले बारह बरसों से डिप्रेशन से ग्रसित होने के कारण मैं भीड़-भार से दूर एकान्त का होकर रह गया हूं, इसलिए कवि सम्मेलनों में जाता ही नहीं हूँ और महापुरुष शास्त्री जी के दर्शन से वंचित रहा हूं फिर भी मेरी चेतना में उनके व्यक्तित्व की ज्योति का प्रकाश मद्धिम नहीं हुआ है और शायद मरते दम तक मद्धिम नहीं होगा।

—+—

आदमी को भी मयस्सर नहीं इन्साँ होना

श्रीमती मनोरमा नन्दन, एम० ए०

कोई भी साहित्यकार केवल अपने साहित्य के बल पर महान नहीं होता। उसको महानता का आधार उसके अन्दर बैठा मनुष्य होता है। मनुष्य भी कैसा? ऐसा नहीं कि वह अपनी दिन-चर्या में, अपने जीवन में कुछ और हो, साहित्य में कुछ और। हिन्दी के महान कवि और साहित्यकार आचार्य–श्री जानकीवल्लभ शास्त्री जी के दर्शन और उनके स्नेह की पात्र होने से पहले मैंने पटना के कॉफी हाउस में जिस साहित्यकार को देखा और उनसे स्नेह पाया, वह सुप्रसिद्ध कथाशिल्पी स्वर्गीय फणीश्वरनाथ रेणु थे। फिर मेरे विवाह में उपस्थित न होने के कारण दूसरे किसी दिन आशीर्वाद देने महाकवि प्रभात जी भी आए थे। हिन्दी के प्रतिभाशाली कवि स्वर्गीय हरेन्द्र देव नारायण जी भी अकसर अपनी फटेहाली के दिनों में आया करते थे। ये सन ७०-७१ के दिन थे। लेकिन मैं जब सन् ७२ में अपने पति (नंदकिशोर नंदन) के घर मुजफ्फरपुर आई तो जैसे मेरे संचित पुण्य का फल मिला कि अभिभावक के समान स्नेहिल व्यक्तित्व आचार्य श्री जानकीवल्लभ शास्त्री के निरन्तर दर्शन और प्रेरक साहचर्य का सुख-सौभाग्य प्राप्त होने लगा। वे हमारी जिन्दगी का एक ऐसा हिस्सा बन गए कि उनकी उपस्थिति हमारे लिए कितनी मूल्यवान है, यह मैं शब्दों में नहीं बतला सकती।

मध्यवर्गीय परिवार में चलने वाले आपसी दाँव-पेंच के कारण हमलोग मुजफ्फरपुर छोड़कर अपने गाँव दादर-कोल्हुआ के छोटे से मकान में चले आए। फिर भी मेरे पति पूज्य शास्त्री जी के यहाँ निरन्तर आते-जाते थे। एक बार ऐसा हुआ कि यह अस्वस्थ होने के कारण पन्द्रह दिनों तक गाँव पर ही रह गए। एक दिन दोपहर के बाद हमलोग बरामदे में बैठे कुछ पारिवारिक चिन्ता में

लीन थे। रिक्शे की घंटी सुनकर हमने देखा तो हमारी खुशी का ठिकाना न रहा। हमारे मकान के उत्तर में दरवाजे पर मुस्कराते हुए लाल फूलों वाले गुलमोहर के पेड़ के नीचे उजले दप-दप धोती कर्ते में शास्त्री जी मुस्कुरा रहे थे। दौड़कर हमने उनका चरण-स्पर्श किया तो आशीर्वाद देते हुए बोले— "नंदन जी की मस्ती का राज आज समझ में आया। यहाँ आपके घर के आस तो पास मधुशाला ही मधुशाला है।" उनकी विनोद वृत्ति ने जैसे हमारी चिन्ता को पीछे भगा दिया और हम खुशी की गण्डक (नदी) में बहने लगे। उनकी निश्चल विनोद वृति से अनजान आदमी अक्सर उन्हें गलत समझ लेता है। ऐसे लोग भी हैं, जो विद्वान होने का घमण्ड करते हैं पर शास्त्री जी की निष्कलुष सहृदयता से कोसो दूर हैं। उन्होंने बतलाया कि उन्हें चिता हो आई थी कि नंदन जी काफी दिनों से नहीं आ रहे, उन्हें कुछ हो तो नहीं गया? कई घन्टों तक हमें स्नेह की शीतल धाराओं में डुबोने के बाद उन्होंने जाने की इच्छा व्यक्त की। हमें समझते देर न लगी कि मनुष्य से लेकर पशु-पक्षी सब पर अपनी करुणा निछावर करने वाले महाकवि को अब गोमाताओं की करुण पुकार सुनाई दे रही होगी। साँझ हो आयी थी; हमारी आँखों से दो व्यक्तित्व ओझल हो रहे थे— एक आकाशी सूरज और दूसरे साहित्यिक नक्षत्र शास्त्री जी। 'बिछुरत एक प्राण हर लेही' जैसी हमारी हालत थी। हमारा पूरा परिवार घंटो ऐसे उदास रहा मानो कोई अपना बिल्कुल अपना रस: बरसाकर अचानक उठकर चुपचाप चला गया हो। अश्रु-पूरित आँखों को तनिक आराम मिला जब नींद ने आकर उन्हें मुदने के लिए लाचार कर दिया।

आज के स्वार्थ प्रेरित संसार में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री जी जैसे निष्काम भाव से स्नेह करने वाले लोग ही यह उम्मीद बँधाते है कि इन्सानियत अभी मरी नहीं, जिन्दा है। विगत २२-२३ वर्षों में उनके प्रेम-स्नेह में डूबी अनेक ऐसी यादें है, जो आज भी हमें रुला देती हैं।

सन् ८१ की वसन्त पंचमी। महाप्राण निराला का जन्म दिन। मेरे पति स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग के साहित्यिक छात्रों-सत्यदेव सुमन और अवधेश चौबे, अब दोनों ही प्रोफेसर हैं, आदि

के साथ 'निराला-निकेतन' में निराला-जयन्ती की तैयारी में जुटे थे। रात्रि में आयोजन अपने शिखर पर था। हिन्दी के अनेक कवि-लेखक उस समारोह में हिस्सा ले रहे थे। इधर मेरे घर पर एक दुर्घटना हो गई। मेरे छः वर्षीय इकलौते पुत्र सुमन का सिर पलंग के धार-दार कोने से टकराने के कारण फूट गया था और टाँका पड़ने के बावजूद बेहोश था। पड़ोस में रहने वाले छात्र को मैंने निराला निकेतन में भेजा। यह सुनने के बावजूद वह सभा समाप्त करने के बाद ही घर लोटे। यह बात पतिदेव ने शास्त्री जी की पत्नी (श्रीमती छाया देवी) को बतलायी थी। दूसरे दिन जब ये कॉलेज में थे, महाकवि स्वयं पधारे। जब मकान के बाहर मेरे बच्चे को खेलते हुए उन्होंने देखा तो संतोष हुआ। घंटे भर बात-चीत के बाद जब चलने लगे तो उन्होंने कुर्ते की जेब से ढेर सारे रुपये निकाल कर मेरी हथेली पर रखते हुए कहा, "लीजिए, अपने बेटे का बढ़िया से बढ़िया इलाज कराइए। जरूरत पड़ी तो और रुपये भेज दूंगा।" यह देखकर मैं भीतर से छलछला आई।

जब कॉलेज से मेरे पति लौटे तो मैंने महाकवि के आने और उनके द्वारा बेटे के इलाज के लिए दिए गए रुपयों की कथा बतलाई तो वह इतने भावुक हो उठे कि घंटों बैठे सोचते रह गए कि कवि कलाकार बहुत होते हैं मगर शास्त्री जी जैसे महान मनुष्य कितने होते हैं। सच, मैं भी सोचती हूँ कि क्या मनुष्य हुए बगैर कोई महान कलाकार हो सकता है!

—+—

अथक श्रम कर, अकथ कहना शेष है—

—डॉ० रामप्रवेश सिंह

भारतीय संस्कृति अपनी प्राणवत्ता खोज रही है—आचार्य जानकीबल्लभ शास्त्री में। परम्परा से यदि आधुनिकता की दृष्टि ग्रहण करनी हो, आधुनिकता से यदि परम्परा का सही अनुभव लेना हो, गति और प्रगति का अन्तर समझ कर, जीवन के मनोराग को उत्कर्ष का बोध कराना हो, आप वेहिचक शास्त्री जी के साहित्थ की ओर खिचे चले जायेंगे।

यह तो हमलोगों का सौभाग्य है कि जिस 'कल्प-तरु' के निकट बैठ कर, अपनी अस्मिता की तलाश कर रहे हैं, वह युग-युग का सातत्य अपने विशाल-व्यक्तित्व में आत्मसात किए हुए है। निश्छलता ऐसी जहाँ करुणा को करुणा की छाँव मिले, सहजता ऐसी जहाँ साधना और साध्य में कोई अन्तर न दिखलाई दे, विश्वास ऐसा जहाँ संकल्प को दृढ़ता का सहज आधार मिल जाए—ऐसे हो मानवीय मूल्यों के गुणात्मक पहचान हं—शास्त्री जी। संवेदनात्मक अनुभव के जीवन बन गये हैं शास्त्री जी।

'बेला' में कई वर्षों से लगातार उनपर लिखता रहा हूँ। प्रारम्भिक दिनों में "राधा" के माध्यम से आचार्य तक पहुँचने का साहस बटोरा था। 'हिन्दी विद्यापीठ पत्रिका; "नई-धारा; ज्योत्सना; 'मधुमती; 'मंगलदीप" आदि पत्रिकाओं के आलोक-पथ से गुजर कर उनके आलोक बिम्ब को थाहने का दुष्प्रयास किया था। जितना ही अपने को भीतर से भरने का प्रयास करता रहा, उतना ही अपने को खाली पाया। 'नैष्ठिक-कविता और जानकी बल्लभ शास्त्री' पुस्तक भी आयी, मन को भीतर से सांत्वना न मिलो। कभी वामन ने अपने विस्तार की सीमा बताकर किसा महात्वाकांक्षी बली को एक सीमा में हा बने रहने का संस्कार दिया था। किसी विराट् को अपनी सीमा में बांध पाना क्या कभी

आसान रहा ? विराट् का बोध अनुभव को विस्तार देता है और अनुभव जन्य ज्ञान अपनी सीमा की सही पहचान परम्परा में पाती है। भाष्म और विदुर जैसे व्यक्ति भी अपनी मनस्विता में भगवान श्री कृष्ण को बाँध नहीं पाये। थाह पाना तो कठिन ही कहा जायेगा। क्योंकि प्रत्येक की सीमाएँ, उनके विस्तार में समाहित हो कर भी संभावनाओं को कोई ठोस अभिव्यक्ति नहीं दे सकीं।

आचार्य जानकोवल्लभ शास्त्री का विस्तृत साहित्य हमारे जातीय साहित्य की सांस्कृतिक प्राणधारा को असोम संभावनाओं की दिशा प्रदान करने के बावजूद आलोचकों के लिए चुनौतो बना हुआ है। आलोचकों का एक वर्ग आज भी अपने में हीनता का अनुभव कर रहा है। जिन्हें अपनी परम्परा का सही ज्ञान है, वे जीवन की मुख्य-धारा से कटे हुए हैं और जिन्हें आधुनिकता के प्रति मोह है, वे प्रतिबद्ध बन गये हैं। उपयोगिता और आदान-प्रदान को राजनीति ही उनकी आलोचना का प्रतिदर्श बन गया है। गिरोह बनाकर चलने वाले, वादीय सीमा में अपनो संभावनाओं को पत्रकारिता और चाटुकारिता का रूप देने वाले लोगों की दृष्टि में यदि शास्त्री जी ऐसा क्लासिक व्यक्तित्व नहीं बँध पाये तो आश्चर्य क्या है ?

जीवन का होकर, जीवन से गुजरने का धैर्य कितने लोगों में है ? शास्त्री जो जीवन का होकर सहो जीवन का वास्तविक अनुभव कराने वाले साहित्यकार हैं। अतः उन्होंने जिस जीवन के लिए अपने समग्र जीवन को साहित्य का विषय बनाया है, वह वहो जीवन नहीं है जिस तरह का जीवन जीने के अभ्यासी बन गये हैं हम। जब जीवन का दायरा हो छोटा बनता जा रहा है, तो जोवन का अनन्त प्रवाह हमारी संकीर्णता के कमण्डल में बन्द हो भी तो कैसे ? वादीय प्रतिबद्धता को मनोभावनाएँ हमें उन्मुक्त जीवन की ओर नहीं जाने देतीं। प्रत्येक मोड़ पर भूल-भूलैया है, भटकने की आशंका अधिक है।

शास्त्री जी भटकाने वाले साहित्यकार नहीं हैं। प्रत्येक डग पर सही सीमा का अनुभव कराने वाले सर्जनकार हैं। जीवन में डूब कर जीवन से उबरने वाले कितने हैं ? शास्त्री जी ने स्वयं

लड़कर, स्वयं पर नियन्त्रण करने का अभ्यास किया है। अपनी दिशा का निर्धारण करना और उस दिशा में ही अपनी संभावनाओं की तलाश करना सचमुच विरले में ही देखा गया है। अत: आने-जाने वाले जीवन को जिए हुए जीवन का सही स्वाद देने के लिए हमें अपने जीवन के संकीर्ण परिवेश से मुक्त होना होगा। सही अर्थ में जो रचनाएँ हमारे जीवन के स्तर को ऊँचा उठाना चाहता हैं, उससे गुजर कर ही जीवन का स्वाद चखने का संयम रखना होगा, तभी शास्त्री जी के साहित्य का मर्म समझ पाएंगे।

शास्त्री जी जो जीवन जोत हैं, जिस जीवन के लिए साहित्य के जीवन को सार्थक जीवन की सीमा का स्पर्श कराते हैं—जीवन का सही अंश शास्त्री जी की साहित्य-साधना का प्राण है। शास्त्री जी ने जीवन की मूल्य वत्ता को सीमा की विस्तृत संभा-वनाओं से जोड़ कर देखा है। उन्होंने (बचड़क) स्वीकार किया है—

'विश्व-विजयिनी प्रतिभा हो तो
जीवन का इक कोना लिखना।'

अपने विकास की धुरी को, अपनी तपस्या में संलग्न करने वाले साहित्यकार हैं—शास्त्री जी। फिर भी वे अपने पुरुषार्थ के प्रति इतने आश्वस्त हैं कि उनके मन में प्यार और पुरुषार्थ जीवन का द्वन्द्व बन कर नहीं रहता। उनके पास जीवन-अनुभव का एक ठोस निष्कर्ष है—

मन न तदगत हो, सधेगा प्यार क्या
पार पहुँचा मन, रुचे मझधार क्या?
नीच जो आचार, उच्च विचार क्या?
संकुचित आधार, भाव उदार क्या?

शास्त्री जी का जीवन-दर्शन मूलत: करुण भाव से प्रेरित है। उनके साहित्य का स्थायी भाव करुणा है। शास्त्री जी दु:खवादी कवि नहीं है और न हताश जीवन के आग्रही। व्यापक संवेदना के मानववादी कवि होने के कारण, उनकी आशा में एक स्रोत है, उनकी उदारता में ग्रहणशीलता है, उनके तप में संयम है, उनके मस्तिष्क में खुलापन है, उनके हृदय में उदारता है, मूल्यों के प्रति ग्रहण शीलता का प्रबल भाव होकर भी उनमें कोई-सी रिक्तता है

जिसे वे मानवीय करुणा से भरना चाहते हैं। यही कारण है कि वे मनुष्य जाति के जीवन को ऊँचे भावों से पूर्ण करना चाहते हैं—

दूसरे को दुख न दे, दुख दूर कर,
दूसरे का देख दुख उत्साह भर
यत्न कर सुख दूसरे को दे सके,
डूबती हो नाव, तट तक खे सके!'

कुछ लोग उन्हें परम्परा की एक कड़ी के रूप में देखने के अभ्यासी बन गये हैं। किस परिस्थिति में, किस मन:स्थिति में, किससे और क्यों कोई बात कही जा रही है, उस पर ध्यान नहीं देते। क्या कहा गया है—उसी का सपाट अर्थ लगाने के अभ्यासी बन गये हैं हम। या तो हम दूसरे को सिर्फ दुहरा कर, अपने को पुष्ट करना चाहते हैं अथवा जो कुछ हम जानते हैं, जो कुछ मानते हैं, वही कहना चाहते हैं। रचना से होकर रचना की बात कहने और समझने का अवकाश हो कहाँ है? शास्त्री जी ने निरन्तर अपनी रचनाओं में जीवन की अस्मिता की तलाश की है। उनकी उँची आकांक्षाएँ, उनकी महत्वाकांक्षा की कोई परिणति नहीं ढूँढ़ती, अपितु अन्तर की दाहकता को शुद्ध होकर शुद्धता की सीमा का एहसास दिलाती हैं। 'राधा' के एक स्थल पर उन्होंने लिखा है—

आकांक्षा बन गयी चुनौती,
अपना निर्णय क्या हो?
सोना ही सोना निकलेगा,
जितना अन्तर दाहो।'

शास्त्री जी अन्तर्मन की गहनता द्वारा आत्मा का प्रकाश ढूँढ़ने वाले साहित्यकार हैं। ऊपरी तौर लगता है; कि वे अपने लक्ष्य को निर्धारित किए बगैर सिर्फ गति को जीवन की प्रगति मानते हैं। लेकिन उनको भावुकता में जो सहिष्णुता है, संयम में जो ठहराव है, उनको बुद्धि में जो प्रज्ञा का अकूत संमिश्रण है, वह इस बात का प्रमाण है कि वे सिर्फ यह कह कर ही संतोष करने वाले नहीं कि—'मैं चलूँगा सिर्फ चलने के लिए।' वादीय मान्यताएँ उनके चट्टानी व्यक्तित्व से टक-

राती रही हैं। उनके निन्दक उनकी मन: शक्ति से घबड़ाते रहे हैं और उनकी ऊँचाई और गहराई को किसी पूर्व परम्परा की विरासत सिद्ध करने के लिए हाय तोबा' मचाते हैं। लेकिन शास्त्री जी का स्वयं प्रकाशित मन सदैव ही शिव संकल्पमय पथ का अविश्रांत पथिक बना रहा। प्रकाश से प्रकाश की, प्रकाश से जोवन अनुभव की ओर जीवन अनुभव से मानवीय विकास को चरम परिणति ढूँढ़ने वाला यह कवि आत्म-विश्वास को कभी डिगने नहीं देता--

धारा प्रकाश की उमड़ रही,
काले नभ को चिल्लाने दो,
तुम अपना लक्ष्य गहो बढ़कर,
स्थावर को रोने गाने दो।'

जो लोग प्रचारवाद को ही अपने विस्तार की सोमा बतलाने के अभ्यासी बन गये हैं, जो सिद्धि की अपेक्षा प्रसिद्धि को ही अपने लेखन का साध्य मानते हैं और जिनके मन में मैनुपुलेशन द्वारा, सिर्फ अनुकूलता की सीमा पार करने की बेचैनी है, वैसे लोगों के लिए शास्त्री जी का जीवन दर्शन निश्चय ही नागवार अनुभव देगा। शास्त्री जी अपनी क्षमता का विस्तार करने और अपनी क्षमता में संभावनाओं की तलाश करने के अभ्यासी हैं। उन्होंने अपने मन के संकल्प को अपने आत्म संयम का ठोस आधार दिया है। अत: ठोस धरती की स्थिरता और सहिष्णुता में जो धारणा शक्ति है--वही शक्ति उनकी रचना की ऊर्जा है। उनको व्यक्तिगत रुचि अपने रचना-कर्म को एक रागात्मक मूल्य प्रदान करती है और रागात्मक मूल्यों को मानवीय पहचान।

कई स्थलों पर उनका जीवन-बोध अनुभव को अनुशासन दे रहा है--

(१) ऊँचे चढ़ने का हौंस नहीं,
गिरने का भय न हृदय छूता,
धरती हूँ या आकाश ?- नहीं-
अस्तित्व-मूल्य अपना कूता।'

अथवा

(२) 'डैने फैलाये न कभी;
ऊँची उड़ान भरने को ।'

क्योंकि वे भली भाँती यह महसूस करते हैं कि—

'ठोस मिट्टी पर जनम कर तू खड़ा ।'

अधिक संभव है उन्होंने अपने जीवन से यह निष्कर्ष निकाला हो—

'जाग, तुझको कर्म भूमि जगा रही,
लौट नभ से, सुन बुलाती माँ, मही ।'

शास्त्री जी अपनी संस्कृति की माटी से जुड़ कर ही जीवन को पुरुषार्थ और पुरुषार्थमय जीवन को यथार्थ मनोजगत में देखने के अभ्यास करते हैं।

हीरे की तलाश में मोती की पहचान खोने वाले अधिक होते हैं। यह यथार्थ सच है कि हीरा अमीर उमराव के यहाँ पाया जाता है और मोती फकीरों के यहाँ। शास्त्री जी ने जीवन में जीवन का सही अनुभव लेने के लिए न जाने कितने अंतर्याग किये हैं। यद्यपि उनकी काव्य सिद्धि उनके साहित्य की अनिवार्य शर्त बन गयी है, लेकिन उसका अर्थ यह नहीं कि उन्होंने अपनी सिद्धि को, सिर्फ सिद्धि के विराम में ही विलीन कर दिया है।

शास्त्री जी को शास्त्र कवि सिद्ध करने वाले लोग शास्त्रों की गुत्थियों में ही उलझ कर रह जाते हैं। कुछ लोगों को पंत; प्रसाद, निराला और महादेवी के बाद पाँचवे की गिनती करने में मजा आता है, कुछ लोग घटा-बढ़ाकर चौथे में उन्हें गिनना चाहते हैं। कुछ लोग गर्वोक्ति के साथ यह कहते कभी थकान अनुभव नहीं करते कि उनमें प्रसाद का गांभीर्य निराला की तेजस्विता, पंत की प्रांजलता और महादेवी की सरसता एक साथ ही समाहित हो गयी है। इधर कुछ लोग कविता के तीसरे धरातल की बात उठा रहे हैं। उन्हें नेपाली, दिनकर, अंचल, आरसी, और बच्चन की काव्य प्रवृत्ति के मध्य एक निर्धारित दिशा की ओर शास्त्री जी गतिशील दिखायी देने लगे हैं और कुछ लोग छायावादोत्तर कवि

के रूप में उन्हें देखना पसन्द करने लगे हैं। पंडितों की दृष्टि में वे कालिदास, भवभूति, माघ और जयदेव की परम्परा के कवि हैं तो किसी की दृष्टि में निराला के दूसरे रूप। वेद-वेदान्त, श्रमण लोकायत के साथ शास्त्री जी की सीमा का निर्धारण करने वाले लोगों की भी कमी नहीं है। उनसे सिर्फ मैं यही जानना चाहूंगा कि क्या किसी बने-बनाये फ्रेम अथवा ढाँचे में ही किसी सचेष्ट और जागरूक साहित्यकार को ढाल देना चाहिए? तब उस आकृति की क्या गति होगी, जिसकी स्वतन्त्र प्रकृति ने कला और संस्कृति के मान को, गति और प्रगति की सीमा दी है! यदि पूर्व की सोमा ही अंतिम है तो मनुष्यता को एक डग भी आगे नहीं बढ़ना चाहिए था! समय के साथ व्यक्ति न भी बदले तो अपने संस्कार, रुचि स्वभाव और शील के अनुसार तो उसे बदलना ही पडता है। शास्त्री जी किसो की छाया नहीं है और न किसी निजी संज्ञा की माया।

किसी के समानान्तर, किसी के आगे अथवा पीछे उन्हें खड़ा करने की दुष्प्रवृत्ति समाप्त होनी चाहिए। इतिहास की इतिवृत्तात्मकता समाप्त होनी चाहिए। इतिहास गढ़ने के लिए जिस ऊँचाई को शास्त्री जी ने जीवन की गहराई का स्पर्श दिया वह सिर्फ उनका अपना है। 'श्यामा संगीत' के एक स्थल पर उन्होंने लिखा है—

'निज आलोक–वृत्त में जलते,
जलने दो, ज्वाला न बुझाओ।'

अपने आलोक वृत्त में निरन्तर जलने वाला साधक ही जीवन में नया इतिहास गढ़ता है।

आधुनिक हिन्दी कविता के प्रतीक पुरुष चाहे जो भी हों, शास्त्री जी के शिखर व्यक्तित्व में कोई आँच नहीं आती। यदि प्रयोग ही कविता का निकष हो तो' गाथा' और धूपतरी का प्रयोग एक दूसरे से पृथक होकर भी प्रयोग के स्तर पर अपना विलग महत्व रखता है। 'अर्चना' और 'आराधना'' के भक्ति परक गीतों की तुलना में 'श्यामासंगीत' का अपना भिन्न स्वर है। उसमें कविका आत्म विश्वास कहीं डिगा नहीं है।

कवि की आत्मस्वीकृति में भी संकल्प का तेज भरा है—

मेरा जीवन हो यज्ञ, इसे—

दुनिया नादानी कहे, कहे !'

भारत की मूल प्रकृति अनेकता में एकता का विश्वासी है। अनेकांत से एकांत का अनुभव लेना और एकांत से अनेकांत को विस्तृत मनोजगत में विचरने देना शास्त्री जी का स्वभाव बन गया है। हमारे यहाँ विचारों की एकरूपता की अपेक्षा विचारों की अनेकता को खुलाव का आसन दिया गया है। शास्त्री जी ने भारत की अन्तःप्रकृति को बारीकी से समझा है। भारत की प्रकाशमय संस्कृति को प्रकाश की भाषा में, प्रकाश का सही अनुभव करना ही उनके साहित्य का लक्ष्य है। शास्त्री जी प्रकाश के कवि हैं और उनका प्रकाश 'तम के संघात पर ज्योति – प्रपात' झरने का अनुभव करता है।

शास्त्री जी अन्तर्नाद के कवि हैं। शाश्वत राग को जीवन के ताल में बाँध कर उन्होंने राग की सीमा को प्रज्ञा का विस्तार दिया है। जहाँ जीवन अपने से सबको जोड़ता है, किसी से जुड़ने का संकल्प नहीं संजोता। यह आत्म-विश्वास विरले में ही देखा जाता है। शास्त्री जी का आत्म-विश्वास उनके जीवन-अनुभव के साथ उनके अन्तर्ज्ञान के साथ घुल-मिल गया है। उनके कालजयी उपन्यास कालिदास में आस्था का सौन्दर्य है; वही संस्कृति की व्यापक स्वीकृति। शास्त्री जी का सौन्दर्य बोध हमारी प्रगतिशील जीवन-शैली को परिवर्तन की क्रियाशीलता और क्रियात्मक अनुभव में देखने का आग्रही है। 'राधा' महाकाव्य में परिवर्तनशील जीवन मूल्यों की वैयक्तिक स्वीकृति को अस्वीकार करके शास्त्री जी ने जीवन-बोध का 'महाराग से साक्षात्कार करा दिया है। जहाँ ज्ञान ध्यान का विषय न होकर प्रेम का विषय बन गया है। शास्त्री जी का रचनात्मक संसार उनके व्यक्तित्व से छनकर जीवन के अस्तित्व को, मानव व्यक्तित्व की विलग पहचान देने वाला संसार है। उनमें अपने को खोने की अपेक्षा अपने को पाने की भावना प्रबल रूप से

दिखलायी देती है। शास्त्री जी को समझने, समझकर सोच को सही दिशा की पहचान दिलाने के लिए हमें नये सिरे से उनके मनोविज्ञान को परखना होगा।

संख्या और मात्रा को गुण की सीमा नहीं बतलाया जा सकता। रूप में अरूप को अनुभव करना होगा और अरूपमें रूप का बोध। हमें यह नहीं देखना है कि शास्त्री जी 'हंस बलाका' में किसके माध्यम से किसके विषय में क्या कहना चाहते हैं। अष्टपदी' के केन्द्र में ऊपर से भले ही एक ही व्यक्ति अपनी कलात्मक ऊँचाई में दिखलायी दे रहा है, 'एक असाहित्यिक की डायरी' से देखें या 'स्मृति के वातायन' से—निराला ही निराला दिखलायी देते हैं। सोचना यह है कि प्रसाद, पंत या महादेवी के सम्बन्ध में उन्होंने अपना जो विचार दिया है, क्या वह अपने लिए किसी दूसरे से हीन अथवा श्रेष्ठ होने का अनुभव देता है। शास्त्री जी में आत्मालोचन के साथ उपालंभके भावों की भी अधिकता है। उनका आलोचक उनके आत्मालोचन को शुष्कता की मरुभूमि में नहीं भटकाता, अपितु उसमें मेघ-रंध्र की सांद्रता है।

शास्त्री जी कहाँ खड़े हैं? जहाँ खड़े हैं वहीं खड़ा होकर क्या कहना चाहते हैं? हमारे सोचने के ढंग को, अपनी सोच की कला में जिस प्रकार ढाल कर वे कला को संस्कृति और संस्कृति को प्रगतिशीलता की ओर मोड़ देते हैं इस दृष्टि से भी शास्त्री जी के साहित्य का अध्ययन उचित है।

शास्त्री जी ने अपनी आत्म-कथा एवं संस्मरण में भी भारतीय चिंतन दृष्टि को आधुनिकता का विस्तृत फलक प्रदान किया है। आत्म विश्लेषण उनके लेखन की मुख्य विशेषता है। शास्त्री जी का प्लेटफार्म काफी बड़ा है। वे एक साथ ही बंगला, अंग्रेजी, उर्दू, संस्कृत एवं हिन्दी में होनेवाले परिवर्तनशील मूल्यों पर शुद्ध भारतीय होकर भारतीय ढंग से अपना विचार देते हैं। शास्त्री जी के पास बौद्धिक ऊँचाई के साथ साथ हृदय की गहराई भी है। इन दोनों का समाहार उनकी रसवत्ता में और भी तरल और भी सरस और और भी मधुमय होकर निखार उठता है। शास्त्री जी की लेखन

प्रक्रिया सोच सोच कर लिखने और लिख लिख कर निरन्तर सोच को संयम प्रदान करने की रहती है। वे भारतीय काव्य शास्त्र, सौन्दर्य शास्त्र, मनोविज्ञान और भारतीय समाज शास्त्र को विश्व के स्तर पर तौलते है। वे विश्व की उत्कृष्ट कृतियों की अन्तरआत्मा को बड़ी सावधानी से परखने की कोशिश करते हैं और भारतीय जीवन दृष्टि के साथ उसके साम्य-वैषम्य में अपने मनोराग को सुन्दर आकृति प्रदान करत हैं।

यदि शुद्ध अर्थ में भारत का होकर भारत के सम्बन्ध में उसकी सामाजिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक और कलात्मक ऊँचाइयों तक जाने को तीव्र भावना आपके भीतर कौंध रही है। शास्त्री जी से बड़ा प्रमाण अन्यत्र ढूँढ़ निकालना आसान नहीं। शास्त्री जी की दार्शनिकता में शुष्कता नहीं, जीवन रस की तरलता और अनुभव की सरसता है। वे रस-सिद्ध साहित्यकार हैं। जीवन-दृष्टि के साथ जीवन-शैली के अनोखे चित्रकार हैं वे। सागर की गहराई और हिमालय की ऊँचाई को अलग अलग मापने वाले यह नहीं सोचते कि ये दोनों प्रकृति के ही भिन्न अवयव हैं। शास्त्री जी में प्रकृति की उत्कृष्टता और उसकी रागात्मकता, विचित्र भावमयता के साथ लयबद्ध दिखलायी देती है।

दूसरे बड़ साहित्यकार जहाँ अपने व्यक्तित्व को परस्पर विरोध से बचाने के लिए तर्क और सिद्धान्तों का सहारा लेते हैं। एक खास मूल्य और एक खास सिद्धान्त की पुष्टि के लिए, अपने सिद्धांतों और मान्यताओं के ढाँचे में अपने रचना कर्म को ढाल देते हैं, वहाँ शास्त्री जी गंभीर भावों और ऊँचे विचारों को अपनी आत्मा में घुला-मिलाकर विचार और भावों के बीच सामंजस्य हो नहीं बैठाते, अपितु उसे "कुछ और" के लिए छोड़ देते हैं।

विश्व साहित्य और विश्व चिंतन की उत्कृष्ट जीवन दृष्टि के साथ अपने जीवन अनुभवों को संस्कार देने की बेचैनी उनके मन में बनो रहती है। हाँ, दार्शनिक गंभीरता और आध्यात्मिक सूक्ष्मता के कारण हृदय और बुद्धि दोनों स्तर पर स्वसंवेदन द्वारा ही हम उनकी मनोभूमि तक पहुँच सकते

ह। उन्होंने एक जगह लिखा है—

'चिंतक संवेदनशील नहीं,
निर्णय निष्पक्ष नहीं होगा।'

निर्णय देने के पहले हमें गंभीरता के साथ अपनी गहराइयों की ओर झाँकना होगा। कहते हैं अज्ञात विषय को बतलाने का काम प्रमाण करते हैं। प्रमाण द्वारा ही किसी पूर्व अ का ज्ञान होता है। बौद्ध और जैन मतावलम्वी सम्यक ज्ञान की बातें करते हैं। शास्त्री जी के साहित्य को परखने के लिए 'सम्यक' पर अधिक ध्यान देना होगा। संशय, विपर्यय एवं अध्यवसाय हीन ज्ञान सेगुजर कर उनकी कृतियों की राह पकड़नी होगी। न्याय दर्शन पदार्थ तथा इन्द्रियों के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष मानता है। जैन प्रत्यक्ष के दो भेद मानते हैं—इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष। इन्द्रियों द्वारा नहीं आत्मा द्वारा ही संभव है। वह बाह्य इन्द्रियों के सन्निकर्ष द्वारा संभव नहीं केवल आत्मशक्ति द्वारा अतीन्द्रियों के अनुभूतियों के माध्यम से ही हम वस्तु सत्य तक पहुँच सकते हैं। शास्त्री जी की रचनाओं में दोनों स्थितियाँ है। सामाजिक सांस्कृतिक जीवन अनुभूति के क्षण में यदि वे लिखते हैं—

में अपना सक्षय पराये से,
छाए मेघों से क्या माँगू,
बढ़ते-चढ़ते जो ठहर गई,
उस वय से कहो कहाँ भागूँ ?"

शास्त्री जी आत्मानुभूति की अतीन्द्रियता द्वारा कभी-कभी ऐसी स्थिति ला देते हैं जो भौतिक चाक-चिक्य में पड़े रहने वाले संवेदन शून्य पाठकों को उस अतल गहराई में पैठना

उनके संयम और धैर्य के साथ खिलवाड़ करने जैसा होगा। चित्तवृत्तियों के निरोध की बातें बहुत की गयी है, चित्त की एक ऐसी भी अवस्था होती हैं जब मनोवेग द्वारा भी हम अतीन्द्रिय ज्ञान को अपने अनुभूत ज्ञान के रूप में अनुभव कर लेत हैं।

जीवन को बोझ नहीं 'माना'
तुम तक कि इसी ने पहुँचाया,
जीवन है ज्ञान ध्यान अपना
संकल्प कल्प तरु की छाया।'

शास्त्री जी का मनः संकल्प, भारतीय अध्यात्म विद्या के साथ भारतीय जीवन दृष्टि को सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शुद्ध मानवीय धरातल पर उत्कर्ष की सीमा प्रदान करना भी है। अतः शास्त्री जी के साथ यह नहीं कह सकते कि वे वैसे ही हैं। हाँ, यह अवश्य कह सकत हैं कि वे वैसे भी हैं। 'ही' और "भी" का अन्तर समझ कर ही उनके साहित्य का मूल्यांकन करना उचित होगा। उन्होंने निराला के पन्त्र को भूमिका में एक जगह लिखा है—"मन के उन्नयन द्वारा आत्मा का अन्वेषण करना ही निराला के जीवन का लक्ष्य था।" सच्ची बात तो यह है कि कोई भी प्रौढ़ और गम्भीर कवि आत्मा का अन्वेषण करने के क्रम में जो अनुभव ग्रहण करता है, वही अनुभव उसमें ज्ञान का एक विलग प्रमाण बन जाता है। हाँ, भाव शून्य होकर, मात्र बौद्धिक तर्कों द्वारा हम उस सच्चाई की थाह नहीं पा सकते हैं। अरविन्द और रजनीश को पढ़ने वाले यदि संवेदना और रागात्मकता की भाव धारा में बह जाएँ तो यह रजनीश और अरविन्द की विलक्षण उपलब्धि ही मानी जायेगी।

लेकिन जो लोग रामकृष्ण लौर विवेकानन्द को समझते हैं वे भली-भाँति महसूस करते हैं वि रामकृष्ण देव एक क्षण में जो बातें कह जाते हैं उसके लिए उनलोगों को कइ दिन लग जायेंगे। इसका कारण क्या है? एक मात्र कारण है अतीन्द्रिय स्तर पर उठे मन के भाव की तरल अभिव्यक्ति, शुद्धावस्था का परम साक्षात्कार। वहाँ तर्क और विचार द्वारा नहीं; शुद्ध भावना द्वारा विचार को शक्ति मिलतो है और अनुभव को गति। शास्त्री जी की गंभीरता में यदि भावोच्छवास नहीं रहता तो उनकी भी दुर्गति हो जाती, जैसी दुर्गति सिद्धान्तों और मान्यताओं की घिसी-पिटी लीक पर अपने साहित्य कर्म को सिर्फ प्रचारवादिता से जोड़ने वाले साहित्यकारों की हो रही है। शास्त्री जी को समझने के लिए हमें उन्हीं की पंक्तियों को अपने दृष्टि पथ में रखना होगा —

'भावना, भावना से मिलकर,
रचती जो आत्मा एक नई,
लयमय विवेक, आनन्द छन्द,
सुख में सुख खिलते और कई।'

शास्त्री जी सही अर्थ में 'एक और नई' और 'एक और कई' के साधक हैं।

—०—

कविर्मनीषी के लिए

🙏 रश्मिरेखा

सिद्धार्थ सी करुणा
गौतम सा विराग
बुद्ध सी चेतन प्रखरता
तो जन्मजात-सी मिली थी कवि,
अपनी जन्मभूमि से ;
वह बोधि वृक्ष तो तुम्हीं में साकार है
जहाँ उगती है ज्ञान की संवेदनायें
मिलती है अपार शान्ति
इसीलिए तुम्हारे प्यार के केन्द्र में
केवल मानव ही नहीं अपितु
उससे इतर का भी सारा जीवित संसार है
वनस्पतियों, पशुओं और खगों के साथ
जहाँ संवेदनशील हो उठते हैं जड़-अचेतन भी।
तभी तो लेखनी में है अलौकिक शक्ति
ढलती जाती हैं जिसमें शाश्वत रचनाएं

और वह
अन्त:सलिला तो बहती ही रहती है
जहाँ पनपने लगते हैं अंकुर
उदात्त होने लगते हैं व्यक्तित्व
जनमने लगती है कलायें
उस कविर्मनीषी
उस बोधि वृक्ष
उस पारस कवि
को
मेरा अर्पित नमन

द्वारा
डा० अवधेश कुमार
मिश्रटोली, मुजफ्फरपुर।

डॉ० पद्माशा

शास्त्री जी एक मुकम्मल काव्य-युग हैं

आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री अब सिर्फ उस व्यक्ति का नाम नहीं है जो मुजफ्फरपुर में 'निराला निकेतन' का वासी है, दर्जनों गायों का पालक, गलियों में लावारिस भटकते कुत्ते-बिल्लियों का आश्रयदाता, मदान्धों पर निर्भीक कटाक्ष करने वाला, मित्रों का अभिन्न मित्र, अनुजों का अनकहा अभिभावक एवं निरन्तर गीतों की दुनियाँ में गूँजता हुआ एक अति भावुक संवेदनशील स्वर है। वस्तुतः यह नाम अब प्रतीक बन गया है साहित्य के प्रति अटूट आस्था का, भौतिकता के प्रति वैराग्य का, कवि के रूप में एक अक्खड़ व्यक्तित्व का।

मुझे याद नहीं, मैं शास्त्री जी को कब से जानती हूँ। लेकिन याद करूँ तो ऐसा लगता है जैसे हमेशा से जानती हूँ। कुछ व्यक्तित्व ऐसे होते हैं, जो बिना मिले भी निकटता का बोध कराते हैं, शास्त्री जी का व्यक्तित्व कुछ ऐसा ही है। मुजफ्फरपुर-जैसे अनियोजित ढंग से बसे हुए घनी आबादी वाले शहर के गह्वर में खोया हुआ यह कवि-सम्राट जब कभी प्रगट होता है तो लगता है जैसे अंधेरे से लड़ता हुआ एकाएक सूरज उदय हुआ हो। यह प्रशंसा नहीं, एक सच है कि सूरज की तरह उदित होने के लिए कितने हजारों हजार अंधेरों से जूझना पड़ सकता है किसी मानव को। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री मुझे अक्सर देवदार-वृक्ष की तरह लगे हैं। उजली-क्रूर बर्फ का प्रहार झेलता हुआ देवदार जैसे मौन अड़ा रहता है—बर्फानी चोटों को झेलता हुआ भी निस्संग प्रतीत होता है, कुछ-कुछ वैसा ही।

शास्त्री जी ऊपर से जैसे कटाक्षपूर्ण भंगिमा लिए दिखते हैं—अपने भीतर वे उतने ही कोमल, मधुर और संवेदनशील हैं। यह अहसास कई छिटफुट प्रसंगों में कई बार हुआ है। कई बार ऐसा मौका आया कि मैंने शहर के कवियों, साहित्यकारों को अनौपचारिक गोष्ठियाँ आयोजित की। एक बार ऐसा हुआ कि 'कादम्बिनी' के संपादक श्री राजेन्द्र अवस्थी के सम्मान में मैं अपने आवास पर साहित्यकारों की एक गोष्ठी बुलाना चाहती थी, इस अवसर पर मैंने

शास्त्री जी को आमन्त्रित किया। लोगों के बीच यह चर्चा थी कि शास्त्री जी नहीं आवेंगे। पर मैंने उन्हें जितना जाना था, मुझे पूरा विश्वास था, वे जरूर आयेंगे, और मेरे विश्वास को जीत हुई। मैं उन्हें निमन्त्रित करने गई और वे बड़ी सहजता से, बिना किसी दुविधा के, मान गए, तथा कुछ अस्वस्थ होने के बावजूद तिमंजिले की सीढ़ियां चढ़कर मेरे फ्लैट में पहुँचे और उनके आने से जैसे सब कुछ गुलजार हो गया। मुख्य अतिथि की बातों पर मीठी चुटकियाँ लेते हुए उन्होंने गोष्ठी की अध्यक्षता की। हमारी पसंद की कविताएँ एवं गजलें सुनाकर हमें अभिभूत किया और हमारी अनगढ़ अपरिपक्व रचनाएं सुनकर हमें ऐसी दाद दी कि हमें अच्छी कविता लिखने का भ्रम हो गया। बस, ऐसे ही हैं हमारे कवि-प्राण शास्त्री जी, एक व्यक्ति के रूप में।

मुझे एक और घटना इस प्रसंग में याद है। मैंने अपनी काव्य पुस्तक 'पोखर' पर विचार गोष्ठी आयोजित की थी। जैसा कि होता है—मैं अगर कोई साहित्यिक गोष्ठी करूँ तो बिना शास्त्री जी के उसका अनुष्ठान नहीं होता। वे अगर उपलब्ध नहीं होते तो फिर मैं गोष्ठी नहीं बुलाती। प्रपंचों और स्वार्थों की इस दुनियाँ में बहुत थोड़ी बातें हैं जो मनुष्य के वश में हैं,–वरना हमारी इच्छाओं पर नाग की तरह कुण्डली मार कर बैठा हुआ है विषधर माहौल।

तो यह हुआ कि शास्त्री जी उस गोष्ठी में आये और वहाँ आयोजित कवि सम्मेलन की अध्यक्षता की। वहाँ के शहर के अधिकांश बड़े- छोटे कवि उपस्थित थे। गोष्ठी के संचालक ने जब कवियों का नाम पुकारना शुरू किया तो उनमें से कुछ कवि एक दूसरे से झगड़ पड़े—उनका दावा था कि वे वरिष्ठ कवि हैं अतः उनका नाम उनसे कनिष्ठ कवि से पहले क्यों पुकारा है। और दो कवि तो अपनी वरीयता सिद्ध करते हुए दूसरे को कनिष्ठ बनाने की कोशिश में एक दूसरे से गुँथ ही गए। शास्त्री जी कुछ देर तक कवियों की धींगा-मुश्ती का जायजा लेते रहे और अन्त में उन्हें रोकते हुए बोले कि "चूंकि यहां सबसे छोटा कवि मैं हूँ, अत: मैं ही कवि गोष्ठी की शुरुआत करता हूँ।" यह उदात्त भावना ही

किसी को महान बनाती है जो शास्त्री जी के चरित्र का अभिन्न अंग है। शास्त्री जी के बारे में यह जगजाहिर है कि वे बड़े-बड़े सम्मेलनो में नहीं जाते, अनुचित लगने पर सरकार की दी हुई उपाधियां और रुपये भी मिनटों में ठुकरा देते हैं। किसी से भी दो टूक बात बेझिझक कह सकत हैं। न पद का मोह, न पैसे की फिक्र, न संबंधों के बिगड़ने की परवाह। पर यही शास्त्री जी प्रेम से बुलाये जाने पर छोटी-सी गोष्ठी में भी कच्चे धागे में खिंचे, चले आते हैं—श्रद्धा से देने पर पत्र, पुष्प, कुछ भी हँसकर ले लेते है। बरसों न मिलने पर भी संबंधों की मधुरता निबाहते रहते हैं। मैंने महसूस किया है, अपने युग का यह 'निराला' कवि एक मानवीय संसार की संरचना चुपचाप कर रहा है। जैसे कोई जिद्दी माली किसी रेगिस्तान में चुपचाप फूलों के पौधे लगा रहा हो। हरी दूब उगा रहा हो कि जिसे पानी न मिला तो वह अपने आँसुओं से सींच लेगा। कि सुन लो ऐ संगदिल लोगो, यह दूब उगेगी; ये फूल खिलेंगे।

'शास्त्री जी के पैर की हड्डियाँ टूट गई थीं' और वे दिल्ली ऑल इंडिया मेडिकल संस्थान में भरती थे। मुझे मालूम हुआ—मैं दिल्ली में ही रहती थी। उन दिनों विदेश यात्राओं में इतनी व्यस्त रही कि बहुत दिनों से शास्त्री जी से मिलना नहीं हुआ था। सुना तो देखने चली गई। वहाँ वे बहुत सारे स्वजनों, पत्रकारों से घिरेहुए थे—मुझे देखकर आह्लादित हुए —आने के लिए शुक्रिया अदा करने का एक निराला अन्दाज! मेरे भीतर तीव्र अपराध-बोध हुआ। मैं आखिर किन उपलब्धियों की प्राप्ति के लिए इतनी व्यस्त और बेचैन रही? मैं आखिर क्या पाने के लिए निरन्तर भागदौड़ करती रही कि शास्त्री जी की लम्बी बीमारी में उन्हें कभी देखने तक न जा सकी? एक शहर में आदमी एक दूसरे से इतना बेगाना क्यों है कि उसे सिर्फ अपना दुःख दिखाई देता है। आदमी इतना अकेला क्यों होता जा रहा है, कि अपने निकट पड़ोसी से भी कुछ अपेक्षा रखने का उसे अधिकार नहीं रह गया है?

मुझे लगा कि शास्त्री जी के पैर नहीं टूटे हैं; शास्त्री जी बीमार नहीं हैं; हमारी परम्पराओं के पैर टूट गए; हमारी संस्कृति बीमार हो गई है। जिसकी छाया में हम सब अकेले हो गये हैं; हमारी भावनाएँ, हमारी संवेदनाएँ कहीं खो गई हैं।

युनिवर्सिटी प्रोफेसर,
इतिहास-विभाग,
बिहार विश्वविद्यालय,
विधान परिषद् सदस्या, (M.L.C.) पटना।

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री :
एक संस्मरण

डॉ० मंजर एजाज

आज मैं उस धरती पर हूँ जो महात्मा बुद्ध के निर्वाण की धरती, महान विद्वान चाणक्य के ज्ञान की धरती और सूफी फकीर शरफुद्दीन यहिया मुनेरी के प्रेम एवं साधना को धरतो मानी जाती है और इन्हीं कारणों से विश्व विख्यात है। मेरा सौभाग्य है कि इस धरती की धूल में अपने विचारों के फूल खिलाने का प्रयास कर रहा हूँ। ऐसे दिनों में बीते दिनों की यादें आँखों में जुगनुओं के दिए भी जला जाती हैं। मन में एक कसक-सी उठती है और अपनी चुभन छोड़ जाती है। मुजफ्फरपुर की याद आज भी और अब भी सताती है, जहाँ मैंने अपने जीवन के दो दशक बिताये और समय के सर्दोगर्म झेले।

पर वह मुजफ्फरपुर नहीं जो पेट से बंधे लोगों के आगे लीचो के लिए प्रसिद्ध है, बल्कि वह मुजफ्फरपुर जो साहित्य जगत में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के लिए अपना विशेष स्थान रखता है। मेरे लिए यह गौरव का विषय है कि मुझे आचार्य जी की छत्रछाया में प्रेम, स्नेह और आर्शीवाद का वह वरदान मिला जिसने मेरे विकृत व्यक्तित्व को एक सभ्य और सार्थक आकृति प्रदान की। आचार्य जी एक महान् साहित्यकार होने के साथ-साथ एक महान् पुरुष और महान् व्यक्तित्व हैं। उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व अथवा विचार एवं व्यवहार में कोई द्वैत्य नहीं। हम यहाँ गालिब और इकबाल जैसे कवियों ने ऐसे व्यक्तित्व को मर्दे मोमिम का नाम दिया है :

वफादारी बशर्ते उस्तवारी अस्ले ईमाँ है।

—(गालिब)

निगाहे मर्दे मोमिन से बदल जाती हैं तकदीरें।

—(इकबाल)

आचार्यजी पारस हैं यदि उनसे पत्थर भी छू जाय तो उसका मूल्य परिवर्तन हो जाय। यह मेरा व्यक्तिगत अनुभव है और मैं स्वयं इसका उदाहरण हूँ।

कब और कैसे मैं आचार्यजी के सम्पर्क में आया, अगर यह जोड़ूँ तो हिसाब लम्बा हो जायगा। जबकि समय थोड़ा है और थोड़े समय में अधिक बात नहीं की जा सकती।

१९७२ में जीवन का एक मोड़ काट कर अगले मोड़ पर मैं मुजफ्फरपुर में था, नए वातावरण में समायोजित होने में थोड़ा समय लगा, फिर कुछ परिचय क्षेत्र में विस्तार हुआ, कन्हौली नाका रोड में एक मेडिकल स्टोर्स में सुबह-शाम के अधिक समय बीतने लगे। उन्हीं दिनों अक्सर सुबह-शाम रिक्शे पर एक सुन्दर,आकर्षक एवं अति प्रभावशाली व्यक्ति को आते-जाते देखने लगा। उनके व्यक्तित्व का महत्व इससे ज्ञात होता था कि सवारीपर नजर पड़ते ही बी० जी० स्टोर्स के मालिक जनार्दनजी हों या ग्रीन मेडिकल हॉल के प्रोप्राइटर हबीब साहब या रवि फार्मेसी वाले प्रेम सिंह पारसनाथ पाण्डेय, सभी लोग "बाअदब बामुलाहिजा" हो जाते थे, नजर मिल गई तो प्रणाम और आदाब के विनम्र और विनीत भाव भी देखे जाते। कभी किसी दुकान के सामने किसी सामान या दवा के लिए रिक्शा रुक जाता तो स्टाफ बेराण्डा से उतर कर सड़क पर रिक्शे के पास कदमों में खड़े हो जाते। आज्ञापालन के अन्दाज में भक्ति का भाव मिल जाता। ऐसे में कोई नया एवं अपरिचित व्यक्ति अपनी उत्सुकता को दबा नहीं सकता—तभी मालूम हुआ, हबीब साहब ने बताया "ये शास्त्रीजी हैं,—आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री।" और मेरा ध्यान पीछे की ओर चला गया—नाम सुना हुआ लगा। हायर सेकेण्डरी के हिन्दी कोर्स में मैंने आचार्यजी की कविता पढ़ी थी। और फिर जिस तरह कोई प्यासा हसरत भी निगाह से पानी की तस्वीर

देखे, मैं उन्हें आते-जाते देखता रहा। शायरी का अंकुर जो स्कूली जीवन में गांव में फूटने लगा था, पर प्रतिकूल वातावरण होने के कारण हमेशा मुर्झा जाता, अब फिर मुर्झाये हुए अंकुर में शाखें फूटने लगीं, जबकि वातावरण अभी भी अनुकूल नहीं हुआ था।

और फिर :

इश्क सच्चा हो तो बन्दे को खुदा मिलता है—देर या सवेर निराला निकेतन के द्वार मेरे लिए खुल गए। निराला निकेतन के प्रांगण में पहुँचकर जैसे ग्रामीण क्षेत्र के प्राकृतिक वातावरण में पहुँच गया। मैं फिर हसरत भरी निगाहों से अनदेखे कदमों के वो निशान ढूँढ़ने लगा जो महाकवि निराला और पृथ्वीराज कपूर जैसी महान हस्तियों ने छोड़े थे। पृथ्वीराज कपूर, आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री और निराला निकेतन के सयोग से जन्म लेनेवाली कहानी हबीब साहब खूब लुत्फ ले-लेकर बयान करते थे। मेरे लिए निराला निकेतन घर-आंगन बन गया, मेरा व्यक्तित्व अपने पर फैलाने लगा, और अपना रूप निखारने लगा। मेरी विकृतियाँ संस्कृत होने लगी। मेरी निरर्थकता सार्थकता में परिवर्तित होने लगी। मुझमें विद्यार्थी के साथ-साथ एक कवि का रूप, एक आलोचक का रूप, एक सम्पादक का रूप भी निखरा, ईश्वर की कृपा, आचार्यजी का आशीर्वाद और उनके उपकारों को नहीं भूल सकता। मुझे उनसे इतना प्रेम और इतना प्रोत्साहन मिला कि मैं क्या से क्या होने लगा और आज तक जो कुछ हो चुका हूँ, उसमें ईश्वर की कृपा के साथ-साथ आचार्यजी का असीम स्नेह एवं आशीर्वाद भी शामिल है। जैसे किसी पिता को अपने पुत्र के वर्तमान एवं भविष्य की चिन्ता होती है, वैसी ही चिन्ता आचार्य जी को मेरी नौकरी-चाकरी और घर-बार तक के लिए रही, मेरे पिता का जब देहान्त हुआ था, तो मैं बहुत छोटा था, बहुत ही धुँधले से साये की तरह उनका चेहरा याद है। अपने दुख-दर्द के समय अक्सर एहसास होता कि मेरे पिता होते तो मेरा जीवन इतना कठिन न होता। आचार्यजी के सम्पर्क में आने के बाद पिता की कमी का एहसास दूर-सा हो जाता था। उन्होंने मुझे दिलासा और सहारा देकर मुझे टूटने-बिखरने से बचा लिया।

आचार्यजी का मन यूं भी इन्सानियत के दर्द से भरा मुहब्बत का असीम सागर है। उनके दम से निराला निकेतन प्रेमाश्रम बन चुका है। प्रेम की डोर में कुत्ते, बिल्ली और गायें सब बन्धे हैं, हद तो यह है कि गोरैयों और मैनाओं का काफिला उतरता है तो प्रेम का प्रसाद पाने को आकाश तक झुकता हुआ महसूस होता है। जब वे दाना छिड़कते हैं तो लगता है क्षितिज पर चांद-सितारों की कलियाँ खिल उठी हों। मानव से लेकर जीव-जन्तुओं और पशु-पक्षियों के साथ हर आन आचार्यजी की एक नई शान दिखाई देती है। साहित्य, कला एवं साधना की उद्भव-मूर्ति के आगे आगन्तुक का मन नतमस्तक हो जाता है। कोई पाँव छूकर प्रणाम करता है। मैं अदब और एहजाम के साथ आदाब बजलाता हूँ। यह सिलसिला आज भी जारी है।

नई पीढ़ी के साहित्यकर्मियों पर आचार्यजी का विशेष उपकार है। उन्होंने अपनी मासिक पत्रिका "बेला" के माध्यम से नई पीढ़ी को काफी प्रोत्साहित किया है। यहाँ तक कि उर्दू साहित्य एवं भाषा के मुझ-जैसे अल्पायु और अपरिपक्व कवियों और कहानीकारों को भी बेला में सुरुचिपूर्ण छापकर उन्हें फलने-फूलने का अवसर प्रदान किया है। मुझ पर तो हमेशा उनकी विशेष कृपा रही। मुझे न केवल बेला के प्रारम्भिक चरण से बेला में छपने का अवसर मिला बल्कि निराला निकेतन में आयोजित होनेवाली कविगोष्ठियों में कई बार सदारत की मसनद पर बिठाल कर ऐसी इनायत और ऐसी मुहब्बत की मिशाल पेश की गई, जिसके काबिल मैं आज भी नहीं हूँ।

उर्दू भाषा और साहित्य और उर्दू भाषियों और साहित्यकारों से भी आचार्यजी का जो सम्बन्ध है वह ढकी-छुपी बात नहीं। मीर, गालिब, हाली, अकबर, इकबाल, जोश, जिगर, फिराक, यहाँ तक कि कलीमुद्दीन अहमद भी उनकी नजरों से ओझल नहीं, फिराक साहब पर उन्होंने मेरी गुजारिश का पास रखते हुए एक लेख "इन-ए-कास" फिराक नम्बर के लिए लिखा था। फिराक नम्बर की मूल्य वृद्धि में इसका विशेष स्थान है, इसकी एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि उर्दू भाषा नागरी लिपि में लिखी गई।

मैंने फिराक नम्बर में इसका अनुवाद नहीं बल्कि रूपान्तरण प्रकाशित किया। लगभग दो वर्ष पहले बेला के किसी अंक में अपने मूल-रूप में यह लेख प्रकाशित हुआ था। इसे देख कर उर्दू का कोई भी साहित्यकार यह नहीं कह सकता कि यह किसी हिन्दी भाषी, विशेषकर नई पीढ़ी को आश्चर्य होगा कि आचार्यजी ने हिन्दी लिपि में उर्दू भाषा लिखी है। मुझे अफसोस है कि "इन-ए-कास" का फिर कोई महत्वपूर्ण विशेषांक प्रकाशित न कर सका। अगर यह सिलसिला चल निकलता तो मैं उनसे कई महत्वपूर्ण लेख लिखवा कर उर्दू साहित्य के विकास और हिन्दी भाषा के प्रसार का माध्यम बन सकता था।

मैं माध्यम बना कुछ लोगों के लिए। ऐसे लोगों के लिए जो समय-समय पर आचार्यजी के दर्शन की अभिलाषा रखते थे। प्रो० शमीम अहमद साहब बिहार विश्वविद्यालय में उर्दू के अध्यक्ष थे। आचार्यजी के परिचित पात्रों में थे, फिर उनका तबादला भागलपुर विश्वविद्यालय में हो गया, पर मुजफ्फरपुर से सम्बन्ध बिल्कुल टूट नहीं गया। एक बार कुछ मित्रों के साथ मुजफ्फरपुर आये तो आचार्यजी से मिलने का प्रोग्राम बनाया, इस अवसर पर अगवानी के लिए मुझे विशेष रूप से साथ ले लिया। शमीम साहब आगे चलकर मिथिला विश्वविद्यालय के प्रोवाइस चांसलर और फिर चांसलर भी हुए, इन दिनों बिहार विश्वविद्यालय सेवा आयोग के सदस्य हैं, पर आज भी मुजफ्फरपुर का जिक्र आता है तो आचार्यजी का समाचार जरूर मालूम करते हैं।

जस्टिस शमीम अहसन साहब जब मुजफ्फरपुर में एडीशनल डिस्ट्रिक्ट ऐण्ड शेषण जज थे तो एक बार उन्होंने आचार्यजी से मिलने की इच्छा प्रकट की थी। मुझसे आग्रह किया कि मैं उन्हें आचार्यजी से मिलवाऊँ। मैं टाल नहीं सका, समय का निर्धारण भी हो गया, मैं पहुँचा तो संयोग से उनके यहाँ कुछ अतिथि आये हुए थे, वे व्यस्त थे। अपनी विवशता प्रकट करते हुए उन्होंने पूर्व निर्धारित समय को किसी अगले समय में परिवर्तित कर दिया, संयोग से अब मैं किसी विशेष काम में व्यस्त हो गया और उनके काम न आ सका। वे जब यहीं डिस्ट्रिक्ट जज

बनकर आये तो किसी अवसर पर दबी जबान में मुझसे शिकायत की और मैं अन्दर-ही-अन्दर शर्मिदा हो गया।

कुछ और लोगों ने भी ऐसी इच्छा प्रकट की और मैं उन्हें आचार्य जी के पास ले गया पर बहुत लोगों को (स्त्री-पुरुष) न ले जा सका, इसका अफसोस है। ऐसे लोगों का कोई ओर-छोर नहीं, जो आचार्यजी के प्रति प्रेम और भक्ति की भावना रखते हैं। बहुत लोग तो ऐसे है जिन्होंने उन्हें आमने-सामने कभी देखा ही नहीं है, केवल उनके बारे में सुना है। ऐसे लोगों में अधिक संख्या उनलोगों की है जिनका साहित्य से कोई संबंध नहीं है। उनकी भाषा, जाति, वर्ण एवं धर्म में भी भिन्नता है, वे विभिन्न क्षेत्र, भाषा, परम्परा और धर्म के लोग हैं। आचार्यजी की ऐसी लोकप्रियता का आधार क्या है ? क्या यह केवल ईश्वर की देन है या आचार्यजी के प्रेम और साधना का प्रतिफल ? व्यक्ति तो इस कम उम्र में भी मैंने बहुत देखे हैं, ऐसा कोई दूसरा व्यक्ति और व्यक्तित्व नहीं देखा। और यह भी सच है कि जितना देखा, अपनी दृष्ठि ओर क्षमता भर ही देखा। अतः इसे भी मैं अपना सौभाग्य ही मानता हूँ।

मैं आचार्यजी की रचनाएं पढ़कर उनसे लाभ न उठा सका, इसलिए कि मैं इस योग्य नहीं और मुझ इसका बेहद मलाल है, वैसे खुशी इस बात की है कि उनके चरणों में बैठकर उन्हें सुनने का अवसर प्राप्त होता रहा और इसका मुझे लाभ मिलता रहा, आज भी मिल रहा है।

जब से आचार्यजी के सम्पर्क में आया तब से उन्हें अनौपचारिक रूप से सुनता आ रहा हूँ। कई बार उन्हें औपचारिक रुप से भी सुनने का अवसर मिला, जिनमें से दो बहुत ही महत्वपूर्ण और यादगार हैं।

सन् १९८२ की बात है। रघुपति सहाय फिराक गोरखपुरी साहब के मरणोपरात उनको याद में ऑल इण्डिया मुशायरा रोट्री क्लब, मुजफ्फरपुर में आयोजित किया गया। मोईन अहसन जज्बी, मजरुह सुल्तानपुरी, काजी अब्दुरसत्तार, फदमोदा रेयाज, बरखा रानो, मल्लिक जादा मंजर अहमद-जैसे प्रसिद्ध शायरों ने भाग लिया, स्थानीय कवियों औ शायरों को न के बराबर ही

आमन्त्रित किया गया था, इक्का दुक्का लोगों में आचार्यजी भी थे और मैं भी था। होस्ट होने के नाते स्थानीय शायरों से ही मुशायरा का शुभारम्भ किया गया। मंझे हुए एनाउन्सर डॉ० मलिकजादा मंजूर अहमद को संचालन का भार सौंपा गया था, मुशायरा शुरू तो हो गया था पर अभी शबाब पर नहीं आया था। मैं भी अपनी एक गजल सुनाकर फुर्सत पा चुका था इतने में एक छोटी-सी पर प्रभावशाली भूमिका के साथ एनाउन्सर ने आचार्यजी के नाम का उद्‌घोष किया और पाण्डाल में तालियों की गड़गड़ाहट गूँज उठी। आचार्यजी अपने स्थान से उठे। लम्बी, चौड़ी, सुन्दर, आकर्षक आकृति, गर्मी का दिन था, वे शेरवानी कुर्ता में ही थे। ललाट पर विशेष आभा, पोर-पोर में कला की मादकता और सुन्दरता छलकी पड़ती थी। इकट्ठे कई मिली-जुली आवाजें खास अन्दाज में उभरीं, "आइए-आइए, तशरीफ लाइए। मंच पर रास्ता देने के लिए कुछ लोग दायें-बायें हो गये। आचार्यजी जब माइक के सामने पहुँच गए तो फिर एक बार तालियों की गड़गड़ाहट से वातावरण झंकृत हो उठा, और फिर आचार्यजी के गुनगुनाहट के प्रारम्भ होते ही वातावरण बिल्कुल शान्त हो गया। उन्होंने मौके की नजाकत देखते हुए अपनी एक हसीन गजल शुरू की, उनके स्वर में भी वैसा ही जादू था। हर शेर पर वाह-वाह, और तालियों की आवाज गूँजती रही। ए० आइ० आर०, पटना ने यह पूरा मुशायरा टेप किया था, थोड़े-थोड़े दिनों पर यह प्रोगाम पटना से प्रसारित होता रहता है और आज भी जीवन के सौन्दर्य और कला के सुगन्ध में रची-बसी यह गजल सुनाई पड़ती है, साथ-साथ वाह-वाह और तालियों की गूँज भी।

एक बार और उन्हें जमकर सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इससे पहले भी सुनता रहा था और बाद में भी सुनता रहा, पर इतना कभी न सुना।

राजभाषा, बिहार सरकार की ओर से डॉ० राजेन्द्र प्रसाद शिखर पुरस्कार १९८८-८९ के लिए आचार्यजी के नाम एलान किया गया था। एक भव्य समारोह में पुरस्कार की एक लाख की राशि चेक पुरस्कार दिया, इसके अतिरिक्त ताम्रपत्र आदि से विभूषित किया गया। इस आयोजन का मुझे पहले से पता था।

उन दिनों संयोग से मैं पटने ही में था। निर्धारित समय पर समारोह स्थल ए० जी० ऑफिस पहुँच गया। दर्शकों और श्रोताओं एवं आचार्य-भक्तों की भीड़ उमड़ी पड़ रही थी। उद्घाटनकर्ता, तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री सत्येन्द्र नारायण सिंह आ गए, सभाध्यक्ष, राजभाषा एवं जलसंसाधन मंत्री श्री कृष्णानन्द झा आ गए, राजभाषा के निदेशक श्री भगवती शरण मिश्र, राजभाषा के सचिव श्री रमाशंकर तिवारी और दूसरे पदाधिकारीगण तो और भी पहले आ गए थे, पर आचार्यजी के आने में देर हुई। बार-बार थोड़ी-थोड़ी देर पर सूचना मिलती रही —"आने ही वाले हैं।" इसी बीच पता चला कि दरअसल आचार्यजी कुछ अस्वस्थ हो गए हैं, विलम्ब का कारण यही है, फिर भी वे आ ही चले। वे सचमुच अस्वस्थ थे और विलम्ब का कारण भी यही था। संयोजकगण चौकन्ने हो रहे थे कि कहीं ऐसी बात न हो जाय जिससे कि वे पुरस्कार को ठुकरा कर उधर से हीं चल दें। इन्हीं शंकाओं और दुविधाओं में भीड़ पड़ी थी कि आचार्यजी को लेने के लिए जो कार भेजी गई थी, वह आती दिखाई दी और फिर गोया वीराने में बहार आ गई, लोगों की बाँछे खिल उठीं। वे अगरचे अस्वस्थ थे, पर जिस आन-बान से उन्हें लाया गया था, निराली शान की झलक ही कुछ और थी जो कार के शीशे से दिखायी दे गई थी, भीड़ कार के पीछे-पीछे दौड़ी, पोर्टिको में कार रुकी तो भीड़ में सबसे आगे डॉ० पदमाशा झा थीं और मैं शायद पीछे रह गया था।

□

देर तो काफी हो चुकी थी, फिर भी सारी औपचारिकताएं पूरी की गई; तब श्रोतागण बेचैनी से आचार्यजी के माइक पर आने की प्रतीक्षा करते रहे, मुख्यमंत्री, सभापति और अन्य मंत्रियों एवं पदाधिकारियों के भाषण के बाद आचार्यजी की बारी आई, उन्हें भी भाषण करना था, फिर काव्य पाठ भी जबकि उनका गला लगा हुआ था, आवाज बुरी तरह फँसी हुई और भारी हो रही थी। इसके बावजूद विशेष अतिथिगण और सामान्य श्रोता उन्हें सुनने के लिए व्याकुल हो रहे थे।

आचार्यजी ने यह स्पष्ट करते हुए कि वे अस्वस्थ हैं और अधिक नहीं बोल सकते, अपना भाषण शुरू किया, फिर भाषण समाप्त होने पर कविता पाठ, वहाँ भी ऐसा समाँ बँधा कि लाग मंत्रमुग्ध होकर सुनते रहे। एक के बाद एक। यह सयाग हो था कि मंच पर आने तक आचार्यजा वास्तव में अस्वस्थ थे, गला फँसा हुआ, आवाज लगो हुई। पर न जाने कैसे फँसा हुआ गला साफ हो गया और लगी हुई आवाज न केवल खुल गई बल्कि श्रोताओं के कानों में अमृत घोलने लगी यह प्रोग्राम अपने सम्भावित समय की सीमा लांघ गया।

आचार्यजी के कलात्मक व्यक्तित्व की यह एक मुख्य विशेषता है कि जब देखिए एक नई शान और जब सुनिए एक नया अन्दाज़, नजर को भाने वाला, मन को ललचाने वाला, सपनों की लोरियाँ देकर सुनाने वाला और आत्मा को थपथपा कर जगाने वाला।

जब-जब उन्हें सुना- देखा, बातें कीं, उन पर कुछ-न-कुछ लिखने की इच्छा अवश्य हुई पर साहस कभी न हो सका। एक बार अपने एक लेख में उनकी गजलकारी पर दो-चार पक्तियों से अधिक न लिख सका, यह दबी हुई इच्छा आज भी सिर उठाती है, और प्रयास करने बैठता हूँ तो बटोरा हुआ साहस बिखर जाता है। इसके लिए भी शायद ईश्वर की कृपा और आचार्यजी का आशीर्वाद चाहिए, इसके बिना मेरी इच्छा पूरी नहीं हो सकती, ऐसा ही लगता है।

□

अध्यक्ष, उर्दू विभाग,
एस० यू० कॉलेज, हिलसा (नालन्दा)

अवन्तिका ; एक विवेचन

—डॉ० मिथिलेश कुमारी मिश्र एम० ए०-त्रय

हिन्दी साहित्य के विकास में बिहार के जिन अगुलिगण्य मनीषियों का अप्रतिम योगदान रहा है उनमें आचार्य जानकी बल्लभ शास्त्री के साहित्य वैभव की विशालता का उल्लेख केवल गुणवत्ता की दृष्टि से ही नहीं, सर्वाच्छादी प्रभान्विति के कारण भी आवश्यक है। इनकी रचनाओं के मूल में शाश्वत मनाभावों की युगानुरूप अभिव्यक्ति के साथ-साथ साहित्य में स्तरीयता अक्षुण्ण बनाये रखने का सतत प्रयास दर्शनीय है। आठवें दशक की परिधि में भी अपनी रचनाधर्मिता को सबल स्वर और प्रबल ओज से महिमामंडित करते हुए इनका साहित्यिक-शौर्य जिस प्रकार निखर रहा है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि इस साहित्य-मनीषी के प्राज्ञ-पंखों का उन्मुक्त विस्तारण हो चुका है और वह वस्तुतः साहित्य देव की उपाधि आयत्त कर चुका है। पांडित्य-प्रदर्शन के लोभ से विरहित इस साहित्य-संन्यासा को अपने निजी स्वत्व का सम्यकबोध हो चुका है, इसलिए न राग उसे बाँध पाते हैं और न द्वंद्व न उसे काट पाते हैं। साहित्य सृजन के पथ पर उनकी निर्भीक चाल में विचित्र तटस्थता और उन्मुक्तता है। समय की कुटिल चाल एवं वक्रभंगिमा के दुष्प्रभावों का अपना समर्थ लेखनी की स्याही में विरजक तत्व डालकर पूर्णतः निष्प्र-भावी कर देने की प्रवीणता उसे प्राप्त हो चुकी है, इसलिए निन्दा-स्तुति से न उसे वैर है और न भय। निष्काम साहित्य-सृजन ही इस साहित्य संत की साधना है।

संस्कृत एवं हिन्दी साहित्य को अपनी कृतियों से सम्पन्न करनेवाले इस आचार्य की प्रायः सभी रचनाएँ कोशशिलात्मक महत्व की है। काव्य, गीति नाट्य, उपन्यास, संस्मरण, निबंध, आलो-चनात्मक साहित्य आदि साहित्य की विविध विधाओं में इनके

यशस्य अवदान से संपूर्ण साहित्य-जगत् सुपरिचित एवं उपकृत है। काव्य साहित्य की सर्वाधिक लोकप्रिय एवं प्रभावोत्पादक विधा है। इस विधा में "रूप-अरूप", "तीर-तरंग", "शिप्रा", "अवन्तिका", "वैशाली", "धूपतरी", "श्याम संगीत" सदृश काव्य संग्रह एवं "राधा" के समान महाकाव्य की रचना शास्त्री जी की बहुपथीन मतिमत्ता का परिगण्यनि दर्शन है। इसी प्रकार "पाषाणी", "तमसा", इरावती जैसे गीति नाट्य "एक किरण : सौ झाइयाँ" "दो तिनकों का घोसला", "कानन", "अपर्णा", "लीलाकमल", "सत्यकाम" सदृश कथा साहित्य "देवी", "जिंदगी", आदमी, नील झ ल, समान नाटक, "स्मृति के वातायन", "नाट्य सम्राट पृथ्वी राज", "हंस-बलाका", कर्मक्षेत्र मरुक्षेत्र", "एक असाहित्यिक की डायरी" की कोटि के संस्मरण, "साहित्य-दर्शन", "चिन्ताधारा" "त्रयी" और "प्राच्य साहित्य" की भाँति आलोचनात्मक साहित्य तथा "मन की बात" और "जो न बिक सकी" सदृश निबंध इस कथ्य के प्रत्यक्ष उद्घोषक हैं कि आचार्य शास्त्री ने साहित्य की प्राय: सभी विधाओं में स्तरीय रचनाओं का प्रणयन कर मील का पत्थर गाड़ने का कार्य किया है। "अश्वबुद्ध" और "कालिदास" सदृश शास्त्री जी की वरेण्य कृतियाँ, जिनमें उपन्यास साहित्य के क्षितिज को भरपूर पकड़ने का ही नहीं, उसे झकझोरने का भी प्रयास हुआ है। कालिदास वेला में क्रमश: प्रकाशित हो रहा है।

शास्त्री जी के सम्पूर्ण साहित्य का क्या एक विधा में लिखित साहित्य का संक्षेप-सार भी एक निबंध में प्रस्तुत करना कोरी प्रवंचना होगी। इसलिए उनके केवल एक काव्य-संग्रह "अवन्तिका" को ही मैंने अपने अध्ययन-मनन का आधार बनाया है। १९९४ में किसी काव्यकार की वैसी काव्यकृति को अपने मनन-चिंतन का आधार बनाना जिसका प्रकाशन १९५३ में हुआ हो और जिसमें १९३४ से लेकर १९५१ तक की ही कविताएं संग्रहीत हों, क्या आपको बेतुका नहीं लगता है।

आज से ५-६ दशक पूर्व रचित कविताओं को संबल बनाकर शास्त्री जी की काव्य-कला का निरीक्षण परीक्षण करना उनके पश्चात्‌वर्ती सुविकसित स्वरूप को नजर-अंदाज करने जैसा नहीं है इस सम्बन्ध में मेरी स्पष्ट मान्यता है कि १९३४-५१ के

बोध रचित "अवन्तिका" की कविताओं में जो ताजगी स्फूर्ति, विस्मयता, तन्मयता, प्रवीणता, विदग्धता, संजीदगी, संवेदना, जीवनानुभूति की गंभीरता, भावों की सूक्ष्मता, शिल्प की महार्घता देखने को मिलती है उससे ऐसा प्रतिभासित होता है कि आचार्य शास्त्री प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी की परम्परा को सुसमृद्ध करने वाले ऐसे हस्ताक्षर हैं जिनको अनन्यता आज भी क्षुण्ण नहीं हो पायी है।

१९५३ में प्रकाशित काव्य संग्रह "अवन्तिका" में खृष्टाब्द १९३४ से लेकर खृष्टाब्द १९५१ तक शास्त्री जी विरचित कविताएँ संगृहीत हैं। यह आचार्य शास्त्री की ऐसी काव्यकृति है जिसमें कवि के प्रातिभ-ज्ञान एवं दिव्य कल्पना-शक्ति का बहुविध विकास हुआ है। जीवन के कटु-मधु अनुभवों में स्वानुभूति की चाशनी मिलाकर कवि ने ऐसा सुपेय घोल तैयार किया है जिसमें लोक एवं लोकेतर क्षुधा की परितृप्ति की अनिर्वचनीय क्षमता है। "अवन्तिका का शाब्दिक अर्थ चाहे स्वर्गिक सुखप्रदायी नगर हो या सुधारस सेवनी सुरसरिता हो किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि यह कवि की दिव्य काव्य-यात्रा का ऐसा पड़ाव है जहाँ छायावादी प्रवृत्तियों के परिप्रक्ष्य में शाश्वत जीवन तत्वों का सम्यक् विवेचन-विश्लेषण हुआ है। महाकवि शास्त्री ने चतुर गोताखोर की भाँति भारतीय जीवनादर्शों से अमूल्य रत्नों को चुनकर अपने उपभोक्ताओं के लिए सुरभित गुलदस्ता तैयार किया है जिसमें केवल मोहक गन्ध ही नहीं प्रत्युत प्रयोक्तव्य सिद्धान्तों का "सूत्रे मणिगण इव" संयोजन भी है। इस संदर्भ में प्राज्ञप्रौढ़ समीक्षक आचार्य नलिन विलोचन शर्मा की सारगर्भित टिप्पणी उद्धृत करने का लोभ मुझसे संवरित नहीं हो रहा है। आचार्य शर्मा ने लिखा है—प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी के बाद हिन्दी कविता की निर्झरिणी समतल भूमि पर प्रवाहित होने लगी और अनेक धाराओं में। इनमें से जिस एक सदानीरा धारा ने तट-तरु का उच्छेद किए बिना अपने को उर्वर और स्निग्ध बनाया, दिशाओं को अपनी कलध्वनि से मुखरित किया, वह स्रोत से कभी विच्छिन्न भी नहीं हुई। इस धारा के भगीरथ आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री हैं। यदि प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी के बाद

मुझे हठात् पांचवां नाम लेने को कहा जाय तो वह नाम शास्त्री जी का ही होगा।

इस बहुचर्चित काव्यकृति में प्रकृति, प्रेम, दर्शन और जीवनानुभूति संबंधी मार्मिक कविताओं का ऐसा वितान खड़ा किया गया है कि पाठकों को हिन्दी काव्य के सभी महत्वों का दर्शन इस मंडप में हो जाता है।

प्रकृति मानव की सहचरी ही नहीं, उसके जीवन-मार्ग की निर्देशिका भी है। प्रकृति इसलिए दर्शनग्रंथों में ईश्वर के रूप में ख्यापित विशद सत्ता का पर्याय मानी गई है। प्रकृति के हर चित्र में मानव जीवन की तस्वीर और प्रकृति की हर क्रीड़ा में मानवीय क्रियाकलापों की अभिव्यक्ति है। कवि की आँखें सर्प की आँखें होती हैं जिनमें उसके सम्मुख उपस्थित हर चीज की तस्वीर प्रत्यंकित हो जाती है। इन तस्वीरों को अपनी वाणी प्रदान कर कवि प्रकृति के विविध पक्षों का रहस्योद्घाटन करता है। "बाल-विहग", "वन-सुमन", "चार-चाँद", "एक विहग" आदि गीति-कविताओं में प्रकृति की ऐसी ही भावभूमि का चित्रांकन हुआ है। कुछेक उदाहरण ही अलम् होंगे —

पीला चाँद हुआ जाता है, गीला मेरा मुखड़ा
सुख सुनने को आकुल अग-जग, किसे सुनाऊँ दुखड़ा

× ×

वह क्या जाने टिका गगन-मन किसके अहा सहारे।
मेरे स्वप्न-सिन्धु के बुदबुद-से लगते ये तारे।
उसे ज्ञात मत हो कि उसी से रात बढ़ती-घटतीं।
उसकी उजली परिछाई में काली घड़ियाँ कटतीं।
कड़ा न कर सकता अब जी को, जीवन से मन उखड़ा।
मैं न चाँद का देख सकूँगा पीला-पीला मुखड़ा।

(अवन्तिका— पृ० ४७)

"वन-सुमन" में आचार्य शास्त्री को इस कृतघ्न संसार के उपकृतयों की प्रतिच्छाया स्पष्ट दिखलायी पड़ती है—

---

१. आ० जानकी वल्लभ शास्त्री—अवन्तिका का "साकेत"

विजन वन का सुमन हूँ मं, सुरभि अपनो सजाए।
भ्रमर के गान से अनजान प्राणों को भिगोए।

\+ + +

लगाने जो कहूँ उर से, सुई कोई चुभोए
विजन का वन सुमन हूँ मैं, सुरभि अपनी संजोए॥

(अवन्तिका पृ० ४४-४५)

प्रेम ही सृष्टि का मूलभूत कारण है। इसी के बल पर सपूर्ण दुष्कृतियां का हनन और मानमर्दन होता रहा है। इसमें सत्वोद्रेक का बहुलांश भले ही अन्तर्क्षिप्त रहता हो किन्तु उसकी चहारदीवारी में उत्पन्न सजातीय अन्तर्भावनाएँ हमारे अन्तस्तल को सतत अपने परिमार्जक तत्वों से प्रमाजित करता रहत है। यह आत्मा का संदेशवाहक, सद्वृत्तियों का परिचालक और भावनाओं का धारक है। कर्म, धर्म के कर्ता और भोक्ता रूप में इसकी प्रेरणादायिनो शक्ति ही सदा सत्पथ तथा सदाचरण की ओर खींचती रहती है। "अवन्तिका" में प्रेम के इस दिव्य स्वरूप का यथार्थांकन भी द्रष्टव्य है—

पुतलियाँ बन्द हैं पलकों में
या उतर गई हैं अन्तर में?
तुम अपने को क्यों देख रहे
भीतर-बाहर के अन्तर में?
मैं अपने को यदि देख सकूँ
इस भाँति तुम्हारी आँखों से
कट जाए दुई, इकाई भी,
मिल जाऊँ मैं तो लाखों से।

(अवन्तिका पृ० ४६-४७)

द्वित्व का लोप ही प्रेम का उद्देश्य और आधार है।

रूप के आकर्षण और प्रेम के नैसर्गिक सम्मोहन का स्वरूपांकन करते हुए कवि कहता है—

रूप— रूप धूप निर्धूम, सुरभि से ही पहचाना जाता,
रूप बाँसुरी-साँस, दूर से धुन सुन मन अकुलाता

हर काव्यकार एवं काव्यकृति का एक निश्चित जीवन-दर्शन होता है। वही जीवन दर्शन उद्दीप्त और आविष्ट करता है और

कृतिकार उसी जीवन-दर्शन को संरेखित करते हुए अपनी भावना को शब्दों में अन्तर्ग्रथित करता है। जीवन-संसार के इसी यथार्थ एवं सहज भावाभिव्यक्ति का जग-प्रकाशन ही "कविकर्म,, है।

रूप अमल आकाश, पिपासा मिटा रहा आँखों की,
रूप हवा की नमी, कसकती हुई कमी पाँखों की।

× × ×

प्रेम— मानव मन की मुक्ति प्रेम है, उक्ति मौन प्राणों की
मिट्टी की वसुधा पर झरती सुधा दिव्य गानों की,
प्रेम नहीं रे कठिन साधना, सिद्धि सहज सुकुमार,
प्रेम नहीं है तन्त्री, वह तो तारों की झंकार।

आचार्य शास्त्री ने जीवन को एक रसायन-परीक्षक की भाँति सूक्ष्मदर्शी यंत्र से देखा है। सूक्ष्म से सूक्ष्मतर, गहन से गहनतर विन्दुओं तक उनकी सूक्ष्मदर्शिनी दृष्टि पहुँची है। "दीपक", "मानवः द्वन्द्व प्रतीक" 'साधना", 'जिंदगी" का एहसास" आदि रचनाओं में कवि की ऐसी ही सूक्ष्मेषणा प्रतिफलित है। दो-एक बानगी देखें—

स्तूप विषमताओं का, द्वन्द्वों के समूह-सा,
एकाकी भी शस्त्र-सुसज्जित सैन्य-व्यूह-सा,
अपनी धुन में गुनगुन करता बढ़ा जा रहा,
क्या कंकाल विशाल शिखर पर चढ़ा जा रहा?

(अवन्तिका पृ० ४६)

संसार की विषम-व्यवस्था में मनुष्य कितना विवश और विकल है, इसका समुद्घाटन इस प्रकार हुआ है —

तुम बुरे क्या, तुम भले क्या?
आज भी तो हो बने असमर्थ ही,
हो गए बलिदान सारे व्यर्थ ही,
शलभ-प्राणों का नहीं कुछ अर्थ ही।
पा सके शाश्वत प्रकाश न हाय।
झिलमिलाते ही रहे निरुपाय।

× ×

इसलिए यह भूमि घुट-घुट रह रही,
विकल, कुंठित कंठ से क्या कह रही?

हो न सकता जब तुम्हारे भी किए कुछ—
तुम बुरे क्या, तुम भले क्या।

(अवन्तिका – पृ० ४५)

"नर की जीवन-सहचरी" नारी के प्रति कवि के हृदय में विचारों का द्वन्द्व और आदर्शों का अंधानुकरण नहीं, सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति तथा आदर्श में यथार्थ का विनिवेश है। एक उदाहरण देखें —

एक पक्ष — नारी नर की माता, दुहिता,
कवि, संत-सभी नत,-सभी मुदित :
वह जहाँ प्रेयसी पूर्ण चन्द्र
बस वहीं राहु है रहा उदित

द्वितीय पक्ष — नर-लक्ष्मण की रेखा लाँघो,
जलने दो सोने की लंका :
नारी, निज तेज निखरने दो,
क्या तुम्हें अग्नि में आशंका :
घिस-घिस कर कृश पड़ते-पड़ते
क्यों मिट जाने की ठानी है ?
घूँघट का पट खोलो, देखो—
करती किरणें अगवानी हैं।
जागृति-युग-उषा अनवगुण्ठित :
नर की जीवन-सहचरी अरी,
समतल गति में क्यों हो कुंठित ?

(अवन्तिका – पृ० ०४५)

छायावाद की मदमाती कल्पना को जब संघर्षशील युग की कर्कश कठोरता का सामना करना पड़ा तो उसकी सम्पूर्ण वैचारिक संकल्पना यथार्थ के धरातल पर लोटने लगी। छायावादी गीत मानव-जागरण के नारों से संशोधित होने लगे। "चुनौती", "मदायत्तं तु पौरुषम्", 'पंन्द्रह अगस्त", "विधवा", 'बंदी कीर", सदृश कविताओं में इसी आशय के प्रगमन-संकेत हैं —

शांति हमारी ,क्षमा तपस्या, त्याग की रही,
वह कदर्यता की न, तेज औ आग की रही,

अनुचित लाभ उठाने वाले तुम्हीं कौन हो ?

× × ×

युग प्रचार का हो, पर जग तो है विचार का,
भाव समझते जब भाषा की काटमार का।
उस समाज पर गाज गिरे, जिसके तुम नायक,
हस्ति-मूर्ख हो सका कभी भी नहीं विनायक।

(अवन्तिका— पृ० ४३)

विषय-वैविध्य के निर्देश के लिए स्थालीपुलाक न्यायवत् कुछेक स्थल ही प्रस्तुत किए गए हैं। "अवन्तिका" का आयाम इतना विस्तृत और संश्लिष्ट है कि "कवि सब चरित समास बखाने" का समाश्रयण ही हमारे तोषधारण का सहज और सुगम साधन है। आचार्य शास्त्री ने भी "अवन्तिका" शीर्षाधीन कविता में अपने व्यापक एवं गहन चिंतन को ऐसी ही सामासिकता प्रदान करने की चेष्टा की है —

ढहे हुए साम्राज्य खड़े फिर हो सके ?
जभी जगी जनता, सामन्त कि सो सके ?
दबा दीन को क्षणिक विजय कर तो सके,
ऐसे कौन हँसे, न कभी जो रो सके ?

÷ ÷ ÷

उस युग की संस्कृति का खँडहर शेष है,
सम्राटों, सामन्तों का स्वर शेष है,
सदाचार का आडम्बर भर शेष है,
कुछ पूजा-घर, चिद्विलास-घर शेष है।

÷ ÷ ÷

नया सबेरा जन्म ले रहा, चहल पहल है :

÷ ÷ ÷

यह क्रन्दन, चीत्कार, – नहीं यह कहीं करुण है।
यह तो शिशु का जन्मजात अधिकार तरुण है॥

(अवन्तिका – पृ० ११३-११५)

'अवन्तिका'' का आद्योपान्त अवलोकन आचार्य नलिन विलोचन शर्मा के इस कथन को पुष्ट करता है कि 'उनमें'' युग के आवत-विवर्त, अपना गहन चिंतव, मार्मिक अनुभूति, साधना तक पहुँचा हुआ शास्त्राभ्यास, अनुवर्तिनी भाषा, इन सभी की वह समन्वित चेतना है जिसे मर्मज्ञ आसानी से समझेंगे और अरसिक नहीं समझ सकने के कारण निराश होंगे।''

''अवन्तिका'' में संग्रहीत कविताओं में निराला का स्वर पंत की कमनीयता, महादेवी की संवेदनशीलता और प्रसाद की शास्त्रीयता का ऐसा सुमेल है कि आचार्य शास्त्री इन सबों के समन्वित गुणों के प्रतिनिधि काव्यपुरुष के रूप में सदा स्मरण किए जाते रहेंगे।

☐

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्
पटना–८४०००४

श्यामासंगीत ; एक दृष्टि

—डॉ० परमानन्द मिश्र

निगूढ़ वेदान्त के चूड़ान्त तत्वज्ञानी पूज्यपाद जगद्गुरु आदि शंकराचार्य को परब्रह्म के अद्वैत स्वरूप के दर्शनोंपरान्त अपनी महती अध्यात्म साधना पर जब सम्पूर्ण तोष प्राप्त नहीं हो सका तब अन्ततः उन्हें भो आद्याशक्ति जगन्माता भवानोके शरणागत होने के अतिरिक्त कोई विकल्प प्रतीत नहीं हुआ। तब माँ के समक्ष विनयावनत होते हुए उन्होंने कहा—

"इदानीं चेन्मातस्तव यदि कृपा नापि भविता।
निरालम्बो लम्बोदर-जननि कं यामि शरणम्॥"

ममता और वात्सल्य को महीयसी प्रतिमा माँ का स्नेहाञ्चल ही अबोध शिशु का जीवनाधार होता है। अनन्तवीर्या और विश्व-बीजा माता की महिमा के शोभन गायन से दुर्गासप्तशती भरी हुई है। माता रुष्ट हो या तुष्ट, हर अवस्था में उसका आश्रय कल्याण-कारी ही होता है—

रोगानशेषानपहंसि तुष्टा
रुष्टा तु कामान् सकलानभीष्टान्।
त्वामाश्रितानां न विपन्नराणां
त्वामाश्रिता ह्याश्रतां प्रयान्ति॥

जगद्धात्री महादेवी की अर्चना में अनादि काल से असंख्य श्रद्धालु भक्तों के उत्तमाङ्ग उसके पाद-पद्मों पर विनत होते हैं। आर्यावर्त्त अनादि काल से मातृ शक्ति की महत्ता का तुमुल उद्-घोषक तथा उसके पूजनीय चरणों का श्रद्धावान सेवक रहा है। आदि ग्रंथ वेदों की पावन ऋचाओं से संस्फुटित मातृ-स्तवन के मन्द्र-स्वर उपनिषद्, भागवत, पुराणादि ग्रन्थों में अनुगुंजित होते

रहे ह। आदि कवि वाल्मीकि से लेकर महाकवि कालिदास, अश्वघोष, विद्यापति, सूर, तुलसी आदिकी कोमल कान्त पदावलियाँ मातृ-महिमा की मधुर झंकार से झंकृत हैं। छायावादी काव्य-परम्परा के ऊर्जस्वित कविव्यक्तित्व 'महाप्राण निराला' को 'राम की शक्तिपूजा' में मातृ-स्तवन का एक अभिनव स्वरूप प्रत्यक्ष हुअ है। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान श्रीराम का थका हारा पराजित मन माता के श्रीचरणों में विनत होकर ही उद्धत लंकापति के गर्वोन्नत भाल-मर्दन में सफल हो सका है।

बंग-भूमि मातृशक्ति की उपासना की प्रसिद्ध पावनस्थली रही है। आधुनिक युग में बेलुर मठ के उस एकान्त तपस्वी को निगूढ़ साधना ने माता की जिस महिमामयी मूर्ति के प्रत्यक्ष स्वरूप का दर्शन किया है और उसके भक्तों को कराया है उसके प्रभावस्वरूप वर्त्तमान हिन्दी-काव्य-परम्परा की प्रौढ कवि विभूति आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के आलीशान हृदय-मंदिर में माँ की दिव्य भव्य विशाल प्रतिमा वात्सल्य भाव भावित होकर विराजमान हो रही है। महादेवी की उस सौन्दर्यमयी रमणीय प्रतिमा के पाद-पद्मों में लोटती आचार्यश्री की मेधामंडित दबंग-देह-यष्टि कोमल शिशु सदृश शोभायमान हो रही है ममतामयी मां के चरणारविन्द में अपने विशाल भाल टेककर महाकवि अपने आपको कितना दीन-हीन अकिंचन बता रहा है। वस्तुतः महामाता के श्री चरणों में विनीत पुत्र का प्रकर्ष पाण्डित्य सहज श्रद्धा में परिणत होकर उसके भावुक मन को सरल भक्ति भाव से आप्यायित कर दिया है। वह माँ के दिव्य स्वरूप के शोभन-दर्शनों के साथ ही उसके चरणार-विन्द में किस प्रकार लोट-लोट पड़ता है--

'श्वेत शतदल पर सुशोभित
अरुण चरणों में
नील अम्बर, हरित धरती संग
में नत हूँ।'

पूजनीया माता की पावन शरण में अबोध शिशु-से ललक कर पहुँचने वाले कवि का बाल मन अपनी तुतली भाषा में कितनी स्वाभाविकता के साथ मुखर हो उठता है--

'ललक कर आऊ
गिना जाऊँ अशरणों में ।'

पुन: माता के स्वागत में मौन गीत बनकर कवि यों व्यक्त होता है—

'मैं तुम्हारा स्वगत-निर्मित
गीत स्वागत हूँ ।'

छलकने वाली गागर भरी हुई नहीं होती । पूर्ण कलश तो रिसता रहता है । अपूर्ण ज्ञान अहंकार का जनक है और ज्ञान की पूर्णता अज्ञता का बोधक । मौलिक ज्ञान की पराकाष्ठा शैशव-सुलभ सरलता का संदेशवाहक बन जाता है । ब्रह्म विद्या का शीर्षस्थ ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् आद्य शंकराचार्य अबोध शिशु बनकर माता की आराधना में संलग्न होकर यह स्वीकार करते हुए कहते हैं —

'न मन्त्रं नो यन्त्रं तदपि नच जाने स्तुतिमहो ...'
'क्षुधातृषार्ता जननीं स्मरन्ति ।'

मेरा अबोध मन साग्रह यह मानने को विवश है कि पाण्डित्य की पराकाष्ठा पार कर कवित्व के उत्तुङ्ग शिखर पर समासीन आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का सम्पूर्ण 'कवित्व और विवेक' माँ की स्नेहिल श्रद्धा से द्रवीभूत होकर पराशक्ति माँ की पीयूषपूर्ण रसधारा में प्रवाहित हो गया है । माता ! केवल माँ !! अबोध बालक अपनी माँ को छोड़कर और किसे जानता है ? वह तो प्रतिपल-प्रतिक्षण माता का नाम ही रटता रहता है । शास्त्रीजी का बाल मन माँ को किस तन्मयता से बुलाता है कितना समर्पण है उसके आह्वान में यह निम्न पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

'ऊँचे स्तर पर समासीन होकर माँ
पिछले जीवन पर हँसकर रोकर माँ
अधिक तीव्रता से तुमसे जुड़ जाऊँ ।'

माता ! शिशु का सर्वस्व ! अबोध बालक माता के अतिरिक्त अन्य किसी को जानता ही नहीं है । उसका मन मातामय है । जल से विलग तड़पते मीन की तरह माँ से विलग बालक माँ से मिलने को कितना विकल हो उठता है ? ऐसे देर से बिछुड़े

तरसत-तड़पते शिशु को दूर से ही माँ की छवि की एक झलक दिखाई पड़ती है तो वह उछल पड़ता है माँ की गोद में समा जाने के लिए। कवि का शैशव कितनी तीव्रता से माँ से जुड़ जाना चाहता है—

ऊँचे स्वर से क्रन्दन कर निर्जन में
तुम्हे जगा दूँ जब हो शयन-अयन में
देखे बिना तुम्हें मैं तड़पूँ निशि-दिन,
तुम्हें चैन लेने दूँ ? मैं तोड़ूँ प्रण ?

'श्यामासंगीत' में एक अबोध बालक के रूप में मातृ उपासना कर शास्त्री जी ने हिन्दी साहित्य में मातृ-शक्ति की उपासना का एक नव्य-भव्य प्रकार विकसित कर दिया है। इन गीतों में कवि का पाण्डित्य और कवित्व सब कुछ मातृ-स्नेह के अमिय प्रवाह में निमज्जित होकर एक विशिष्ट रस से संयुक्त होकर मधुरिमामय बन गया है। ये गीत किसी सुभग शोभन सुन्दर बालक की तुतली बोली के समान मधुवेष्टित, आह्लादपूर्ण और मोहक हैं। इनमें भावों की सघनता, सरलता, निश्छलता और स्वाभाविकता भरी पड़ी है।

बालक जब भी पीड़ा में होता है उसे माँ की याद आती है। उसका विश्वास है कि माता उसको समस्त पीड़ाओं का हरण कर लेगी। विश्व ममता के मोह गर्त्त और महान अंधकार में धँसा-फँसा है। इस वेदना से परित्राण पाने के लिए वह माँ से प्रार्थना करता है—

ममत्व - गर्त्त में धँसा,
महान्धकार में फँसा—
विशाल विश्व, यह दशा —
विलोक माँ कि लो बचा !

अश्वत्य छाया-सी माँ की रक्षिणी भुजाओं की छाँह में सुख शान्ति प्राप्ति की आकांक्षा से कवि कहता है—

मेरी माँ अश्वत्य छाँह-सी
बाँह बढ़ा वैषम्य वारिणी
दुष्कृत के विनाश में संवृत
सुकृत-विकाश-प्रकाश-कारिणी।

माँ पर इतना भरोसा, फिर भी माता उसकी सुधि लेने नहीं आती--तो विकलता की अवस्था में कवि शिकायत करता है--

मात, रात भर रहा सिसकता,
भैरव राग प्रात में फूटा।
तूने सुना नहीं –साँसें
उखड़ीं जब लय टूटी, सुर टूटा।

इतनी विनती करने पर भी माँ जब द्रवित नहीं होती तो उसकी इस मनमानी पर बालक का आक्रोश बरस पड़ता है –

द्रवित नहीं होती माँ,
मेरी ऐसी दशा निहार कर !
मेरे लिए अन्धअ नुशासन,
तू निर्द्वन्द्व विहार कर !

कितनी वेकली है कवि के बाल मन के इस करुण आह्वान में ! अपने ही पुत्र को ऐसी अपार वेदना के अनन्त पारावार में आग्रीव निमज्जित देखकर भी जब माँ का हृदय द्रवित नहीं हो तो वह कैसी माँ है ? कवि का व्यथाविषण्ण मन क्रन्दन करते-करते, गुहार लगाते-लगाते थक जाता है किन्तु माता उसकी सुधि लेने, पीड़ा सहलाने नहीं आती। अन्त में निःसहाय बालक का अबोध मन माँ से ही खीझ उठता है। इसी समय कवि का ध्यान एक मार्जारी की ओर आकृष्ट होता है। वह जैसे अपने बच्चे को दूध पिलाकर, अपने दाँतों में दबोचकर निश्चित ठौर पर उसे रख आती है। किन्तु बिल्ली बार-बार अपने शिशु की सुधि लेती रहती है—

किन्तु पलट कर आती है माँ ममता गाँठ सम्भाले
रखती याद ठौर वह बच्चा जहाँ पड़ा प्रण पाले
भाँति-भाँति स्वर से पुकारती बच्चे की मनमानी

एक मानवेतर प्राणी में इतनी ममता, इतना प्यार, इतना वात्सल्य है किन्तु तू देवी होकर भी मुझे भूल गई ? तू कैसी माँ है ? अब तुम जैसी माँ की कोख में जन्म लेने की नादानी फिर नहीं होगी —

भूल गई माँ मुझे जन्म दे पलट न पल को आई
तेरी स्मृति में श्रुति खोई, कोई पुकार कब आई
अब तेरी न कोख में आने की होगी नादानी !

क्योंकि—

तूं बिल्ली से भी न गई बीती क्या मेरीं माता ?
परित्राण के लिए पुकारा, प्रण क्या याद दिलाता ?
रहूँ अजन्मा माँ, न सुनूँ अब जीवन-मरण कहानी !

ऐसे में असंख्य व्यथा-विगलित दृश्य और भाव शास्त्रीजी की कविता में भरे पड़े हैं जहाँ उन्होंने कहीं गुहार लगाई है, कहीं स्तोत्र गायन किया है और कहीं उपालम्भ देकर माँ को ममता को उकसाने का प्रयत्न किया है।

अबोधावस्था में ही जिसके मस्तक से माता का स्नेहाञ्चल सरक गया हो, मातृ—दर्शन की तीव्र आकांक्षा जिसको सदैव से अतृप्त ही रह गई हो; जिसने कभी जाना तक नहीं कि अपनी माँ कैसी होती है, उसके हृदय में माता के प्रति ऐसा अनुराग, ऐसी निष्ठा, ऐसा समर्पण ! वस्तुतः यह मातृभक्ति उस बालक की किसी महत्तम अध्यात्म-साधना का परिचायक हो सकती है।

एक साधारण माता के प्रति संजोयी सरल भक्ति को आद्याशक्ति माता भवानी की भक्ति में परिणत कर देना कोई सहज साधना नहीं हो सकती। श्यामासंगीत के कवि ने अपनी अनदेखी माता के प्रति भावित भक्ति को महामाया के चरणों तक पहुँचा दिया है। जैसे मातृभक्ति की पावन गंगा गोमुखी से निकलकर प्रशान्त महासागर में समा गई हो।

'अगणित धारा रूप धारि सागर संचारण'

काव्य की अन्तश्चेतना के सन्दर्भ में यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि जगन्माता के समक्ष बिल्कुल सिमटा, सिकुड़ा दबा, भींगा-भींगा, ठिगना-सा निरीह बालक अपनी सान्द्र-सघन कोमल भावनाओं में उतना ही विस्तृत और ऊँचा है। अबोध और तुतली वाणी में कही गई उसकी भक्ति सांख्य, वेदान्त और योग की सीमा पार कर गई है। सांख्य के सत्व रज तम,—वेदान्त के श्रवण, मनन, निदिध्यासन और योग के ध्यान, धारणा, समाधि—सब कुछ एक और अभिन्न होकर, महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती बनकर, मातृभक्ति की पावन धारा में एकाकार होकर त्रिवेणी के समान तीर्थराज बन गये हैं। महाकवि की तुतली वाणी में शंकर का वेदान्त और परमहंस की भक्ति सिमटकर मिश्री और मधु की मधुरिमा बन गई है। श्यामासंगीत आस्था को नये

आयाम देती है जहाँ कवि का ज्ञान श्यामायमान हो गया है। कवि के शब्दों में "माँ के रूप में ब्रह्म को पाना कठिन है। ब्रह्म की अनुभूति होती है, माँ की प्राप्ति। अपरोक्ष अनुभूति सूक्ष्मतर उपलब्धि हो सकती है, प्राप्ति आनन्द ही आनन्द है।" यहाँ कवि ने विवेक की बोली को छोड़कर समर्पण की भाषा को स्वीकार किया है। उसका प्रत्यक्ष परिणाम भी कवि के सम्मुख प्रकट है—

सरल हृदय से, शुद्ध भाव से
लेता माँ का नाम था
तन्त्र मन्त्र क्या, अचल भक्ति ही भक्ति
प्रकट परिणाम था।

पुनश्च—

माँ श्यामा, जान गया
श्याम गगन क्यों है?—
क्यों सागर श्याम
श्याम मेरा मन क्यों है?

महाकवि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के साधनास्तोत्र के रूप में रचित श्यामासंगीत का एक-एक गीत भक्ति-भावित पद-विन्यास मात्र नहीं हैं अपितु इसके वर्ण-वर्ण में मंत्र की अमोघ शक्ति समाहित है। श्यामासंगीत के वर्ण-विन्यास साधारण काव्य-विन्यासनह जो क्षणिक भक्ति के भाव उदित कर अदृश्य हो जायँ। इसका प्रत्येक अक्षर गूँज-गूँज उठने वाला सिद्ध मंत्र है—

मैं गाऊँ तेरा मन्त्र समझ,
जग मेरी वाणी कहे, कहे।

=०=

रीडर, हिन्दी विभाग,
उदयनाचार्य रोसड़ा कॉलेज,
रोसड़ा (समस्तीपुर)

अनुज है मेरा वसन्त

डॉ० रेवती रमण

साहित्यिक जीवन के आरम्भ में ही हिन्दी के जिन कवियों को महाप्राण निराला का सान्निध्य मिला, आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री उनमें प्रमुख हैं। उनके छात्र जीवन में ही बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के रुइया होस्टल में खुद निराला उनसे मिलने आए थे। उस समय के प्रतिनिधि छायावादी आलोचक नन्ददुलारे वाजपेयी भी उनके साथ थे। आरंभिक मिलन प्रकारान्तर से दो महाप्रतिभाओं के द्वन्द्व की स्मृति जगाता है, बाद में शास्त्री जी (अपने ही शब्दों में) निराला के अन्धभक्त बने। आरंभिक बौद्धिक टकराहटों को डा. रामविलास शर्मा ने काफी तूल दिया है-निराला की साहित्य-साधना-भाग -३ में। उन्हें यह द्वन्द्व दो भिन्न साहित्यिक रुचियों और विचारधाराओं का द्वन्द्व प्रतीत हुआ, संस्कृत के कालिदास और हिन्दी के तुलसीदास इस द्वन्द्व के मूल में थे।

इसमें सन्देह नहीं कि शास्त्री जी का प्राच्य साहित्य ज्ञान उस समय भी उतना ही प्रामाणिक था जब निराला से उनकी पहली भेंट हुई थी। उनकी असाधारण सौंदर्य दृष्टि में आगे चलकर रवीन्द्र नाथ के साहित्य का अध्ययन भी बहुत कुछ जोड़ गया। शास्त्री जी निराला के समान ही पर्याप्त प्रयोगशील रहे, प्रगतिशीलता से भी उनका जन्म का वैर नहीं रहा। पर उनकी रचनाधर्मिता में वह खुलापन नहीं आया जो निराला को निराला बना देता है। फिर भी हिन्दी में निराला के वास्तविक समानधर्मा के रूप में उन्हें ही देखने के कई कारण हैं। एक समय शास्त्री जी ने निराला के जीवन और साहित्य में संत-भक्त कवित्रों की सी एकरूपता का संधान किया था जो दरअसल उनका ही आत्मप्रक्षेप था। जिस तरह निराला खुद को लिख रहे थे, उसी तरह जानकी

वल्लभ शास्त्री ने भी लिखना आरंभ किया, आत्म सापेक्षा उनका सारा साहित्य व्यापक अर्थ में आत्माभिव्यंजना है, प्रकारान्तर से स्वागत. स्वयं को व्यक्त करने, विश्लेषित करने का प्रयत्न है उनका यह प्रयत्न सार्थक है तो इसलिए कि 'आत्म'का लघु और संकीर्ण रूप उन्हें ग्राह्य नहीं है। शास्त्री जी का 'आत्म' महाभारत में में वर्जित उस 'आत्म' के समकक्ष है जिसके लिए पृथ्वी तक को त्याग देने की बात कही गयी है—'आत्मार्थं पृथिवीं त्यजेत्'।

शास्त्री जी का 'आत्म' हमारे जातीय जीवन और संस्कृति के सार्वभौम तत्वों को आत्मसात कर लेने के कारण व्यापक और स्पृहणीय बन गया है। उनका जीवन और साहित्य एकरूप है ओर उसमें जातीय स्वाभिमान की प्रतिष्ठा मिलती है।

'हंसबलाका' में शास्त्री जी ने लिखा है—'मैं एक अनदेखी वास्तविकता हूँ जिसे एक ओर से युग के हारे हुए की युग-युग की परम्परा और दूसरी ओर से फरेब से जीतनेवालों के पुश्तैनी चहेते इतिहास ने ग्रसने के लिए राहु-केतु के स्वांग रचे हैं।' (पृ०-१६) स्वार्थ फरेब से जीतने वाले पुश्तैनो चहेते हिन्दो के तथाकथित साहित्येतिहासकार और नकारवादी रचनामधन्य आलोचक हं जिन्हें दिनकर, बच्चन, नेपाली, भगवतीचरण वर्मा, नवीन सुभद्राकुमारी चौहान और आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री-सरीखे फाकामस्त कवियों के लिए इतिहास को मुख्याधारा में सही जगह नहीं मिलती। ये न रूढ़ अर्थ में प्रयोगवादी हैं, न प्रगतिवादी, न कवितावादी। तब इन्हे कौद सा 'वादी' कहें, यह समस्या है। काफी पहले प्रोफेसर विजयदेव नारायण साही ने उन्हें 'जवानी का कवि' कहने का प्रस्ताव किया था। बिहार के प्रसिद्ध मनो विश्लेषणवादी समालोचक आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने शास्त्री जी को चार छायावादियों के साथ पाँचवाँ स्थान देना स्वीकार किया। दरअसल, यह सब हिन्दी साहित्येतिहास-लेखन और आलोचना कर्म की दयनीयता का परिचायक है। समकालीन साहित्य की समग्रता से परिचित अध्येता के लिए यह समझना कठिन नहीं होगा कि शास्त्री जी के काव्य में भी निराला के समान ही इस शताब्दी का सश्लिष्ट चेहरा उभरता है। इस चेहरे के कई रंग हैं, पर जो तत्वत: मानवीय है, शील और सौंदर्य की गरिमा

के साथ। इसमें विनम्रता है और साहस भी, जिजीविषा और दृश्यमान विविधता का गंभीर सुचिन्तित स्थापत्य। शास्त्री जी निराला के समान ही गद्य में पद्य में समाभ्यस्त हैं। इनकी 'हंसबलाका' 'अष्टपदो', 'राधा', 'कालिदास' जैसी क्लासिक कृतियां अपना उपमान आप हैं। साहित्य की विविध विधाओं में उनका स्तरोय लेखन और भारतीय मूल्य-दृष्टि विश्व कवि रवीन्द्रनाथ से तुलनीय है। कई बार वे निराला से भी कुछ कदम आगे चलते प्रतीत होते हैं। गीत-संगीत से शास्त्री के आत्मिक सरोकार हिन्दो में निराला और बंगला में रवीन्द्रनाथ से मिलते हैं।

एक निम्न मध्यवर्गीय कुलीन ब्राह्मण परिवार में जन्म लेकर, शास्त्रीय शिक्षा से विधि को ग्रहण करने के बावजूद ब्राह्याचारों के आडम्बर से मुक्त शास्त्री जी हजारी प्रसाद द्विवेदी के समान ही पंडित और हिन्दी के लेखक हैं। उनका समूचा जीवन एक यज्ञ है जिसका सर्वश्रेष्ठ अवदान उनका साहित्य है। उनके साहित्य का स्वार्थ सम्बन्धों से तीव्र विरोध है। 'सरोज स्मृति में निराला जी ने लिखा था—'जाना तो अर्थागमोपाय/पर रहा सदा संकुचित काय/लखकर अनर्थ शार्थिक पथ पर/हारता रहा मैं स्वार्थ समर।' शास्त्री ने स्वार्थ-समर से मुँह मोड़कर भारतीय साधना, संस्कृति और साहित्य की समृद्ध परम्परा में अपना स्थान सुरक्षित करा लिया है।

एक रचनाकार के रूप में अल्पवय में ही शास्त्री जी की पहचान बन चुकी थी, सन् '४७ से पहले ही। परन्तु उनका मुख्य रचना समय स्वतन्त्र भारत में तेजी से बदलते राजनीतिक सामाजिक परिदृश्य से सम्बद्ध है। इस परिदृश्य में भारतोय मूल्यों का विघटन, नैतिकता का पतन, बाजारू सभ्यता और उपभोक्ता संस्कृति का लगातार बढ़ता दबाव सत्ता की सर्वग्राही महत्वाकांक्षा है। शास्त्री जी ने गीतों और वर्णनात्मक कविताओं में कई बार उनकी स्वायत्त संरचना का अतिक्रमण करते हुए अभिधा में भी शासकीय विसंगतियों की आलोचना की है—

ताड़ खड़खड़ाते हैं केवल, चील गीध ही गाते,
द्रवित दाह भी जम जाता धरती तक आते आते

कलरब करने वाले पंछी, पत्तों वाली डाली उन्हें कहाँ ठंडक मिलती है, इन्हें कहाँ हरियाली ?

ऊपर-ऊपर पी जाते हैं, जो पीनेवाले हैं, कहते, ऐसे ही जीते हैं, जो जीनेवाले हैं, कुपथ-कुपथ **रथ** दौड़ता जो, पथ-निर्देशक वह है।

लाज लजाती जिसकी कृति से धृति उपदेशक वह है।
मूर्त दंभ गढ़ने उठता है, शील विनय परिभाषा।
मरण रक्त मुख मे देता जन को जीवन की आशा।
जनता धरती पर बैठी है, नभ में मच खड़ा है,
जो जितनी है दूर महो से उतना वही बड़ा है।

(बाल लता, पृ०—४२)

तथापि सच यही है कि सांप्रतिक त्रासकारी विपर्यय और व्यक्तिक्रम के दौर में भी शास्त्री जी ने मानवीय संभावनाओं का ज्यातर उदार क्षितिज ही आँका है। एक संवेदनाशील मनुष्य के रूप में उन्होंने अपने समय और समाज की हालत, विडम्बना और विसंगति को भी गहराई से समझा और चित्रित किशा है परन्तु उनके काव्य का सबसे प्रभावशाली अंश उनकी आत्मालोचना से संबद्ध है। अपने संघर्षों की कथा जब शास्त्री जी कहते हैं तब अधिक टिकाऊ होता है उसका अचूक असर पाठक को ऐसे में, लगता है कि इस विशेष संघर्ष से गुजर कर ही असाधारणत्व की सिद्धि सभव है।

शास्त्री जी के गीतों में जिस स्वाभिमान की अभिव्यक्ति हुई है, वह हमारे जातीय स्वाभिमान को प्रतिरूपित करता है। इसमें मिथ्या आचरण की आलोचना है और अकेला होने के एहसास के साथ अकेले चलने का विकल्प भी है—

कौन देगा साथ इस तूफान में ?
मैं चलूँगा सिर्फ चलने के लिए।

(बाल लता)

घाटे का सौदा किया घूमकर हाटों में अटपटा लगा, अट गये सवाती बाटों में।

थी साध साधना से न बड़ी मेरी कोई उतना ही होंठ हँसे जितनी आँखें रोई। (धूपतरी पृ०—४०)

फैली-फली यह रेत, जिन्दगी है या निर्जल उज्जवलता।
मैं छाँह-छाँह चलता आया अकलुष प्रकाश की आशा में।
(धूपतरी, पृ०—६३)

जीवन में अभाव, अवसाद और उदासी, कविता विरोधी माहौल और आदान-प्रदान की प्रथा में लिप्त क्षयिष्णु समाज से साक्षात्कार, किन्तु गीतों में रसोद्रेक, जिजीविषा, उत्साह एवं साधना में अविचल आस्था।

झुके वृन्त पर नहीं खिले। पवन-इशारे नहीं हिले।
रंग गंध से दिपे दीप बन मौसम के शृंगार के।
फूल न हम पतझार के। (धूपतरी, पृ० - ४५)

डूब गये जलयान हजारों कश्ती की क्या हस्ती ?
फिर भी मौजों के सर चढ़कर हँसती मेरी मस्ती।
(धूपतरी, पृ०—१६)

शास्त्री जी की विशेषता यह है कि जीवन की कर्कशता और कोलाहल को भी उन्होंने गीतों और कविताओं में रसार्द्र बना दिया है। उन्होंने अत्यन्त कठिन रागिनी मधुर और कोमल सुर में गायी है। वे ऐसे लेखक हैं जो अपने स्वाध्याय, चिन्तन-मनन और आत्म-संघर्ष के बल पर एक विचारधारा अर्जित कर लेते हैं, बल्कि खुद एक विचारधारा में परिणत हो जाते हैं।

शास्त्री जी का जन्म वसंत पंचमी के तीन रोज पहले हुआ था, निराला का वसंत पंचमी को। निराला खुद को वसन्त का अग्रदूत कहते थे और शास्त्री जी लिखते हैं—'अनुज है मेरा वसन्त'
(संगम, पृ०—७८)

वसन्त के इस अभिनव अग्रज को उनके जन्म दिन पर स्वस्थ रचनात्मक एवं अक्षय-कीर्ति प्रदीर्घ जीवन की हार्दिक शुभकामनाएँ।

—०—

हिन्दी साहित्य का एक ज्योतिर्मय कवि :

आचार्य जानकीवल्लभ 'शास्त्री'

— उदयशंकर सिंह 'उदय'

कहते हैं—कविता सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ अवदान है और कवि ईश्वर की रसवंती-अवदात-चेतना की सबसे सुन्दर कृति ! इस रम्य-रुचिर अवदान की पहली किरण इस रसवती भू पर ही फूटी थी। अंधकार और अज्ञान के धूसर सलेटी क्षितिज पर सर्वप्रथम हमने ही किये थे ज्योति के हस्ताक्षर—सोन आखर में ! माँ भारती की वीणा का सुवादित-स्वर प्रथम-प्रथम इसी गरिमामय भूमि पर गूँजा था। हेम-कुम्भ भर-भर ऊषा यहीं से ज्ञान की राशि-राशि-किरणें बांट आती थी विश्व के अन्य क्षितिजों को। इस अक्षय, अक्षुण्ण काव्य की ज्योतिर्मय किरणों से प्रादुर्भूत हुए भगवान बादरायण, आदिकवि वाल्मीकि, महाकवि कालिदास, सूर, तुलसी सरीखे शलाका पुरुष और उन्होंने जिस शाश्वत चिरंतन सत्य की ज्योति जगायी आज उसी उदात्त सारस्वत परम्परा का पौरोहित्य कर रहे हैं--अपनी अनमोल विरासत की उज्ज्वलतम संभूति, अपने व्यतीत अक्षुण्ण वैभव की अशेष स्मृति, एक प्रातर्वन्दनीय नाम—आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री !

देवदार-जैसा ऊँचा उर्जस्वित दीर्घ शरीर, सुदृढ़ मांस-पेशियां, परिणत वय की शिशिर-शिराओं में भी बहता मधुगंधी तप्त रुधिर, कृष्ण-श्वेत कुन्तल-स्तवक (जो बता रहे हैं कि वह किस कदर मेचक-मेदुर होकर कभी करीने से इस प्रफुल्ल आनन पर सजते रहे होंगे) पकी वय में भी चेहरे पर तारुण्य की मंद स्मिति, वृषभ-स्कंदों पर एक मुकम्मल काव्य-युग का पहाड़-सा गुरुतर भार उठाये, मस्तिष्क में नाना पुराण, निगमागम और चतुर्वेद की कंठस्थ ऋचाएँ, अन्त-स्तल में हिलोरें लेता ठाठें मारता भावनाओं का समुद्र, प्रातिभ चेतना

और अथोर आनुभूतिक वैभव से प्रदीप्त कर्णांत होते दीर्घ नयन, कण्ठ में मंद्र-मेघ-मृदंग-नाद-सा रागतरंगित स्वर ! इस दिव्य मूर्ति को देख एकाएक स्वयमेव सिर झुक जाता है चरणों में !

सच तो यह है कि मुझ जैसे कितने कितनों के सिर झुकने के लिए आतुर हैं,पर ऐसा उदात्त चरण कहाँ है जहाँ सिर स्वयमेव झुक जांए। आशीषने के लिए ऋषि तुल्य वह प्रलम्ब बांहें कहाँ है ! कहाँ है वह मृदुतर कर जिसके तरंगाघात के स्पर्श से सोयी प्रातिभ चेतना अकचका कर जग जाए ! साहित्य संगीत और दर्शन का वह हहराता महासंगम कहाँ है जिसकी अथोर जलराशि में मरुथल-मरुथल भटकता प्यासा मन एकाएक मारे प्यास के कूद पड़े छपाक् से ! वह वही है वही साहित्य क्षितिज के सोपानों पर उर्ध्व चढ़ता हुआ,, ऊँचे और ऊँचे उठता हुआ, एक विकच ज्योतिवाह में नहाता एक ऋषि तुल्य ज्योतिर्मय पुरोधा कवि— आचार्य आनकी वल्लभ शास्त्री ! और उस पावन स्थल का नाम है—निराला निकेतन।

महाप्राण निराला, जिनके सुखद सानिध्य और लहाछेह स्नेह से शाश्वत हुई आचार्य शास्त्री की सूर्योदयी काव्य-यात्रा तथा कृतित्व और व्यक्तित्व में सुपुंजित हुई निराला-सुलभ प्रातिभ-विलक्षणता, उस अशेष स्मृति को सार्थक करता हुआ आचार्य प्रवर के निवास का यही सार्थक नाम हो सकता था—'निराला निकेतन'।

यह निराला निकेतन एक तपोवन है जिसे देखकर आँखों में सुदूर गाँवों की एक छवि तैर उठती है। आचार्य ने बहुत यत्न से एक सुन्दर गांव बसाया है—इस तुमुल कोलाहल-कलह पूर्ण शहर में। जगह-जगह छोटे-बड़े फूलों-फलों के झुरमुट जिनपर रंगविरंगी चहकती चिड़ियों का मीठा स्वर—'टी-वी-टी-टुट्-टुट्'।

अशोक, वट, बकुल रसाल तमाल, पनस नीम, इमली आदि के ऊँचे छाँहदार पेड़, और उन पर बारहो मास बारहमासा गाती कोयल। पेड़ो की मुचकुंदी घनी छांह में रंभाती गाएँ; खुछील भरते मृग शावक से छोटे बछड़े। इन्हें देख लगता है ऋग्वेद की ऋचाएँ स्वयं मुखरित हो रही है और आचार्य वैदिक मंत्रोच्चार द्वारा स्वस्ति-वाचन कर रहे हैं —

गाएँ आयें, हमारे घर में रहे, रम जाएँ, हमे सुख दें, ये संतानवती माताएँ भोर में इन्द्रदेव के लिए पय दें !" इस तपोवन में छोटे-छोटे मंदिर भी है जिनकी ऊँची सीढ़ियों पर सुबह-सायं तपश्चर्या में लीन रहता है—यह ऋषि कवि। जगह-जगह कच्चे खपरैलों के छाये छाजन वाले छोटे,छोटे घर जिनमें रहते हैं बटुक प्राचीन गुरुकुल को जीवंत करते हुए। इधर-उधर निर्भय निर्बन्ध घूमते कुत्ते, उछलती-कूदती वात्सल्य के स्नेहिल परस में उमगी म्याऊँ-म्याऊँ कर कुछ पूछती-सी बिल्लियाँ। कभी-कभी उछल कर चढ़ जाती हुई देह पर चींटियों की तरह रेंगती हुई, समा जाती हुई अंक में। इस चित्र को उकेरती हुई कितनी सार्थक है श्री राम तिवारी की वे पंक्तियाँ—

इस आदमी की बुद्ध-काया पर
चींटियों की तरह
बिल्लियाँ रस ले रही थीं
जीवन की संचित ऊष्मा का

× × ×

उनके भीतर रोती हैं
अन व्याही राधाएँ
भविष्य-वंचित बच्चे
आवारा बनाए गए कुत्ते
गाएँ, बिल्लियाँ

कवि कुल गुरु कालिदास ने रघुवंश के मंगला चरण में विश्व के माता-पिता पार्वती और शिव की वंदना की है। अस्तु इस छोटे-से लेख में इस विश्व कवि के साथ छाया-सी लगी अर्द्धांगिनी छाया देवी की याद बरबस आ ही जाती है, जो पूरे एक साहित्य-युग की माँ है। गार्गी, मैत्रेयी की तरह ये भी अव्वल दर्जे की विदुषी हैं। कभी लिखा भी करती थीं अब नहीं लिखतीं। किसी ने कह दिया था—शास्त्री जी लिख देते हैं। किन्तु पठन-पाठन का कार्य बदस्तूर कायम है। सभी साहित्यकारों को पढ़ती है और बहुत संभल कर अपनी राय देती है। आचार्य कहते हैं—रामचन्द्र शुक्ल से भी कठिन

आलोचक हैं यह ! इस ममतामयी मूर्ति को देख वरबश मुझे स्वर्गीया माँ की याद आ जाती है। बस, ऐसी ही थी मेरी माँ! ऐसी ही हिम गौरता लिए, बस ऐसी ही कद-काठी !...मातृत्व का ऐसा लहाछेह स्नेह भरा है इनमें कि मजाल है कि बिना कुछ खाये आप निकल जाएँ वहाँ से !

आयातित संस्कृति और विभ्रमित दृष्टिकोण से जितनी क्षति हमारी बहुमूल्य काव्य परम्परा की हुई है, उतनी और किसी की नहीं। नई कविता के व्यामोह ने हमारी कविता की मूल सन्दर्भिता और अस्मिता को किंचित धूमिल करने का प्रयास किया है, किन्तु जो चिरंतन है शाश्वत है वह तिल-तिल नूतन होता हुआ बदस्तूर कायम है। मेरा विरोध नई कविता से नहीं है। नई कविता के शिल्प में मैंने भी लिखी हैं कविताएँ, पर नई कविता के नाम पर परोसी जा रही सारहीन, संवेदना-शून्य, सर्वकालीन सत्य से दूर छटीं-कटीं गंध की महज यह छोटी-बड़ी पंक्तियाँ तो कविता हो नहीं सकतीं। आखिर क्या कारण हैं कि बाल्मीकि, कालिदास, सूर, तुलसी नित नवीन और प्रासंगिक होते जा रहे हैं और आज कविता के कद्रदानों को बालू में चींटियों की तरह तलाशना होता है। इलाचन्द्र जोशी के शब्दों में—

"आज का कवि कालिदास की तरह कहीं किसी विक्रमादित्य का साहचर्य कहाँ पाता है ? वह जहाँ जाता है वहाँ उसका मजाक ही उड़ाया जाता हैं और जो थोड़े मे श्रोता या पाठक उसके प्रति आकर्षित होते हैं वे स्वयं कौपीनधारी या कनफटे बाबा होते हैं। कविताओं के समझदारों और कद्रदानों को रेगिस्तान की बालू में छिपी हुई चींटियों की तरह तलाशना होता है। (भूत का भविष्य)

और ऐसे में आचार्य शास्त्री की कविता मरुभूमि में उगे शाद्वल सी लगती है, इसीलिए उन्हें विशाल पाठकों और श्रोताओं का भरपूर स्नेह मिला है। वैसे आचार्य को नई कविता से कोई विरोध नहीं है। वरन् उनका यह कथन है कि साहित्यकार को चिर नूतन नवीन होना ही चाहिए; किन्तु अपनी सांस्कृतिक चिरंतनता और सर्व-कालीन शाश्वतता को परे रख कर नहीं।

दरअसल शास्त्रीजी का जंग उस प्राण वायु से नहीं है जो आस्था और विश्वास से उर्जस्वित रचनात्मकता की प्रदीप्त लौ को ऊँचे और उँचे उठा देती है, वरन् उस अंधेरे से है जो हमारी प्रातिभ रसवंती-चेतना पर कुंडली मार कर बैठ रहा है। इसलिए वे आवाहन करते हैं उस अमृतमयी ज्योति का जो एकाएक प्रपात-सा फूट पड़े और तार-तार कर दे तम संघात को!

ज्योति प्रपात झरो हे तम-संघात पर!
आत्मा की शुचिता कलुषित वित, गात पर!!

बहुमुखी प्रतिभा के धनी आचार्य शास्त्री ने साहित्य की लगभग सभी विधाओं में कलम चलायी है और बखूबी समादृत हुए हैं, किन्तु उनका कवि होना/गीतकार होना शायद हिन्दी साहित्य के लिए सौभाग्य की बात है। निराला के बाद हिन्दी साहित्य का सबसे प्रातिभ और प्राणवान गीतकार शायद आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री ही हैं। आचार्य शास्त्री के गीतों में सृजनात्मकता की जो आवेगपूर्ण ऊष्मा है, शिल्पों की जो सुघड़ता है, स्तरीयता की जो शिखरोत्कर्षता है, अर्थगाम्भीर्य की जो सिन्धु-सी गहराई है, मानव मूल्यों का जो उदात्त परिसंस्करण है, छंद-लय और राग-रागिनियों का जो रेशमी-स्पर्श है—वह अन्यत्र दुर्लभ है। तिसपर निसर्ग ने उन्हें कोकिल-सा कंठ देकर निसर्गत: कवि ही बनाया है। ऐसे में किंचित उपेक्षित होकर आचार्य को कभी-कभी प्रकट होकर चुनौती भरे स्वर में उलाहना भी देना पड़ जाता है—

कौन उफान संभाले
मतवाले मन का।
डंसे - डंसे पल-छिन
मूर्च्छित सूनेपन का॥

सूनेपन और उपेक्षा की पीड़ा इनके गीतों में अन्यत्र भी ध्वनित और व्यंजित हुई है जो एक प्रश्न चिह्न है कि क्यों नहीं इस महाकवि का सही सही मूल्यांकन हुआ—

मैं उठ जाऊँगा तब
लगवाओगे मेले?
और सहा जाता न,
रहा जाता न अकेले।

कवि की चेतना जहाँ प्रकृति की ओर उन्मुख हुई है वहाँ वह और प्रातिभ-चिन्मय स्पर्श से लहलह महमह हो गयी है। कुहराच्छन्न मौसम का एक बोलता-सा अनूठा मनोरम विम्ब—

"धूप-तरी तिरती कुहरी की झील में
जैसे उजली बदली अम्बर नील में
पुरवाई आई खेतों की ओर से
गई तरी झकझोर किरण की डोर से
खनक रही सी नीरवता पतझार की
महक रहीं केवलता सूनी डार की
साँस फँसी ठिठुरी धरती की कील में"

(धूपतरी पृष्ठ—९)

आचार्य श्री ने आज के सत्य से न कभी आँखें मींची और न वह कभी उससे परांड्‌ मुख हुए। आज की विसंगतियों पर जो उन्होंने व्यंग्य किया है वह हथौड़े की चोट है—

टुसिआये पाकड़ पर
बैठकर भुजंगा
बोल रहा ठाकुर जी,
देख रहा दंगा।

उत्तरोत्तर उर्ध्वमुखी होते कवि के भाव, भाषा, विम्ब सहस्रपृष्ठ व्यापी 'राधा' महाकाव्य में इतने सज-धज गए हैं कि देखते ही बनते हैं। यहाँ भी वे आज के सत्य से, समय से पराड्‌मुख नहीं है। सब कुछ उल्टा पुल्टा—माहौल का चित्रण आचार्य ने बखूवी दो पंक्तियों में कर दिया है—

—"विसंवादी हुए श्रीराम के स्वर
किसी ने साम् गाया फाग कह कर

—(राधा)

कहते हैं गजल गीत की अनुवृति है। आचार्य ने भिन्न.भिन्न प्रतीकों और बिम्बों के सहारे हिन्दी गजल को जो ऊँचाइयां दी हैं वह अन्यत्र दुर्लभ है। अपनी गजल "कहानी फूलों की" के सन्दर्भ में आचार्य ने कहा—यह मेरी मास्टर पीस गजलों में एक है। इसे

मैंने राग चमन में बांधकर पूरे लय और सुर में जब जबलपुर कवि सम्मेलन में पढ़ा था तो पूरा माहौल तालियों की गड़गड़ाहट से गूँज उठा था और कई कवियों ने बार.बार मेरे पांव छुये थे। गजल के कुछ शेर द्रष्टव्य हैं—

—गुलशन न रहा, गुलचीं न रहा;
रह गई कहानी फूलों को;
महमह करती सी वीरानी
आखिरी निशानी फूलों की॥
+ + +
सौ बार परेवे उड़ा चुके
इस चमनजर में यार, कभी
खुदकुशी बुलबुलों की देखी ?
—गर्दिशे रमजानी फूलों की ?

सच तो यह है कि आचार्य के काव्य का विवेचन एक गुरुतर कार्य है। बड़े.बड़े लिक्खाड़ और विद्वान को जब आचार्य का एक गीत रात भर सोने नहीं देता तो मेरी क्या बिसात ? मेरा प्रयास तो ऐसा ही है—

—"जिमि पिपीलिका सागर थाहा।"

आचार्य के व्यक्तित्व का एक और जीवंत पहलू है— उनकी अप्रतिम संभाषण कला —वाग्देवी ने इन्हें अव्वल दर्जे का वाग्मी बनाया है। जब वे बोलने लगते हैं तो लगता है किसी अदृश्य शक्ति से संचालित हो रहे हों। बिलकुल नपे.तुले शब्दों में वाग्मिता और वैदुष्य का ऐसा चमत्कार हो जाता है जैसे माहौल में जादू छा गया हो। "राजेन्द्र शिखर सम्मान समारोह" की एक मधुर स्मृति सुनाते हैं—रवीन्द्र भवन का वह हाल गण्यमान्य विद्वानों और श्रोताओं से इस कदर खचाखच भरा था कि कहीं पांव धरने की जगह नहीं थी। ऐसे में आचार्य प्रवर जब कुछ कहने को खड़े हुए तो माहौल इस कदर शांत हो गया कि एक सूई भी गिरे तो आवाज हो जाय! और जब आचार्य शुरू हुए तो सामवेद की ऋचा का रागतरंगित सस्वर स्वस्ति गायन करते हुए। एक बार फिर एक मंद्र - मेघ - मृदंग निनाद का मीठा-स्वर गूँज उठा और गूँजी तालियों की लगातार गड़गड़ाहट !

गद्य-पद्य की लगभग पचपन पुस्तकों का प्रणयन कर आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री हिन्दी साहित्य में एक मुकम्मल साहित्य-युग हो गए हैं। अभी भी इस परिणत वय में भी लगातार नई उर्जा के साथ रचनारत हैं। 'बेला' मासिक का निरंतर प्रकाशन कर उसमें नई-नई प्रतिभाओं को लाकर आचार्य ने एक पाठशाला खोल दी है; जहाँ बड़े-बड़े सींगदार सींग तुड़ा कर बछड़ा बने आते हैं कुछ सीखने और पाने के लिए और आचार्य प्रवर के किंचित जादुई परस से कोई बोदी-सी रचना कुंदन की तरह निखर उठती है। सच में गुरु तो वही है जो—

"पचि-पचि काढ़े खोद"

आचार्य प्रवर की पूरी साहित्य-सर्जना एक अक्षय-वट की तरह है। जब कभी भविष्य में कविता के लय की बात होगी, तब काव्य का कोई मनु इसी अक्षय वट में बांधेगा अपनी नाव। इसी शाश्वत और चिरंतन रचना कर्म पर कभी ब्रह्मा का आशीर्वाद मिला था आदि कवि को। आज आचार्य श्री के लिए पुनः-पुनः उसका स्मरण हो आया है—

"यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले ।
तावत् रामायण-कथा लोकेषु प्रचरिष्यति ।।

—बाल्मीकि

सम्पर्क—
सहायक चकबंदी पदाधिकारी
मोतीपुर
मुजफ्फरपुर, बिहार

अष्टपदी की मनुआँ : संवेदना की धात्री

डा० राम प्रवेश सिंह

जीवन पहाड़-सा पार किया,
चलछग धेनुओं, बसंड़ों के,
नाची मिल मोर-मयूरों में,
हँस पोंछे आँसू बछडों के।

जीवन में वही सब कुछ नहीं होता, जिसे विधाता ने बना दिया है। जीवन को जीने के योग्य बनाने के लिए साहित्यकार अपना ऐहिक जीवन साहित्य-देवता के चरणों में समर्पित करता है। शास्त्रीजी ने जिस जीवन के लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया है, वह सामान्य जीवन नहीं है। वह जीवन है हमारी संस्कृति का। वह जीवन है हमारी कला का। वह जीवन है हमारी परम्परा में निहित आधुनिकता का। वह जीवन है मानवीय मूल्यों में निहित संवेदना के ऊँचे भावों का। वह जीवन है एक साहित्यकार का जो जीवन की समग्रता को अपनी सही स्थिति की पहचान देना चाहता है और जो मनुष्य की अनंत संभावनाओं की, उसकी क्षमता के विकास में देखने का आदी बन गया है।

परम्परा कहती है जीवन को जीने के लायक बनाने के लिए हमारे पुरखों ने अनेक ढाँचे बनाए हैं। जीवन को क्या बनना है और वह क्या बन पाता है—यह आदिकाल से ही एक प्रश्न बना हुआ है।

'अष्टपदी' ने मुझे पूरा बिश्वास दिलाया कि जीवन को किसी खास ढाँचे में बाँध देना जीवन की सच्चाई को अस्वीकार कर देना है।

जीवन के विस्तार को मापने का दंभ भरना सच्चाई का एक कण समेटने जैसा है। उसी प्रकार जीवन की गहराई का बोध देने का

संकल्प मात्र संकल्प की ही बात होगी। जीवन विस्तार और गहराई दोनों के योग से ही बनता है। अत: जीवनको मापना किसी एक सीमा और किसी एक संभावना में नहीं संभव है। शास्त्री जी ने इस ओर संकेत किया है—

'कैसे विकल कलश में भर लूँ
सकल समुन्दर हे ?'

सागर की गहराई और गहराई की अनन्त नीलिमा मापने वाले अपनी ही माप पर बौने साबित हुए। गगन का विस्तार और सागर की गहराई सिमट कर तीन डग जीवन पर ही आकर रुक गयी।

हमारी संस्कृति माटी की महिमा का बखान करती है। जब कभी आकाशचारियों ने अपने ऐश्वर्य की चकाचौंध फैलायी, धरती वालों ने उन्हें ठेंगा दिखला दिया। उन्होंने अपनी कोमल उँगलियों पर [विपत्ति का] का पहाड़ उठाकर बता दिया कि जीवन सिर्फ आकाश नहीं है जिसके लिए स्वर्ग की कपोल कल्पना की जाती है और उसकी ही जीवन की चरम उपलब्धि के रूप में दुहाई दी जाती है। धरती की वेदना को जीवन की संवेदना में परिणत करने वाले ही व्रत लेते हैं कि—

जाग, तुझको कर्मभूमि जगा रही,
लौट नभ से, सुन, बुलाती माँ—मही !
विकल विश्व इधर, उधर उन्मन गगन,
तू कि अपने में कि सपने में मगन ?
× × ×
व्यूह रच कि समूह-ज्योति उजल सके।
जमा भीतर रक्त हिम कि उबल सके।'
[राधा: पुरुषार्थ पर्व]

शास्त्री जी का रचना-संसार जीवन की किसी एक सीमा को मनुष्य की संभावना का अंतिम विराम नहीं मानता। अपितु उसमें जीवन की संभावनाएँ, ठोस-धरती की यथार्थता और मनुष्य की क्रियात्मक क्षमता पर अवलम्बित है। जिन्हें 'राधा' महाकाव्य के प्रति पाठकीय रुचि है, वे भली-भाँति जानते हैं कि शास्त्री जी संस्कृति के यथार्थ पक्ष के प्रति जितने आसक्त हैं, उसकी सहजता के प्रति भी उतने ही आस्थावान।

'राधा' महाकाव्य में जहाँ आदर्श और। जीवन की ऊँचाइयों का भाव आया है वहाँ कही न कहीं दर्शन और जीवन - दर्शन में होड़ मच गयी है। जहाँ सहजता और सरलता है, वहाँ जीवन एक चरित्र बनकर उभर आया है। वहाँ लोक जीवन की सहजता ग्राम्य संदर्भों का आकर्षण और सांस्कृतिक संदर्भों की जन सापेक्षता, जीवन की अनिवार्य शर्त्तें बन गयी हैं।

परम्परा इस बात की गवाही दे रही है कि श्रीकृष्ण अपने प्रारम्भिक दिनों से लेकर अंतिम समय तक राष्ट्रीय जीवन में केन्द्रीयता लाने के लिए एक से एक चमत्कार करते रहे। कंस वध, द्वारिका निर्माण, इन्द्रप्रस्थ का राजकीय करण, शिशुपाल-जरासंध वध, महाभारत का कुशल नेतृत्व और गीता जैसे स्तरीय जीवन दर्शन की खोज, उनकी अन्यतम उपलब्धि रही। लेकिन संस्कृति का वह मूल तत्त्व, जिससे उन्होंने जीवन की ऊर्जा ली थी। [महाभाव का ऐश्वर्य;] क्या उसे वे अपनी क्षमता और भावना के अनुरूप ढाल सके ?

पूरे ब्रज मंडल को आँसुओं के सागर में डुबो देने वाले कवियों ने कभी भूलकर भी नहीं सोचा कि उसका कारण क्या है। गो चारण और गोपालन के साथ हमारे जीवन में जो सात्विकता आयी थी क्या उन सात्विक गुणों को हम जीवन का प्रतिदर्श मान सके ?

आत्म स्वीकृति के लिए आत्म केन्द्रित होना पड़ता है और लोक स्वीकृति के लिए विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता होती है। ब्रजमण्डल में राधा के विकेन्द्रीकरण की बात उठी थी।

'एक ही क्या कंस होंगे,
अंश होंगे अन्य ?'

[राधा दर्शन पर्व]

लोक जीवन की इस यथार्थता को हम गोचारण-संस्कृति में अनुभव लेते हैं। 'राधा' के पुरुषार्थ पर्व में कृष्ण का संकल्प उस संस्कृति की चेतना से उद्भूत है जहाँ सात्विकता जीवन की अनिवार्य शर्त बन गई है और तामसिकता उसका त्याज्य पक्ष। उस संस्कृति की माँग है श्रमजीवी होना। उसके चार स्तम्भ है आत्म-निर्भरता प्राकृतिक जीवन, आत्म संतुष्टि और आत्म बोध। 'राधा' में नन्द की [संतोष वादी] मनोवृत्ति में हम उसकी झलक देखते हैं–

डैने फैलाते न कभी ऊँची उड़ान भरने को।
फड़की बाँह न कालिन्दी की भाँति,
सिन्धु तरने को।

[राधा प्रभास पर्व]

वह संस्कृति वाह्य जीवन की सात्विकता और कृषि जीवन की संघर्ष प्रियता के मेल से पनपी है। एक ऐसी संस्कृति जहाँ–

लगन अटूट काम करने की,
हिलमिल कर रहने की,
निर्बल नहीं, प्रवास भीरु है,
प्यास नहीं बहने की।

[राधा प्रभास पर्व]

स्वयं पर स्वयं का इतना नियंत्रण कि समय के साथ सुविधाओं को समेट लेने की न कोई चाह है और न धारा में वह जाने की कोई आकांक्षा।

सिर्फ जीवन के ताप को सहिष्णुता और श्रम की ऊष्णता के रूप में अंगीकार करना और अपने ऊपर निर्भर होकर अपने विकास के लिए, अपनी क्षमता का विस्तार करते जाना ही उस संस्कृति का लक्ष्य है। माटी की इस संस्कृति में आधुनिक संश्लिष्टता के विरुद्ध सरलता की खुली बगावत है—

तंत्र शुद्ध तन, मंत्र मुग्ध मन,
यंत्र नियंत्रित जीवन।

[राधा प्रवास पर्व]

उनके जीवन की सार्थकता ही हमारे बोध को हमारी सीमा का अनुशासन प्रदान करती है। जीवन अनगढ़ बना रहा। सुविधाएँ नहीं मिलीं। अभाव और साधन हीनता के कारण, भौतिक विकास की यथावत स्थिति! फिर भी अपनी संस्कृति के प्रति लगाव! सुविधाओं के आकर्षण को निष्फल कर देने की अप्रतिम क्षमता! यही तो उस संस्कृति की जान है—

बनफूलों सा हँसते है,
ओ, मेघ सदृश रोते हैं,
प्राण-गान गा वही काटते,
जो कि हाथ बोते हैं।

[राधा प्रभास पर्व]

हाँ, तो उसी संस्कृति के गर्भ से आयी है—मनुआँ !

मनुआँ एक जीने योग्य जीवन को जीने के लिए एक नये जीवन का अनुभव देने वाली माता है। अष्टपदी में करुण और मातृ शक्ति की जीवंत-ऊर्जा बनकर आयी हैं—वह।

यदि मनुआँ नहीं आयी होती तो एक महाकवि के जीवन का एक महत्वपूर्ण अंश एक अबूझ पहेली बनकर ही रह जाता। आखिर आधुनिक सुविधा सम्पन्न बड़े शहरों की सुविधाओं को त्याग कर शास्त्रीजी ने अपनी साधना का केन्द्र निराला निकेतन जैसे एकांत स्थल को ही क्यों बनाया ?

माटी से ही अधिक लगाव था तो मैंगरा का प्राकृतिक वैभव और जीवन की अशेष स्मृतियाँ माँ अनुपमा की करुणा में वहाँ अपना अंक ग्रहण कर सकती थीं !

इतिहास की गति कभी-कभी उलटी पड़ जाती है। राम को उत्तर से दक्षिण जाना पड़ा, कृष्ण को पूरब से पश्चिम। बुद्ध को हिमालय छोड़कर निर्जन भूमि की तलाश करनी पड़ी। लेकिन समय और परिस्थितियों को उचित शक्ति देने के लिए 'तपोवन' का अपना विशिष्ट महत्व रहा। उन लोगों ने तपोवन की खोज की। इतिहास ने अपनी दूसरी आकृति ग्रहण कर ली है। जीवन ने यहाँ अपनी करुणा की आकृति में ढल कर स्वयं एक तपोवन का रूप धारण कर लिया है।

मनुआँ उस तपोवन की वनदेवी, है या उस तपोवन की वागेश्वरी ? उसे अष्टपदी की आँखों से देखें :—

'मनुआँ का रंग साँझ-सकारे बादलों जैसा है—ललाई लिए हुए सुनहरा। कद मझोला। गुलथुल शरीर। शास्त्री जी और मनुआँ का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है ? अष्टपदी देखें :-"यह मर्म कोई ही कोई जानता होगा कि मेरा उससे किसी जनम का बहुत गहरा लगाव है।"

मनुआँ 'अष्टपदी' में सजल-सकरुण भाव की धातु बन गयी है। अतः करुणा की आँखों से ही मातृ-भावा मनुआँ की मूक संवेदना को शास्त्री जी की वेदना के रूप में अनुभव कर सकते हैं।

विधाता ने आखिर कौन-सी विरासत दी थी—बालक जानकी वल्लभ को? महज चार वर्ष की पंखुड़ाई आँखें माँ अनुपमा को निरखती ही रह गईं आँचलका स्पर्श न मिला। हाँ माँ के साध्यदीप से उनके जीवन को निरन्तर आलोक का अनुभव अवश्य मिला है। शास्त्री जी बताते हैं:—"सुबह सवेरे मैं सोता होता था या रोता ... . संध्या समय ... .. माँ सांध्य दीप जला कर रसोई घर में दिपती होतीं। "गौमाताओं के साथ माँ अनुपमा का यह तरल साहचर्य ही मातृ-भाव के रूप में उनकी विरासत बन गयी। यह विरासत माँ अनुपमा की करुणा की सजल स्मृति है। उसका भव्य बिम्ब स्मृतियों की ओठ में काफी सजल है, काफी भावपूर्ण।

उन दिनों साधो सिंह नाम का एक व्यक्ति पं० रामानुग्रह शर्मा की (मैंगरा) गौशाला में गाय दुहने आते थे। सिंह जी आते ही शिशु जानकीवल्लभ का नाम पुकारते।

शास्त्री जी लिखते हैं—

"माधो सिंह से प्लुत स्वर में पुकारा मेरा नाम गायों के गलों में लय-ताल में बजती घंटियों की टुन-टुन बेध माँ के गगन-मन में गूँज जाता और वह ससम्भ्रम दोहनी और बछड़ा बाँधने वाली चिकनी रस्सी चौखट के इस पार रख जातीं। फिर एक-एक कर आऊँ माँ? आऊँ माँ? पुकारते नन्हें-मुन्ने बछड़ों को खोलती जाती। दो-दो ढाई-ढाई सेर दूध देने वाली लगभग सात गाएँ दुही जाती थीं उन दिनों। किसुनियाँ, मुटरी, घुटरी, झमियाँ, ललमनियाँ आदि नाम थे उनके (हंस बलाका)।

गौमाताओं के साथ माँ अनुपमा का सहज जीवन-प्रवाह और साधो सिंह के बहाने माँ के चरण रज की तरल अनुभूति, शास्त्रीजी के बाल संस्कार के वे भाव है जो जीवन के प्रवाह में बहकर, वही महाभाव के रूप में परिणत हो गये हैं। माँ अनुपमा की यह दिव्य अनुभूति विभिन्न भावानुभूतियों में करते हैं। कभी वही मातृभाव की अपरिमित ऊर्जा बन गयी है—

'ज्ञान इच्छा को गला कर कर्म में,
ओप लाएँ, मर्म शोधित धर्म में,

बस इसी संकल्प में माता दिखा,
साथ रहकर तोड़ना नाता दिखा।"

(राधा पुरुषार्थ पर्व)

"माँ का अभाव मेरे जीवन का वह भाव है जिससे मेरी प्रत्येक भावना ओत-प्रोत हैं (हंस बलाका)।

निराला निकेतन में रजत जयन्ती के साथ मनुआँ आती है, हमारी दृष्टि के सामने। शास्त्रीजी लिखते है—"मङ्गला बेटी नन्दिनी के साथ मेरे घर आई थी। मनुआँ नन्दिनी की बेटी है। नन्दिनी शरद पूनम की चाँदनी थी, बारीक धुनी हुई रूई की राशि मल्लिका के फूलों से चीती हुई चतुष्पदी मातृ-भूमि।"

मनुआँ की नातिन है उमा। शास्त्रीजी प्रतिदिन-सुबह प्रथम ग्रास देने के लिए कृष्णायतन में गायों के बीच अपने भावों में डूबे नजर आते है। उमा ने आवेश में आकर पोषक देव पर हत्या नहीं चलाया। उसने तो आचार्य के दुलार और अपने चाव को एक राग का वेग मान लिया था।

लेकिन विधना को प्यार से प्यार का यह संलाप नहीं देखा गया। कभी विधाता को गर्व हुआ था अपने आप पर ? मैं जन्मदाता हूँ। इसलिए मेरे विधान के अधीन हैं सब। एक बार पोषणकर्ता विष्णु को भी उसने ललकार कर कहा था—मैं जन्मदाता हूँ, तुम पालन करते हो। जन्म देने वाले से पोषण करने वाले की तुलना क्या ? 'तू नहीं मैं बड़ा।' शायद उस बड़प्पन की भावना ने ही दम की आकृति ले ली हो ?

लेकिन नहीं। प्रश्न बड़प्पन का नहीं, जीवन और मृत्यु का है। भला किसे पता था कि प्यार से प्यार के इस मधुर मनोभाव की परिणति दुष्कर हो जायेगी।

मनुआँ विधाता के विरुद्ध चुनौती बन कर खड़ी हो गयी। उसने अपने प्यारे लाडले को प्रतोध देते हुए कहा—"मेरी नन्हीं-मुन्नी नातिन है न उमा। उसने जानबूझ कर तुम्हें नहीं मारा। उसकी गलती का ख्याल न करना। नातिन के अपराध के बदले में अपने प्राण देकर तुम्हें जिन्दा कर दूँगी।" तुम्हारे ग्रहों की मार मैं अपने सिर माथे ले लूँगीं।"

मनुआँ को इसके पूर्व भी देखा था। —इसके पहले शास्त्री जी की धर्मसंगिनी छाया जी की पीठ पर भी 'कृष्णायतन' की दीवार गिर गयी थी। जीवन और मौत का नाटक शुरू हो गया था। मनुआँ ने उस समय भी आगे बढ़कर छाया जी का मारकेश अपने ऊपर झेल लिया। कई महीने तक बीमार रहीं वह। जीर्णकाय, अवसन्नमन अधीर-खिन्नतन अस्पताल से स्वस्थ होकर जब छाया जी निराला निकेतन लौटीं, मनुआँ ने रँभा कर उनका स्वागत किया। ठीक तीसरे दिन शास्त्री जी द्वारा निरन्तर मालिश करने और सेवा की तत्परता को रागाश्रित भावों का सम्बल देने के परिणामस्वरूप मनुआँ उठ खड़ी हुई। शास्त्री जी ने काफी प्रसन्न होकर कहा —'बड़े,' माँ खड़ी हो गईं। माँ ने तुम्हारी मौत को अपने ऊपर ले लिया और अपने जीवन को अब हमारे प्यार के हवाले कर दिया।"

स्मृतियों की ओट में जीवन की अनजानी घड़ियाँ, पेण्डुलम की तरह दोनों तरफ डोलती रहती हैं। तो जीवन को जीवन का स्वर देने के लिए फिर अस्पताल जाना ही होगा? शास्त्री जी का ऐम्बुलेंस तैयार था—पटने की तैयारी हो रही थी। जाते वक्त मनुआँ मूक स्वर में जैसे कह रही थी—"मुझे छोड़कर मत जाओ। इस जनम में अब फिर मिलना न हो सकेगा। मैंने तुम्हें मानने में तो कभी कोताही नहीं की। अपनी जान से बढ़कर माना। तुम्हें ज्यादा और अपने बछड़े को कम दूध पिलाया।" मन से आत्मा का संवाद तो सुना था। भाव से भाव का संवाद प्रथम बार सुनने को आया। शायद मनुआँ यह चाहती थी कि वह अपना प्राण दे कर, अपने लाड़ले का प्राण तो बचा लेगी, लेकिन उसकी माटी को फिर गंगा में विसर्जित करने का श्रेय भी उसका लाड़ला ही ले।

विधाता को भला यह मंजूर कैसे हो? चुनौती देने वाले की मनौती कभी भी सार्थक होती है क्या? मनुआँ ने अपनी आँखें उसी दिन बन्द कीं जिस दिन शास्त्री जी के कूल्हे का आपरेशन किया गया। भाव विह्वल मन का चाव, जीवन को ठाँव देता अनु-

भव होता है — "अरी ओ माँ, मुझे बचाने के लिए तूने अपनी जिन्दगी दाँव पर लगा दी ! अब मैं तेरी ही अमानत हूँ। तुझे याद कर-कर के आठ-आठ आँसू बहाने के लिए ही बच गया हूँ। कोई मानेगा ?"

कोई माने या न माने। इससे होता क्या है ? प्रकृति की अमोघ सत्ता, मनुआँ की भावमयता में परिणत होकर आज भी आचार्य को जीवन संवेदना का मुखर स्वर दे रही है।

मनुआँ के साथ एक पूरी संस्कृति आचार्य के जीवन को अपने मधुर भाव और तीखे-मीठे अनुभव का अनुदान दे रही है।

यह आश्चर्य है कि जीवन की आपाधापी में मनुष्य की सत्ता और इयत्ता को मनुष्य की संवेदना का अप्रतिम प्रतिमान माननेवाले शास्त्री जी एक मनुष्य की अपेक्षा, अपने महाराग को कुत्ते-बिल्लियों गायों और नेवलों में ही क्यों मूर्धाभिषिक्त करना चाहते हैं ?

हाँ, इसके मूल में माँ अनुपमा का प्यार प्रकृति माता का दुलार में परिणत हो गया है। 'हंसबलाका' में जिस नदी, पहाड़, जंगल, पशु-पक्षी, गाएँ और जीवन-परिवेश का चित्र आया है, उसके केन्द्र में अनुपमा की अलक्षित छाया ही दिखलायी देती है।

एक तरफ परिस्थिति की भीषण मार और दूसरी तरफ जीवन संघर्ष का कठोर आमंत्रण। रायगढ़ से मैंगरा और मैंगरा से मुजफ्फरपुर की ओर प्रस्थान। प्रकृति खड़ी हो गयी सामने। आचार्य का करुण स्वर भर्राया हुआ है'–'सुरहर के किनारे की हरियाली, मैं अपनी धूल तुझ पर न झाड़ूँगा। बड़े-बूढ़े पीपल-पाकड़ के पेड़ो, में अब और अपने पसीने की बूँदें तुम्हारी चेतन जड़ों में न डाल सकूँगा। बूढ़े महादेव और उनके सभी पड़ोसी देवी-देवताओ, विदा-दो अब मेरे मलिन हाथ तुम्हारी दिव्यता को छूने-छेड़ने की ढिठाई न करेंगे। (कर्मक्षेत्रे मरुक्षेत्रे)।

कहना कठिन है कि निराला निकेतन की मानवेतर प्रकृति, मैंगरा की मानवेतर प्रकृति की प्रतिध्वनि है या नव बृन्दावन का लघु रूप ?

मेरा पूरा विश्वास है कि 'राधा' महाकाव्य में जहाँ कहीं धात्री प्रकृति का मनोरम रूप आया है, वह कवि के जीवन और जीवन अनुभव की दूसरी आकृति बनकर। विदाई का करुण स्वर राधा में भी है —

जा रहा हूँ दूर तेरी दृष्टि से—
भीग कर अविरत अमृत की वृष्टि से—
तप्त मरु की ओर, चन्द्र निकेत से—
शिशिर-किरण बिसार जलती रेत से—
जोड़ने नाता, निभाने को शपथ—
आज लेने, इष्ट जीवन, मरण पथ ! (पुरुषार्थ पर्व)

जीवन ने संघर्ष के ताप से शास्त्री जी के अनुभव को जीवन का एक भिन्न स्वर दिया हैं। यह स्वर एक ऐसा है जो जीवन की कठोरता को कोमलता, और कोमलता को कटु-कषाय, लोना-खारा'—अनुभव की स्वीकृति देता है।

हमने मनुआँ को राधा' में भी देखा है। प्रभास पर्व में। वह रुक्मिणी के भौतिकवादी थोथे तर्क को, आध्यात्मिक चेतना की अनुभूति में पिघला देती है। मनुआँ वहाँ ललिता को स्वर देती है। मनुष्य की सत्ता की क्या बिसात? प्रकृति की सत्ता ही अपरिमेय है। मनुष्य तो झूठ को सच और सच को झूठ सिद्ध करने के लिए ही उत्पन्न हुआ है। :—

बुद्धि माँज कर चमकाने को'
पढ़ता वेद-पुराण,
अनुचित को कर उचित, प्रमाणित,
करता है अभिमान ! (राधा : प्रभास पर्व)

जीवन में जो सहजता के आग्रही होते हैं, वे अपनी साधना में, मूल स्रोत तक जाना चाहते हैं। जो जीवन में जितना गहरे पैठता है, वह उतनी ही ऊँची लपट उठाता है। मनुष्य इस वास्तविकता को पहचाने तो !

अन्यथा, उसके बदलते हुए रूप, उसकी बदलती हुई मान्यताएँ, उसकी बदलती आस्थाएँ, जीवन में सिर्फ धुँआँ ही तो उगलती रहती हैं!—

हैं मनुष्य के रूप अनगिनत,
देव भी न गिन पाएँ,
रो अबोध-निर्दोष छद्म छल,
बनी रात दिन गाएँ।
नूतन तन में रचे पुरातन,
कुछ प्राचीन नया मन!" (प्रभास पर्व: राधा)

प्राचीनता और आधुनिकता के बीच सामंजस्य बैठाकर ही जीवन को संतुलन दिया जा सकता है। निराला निकेतन का सांस्कृतिक परिवेश दोनों का अविकल संगम है। एक ऐसा संगम जहाँ मनुष्यता अपनी संवेदना के लिए गौमाताओं की मूक वेदना में ठहराव खोज रही है। जिनकी पारदर्शिता जीवन मूल्यों को सहजता का स्वर देती है, वे ही अपने स्वधर्म पर अडिग-अडोल बने रहते हैं।—

शास्त्री जी भारतीय मनीषा के सांस्कृतिक पुरुष हैं। अत: अपनी संस्कृति को जो उन्हों ने निराला निकेतन की विरल पहचान दी है—उसे त्याग कर कहीं विज्ञापन की दुनिया में अपने को खोदेने की भूल उन्होंने कभी नहीं की। शास्त्री जी की आस्था, अपने संस्कार में अपनी संस्कृति को एक मूल्य के रूप में स्वीकार करती है :—

'हम किसका अनुकरण करें,
अपनी समृद्ध संस्कृति तज,
स्वस्थ और दृढ़ जिसकी जड़ है,
जो जल थल की नीरज।'

कहना न होगा एक पूरी संस्कृति को अन्तर्गान में ढाल देनेवाले शास्त्री जी के जीवन पर मातृ-शक्ति का अकूत प्रभाव है। माँ का

यही प्रभाव उनके जीवन में राग घोलकर आग को राग और राग को भी फाग का स्वर दे रहा है।— इसे बाहर से नहीं, काफी धैर्य और संयम के साथ भीतर के तल से झाँकना होगा :—

'नहीं वाह्य व्यवहार मात्र उपहार प्राण मानों का !
अंतर्भाव राग बन जाता है, अगेय गानों का !'

जीवन को राग और राग को जीवन का स्वर देने के लिए ही शायद मनुआँ आयी थी। क्योंकि वह जीवन की दुःखद घड़ी में भी आशा की डोर लिए दिखलायी देती है।

मनुआँ राधा के उत्सर्ग पर्व में भी हमें जीवन की गन्दगी में डूबने से बचाने का संकेत दे रही है :—

जीवन की दे आशीष मरे, पर थे आने जाने वाले,
अब तो अथ से सूना पथ है, लड़ मरे गान गाने वाले,
डुबकियाँ लगाना क्या अब बस, काले पानी में डूब मरूँ,
मनुआँ-पद्मा-गैया-मैया-जैसी बिन खाये दूब मरूँ ?"

'राधा' का आंतरिक द्वन्द्व यहाँ मनुआँ के 'प्रायोपवेशन' में आकृति पाने के लिए विह्वल है।

शास्त्री जी का प्रबोध जीवन का नया बोध बन कर, मनुआँ की करुणा से जीवन को अखण्ड ऊर्जा की शक्ति दे रहा है।"

स्वर्गगता 'मनुआँ' आज भी शास्त्री जी के जीवन-अनुभव को अपनी ऊर्जा का एक नया बोध दे रही है। वह भले ही शास्त्री जी के मारकेश को अपने ऊपर झेल कर माँ अनुपमा की तरह ही शून्य में विलीन हो गई हो, लेकिन जीवन की प्रत्येक दिशा को, अपनी नई संस्कृति की पहचान देने और मनुष्य और प्रकृति की एकात्मकता को मातृ सत्ता का ठहराव देने के लिए वह सदैव खड़ी है— निराला-निकेतन के अपने खाली पड़े उखाड़े गये खूँटे के निकट! लगता है राधा महाकाव्य की आस्था सम्बोधि स्वर में जीवन का राग आलाप रही हो—

व्यक्तित्व तिरस्कृत कुंठित सा,
होगा न असुन्दर एकाकी,
खंडहर की आत्मा जन पथ पर,
आएगी अम्बर से ताकी,
बेड़ी हथकड़ी, मुक्ति पथ की--
माँ, परमात्मा को माया कह,
माँ के जाए हैं ब्रह्म बने, है हाड़ चाम की काया यह।'

शास्त्री जी के जीवन पर इन गौमाताओं के रागात्मक साहचर्य का गंभीर प्रभाव पड़ा है।

पूरा का पूरा 'राधा' महाकाव्य गो-चारण संस्कृति की धुरी पर नाथ रहा है। मँगरा की गोशाला माँ अनुपमा की स्मृति-शक्ति बन कर निराला निकेतन 'कृष्णायतन' की आकृति में ढल गया है। शास्त्री जी-जैसा अभिजात कवि, जिनके चिंतन का मुख्य स्वर वेद वेदान्त और विश्व बोधी मानव चेतना का उर्ध्वमुखी राग है वह हमारी आदिम संस्कृति से 'महाराग' का जीवन-अनुभव क्यों लेना चाहता है ?

'राधा' में शास्त्री जी की आंतरिक चेतना उनके अतीत के रागात्मक भावों को जन्म जन्मान्तर के सम्बन्धों का अनुभव देती हैं—

'गौओं से मेरा जनम-जनम का नाता !"

(राधा प्रणय पर्व)

वह 'गौ माता' उस मातृ-शक्ति की अनन्त ऊर्जा बन गयी है, जिसने गोशाला में 'सांध्यदीप' जलाकर प्रह्लाद गोसाईं से निवेदन किया था—हे गोसाईं, मेरा बेटा भूल से अपनी बहन की शादी में माटी के हाथी पर चढ़ गया है और तुम्हारे दीप की ओर अपना हाथ बढ़ा दिया है। तुम उसे जीवन में असली हाथी पर आसीन कर देना।

शास्त्री जी का पूरा व्यक्तित्व आज एक मस्त गयन्द की तरह ही ज्ञान की मस्ती में झूमता हुआ, साहित्य जगत को अपने व्यक्तित्व की गरिमा से महिमा-मंडित करता दिखायी दे रहा है।

कहना गलत न होगा माँ अनुपमा जितनी बार इस भौतिक जगत में मरी है, उतनी ही बार वह कभी मंगला तो कभी नन्दिनी के रूप में जी उठी है। जीने और मरने का यह क्रम चलता ही रहा। उस क्रम का लेखा-जोखा, क्या गौमाता-लक्ष्मी, लता-माधवी, रजत, जयन्ती, मंजु, मंजरी, सुधा-माधुरी, गिन्नी- कजली, पाटला, पूरवी, विजया, मिन्नी, ऋचा, कुन्द, मुचकुन्द-आदि के माध्यम से कर सकते हैं ? वह तो अब भी कवि के जीवन की अनुभूतियों में अपने भाव का क्षीर उड़ेल रही है।

'बछड़ों की सुधि, दूध चुआती
रह रह धेनु-रँभाती ।

यह कोई आश्चर्य नहीं है कि शास्त्री जी की 'राधा' उस भौतिक वादी जीवन की अँधन्दौड़ में अपने को नहीं सम्मिलित होने देती। वह जीवन-पर्यन्त गौमाताओं की सेवा में ही डूबी रहती है और वृन्दावन की उस धूलि को सहेजती रहती है—जहाँ से श्री कृष्ण "पद पद्म उगाते" चले गए। राधा की वेदना में जीवन अपनी संवेदना में ढल कर, अपने लिए किसी हक की माँग नहीं कर पा रहा। वह तो जीवन को सिर्फ एक ऐसे महाराग का स्पर्श दे रहा है जहाँ जीवन का अर्थ है सिर्फ जीने योग्य जीने की साधना। इस जीने वाले जीवन से ही जीवन का साहित्य लिखा जा सकता है। शास्त्री जी के साहित्य में जीवन का यही भाव झलकता दिखलायी देता है। उनकी मान्यता है :— जीबन गढ़ने के लिए शास्त्रों का निर्माण हुआ है, शास्त्र गढ़ने के लिए जीवन नहीं बनाया गया। क्योंकि स्वयं जीवन शास्त्रों से कहीं अधिक मूल्यवान है —

(हंस बलाका)

शास्त्री जी की लेखन प्रक्रिया को समझने के लिए शास्त्रों में उन प्रतिमानों को नहीं ढूँढ़ना होगा, जिन्हें रातोरात जगकर उन्होंने आत्मसात कर लिया है। भारतीय ज्ञान के मूल स्रोत और उस ज्ञान की विविध शाखाओं को देश - विदेश के साहित्य में कैसे अनुवीक्षण हुआ है, उसकी गवेषणा और आयातीकरण, उनके लेखन का उद्देश्य नहीं रहा। उनके लेखन में जीवन का वह स्रोत है जहाँ जीवन एक सीमा को इतिहास और भूगोल की सीमा नहीं

मानता और न उसे किसी काल खण्ड में बाँध कर देखता है। हाँ—"पुनरपि जननं, पुनरपि मरणं" ही जीवन का अनन्त प्रवाह होता तो उस अनन्त प्रवाह को अखण्डित ऊर्जा देनेवाली गौमाताओं का श्रेय अधिक है जिससे शास्त्री जी अपनी प्रतिभा और अपनी पूरी संभा-बना की तलाश में स्वयं को निरन्तर मांजतेरहने और अंधी श्रद्धा से मुक्त होने का प्रयास करते रहे हैं। लेकिन उनके इस अथक प्रयास के मूल में मातृ भाव की झलमलाती किरणें उनके पूरे विकास पर आलोक बिखेर रही हैं। शास्त्री जी का विकल मन उसे ही अपनी आस्था का अर्घ्य अर्पित कर रहा है :—

जीवन भर के रुँधे आँसुओं से मैं पाँव पखारूँ,
अपनी असमर्थता तुम्हारे चढ़े दाँव पर वारूँ !

—०—

गौतमबुद्ध कुटीर,
पड़ाव पोखर पथ १
आमगोला,
मुजफ्फरपुर–२